मत्स्यो विराटो बलवानभिरक्तोऽथ पांडवान् ।
धर्मशीलो वदान्यश्च वृद्धश्च सततं प्रियः ॥ १७ ॥
विराटनगरे तात संवत्सरमिमं वयम् ।
कुर्वन्तस्तस्य कर्माणि विहरिष्याम भारत ॥ १८ ॥
यानि यानि च कर्माणि तस्य वक्ष्यामहे वयम् ।
आसाद्य मत्स्यं तत्कर्म प्रब्रूत कुरुनंदनाः ॥ १९ ॥
अर्जुन उवाच—नरदेव कथं तस्य राष्ट्रे कर्म करिष्यसि ।
विराटनगरे साधो रंस्यसे केन कर्मणा ॥ २० ॥
मृदुर्वदान्यो ह्रीमांश्च धार्मिकः सत्यविक्रमः ।
राजंस्त्वमापदाऽऽक्रुष्टः किं करिष्यसि पांडव ॥ २१ ॥
न दुःखमुचितं किंचिद्राजा वेद यथा जनः ।
स इमामापदं प्राप्य कथं घोरां तरिष्यसि ॥ २२ ॥
युधिष्ठिर उवाच—श्रृणुध्वं यत्करिष्यामि कर्म वै कुरुनंदनाः ।
विराटमनुसंप्राप्य राजानं पुरुषर्षभाः ॥ २३ ॥
सभास्तारो भविष्यामि तस्य राज्ञो महात्मनः ।
कंको नाम द्विजो भूत्वा मताक्षः प्रियदेवनः ॥ २४ ॥

में सम्मति करके एक ऐसा रमणीय कल्याणदायक स्थान रहने के लिए ठीक कर लेना चाहिए, जहां हम इस तेरहवें वर्ष को बेखटके व्यतीत कर सकें। हे भाई! मत्स्य देश के राजा विराट धर्मात्मा, दाता, वृद्ध, बलवान् और हम पाण्डवों पर कृपा रखनेवाले हैं। मेरी समझ में हम लोगों को उन्हीं के यहां रहना चाहिए। जो तुम लोग पसन्द करो तो गुणी जगत्प्रसिद्ध राजा विराट के कार्य करते हुए हम लोग उन्हीं के यहां यह वर्ष बितावें। हे भाइयो! अब तुम लोग यह निश्चय करके कहो कि हममें से कौन क्या कार्य करके उनके यहां रहेगा ॥१५।१९॥

अर्जुन ने कहा—हे नरदेव! आप राजा विराट के यहां रहकर क्या कार्य करेंगे? हे महाराज! आप कोमल, उदार, लज्जाशील, धार्मिक और सत्यवादी हैं। इस आपत्ति में पड़कर आप कौन सा कार्य करेंगे? आप पृथ्वी के अधीश्वर होकर साधारण जनों की तरह दुःख सहने में असमर्थ हैं। भला आप इस घोर आपत्ति में पड़कर किस तरह इससे बचेंगे? ।२०।२२।

युधिष्ठिर ने कहा—हे अर्जुन! मैं राजा विराट के यहां जाकर जो कार्य करूंगा सो सुनो। मेरा निश्चय यह है कि मत्स्य देश राजा विराट के पास जाकर उनकी सभा में मुख्य सभासद बनकर रहूँगा। मैं वहां यह प्रसिद्ध करूंगा कि मैं पांसे के खेल (चौसर) में उस्ताद, द्यूतप्रिय, कङ्क नाम का ब्राह्मण

अस्त्रयोगं समासाद्य स्ववीर्यान्मानुषाद्भुतम् ।
दिव्यान्यस्त्राणि चाऽऽसानि देवरूपेण भास्वता ॥ २० ॥
यं मन्ये द्वादशं रुद्रमादित्यानां त्रयोदशम् ।
वसूनां नवमं मन्ये ग्रहाणां दशमं तथा ॥ २१ ॥
यस्य बाहू समौ दीर्घौ ज्याघातकठिनत्वचौ ।
दक्षिणे चैव सव्ये च गवामिव वहः कृतः ॥ २२ ॥
हिमवानिव शैलानां समुद्रः सरितामिव ।
त्रिदशानां यथा शक्रो वसूनामिव हव्यवाट् ॥ २३ ॥
मृगाणामिव शार्दूलो गरुडः पततामिव ।
वरः सन्नह्यमानानां सोऽर्जुनः किं करिष्यति ॥ २४ ॥
अर्जुन उवाच—प्रतिज्ञां पंढकोऽस्मीति करिष्यामि महीपते ।
ज्याघातौ हि महांतौ मे संवर्तुं नृप दुष्करौ ॥ २५ ॥
वलयैश्छादयिष्यामि बाहू किणकृताविमौ ।
कर्णयोः प्रतिमुच्याऽहं कुंडले ज्वलनप्रभे ॥ २६ ॥
पिनद्धकंबुः पाणिभ्यां तृतीयां प्रकृतिं गतः ।
वेणीकृतशिरा राजन्नाम्ना चैव बृहन्नला ॥ २७ ॥
पठन्नाख्यायिकाश्चैव स्त्रीभावेन पुनः पुनः ।
रमयिष्ये महीपालमन्यांश्चाऽतःपुरे जनात् ॥ २८ ॥

पांच वर्ष तक स्वर्ग में रहकर अपने प्रभाव से वह अस्त्र-विद्या सीखी है जो मनुष्यों के लिए असाध्य है और सब दिव्य अस्त्र प्राप्त किये हैं ॥१५।२०॥

मैं इन्हें बारहवां रुद्र, तेरहवां आदित्य, नवां वसु और दसवां ग्रह समझता हूं। इनकी भुजाएं लम्बी, बराबर का बल रखनेवाली और प्रत्यञ्चा की रगड़ से कठिन हैं। जैसे पर्वतों में हिमाचल, नदियों में समुद्र, देवताओं में इन्द्र, वसुओं में अग्नि, मृगों में सिंह, और पक्षियों में गरुड़ श्रेष्ठ हैं वैसे ही सब वीरों में श्रेष्ठ अर्जुन राजा विराट के यहां [कौन सा रूप रखकर] क्या काम करके अज्ञातवास करेंगे?२१।२४

अर्जुन ने कहा—हे धर्मराज! मैं विराट के यहां जाकर अपने को नपुंसक (हिजड़ा) बताऊंगा। हे राजेन्द्र! मेरी कलाइयों में धनुष की डोरी की रगड़ के बड़े-बड़े घट्टे पड़े हुए हैं। उन्हें छिपाने के लिए मैं हाथों में चूड़ियां पहन लूंगा। कानों में चमकीले कुण्डल, हाथों में चूड़ियां और सिर पर चोटी धारण करके मैं वहां अपना नाम बृहन्नला बताऊंगा। इस प्रकार स्त्री-वेश धारण करके मत्स्यराज के यहां रहूंगा। वहां प्रायः स्त्रियों के कहने-सुनने योग्य किस्से-कहा-

युधिष्ठिरस्य गेहे वै द्रौपद्याः परिचारिका ।
उषिताऽस्मीति वक्ष्यामि पृष्टा राज्ञा च भारत॥ १९ ॥
आत्मगुप्ता चरिष्यामि यन्मां त्वं परिपृच्छसि ॥ २० ॥
सुदेष्णां प्रत्युपस्थास्ये राजभार्यां यशस्विनीम् ।
सा रक्षिष्यति मां प्राप्तां मा भूत्ते दुःखमीदृशम्॥ २१ ॥
युधिष्ठिर उवाच—कल्याणं भाषसे कृष्णे कुले जाताऽसि भामिनि ।
न पापमभिजानासि साध्वी साधुव्रते स्थिता ॥ २२ ॥
यथा न दुर्हृदः पापा भवंति सुखिनः पुनः ।
कुर्यास्तत्त्वं हि कल्याणि लक्षयेयुर्न ते तथा ॥ २३ ॥

इति श्रीमन्महाभारते विराटपर्वणि पांडवप्रवेशपर्वणि युधिष्ठिरादिमंत्रणे तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

के यहां मैं अपने को सैरन्ध्री बताऊंगी। लोग जानते हैं कि सैरन्ध्री पतिव्रता और अच्छी जाति की होती हैं। मैं राजभवन में आप अपनी रक्षा कर लूंगी। [*कहूंगी कि मेरे कुछ नियम हैं, उनका मैं पालन करती हूं*। उन्हीं नियमों से मैं अपनी रक्षा करूंगी।] मैं अपने को केशों का शृङ्गार करने में निपुण बताऊंगी कोई पूछेगा तो कहूंगी कि मैं पहले महाराज युधिष्ठिर के यहां द्रौपदी के पास रहती थी। मैं यशस्विनी महारानी सुदेष्णा के पास रहूंगी। वे सदा मेरी रक्षा करेंगी। वे अवश्य मुझे रख लेंगी ॥१८।२१॥

युधिष्ठिर ने कहा—हे द्रौपदी! तुम भले घर की बेटी हो, तुमने अपने योग्य ही बात कही है। तुम पतिव्रता हो। तुम पाप को जानती ही नहीं। देखो, ऐसी सावधानी से वहां रहना जिसमें कोई तुमको पहचान न सके और हमारे पापी शत्रु फिर सुखी होने का अवसर न पा जायं ॥२२।२३॥

विराटपर्व का तीसरा अध्याय समाप्त हुआ ॥ ३ ॥

अथ चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

युधिष्ठिर उवाच—कर्माण्युक्तानि युष्माभिर्यानि यानि करिष्यथ ।
मम चापि यथा बुद्धिरुचिता विधिनिश्चयात् ॥ १ ॥
पुरोहितोऽयमस्माकमग्निहोत्राणि रक्षतु ।
सूदपौरोगवैः सार्द्धं द्रुपदस्य निवेशने ॥ २ ॥

चौथा अध्याय ॥ ४ ॥

युधिष्ठिर ने कहा—विराट के यहां रहकर तुम लोग जो कार्य करोगे उन्हें कह चुके और मैं जो करूंगा सो भी कह चुका। मेरी सम्मति यह है कि अब हमारे पुरोहित धौम्य, रसोइये आदि के साथ, महाराज द्रुपद के यहां जाकर रहें और वहां हमारे अग्निहोत्र के अग्नि की रक्षा करें। इन्द्रसेन आदि हमारे

स साधु कौंतेय इतो वासमर्जुन रोचय ।
संवत्सरमिमं यत्र वसेमाऽविदिताः परैः ॥ ९ ॥
अर्जुन उवाच—तस्यैव वरदानेन धर्मस्य मनुजाधिप ।
अज्ञाता विचरिष्यामो नराणां नाऽत्र संशयः ॥ १० ॥
तत्र वासाय राष्ट्राणि कीर्त्तयिष्यामि कानिचित् ।
रमणीयानि गुप्तानि तेषां किंचित्स्म रोचय ॥ ११ ॥
संति रम्या जनपदा बह्वन्नाः परितः कुरून् ।
पाञ्चालाश्चेदिमत्स्याश्च शूरसेनाः पटच्चराः ॥ १२ ॥
दशार्णा नवराष्ट्राश्च मल्लाः शाल्वा युगंधराः ।
कुंतिराष्ट्रं च विपुलं सुराष्ट्रावंतयस्तथा ॥ १३ ॥
एतेषां कतमो राजन्निवासस्तव रोचते ।
यत्र वत्स्यामहे राजन्संवत्सरमिमं वयम् ॥ १४ ॥
युधिष्ठिर उवाच—श्रुतमेतन्महाबाहो यथा स भगवान्प्रभुः ।
अब्रवीत्सर्वभूतेशस्तत्तथा न तदन्यथा ॥ १५ ॥
अवश्यं त्वेव वासार्थं रमणीयं शिवं सुखम् ।
संमंत्र्य सहितैः सर्वैर्वस्तव्यमकुतोभयैः ॥ १६ ॥

अपने राज्य से निकलकर वन में रहते बारह वर्ष व्यतीत हो गये हैं। इस समय बहुत ही क्लेश देनेवाला अज्ञातवास का तेरहवां वर्ष लगा हुआ है। इसलिए हे अर्जुन! तुम ऐसा कोई स्थान पसन्द करो, जहां गुप्त रूप से एक वर्ष तक हम रह सकें और शत्रु लोग हमारा पता न लगा पावें ॥७।९॥

अर्जुन ने कहा—हे नरश्रेष्ठ! इसमें संदेह नहीं कि हम लोग धर्मराज के वरदान के प्रभाव से एक वर्ष इस तरह व्यतीत कर देंगे कि कोई मनुष्य हमको न पहचान सकेगा। मैं अज्ञातवास के योग्य कई एक परम रमणीय सुरक्षित राज्यों के नाम गिनाता हूं। इनमें से आप जिस राज्य में रहना पसन्द करें उसे बतावें। कुरु-देश के चारों ओर पाञ्चाल, चेदि, मत्स्य, शूरसेन, पटच्चर, दशार्ण, नवराष्ट्र, मल्ल, शाल्व, युगन्धर, बहुविस्तृत कुन्तिराष्ट्र, सुराष्ट्र, अवन्ती, [वैदेह, मगध] आदि अनेक धन-धान्य से पूर्ण रमणीय राज्य हैं। राजा विराट का राज्य भी अज्ञातवास के योग्य है। बताइए, इनमें कौन सा राज्य आपकी समझ में रहने योग्य है? हम वहीं पर आपके साथ रहकर सुख से तेरहवा वर्ष व्यतीत कर सकते हैं॥१०।१४॥

युधिष्ठिर ने कहा—हे महाबाहो! सब प्राणियों के ईश्वर भगवान् धर्म ने जो कहा है वह कदापि मिथ्या न होगा। हम लोग तेरहवा वर्ष छिपकर व्यतीत करने में अवश्य ही सफल होंगे। इस समय आपस

नाऽस्याऽनिष्टानि सेवेत नाऽहितैः सह संवदेत् ।
स्वस्थानान्न विकंपेत स राजवसतिं वसेत् ॥ २७ ॥
दक्षिणं वाऽथ वामं वा पार्श्वमासीत पंडितः ।
रक्षिणां ह्यात्तशस्त्राणां स्थानं पश्चाद्विधीयते ॥ २८ ॥
नित्यं हि प्रतिषिद्धं तु पुरस्तादासनं महत् ।
न च संदर्शने किंचित्प्रवृत्तमपि संजयेत् ॥ २९ ॥
अपि ह्येतद्दरिद्राणां व्यलीकस्थानमुत्तमम् ।
न मृषाऽभिहितं राज्ञां मनुष्येषु प्रकाशयेत् ॥ ३० ॥
असूयंति हि राजानो नराननृतवादिनः ।
तथैव चाऽवमन्यन्ते नरान्पंडितमानिनः ॥ ३१ ॥
शूरोऽस्मीति न दृप्तः स्याद् बुद्धिमानिति वा पुनः ।
प्रियमेवाऽऽचरन्राज्ञः प्रियो भवति भोगवान् ॥ ३२ ॥
ऐश्वर्यं प्राप्य दुष्प्रापं प्रियं प्राप्य च राजतः ।
अप्रमत्तो भवेद्राज्ञः प्रियेषु च हितेषु च ॥ ३३ ॥
यस्य कोपो महाबाधः प्रसादश्च महाफलः ।
कस्तस्य मनसाऽपीच्छेदनर्थं प्राज्ञसंमतः ॥ ३४ ॥

कहनी चाहिए । राजा की आज्ञा या उसकी बात का अनादर न करना चाहिए । राजा के सम्बन्ध में अप्रिय और अहित वचन कभी न कहना चाहिये । बुद्धिमान् को चाहिए कि वह अपने को राजा का प्रियपात्र न समझकर उसकी सेवा करे; राजा का प्रिय और हित करने में सावधानी से सचेष्ट रहे । जो व्यक्ति राजा के अनिष्ट की चेष्टा से दूर रहता है, अनधिकार चर्चा नहीं करता और राजा का अहित चाहनेवालों से अलग रहता है वही राजा के पास रहने का अधिकारी है ॥२२।२७॥

बुद्धिमान् पुरुष को राजा के दाहने या बायें बैठना चाहिए; क्योंकि राजा के पीछे अस्त्र-शस्त्र-धारी सैनिकों का स्थान होता है [और आगे का स्थान खाली पड़ा रहता है । राजदरबार में विनीत भाव से बैठना चाहिए] । राजा के आगे बैठना मना है । राजा के पुरस्कार आदि देते समय, बिना बुलाये, लेने को न पहुँचना चाहिए । राजा की किसी असत्य बात को भी किसी के आगे प्रकट करना उचित नहीं; क्योंकि वैसा करने से राजा कुपित हो जाते हैं ।२८।३०।

राजा के आगे अपनी पण्डिताई न छांटनी चाहिए; क्योंकि जो लोग ऐसा करते हैं उनको राजा लोग अनादर की दृष्टि से देखते हैं । राजा के आगे अपने शूर और बुद्धिमान् होने का गर्व करना भी उचित नहीं । जो लोग सावधानी से राजा का प्रिय

वैदूर्यान्कांचनान्दांतान्फलैर्ज्योतीरसैः सह ।
कृष्णाक्षांल्लोहिताक्षांश्च निर्वर्त्स्यामि मनोरमान् ॥ २५ ॥
विराटराजं रमयन्सामात्यं सहबांधवम् ।
न च मां वेत्स्यते कश्चित्तोषयिष्ये च तं नृपम् ॥ २६ ॥
आसं युधिष्ठिरस्याऽहं पुरा प्राणसमः सखा ।
इति वक्ष्यामि राजानं यदि मां सोऽनुयोक्ष्यते ॥ २७ ॥
इत्येतद्वो मयाऽऽख्यातं विहरिष्याम्यहं यथा ।
वृकोदर विराटे त्वं रंस्यसे केन हेतुना ॥ २८ ॥

इति श्रीमन्महाभारते विराटपर्वणि पांडवप्रवेशपर्वणि युधिष्ठिरादिमंत्रणे प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

हूं। मैं वहां [बिसात बिछाकर] लाल, काली, हरी और पीली गोटें बसाऊंगा और राजा का जी बहलाने के लिए [उनके साथ] चौसर खेलूंगा। [मेरे पास दर्शनीय बढ़िया पांसे हैं। मैं जब उन्हें फेकूंगा तब उनको देखकर सभा के सब लोग प्रसन्न होंगे। ज्योतिष, सगुन, चौसर के खेल, वेद-वेदाङ्ग, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, नीतिशास्त्र आदि के सम्बन्ध में जब जो कुछ राजा मुझ से पूछेंगे सो सब मैं उन्हें बताऊंगा। इन बातों में मेरा पूरा दखल है।] इस प्रकार भाई-बन्धु-मन्त्री आदि सहित राजा विराट को प्रसन्न करता हुआ मैं उनकी सभा में रहूंगा। मुझे कोई पहचान न पावेगा। यदि राजा विराट मुझसे पूछेंगे तो कह दूंगा कि मैं पहले महाराज युधिष्ठिर का प्राण-प्रिय मित्र था। इस प्रकार [अपने को छिपाकर] मैं राजा विराट की राजधानी में रहूंगा। अब भीमसेन, तुम बताओ। तुम किस प्रकार राजा विराट के यहां छिपकर रहोगे ? ॥२३।२८॥

—०—

विराटपर्व का पहला अध्याय समाप्त हुआ ॥ १ ॥

अथ द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

भीमसेन उवाच—पौरोगवो ब्रुवाणोऽहं बल्लवो नाम भारत ।
उपस्थास्यामि राजानं विराटमिति मे मतिः ॥ १ ॥
सूपानस्य करिष्यामि कुशलोऽस्मि महानसे ।
कृतपूर्वाणि यान्यस्य व्यंजनानि सुशिक्षितैः ॥ २ ॥

दूसरा अध्याय ॥ २ ॥

भीमसेन ने कहा—हे महाराज ! मैं मत्स्यराज विराट के पास जाकर कहूंगा कि मैं तरह-तरह की रसोई बनानेवाला बल्लव नाम का रसोइया हूं। मैं रसोई बनाने में बड़ा ही चतुर हू। विराट के यहां मैं अनेक प्रकार की भोजन-सामग्री बनाऊंगा। पहले चतुर सुशिक्षित रसोइये महाराज विराट के लिए जो

गतेषु तेषु वीरेषु धौम्योऽथ जपतां वरः ।
अग्निहोत्राण्युपादाय पांचालानभ्यगच्छत ॥ ५७ ॥
इंद्रसेनादयश्चैव यथोक्ताः प्राप्य यादवान् ।
रथानश्वांश्च रक्षंतः सुखमूषुः सुसंवृताः ॥ ५८ ॥
इति श्रीमन्महाभारते विराटपर्वणि पांडवप्रवेशपर्वाणि धौम्योपदेशे चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

है । इस तरह सब सहनशील होकर एक वर्ष व्यतीत करो । फिर अपना राज्य पाकर इच्छानुसार व्यवहार करना ॥४६।५१॥

युधिष्ठिर ने कहा—हे द्विजश्रेष्ठ ! आपने हमको बड़े हितकारी उपदेश दिये हैं । माता कुन्ती और महाबुद्धिमान् चाचा विदुर के सिवा हमको ऐसे उपदेश देनेवाला और कोई नहीं। अब आप वही उपाय कीजिए जिससे हमारा इस दुःखसागर से उद्धार हो ॥५२।५३॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजेंद्र ! इस प्रकार युधिष्ठिर के कहने पर महर्षि धौम्य ने यात्रा के समय के स्वस्ति-कर्म का सब सामान ठीक-ठीक किया । युधिष्ठिर के विजय और राज्य प्राप्त करने के लिए अग्नि जलाकर, मन्त्र पढ़कर, धौम्य ने हवन किया । उस अग्निकुण्ड की और तपस्वी ब्राह्मणों की प्रदक्षिणा करके, द्रौपदी को आगे करके, पाण्डव वहां से चल पड़े । इसके पश्चात् पाण्डवों के पुरोहित महर्षि धौम्यजी पाण्डवों के अग्निहोत्र लेकर पाञ्चाल देश की ओर गये। पाण्डवों के अनुचर इन्द्रसेन आदि, रथ-घोड़े आदि लेकर, यादवों की द्वारकापुरी में गये और वहां बड़े सुख से रहने लगे ॥५४।५८॥

विराटपर्व का चौथा अध्याय समाप्त हुआ ॥ ४ ॥

अथ पंचमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

वैशम्पायन उवाच—ते वीरा बद्धनिस्त्रिंशास्तथा बद्धकलापिनः ।
बद्धगोधांगुलित्राणाः कालिंदीमभितो ययुः ॥ १ ॥
ततस्ते दक्षिणं तीरमन्वगच्छन्पदातयः ।
निवृत्तवनवासा हि स्वराष्ट्रं प्रेप्सवस्तदा ।
वसंतो गिरिदुर्गेषु वनदुर्गेषु धन्विनः ॥ २ ॥
विध्यंतो मृगजातानि महेष्वासा महाबलाः ।
उत्तरेण दशार्णांस्ते पंचालान्दाक्षिणेन च ॥ ३ ॥

पांच अध्याय ॥ ५ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! इसके पश्चात् पाण्डव लोग अपना राज्य पाने की इच्छा से [बारह वर्ष वनवास करके, उक्त वन से विराटनगर के लिए चल दिये ।] गोह के चमड़े के अंगुलि-त्राण पहने और धनुष, खड्ग, तरकस तथा अनेक शस्त्र बांधे हुए पैदल चलते-चलते यमुना नदी के दक्षिण तट पर पहुंचे । वे वीर कभी पर्वतों पर और कभी जङ्गलों में शिकार करते थे । [अनेक दर्शनीय

युधिष्ठिर उवाच—यमग्निर्ब्राह्मणो भूत्वा समागच्छन्नृणां वरम् ।
दिधक्षुः खांडवं दावं दाशार्हसहितं पुरा ॥ ११ ॥
महाबलं महाबाहुमजितं कुरुनंदनम् ।
सोऽयं किं कर्म कौंतेयः करिष्यति धनञ्जयः ॥ १२ ॥
योऽयमासाद्य तं दावं तर्पयामास पावकम् ।
विजित्यैकरथेनेंद्रं हत्वा पन्नगराक्षसान् ॥ १३ ॥
वासुकेः सर्पराजस्य स्वसारं हृतवांश्च यः ।
श्रेष्ठो यः प्रतियोधानां सोऽर्जुनः किं करिष्यति ॥ १४ ॥
सूर्यः प्रतपतां श्रेष्ठो द्विपदां ब्राह्मणो वरः ।
आशीविषश्च सर्पाणामग्निस्तेजस्विनां वरः ॥ १५ ॥
आयुधानां वरं वज्रं ककुद्मी च गवां वरः ।
ह्रदानामुदधिः श्रेष्ठः पर्जन्यो वर्षतां वरः ॥ १६ ॥
धृतराष्ट्रश्च नागानां हस्तिष्वैरावतो वरः ।
पुत्रः प्रियाणामधिको भार्या च सुहृदां वरा ॥ १७ ॥
यथैतानि विशिष्टानि जात्यां जात्यां वृकोदर ।
एवं युवा गुडाकेशः श्रेष्ठः सर्वधनुष्मताम् ॥ १८ ॥
सोऽयमिंद्रादनवरो वासुदेवान्महाद्युतिः ।
गांडीवधन्वा बीभत्सुः श्वेताश्वः किं करिष्यति॥ १९ ॥
उषित्वा पंच वर्षाणि सहस्राक्षस्य वेश्मनि ।

युधिष्ठिर ने कहा—खाण्डव वन जलाने की इच्छा से ब्राह्मण का रूप रखकर साक्षात् अग्निदेव जिन—कृष्ण के सखा, महाबली, महाबाहु, विजयी, पुरुषश्रेष्ठ—अर्जुन के पास आये थे; जिन्होंने अकेले ही रथ पर सवार हो इन्द्र को परास्त कर तथा नागों और राक्षसों को मारकर अग्नि को तृप्त किया था; जो नागराज वासुकि की बहन को हर लाये; जो प्रधान योद्धाओं में श्रेष्ठ हैं, वे पराक्रमी अर्जुन किस प्रकार छिपकर रहेंगे ? ॥११।१४॥

जैसे प्रतापियों में सूर्य, मनुष्यों में ब्राह्मण, सांपों में आशीविष, तेजस्वियों में अग्नि, शस्त्रों में वज्र, बैलों में साड, पशुओं में सिंह, बरसनेवालों में मेघ, नागों में धृतराष्ट्र, हाथियों में ऐरावत, प्रियों में पुत्र [पक्षियों में गरुड़], और सुहृदों में भार्या श्रेष्ठ है, वैसे ही सब धनुषधारियों में अर्जुन श्रेष्ठ हैं। ये इन्द्र और श्रीकृष्ण के समान प्रभावशाली हैं। इन्होंने

तामुपारुह्य नकुलो धनूंषि निदधे स्वयम् ।
यानि तस्याऽवकाशानि दिव्यरूपाण्यमन्यत ॥ २९ ॥
यत्र चाऽपश्यत स वै तिरो वर्षाणि वर्षति ।
तत्र तानि दृढैः पाशैः सुगाढं पर्यबंधत ॥ ३० ॥
शरीरं च मृतस्यैकं समवघ्नंत पांडवाः ।
विवर्जयिष्यंति नरा दूरादेव शमीमिमाम् ॥ ३१ ॥
आवद्धं शवमत्रेति गंधमाघ्राय पूतिकम् ।
अशीतिशतवर्षेयं माता न इति वादिनः ॥ ३२ ॥
कुलधर्मोऽयमस्माकं पूर्वैराचरितोऽपि वा ।
समासज्ज्याऽथ वृक्षेऽस्मिन्निति वै व्याहरंति ते ॥ ३३ ॥
आगोपालाविपालेभ्य आचक्षाणाः परंतपाः ।
आजग्मुर्नगराभ्याशं पार्थाः शत्रुनिवर्हणाः ॥ ३४ ॥
जयो जयंतो विजयो जयत्सेनो जयद्बलः ।
इति गुह्यानि नामानि चक्रे तेषां युधिष्ठिरः ॥ ३५ ॥
ततो यथाप्रतिज्ञाभिः प्राविशन्नगरं महत् ।
अज्ञातचर्यां वत्स्यंतो राष्ट्रे वर्षं त्रयोदशम् ॥ ३६ ॥

इति श्रीमन्महाभारते विराटपर्वणि पांडवप्रवेशपर्वणि युधिष्ठिरादिमंत्रणे पंचमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

जीता था उस धनुष की डोरी इस समय उन्होंने उतार दी ॥२१।२७॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! जब वे धनुष, खड्ग, महामूल्य तरकस और तीक्ष्ण धारवाले तीर आदि एक जगह एकत्र हो गये तब धर्मराज ने नकुल से कहा—हे वीर! तुम इस शमी के पेड़ पर चढ़कर इन हथियारों को उसमें [सुरक्षित स्थान पर] रख दो। युधिष्ठिर की आज्ञा से उस वृक्ष पर चढ़कर नकुल ने वे सब शस्त्र ऐसी जगह पर (खोड़र में) पाश से बांधकर रख दिये जो सुरक्षित, दृढ़ और गुप्त थीं तथा जहां पर वर्षा का जल नहीं पहुंच सकता था ॥२८।३०॥

फिर यह सोचकर कि मुर्दे की गन्ध पाकर कोई मनुष्य इस स्थान पर न आवेगा, उन्होंने उस पेड़ की डाल में एक मुर्दा बांध दिया। इसके पश्चात् वहां जो लोग गाय, भेड़-बकरी आदि चरानेवाले घूमा करते थे उनमें पाण्डवों ने यह बात फैला दी कि हम लोगों ने, अपने कुल की रीति के अनुसार, अपनी एक सौ अस्सी वर्ष की अवस्थावाली बुढ़िया माता का मृत शरीर इस पेड़ में बांध दिया है। अब युधिष्ठिर ने—किसी आपत्ति के समय परस्पर पुकारने के लिए—जय, जयन्त, विजय, जयत्सेन और जय-

गीतं नृत्यं विचित्रं च वादित्रं विविधं तथा ।
शिक्षयिष्याम्यहं राजन्विराटस्य पुरस्त्रियः ॥ २९ ॥
प्रजानां समुदाचारं बहु कर्म कृत वदन् ।
छादयिष्यामि कौंतेय माययाऽऽत्मानमात्मना ॥ ३० ॥
युधिष्ठिरस्य गेहे वै द्रौपद्याः परिचारिका ।
उषिताऽस्मीति वक्ष्यामि पृष्टो राजा च पांडव ॥ ३१ ॥
एतेन विधिना छन्नः कृतकेन यथा नलः ।
विहरिष्यामि राजेंद्र विराटभवने सुखम् ॥ ३२ ॥

इति श्रीमन्महाभारते विराटपर्वणि पांडवप्रवेशपर्वणि युधिष्ठिरादिमंत्रणे द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

निया कहकर रनिवास की स्त्रियों को और राजा को सन्तुष्ट करूंगा ॥२५।२८॥

रनिवास की स्त्रियों को तरह तरह का नाच और गाना-बजाना सिखाऊंगा । राजा के आगे प्रजा के आचार व्यवहार का वर्णन करूंगा । इस प्रकार स्त्रियों के भाव दिखाकर मायापूर्वक मैं अपने आप को छिपाये रहूंगा । राजा के पूछने पर कहूंगा कि मैं पहले महाराज युधिष्ठिर के यहां द्रौपदी की सेवा करनेवाली दासी थी । धर्मराज मुझे बहुत मानते थे हे धर्मराज ! [मैं उर्वशी के शाप से निःसंदेह नपुंसक हो गया हूं । तेरहवें वर्ष के पश्चात्, इन्द्र की कृपा से, मेरा इस शाप से छुटकारा होगा ।] जैसे राजा नल बनावटी रूप में छिपकर रहे थे वैसे ही मैं भी अपने को छिपा कर राजा विराट के यहां सुख से रहूंगा । धार्मिक श्रेष्ठ वीर अर्जुन यों कहकर चुप हो गये । अब महाराज युधिष्ठिर ने और भाइयों से [अज्ञातवास के सम्बन्ध में] पूछा ॥२९।३२॥

—o—

विराटपर्व का दूसरा अध्याय समाप्त हुआ ॥ २ ॥

अथ तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

वैशम्पायन उवाच—इत्येवमुक्त्वा पुरुषप्रवीरस्तथाऽर्जुनो धर्मभृतां वरिष्ठः ।
वाक्यं तथाऽसौ विरराम भूयो नृपोऽपरं भ्रातरमावभाषे ॥ १ ॥
युधिष्ठिर उवाच—किं त्वं नकुल कुर्वाणस्तत्र तात चरिष्यसि ।
कर्म तत्त्वं समाचक्ष्व राज्ये तस्य महीपतेः ॥
सुकुमारश्च शूरश्च दर्शनीयः सुखोचितः ॥ २ ॥

तीसरा अध्याय ॥ ३ ॥

युधिष्ठिर ने कहा—हे नकुल ! तुम सुकुमार, शूर, सुन्दर और सुख भोगने के योग्य हो । इसलिए हे भाई ! तुम राजा विराट के यहां कौन सा कार्य करते हुए अज्ञातवास करोगे ? ॥१।२॥

नृणां च बंधनं मोहं पुत्रनाशं धनक्षयम् ॥ २३ ॥
व्याधिं मृत्युं भयं चैव पूजिता नाशयिष्यसि ।
सोऽहं राज्यात्परिभ्रष्टः शरणं त्वां प्रपन्नवान् ॥ २४ ॥
प्रणतश्च यथा मूर्ध्ना तव देवि सुरेश्वरि ।
त्राहि मां पद्मपत्राक्षि सत्ये सत्या भवस्व नः ॥ २५ ॥
शरणं भव मे दुर्गे शरण्ये भक्तवत्सले ।
एवं स्तुता हि सा देवी दर्शयामास पांडवम् ॥ २६ ॥
उपगम्य तु राजानमिदं वचनमब्रवीत् ।
देव्युवाच—शृणु राजन्महाबाहो मदीयं वचनं प्रभो ॥ २७ ॥
भविष्यत्यचिरादेव संग्रामे विजयस्तव ।
मम प्रसादान्निर्जित्य हत्वा कौरववाहिनीम् ॥ २८ ॥
राज्यं निष्कंटकं कृत्वा भोक्ष्यसे मेदिनी पुनः ।
भ्रातृभिः सहितो राजन्प्रीतिंप्राप्स्यसि पुष्कलाम् ॥२९ ॥
मत्प्रसादाच्च ते सौख्यमारोग्यं च भविष्यति ।
ये च संकीर्त्तयिष्यंति लोके विगतकल्मषाः ॥ ३० ॥
तेषां तुष्टा प्रदास्यामि राज्यमायुर्वपुः सुतम् ।
प्रवासे नगरे चापि संग्रामे शत्रुसंकटे ॥ ३१ ॥
अटव्यां दुर्गकांतारे सागरे गहने गिरौ ।

पा जाते हैं। कीर्ति, लक्ष्मी, धृति, सिद्धि, लज्जा, विद्या, सन्तान, बुद्धि, सन्ध्या, रात्रि, प्रभा, निद्रा, ज्योत्स्ना, कान्ति, क्षमा और दया आदि सब तुम्हीं हो ॥१९।२३॥

तुम्हारी पूजा करने से लोग बन्धन, मोह, पुत्र-नाश, धन-क्षय, व्याधि, मृत्यु और सब प्रकार के भय से छुटकारा पा जाते हैं। [तुम देवी-देवताओं की ईश्वरी, सत्यरूपिणी, शरणागत जनों की रक्षा करनेवाली और भक्तों पर प्यार रखनेवाली हो।] मैं ही राज्य से भ्रष्ट होकर तुम्हारी शरण में आया हूं और तुमको प्रणाम कर रहा हूं। कृपा करके मेरी रक्षा करो ॥२४।२६॥

युधिष्ठिर के मुंह से अपनी स्तुति सुनकर देवी बहुत प्रसन्न हुई। राजा युधिष्ठिर के आगे प्रकट होकर उन्होंने कहा—हे राजेन्द्र! सुनो, मेरी कृपा से शीघ्र ही युद्ध में तुम्हें विजय प्राप्त होगी। हे महाबाहु! मेरे प्रसाद से कौरवों को हराकर भाइयों के साथ, प्रसन्नतापूर्वक तुम निष्कण्टक राज्य भोगोगे और पृथ्वी का पालन करोगे। तुम्हें सुख और आरोग्य प्राप्त होगा ॥२७।३०॥

लक्षणं चरितं चापि गवां यच्चापि मंगलम् ।
तत्सर्वं मे सुविदितमन्यच्चापि महीपते ॥ ११ ॥
वृषभानपि जानामि राजन्पूजितलक्षणान् ।
येषां मूत्रमुपाघ्राय अपि वंध्या प्रसूयते ॥ १२ ॥
सोऽहमेवं चरिष्यामि प्रीतिरत्र हि मे सदा ।
न च मां वेत्स्यते कश्चित्तोषयिष्ये च पार्थिवम् ॥ १३ ॥

युधिष्ठिर उवाच—इयं हि नः प्रिया भार्या प्राणेभ्योऽपि गरीयसी।
मातेव परिपाल्या च पूज्या ज्येष्ठेव च स्वसा ॥ १४ ॥
केन स्म द्रौपदी कृष्णा कर्मणा विचरिष्यति ।
न हि किंचिद्विजानाति कर्म कर्तुं यथा स्त्रियः ॥ १५ ॥
सुकुमारी च बाला च राजपुत्री यशस्विनी ।
पतिव्रता महाभागा कथं नु विचरिष्यति ॥ १६ ॥
माल्यगंधानलंकारान्वस्त्राणि विविधानि च ।
एतान्येवाऽभिजानाति यतो जाता हि भामिनी ॥ १७ ॥

द्रौपद्युवाच—सैरंध्र्योऽरक्षिता लोके भुजिष्याः संति भारत।
नैवमन्याः स्त्रियो यांति इति लोकस्य निश्चयः ॥
साऽहं ब्रुवाणा सैरंध्री कुशला केशकर्मणि ॥ १८ ॥

को अच्छी तरह कर सकता हूं। मैं गायों के लक्षण, आचरण और उनके शुभाशुभ को अच्छी तरह जानता हूं। हे महाराज ! मैं ऐसे सुलक्षणवाले श्रेष्ठ बैलों को भी पहचानता हूं, जिनके मूत्र को सूंघने से बांझ स्त्री के भी बच्चा उत्पन्न होता है। मैं विराट-नगर में इस, अपने प्रिय, कार्य को करता हुआ रहूंगा। आप कुछ चिन्ता न करें। कोई मुझे पहचान न सकेगा। मैं अपने कार्य से राजा विराट को सन्तुष्ट रक्खूंगा॥८।१३॥

यह सुनकर युधिष्ठिर ने कहा—द्रौपदी वहां क्या कार्य करेगी ? ये तो और स्त्रियों की तरह कोई कार्य करना नहीं जानतीं। ये हम लोगों को प्राणों से भी प्यारी हैं। ये माता (कुलाचार) के समान पालनीय और बड़ी बहन (पार्वती) के समान पूजनीय हैं। ये पतिव्रता, सुशीला, यशस्विनी, सुकुमारी, राजपुत्री द्रौपदी राजा विराट के यहां कैसे क्या करके रहेंगी ? जन्म से लेकर माला, गन्ध, गहने, अनेक प्रकार के वस्त्र आदि उपभोग की सामग्री के सिवा ये तो और कुछ भी नहीं जानतीं ॥१४।१७॥

द्रौपदी ने कहा—हे महाराज ! आप मेरे लिए चिन्ता न करें। बड़े लोगों के यहा अच्छे वंश की ऐसी स्त्रियां रहा करती हैं जो स्त्रियों के श्रृङ्गार का कार्य करती हैं। वे सैरन्ध्री कहलाती हैं। राजा विराट

आज से मेरे प्रिय सखा हुए। मैं जिस तरह की सवारी पर चढ़ता हूं उसी तरह की सवारी पर तुम भी चढ़ सकोगे। इच्छानुसार तुम भी मेरे ही समान भोजन, वस्त्र, गहने आदि का उपभोग कर सकोगे। तुमको मेरे रनिवास में भी जाने का अधिकार होगा। कोई मनुष्य जीविका के लिए तुम्हारे पास आकर प्रार्थना करे तो तुम मुझे उसकी सूचना देना। मैं इच्छा के अनुसार तत्काल उसका प्रबन्ध कर दूंगा। मुझसे तुम किसी तरह का सङ्कोच न करना॥१५।१७॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! नरश्रेष्ठ युधिष्ठिर इस प्रकार मत्स्यराज विराट से मिलकर, परम आदर पाकर, बड़े सुख से वहां रहने लगे। युधिष्ठिर के वहां जाकर रहने का वृत्तान्त किसी को मालूम नहीं हुआ॥१८॥

विराटपर्व का सातवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ७ ॥

अथ अष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

वैशम्पायन उवाच–अथाऽपरो भीमबलः श्रिया ज्वलन्नुपाययौ सिंहविलासविक्रमः।
खजां च दर्वीं च करेण धारयन्नसिं च कालांगमकोशमव्रणम् ॥ १ ॥
स सूदरूपः परमेण वर्चसा रविर्यथा लोकमिमं प्रकाशयन्।
स कृष्णवासा गिरिराजसारवांस्तं मत्स्यराजं समुपेत्य तस्थिवान्॥ २ ॥
तं प्रेक्ष्य राजा रमयन्नुपागतं ततोऽब्रवीज्जानपदान्समागतान्।
सिंहोन्नतांसोऽयमतीवरूपवान्प्रदृश्यते को नु वरर्षभो युवा ॥ ३ ॥
अदृष्टपूर्वः पुरुषो रविर्यथा वितर्कयन्नाऽस्य लभामि निश्चयम्।
तथाऽस्य चित्तं ह्यपि संवितर्कयन्नरर्षभस्याऽस्य नयामि तत्त्वतः ॥ ४ ॥
दृष्ट्वैव चैनं तु विचारयाम्यहं गंधर्वराजो यदि वा पुरंदरः।
जानीत कोऽयं मम दर्शने स्थितो यदीप्सितं तल्लभतां च मा चिरम्॥ ५ ॥
विराटवाक्येन च तेन चोदिता नरा विराटस्य सुशीघ्रगामिनः।
उपेत्य कौंतेयमथाऽब्रुवंस्तदा यथा स राजाऽवदताऽच्युतानुजम्॥ ६ ॥

आठवां अध्याय ॥ ८ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! फिर महाबली, सिंह-सदृश, सूर्य के समान तेजस्वी, सुदृढ़ शरीरवाले भीमसेन, हाथों में खुली हुई पैनी तलवार, मन्थदण्ड (या चिमटा) और कड़छी लिये हुए, रसोइये के वेष से राजा विराट की सभा में पहुंचे। अपने पास उपस्थित भीमसेन को देखकर विराट ने अपने सभासदों और नगरवासियों से कहा—यह जो सूर्य के समान तेजस्वी, रूपवान्, सिंह के से ऊँचे कन्धोंवाला, नया मनुष्य देख पड़ता है सो कौन है? मैं बहुत सोच-विचार कर भी यहां इस पुरुष के आने का अभिप्राय नहीं समझ सकता। इसलिए तुम शीघ्र पास जाकर पूछो कि यह कौन है और किसलिए आया है। देखने से यह गन्धर्वराज या इन्द्र जान पड़ता है। कोई भी हो मैं इसकी इच्छा पूरी करूंगा॥१-५॥

इंद्रसेनमुखाश्चेमे रथानादाय केवलान् ।
यांतु द्वारवतीं शीघ्रमिति मे वर्त्तते मतिः ॥ ३ ॥
इमाश्च नार्यो द्रौपद्याः सर्वाश्च परिचारिकाः ।
पंचालानेव गच्छंतु सूदपौरोगवैः सह ॥ ४ ॥
सर्वैरपि च वक्तव्यं न प्राज्ञायंत पांडवाः ।
गता ह्यस्मानपाहाय सर्वे द्वैतवनादिति ॥ ५ ॥
वैशम्पायन उवाच—एवं तेऽन्योन्यमामंत्र्य कर्माण्युक्त्वा पृथक्पृथक् ।
धौम्यमामंत्रयामासुः स च तान्मंत्रमब्रवीत् ॥ ६ ॥
धौम्य उवाच—विहितं पांडवाः सर्वं ब्राह्मणेषु सुहृत्सु च ।
याने प्रहरणे चैव तथैवाऽग्निषु भारत ॥ ७ ॥
त्वया रक्षा विधातव्या कृष्णायाः फाल्गुनेन च ।
विदितं वो यथा सर्वं लोकवृत्तमिदं तव ॥ ८ ॥
विदिते चापि वक्तव्यं सुहृद्भिरनुरागतः ।
एष धर्मश्च कामश्च अर्थश्चैव सनातनः ॥ ९ ॥
अतोऽहमपि वक्ष्यामि हेतुमत्र निबोधत ।
हंतेमां राजवसतिं राजपुत्रा ब्रवीम्यहम् ॥ १० ॥

अनुचर, खाली रथ ले जाकर, द्वारकापुरी में ठहरें। ये द्रौपदी की सेवा करनेवाली स्त्रियां पाञ्चाल देश को ही जायँ। कोई हमारे बारे में पूछे तो सब यही कह दें कि पाण्डव तो अचानक हम लोगों को, और अपने आश्रित ब्राह्मणों को, छोड़कर द्वैतवन से न जाने कहां चले गये। उनके सम्बन्ध में हम कुछ नहीं जानते ॥१।५॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! इस प्रकार अलग-अलग अपने कार्यों का निश्चय और सलाह करके पाण्डवों ने पुरोहित धौम्य को बुलाया। महर्षि धौम्य सब धर्मों के विशेष जानकार थे। उन्होंने पाण्डवों के पास आकर यों उपदेश दिया—हे पाडवो! तुमने सुहृद्, सवारी, ब्राह्मण, शस्त्र, अग्निहोत्र आदि के सम्बन्ध में अपना कर्त्तव्य निश्चित कर लिया। अब मैं तुमसे कुछ कहना चाहता हूं—एकाग्र होकर सुनो। धर्मराज और अर्जुन, तुम सदा द्रौपदी की रक्षा करना। हे पाण्डवो! तुम लोक-व्यवहार को अच्छी तरह जानते हो। किन्तु जानी हुई बात के बारे में भी अनुराग-वश उपदेश करना हितचिन्तक सुहृदों का कर्त्तव्य है। यही सनातन धर्म है। इसी से अर्थ और काम की प्राप्ति होती है। इसी से मैं तुमको, कर्त्तव्य के बारे में, उपदेश करता हूं। हे राजकुमारो! मैं बताता हूं कि राजाओं के यहां किस तरह रहना चाहिए ॥६।१०॥

अलंबुषा मिश्रकेशी पुंडरीकाऽथ मालिनी ।
इंद्राणी वारुणी वा त्वं त्वष्टुर्धातुः प्रजापतेः ।
देव्यो देवेषु विख्यातास्तासां त्वं कतमा शुभे ॥ १६ ॥
द्रौपद्युवाच—नाऽस्मि देवी न गंधर्वी नाऽसुरी न च राक्षसी।
सैरंध्री तु भुजिष्याऽस्मि सत्यमेतद्ब्रवीमि ते ॥ १७ ॥
केशाञ्जानाम्यहं कर्तुं पिंषे साधु विलेपनम् ।
मल्लिकोत्पलपद्मानां चंपकानां तथा शुभे ॥ १८ ॥
ग्रथयिष्ये विचित्राश्च स्रजः परमशोभनाः ।
आराधयं सत्यभामां कृष्णस्य महिषीं प्रियाम् ॥ १९ ॥
कृष्णां च भार्यां पांडूनां कुरूणामेकसुंदरीम् ।
तत्र तत्र चराम्येवं लभमाना सुभोजनम् ॥ २० ॥
वासांसि यावंति लभे तावत्तावद्रमे तथा ।
मालिनीत्येव मे नाम स्वयं देवी चकार सा ।
साऽहमद्याऽऽगता देवि सुदेष्णे त्वन्निवेशनम् ॥ २१ ॥
सुदेष्णोवाच—मूर्ध्नि त्वां वासयेयं वै संशयो मे न विद्यते ।
न चेदिच्छति राजा त्वां गच्छेत्सर्वेण चेतसा ॥ २२ ॥
स्त्रियो राजकुले याश्च याश्चेमा मम वेश्मनि ।

गन्धर्व-कन्या, अप्सरा, नाग-वधू, विद्याधरी, किन्नरी, या चन्द्रमा की प्यारी स्त्री रोहिणी हो ? तुम क्या अलम्बुषा, मिश्रकेशी, पुण्डरीका, मालिनी आदि अप्सराओं में से कोई हो ? तुम इन्द्राणी, वरुण की स्त्री, विश्वकर्मा की स्त्री, ब्रह्माणी या कोई प्रसिद्ध देव-कन्या हो ? बताओ, तुम कौन हो ? ॥९।१६॥

द्रौपदी ने कहा—हे रानीजी ! मैं देवी, गन्धर्व-पत्नी, असुर-पत्नी या किन्नरी आदि में से कोई नहीं हूँ। आप से सत्य कहती हूं, मैं तो सैरन्ध्री हूँ। मैं बाल सँवारना, अङ्गराग (उबटन) लगाना, मल्लिका-कमल-चम्पा आदि सुगन्धित फूलों के गजरे बनाना जानती हूँ। मैं पहले कृष्ण की प्यारी रानी सत्यभामा और कुरु-कुल की एकमात्र सुन्दरी, पाण्डवों की गुणवती भार्या द्रौपदी की दासी रह चुकी हूं। सत्यभामा और द्रौपदी के यहां उत्तम भोजन-वस्त्र पाकर मैं बड़े सुख से रहती थी। देवी द्रौपदी ने मेरा नाम मालिनी रक्खा था। वे मुझे अपने प्राणों से भी प्यारी सखी समझती थीं। हे रानीजी ! इस समय आश्रय के लिए मैं आपके पास आई हूँ ॥१७।२१॥

रानी सुदेष्णा ने द्रौपदी की बातें सुनकर कहा—हे सुन्दरी ! मैं तुम्हें बड़ी प्रसन्नता से अपने पास रख सकती हूँ; किन्तु मुझे यह भय है कि तुमको देख-

अंतःपुरचरा ये च द्वेष्टि यानहिताश्च ये ॥ १८ ॥
विदिते चाऽस्य कुर्वीत कार्याणि सुलघून्यपि ।
एवं विचरतो राज्ञि न क्षतिर्जायते क्वचित् ॥ १९ ॥
गच्छन्नपि परां भूमिमपृष्टो ह्यनियोजितः ।
जात्यंध इव मन्येत मर्यादामनुचिंतयन् ॥ २० ॥
न हि पुत्रं न नप्तारं न भ्रातरमरिंदमाः ।
समतिक्रांतमर्यादं पूजयंति नराधिपाः ॥ २१ ॥
यत्नाच्चोपचरेदेनमग्निवद्देववच्चिह ।
अनृतेनोपचीर्णो हि हन्यादेव न संशयः ॥ २२ ॥
यद्यद्भर्ताऽनुयुंजीत तत्तदेवाऽनुवर्त्तयेत् ।
प्रमादमवलेपं च कोपं च परिवर्जयेत् ॥ २३ ॥
समर्थनासु सर्वासु हितं च प्रियमेव च ।
संवर्णयेत्तदेवाऽस्य प्रियादपि हितं भवेत् ॥ २४ ॥
अनुकूलो भवेच्चाऽस्य सर्वार्थेषु कथासु च ।
अप्रियं चाऽहितं यत्स्यात्तदस्मै नाऽनुवर्णयेत् ॥ २५ ॥
नाऽहमस्य प्रियोऽस्मीति मत्वा सेवेत पंडितः ।
अप्रमत्तश्च सततं हितं कुर्यात्प्रियं च यत् ॥ २६ ॥

देखते; यहा तक कि मिथ्यावादी मन्त्री का भी अपमान करते हैं। बुद्धिमान् पुरुष को चाहिए कि राजा की स्त्रियों से, रनिवास में जाने-आनेवालों से, राजा से द्वेष रखनेवालों से और राजा की बुराई करनेवालों से मेल-जोल न करे । छोटे से छोटा काम भी राजा से पूछकर ही करे । राजदरबार में ऐसा आचरण करनेवाले को कभी विपत्ति का खटका नहीं होता । उच्च पद [illegible] स्थित व्यक्ति को भी राजा के पूछे बिना या राजा के द्वारा नियुक्त हुए बिना—अपने पद का खयाल रखकर—जन्मान्ध का सा व्यवहार करना चाहिए । राजा के पुत्र, पोता, भाई आदि स्वजन भी यदि मर्यादा का उल्लङ्घन करते हैं तो राजा लोग उनका आदर नहीं करते ॥१५।२१॥

अग्नि और देवता समझकर राजा की सेवा करनी चाहिए । [वह सब प्राणियों का भरण-पोषण और रक्षण करता है ।] जो कोई मिथ्या उपचार के द्वारा राजा की सेवा करता है वह प्राणों से हाथ धो बैठता है । राजा जो आज्ञा करे उसे—आलस्य, गर्व और क्रोध से बचकर—पूर्ण करना चाहिए । कर्तव्य-अकर्तव्य के निर्णय के अवसर पर जो प्रिय और हित हो वही उसके आगे कहना चाहिए । जहा प्रिय और हित वचन दुर्लभ हो वहा हित की बात ही

तस्याऽष्टशतसाहस्रा गवां वर्गाः शतं शतम् ॥ ९ ॥
अपरे शतसाहस्रा द्विस्तावंतस्तथाऽपरे ।
तेषां गोसंख्य आसं वै तंतिपालेति मां विदुः ॥ १० ॥
भूतं भव्यं भविष्यं च यच्च संख्यागतं गवाम् ।
न मेऽस्त्यविदितं किंचित्समंताद्दशयोजनम् ॥ ११ ॥
गुणाः सुविदिता ह्यासन्मम तस्य महात्मनः ।
आसीच्च स मया तुष्टः कुरुराजो युधिष्ठिरः ॥ १२ ॥
क्षिप्रं च गावो बहुला भवंति न तासु रोगो भवतीह कश्चन ।
तैस्तैरुपायैर्विदितं ममैतदेतानि शिल्पानि मयि स्थितानि ॥ १३ ॥
वृषभांश्चापि जानामि राजन्पूजितलक्षणान् ।
येषां मूत्रमुपाघ्राय अपि वंध्या प्रसूयते ॥ १४ ॥
विराट उवाच–शतं सहस्राणि समाहितानि सवर्णवर्णस्य विमिश्रितान् गुणैः ।
पशून्सपालान्भवते ददाम्यहं त्वदाश्रया मे पशवो भवंत्विह ॥ १५ ॥
वैशम्पायन उवाच–तथा स राज्ञो विदितो विशांपतेरुवास तत्रैव सुखं नरोत्तमः ।
न चैनमन्येऽपि विदुः कथंचन प्रादाच्च तस्मै भरणं यथेप्सितम् ॥ १६ ॥

इति श्रीमन्महाभारते विराटपर्वणि पांडवप्रवेशपर्वणि सहदेवप्रवेशे दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

सहदेव ने कहा—पाण्डव पांच भाई थे। उनमें बड़े युधिष्ठिर के अस्सी हजार, भीमसेन के दस हजार और अर्जुन के बीस हजार गायें थीं। मैं उन सब गायों का पालन और गिनती किया करता था। मुझे लोग तन्तिपाल कहते थे। मैं दस योजन तक फैली हुई गायों की गिनती कर सकता हूं। गायों के सम्बन्ध की सब बातें मैं जानता हूं। उनके सम्बन्ध में भूत, भविष्य, वर्त्तमान कुछ भी ऐसा नहीं जो मैं न जानता होऊं। महात्मा युधिष्ठिर मेरे सब गुणों को जानते थे और मुझपर बहुत प्रसन्न रहते थे। जिस उपाय से गायों का वंश बढ़ता है और वे रोगों से बची रहती हैं सो मैं अच्छी तरह जानता हूं। ये सब कार्य मुझे अच्छी तरह मालूम हैं। हे राजेन्द्र! जिनके मूत्र को सूंघकर बांझ स्त्री के गर्भ रह जाता है उन उत्तम लक्षणोंवाले बैलों की भी मुझे पहचान है।९।१४।

राजा विराट ने कहा—मेरी गोशाला और पशुशाला में अनेक गुणों से युक्त बहुत से पशु हैं। उनमें से किसमें कौन सा गुण है, यह अभी तक मालूम नहीं हुआ। मैं उन पशुओं को तुम्हें सौंपता हूं। पशुओं की रक्षा करनेवाले जितने कर्मचारी मेरे यहां हैं उनका सरदार भी तुमको बनाता हूं। तुम प्रसन्नता के साथ यह कार्य स्वीकार करो॥१५॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! इस प्रकार अपना परिचय देकर सहदेव राजा विराट के

न चोष्ठौ न भुजौ जानू न च वाक्यं समाक्षिपेत् ।
सदा वातं च वाचं च ष्ठीवनं चाऽऽचरेच्छनैः ॥ ३५ ॥
हास्यवस्तुषु चाऽन्यस्य वर्तमानेषु केषुचित् ।
नाऽतिगाढं प्रहृष्येत न चाऽप्युन्मत्तवद्धसेत् ॥ ३६ ॥
न चाऽतिधैर्येण चरेद्गुरुतां हि व्रजेत्ततः ।
स्मितं तु मृदुपूर्वेण दर्शयेत प्रसादजम् ॥ ३७ ॥
लाभेन हर्षयेद्यस्तु न व्यथेद्योऽवमानितः ।
असंमूढश्च यो नित्यं स राजवसतिं वसेत् ॥ ३८ ॥
राजानं राजपुत्रं वा संवर्णयति यः सदा ।
अमात्यः पंडितो भूत्वा स चिरं तिष्ठते प्रियः ॥ ३९ ॥
प्रगृहीतश्च योऽमात्यो निगृहीतस्त्वकारणैः ।
न निर्वदति राजानं लभते संपदं पुनः ॥ ४० ॥
प्रत्यक्षं च परोक्षंच गुणवादी विचक्षणः ।
उपजीवी भवेद्राज्ञो विषये योऽपि वा भवेत् ॥ ४१ ॥
अमात्यो हि बलाद्भोक्तुं राजानं प्रार्थयेत यः ।
न स तिष्ठेच्चिरं स्थानं गच्छेच्च प्राणसंशयम् ॥ ४२ ॥

कार्य और हित करते हैं वही राजा के प्यारे होते और तरह-तरह के ऐश्वर्य-सुख पा सकते हैं । दुर्लभ ऐश्वर्य और कृपा-दृष्टि प्राप्त हो जाने पर राजा के हितकर प्रिय कार्यों में भूल-चूक न होने दे । जिस राजा के कोप से अनिष्ट और प्रसन्नता से ऐश्वर्य प्राप्त होता है उस राजा का अप्रिय करने का साहस कौन बुद्धिमान् पुरुष करेगा ? ॥३१।३४॥

हे पाण्डवो ! राजा के आगे बकवास करना, हाथ-पांव हिलाना या जोर से चञ्चलता प्रकट करना कभी उचित नहीं । सदा स्थिर होकर बैठना चाहिए । धीरे से थूके, छींके या अधोवायु छोड़े । बहुत हंसी के द्वारा मूर्खता, या बिलकुल हंसी दबाकर गम्भीरता, प्रकट न करके मृदु हास्य करना उचित है ॥३५।३७॥

जो मान के लाभ से प्रसन्न और अपमान से दुखी नहीं होता, सदा सावधान रहता है, वही राजसभा में रह सकता है । जो बुद्धिमान् सचिव राजा या राजपुत्र की स्तुति करता है वही सदा राजा को प्यारा रहता है । जो कृपापात्र सचिव किसी कारण राजदण्ड पाकर भी राजा के प्रति द्वेष का भाव नहीं प्रकट करता, उसे फिर भी पहले का ऐश्वर्य और अनुग्रह प्राप्त हो जाता है । जो कोई जिस राजा के राज्य में रहे या राजा के आश्रय में जीविका पावे उसे, क्या राजा के सामने और क्या उसके पीछे, उसकी प्रशंसा ही करनी चाहिए ॥३८।४१॥

दुष्टानां प्रतिपत्तिं च कृत्स्नं चैव चिकित्सितम् ॥ ७ ॥
न कातरं स्यान्मम जातु वाहनं न मेऽस्ति दुष्टा वडवा कुतो हयाः ।
जनस्तु मामाह स चापि पांडवो युधिष्ठिरो ग्रंथिकमेव नामतः ॥ ८ ॥
विराट उवाच—यदस्ति किंचिन्मम वाजिवाहनं तदस्तु सर्वं त्वदधीनमद्य वै ।
ये चापि केचिन्मम वाजियोजकास्त्वदाश्रयाः सारथयश्च संतु मे ॥ ९ ॥
इदं तवेष्टं यदि वै सुरोपम ब्रवीहि यत्ते प्रसमीक्षितं वसु ।
न तेऽनुरूपं हयकर्म विद्यते प्रभासि राजेव हि संमतो मम ॥ १० ॥
युधिष्ठिरस्येव हि दर्शनेन मे समं तवेदं प्रियमत्र दर्शनं ।
कथं तु भृत्यैः स विनाकृतो वने वसत्यनिंद्यो रमते च पांडवः ॥ ११ ॥
वैशम्पायन उवाच—तथा स गंधर्ववरोपमो युवा विराटराज्ञा मुदितेन पूजितः ।
न चैनमन्येऽपि विदुः कथंचन प्रियाभिरामं विचरंतमंतरा ॥ १२ ॥
एवं हि मत्स्ये न्यवसंत पांडवा यथाप्रतिज्ञाभिरमोघदर्शनाः ।
अज्ञातचर्यां व्यचरन्समाहिताः समुद्रनेमीपतयोऽतिदुःखिताः ॥ १३ ॥

इति श्रीमन्महाभारते विराटपर्वणि पांडवप्रवेशपर्वणि नकुलप्रवेशे द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥
समाप्तं चेदं पांडवप्रवेशपर्व ।

जितना धन चाहो उतना तुमको मिलेगा। अब ठीक-ठीक बताओ कि तुम इस समय कहां से क्यों आये हो? पहले तुम कहां थे? किस-किस कार्य में तुम निपुण हो? ॥५॥

नकुल ने कहा—हे राजेंद्र! पाण्डवों में सबसे बड़े महाराज युधिष्ठिर ने पहले मुझे अपने यहां घोड़ों की देख-रेख के लिए नौकर रख लिया था। मैं घोड़ों की प्रकृति पहचानना, घोड़ों को शिक्षा देना, उनकी चिकित्सा करना और दुष्ट घोड़ों को वश में करना बहुत अच्छी तरह से जानता हूं। इन कार्यों में मैं पूरा निपुण हूं। मेरे पास रहनेवाले घोड़े परिश्रम करने से थकते नहीं और शीघ्र चलते हैं। घोड़ों की कौन कहे, घोड़ियां भी मेरे शासन में रहने से किसी तरह का उपद्रव नहीं करतीं। युधिष्ठिर और अन्य लोग मुझे ग्रन्थिक नाम से पुकारते थे ॥६।८॥

राजा विराट ने कहा—मेरे घोड़े, साईस, सारथी, सहार आदि सब अश्व-शाला के लोग आज से तुम्हारे अधीन हुए। हे वीरश्रेष्ठ! जो तुम यही कार्य पसन्द करते हो तो करो। तुम जितना धन चाहोगे, उतना दिया जायगा। मैं तो तुमको इस कार्य के योग्य नहीं समझता, तुम चक्रवर्ती राजा होने के योग्य हो। राजा युधिष्ठिर के यहां तुम्हारा जैसा आदर-सत्कार होता था वैसा ही मेरे यहां होगा। मुझे खेद है कि महाराज युधिष्ठिर इस समय बिना नौकर-चाकरों के वन-वन में मारे मारे फिरते हैं ॥९।११॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजेन्द्र! गन्धर्वराज सदृश सुन्दर नकुल भी राजा विराट से इस तरह आदर पाकर उनके यहां रहने लगे। उन्हें भी कोई नहीं पहचान

एवं संयम्य चित्तानि यत्नतः पांडुनंदनाः ।
संवत्सरमिमं तात तथाशीला बुभूषतः ।
अथ स्वविषयं प्राप्य यथाकामं करिष्यथ ॥ ५१ ॥
युधिष्ठिर उवाच—अनुशिष्टाः स्म भद्रं ते नैतद्वक्ताऽस्ति कश्चन ।
कुंतीमृते मातरं नो विदुरं वा महामतिम् ॥ ५२ ॥
यदेवाऽनंतरं कार्यं तद्भवान्कर्तुमर्हति ।
तारणायाऽस्य दुःखस्य प्रस्थानाय जयाय च ॥ ५३ ॥
वैशम्पायन उवाच—एवमुक्तस्ततो राज्ञा धौम्योऽथ द्विजसत्तमः ।
अकरोद्विधिवत्सर्वं प्रस्थाने यद्विधीयते ॥ ५४ ॥
तेषां समिध्य तानग्नीन्मंत्रवच्च जुहाव सः ।
समृद्धिवृद्धिलाभाय पृथिवीविजयाय च ॥ ५५ ॥
अग्नीन्प्रदक्षिणीकृत्य ब्राह्मणांश्च तपोधनान् ।
याज्ञसेनीं पुरस्कृत्य षडेवाऽथ प्रवव्रजुः ॥ ५६ ॥

प्राप्त करने की इच्छा रखता है, वही राजा के पास रह सकता है। राजा के समान पहनावा और सजावट करना उचित नहीं। राजा के आगे ऊंचे आसन पर न बैठे। अपने साथ राजा जो सम्मति करे उसे और के आगे प्रकट न कर दे। कोई कार्य करने के लिए राजा के द्वारा नियुक्त होने पर धन की लालसा (रिशवत लेने की इच्छा) न करनी चाहिए। क्योंकि उसके द्वारा धन कमाने की चेष्टा में वध और बन्धन दोनों की आशङ्का है। राजा प्रसन्न होकर सवारी, वस्त्र, गहने आदि जो कुछ दे, उसी का व्यवहार सदा राजा के सामने करना अधिक हितकारी है।* मैंने यह राजाओं के यहां रहने की रीति तुमको बता दी

* देखो, क्षत्रिय राजा, सांप और बहुश्रुत ब्राह्मण, ये दुर्बल हों, तो भी बुद्धिमान् पुरुष को इनका अपमान न करना चाहिए। अपमान करने से ये तीनों भस्म कर देते हैं। राजा के यहां रहनेवाले को चाहिए कि उसी पद को चाहे जिसको चाहनेवाला कोई प्रबल प्रतिद्वन्द्वी न हो। सदा मधुरभाषी रहे। कटुवादी न हो। जाड़े गरमी, रात दिन का ख्याल न करके राजा की आज्ञा का पालन करने के लिए सदा तैयार रहे। तभी राजाओं के यहां टिक सकता है। लोभ छोड़कर, धीर बनकर, चतुरता से रहनेवाला मनुष्य राजा को प्रिय होता है। यदि अपने से हीन को राजा धन आदि देकर सम्मानित करे तो भी बुरा न मानना चाहिए। राजाओं का ऐसा स्वभाव ही होता है कि वे जरा जरा सी बात पर प्रसन्न होकर लाखों दे डालते हैं। सदा स्नान करके शुद्ध वस्त्र पहनकर दरबार में जाना चाहिए। सारांश यह कि भक्ति के साथ, सत्यवादी और जितेन्द्रिय रहकर बुद्धिमान्, धीर और विज्ञ पुरुष राजा के पास रहे। ऐसे राजा का ही आश्रय लेना चाहिए जो कृतज्ञ हो, बुद्धिमान् हो, उग्र और उदार विचारोंवाला हो, जितेन्द्रिय हो, जिसकी बढ़ती हो रही हो और जो अपने स्थान में स्थित हो। इस प्रकार विवेक के साथ काम करने से लोगों का राजाओं के यहां अभ्युदय होता है।

तावुभौ सुमहोत्साहावुभौ भीमपराक्रमौ ॥ २३ ॥
मत्ताविव महाकायौ वारणौ षष्टिहायनौ ।
ततस्तौ नरशार्दूलौ बाहुयुद्धं समीयतुः ॥ २४ ॥
वीरौ परमसंहृष्टावन्योन्यजयकांक्षिणौ ।
आसीत्सुभीमः संपातो वज्रपर्वतयोरिव ॥ २५ ॥
उभौ परमसंहृष्टौ बलेनाऽतिबलावुभौ ।
अन्योन्यस्यांऽतरं प्रेप्सू परस्परजयैषिणौ ॥ २६ ॥
उभौ परमसंहृष्टौ मत्ताविव महागजौ ।
कृतप्रतिकृतैश्चित्रैर्बाहुभिश्च सुसंकटैः ।
सन्निपातावधूतैश्च प्रमाथोन्मथनैस्तथा ॥ २७ ॥
क्षेपणैर्मुष्टिभिश्चैव वराहोद्धूतनिःस्वनैः ।
तलैर्वज्रनिपातैश्च प्रसृष्टाभिस्तथैव च ॥ २८ ॥
शलाकानखपातैश्च पादोद्धूतैश्च दारुणैः ।
जानुभिश्चाऽश्मनिर्घोषैः शिरोभिश्चाऽवघट्टनैः ॥ २९ ॥
तद्युद्धमभवद्घोरमशस्त्रं बाहुतेजसा ।
बलप्राणेन शूराणां समाजोत्सवसन्निधौ ॥ ३० ॥
अरज्यत जनः सर्वः सोत्कुष्टनिनदोत्थितः ।
बलिनोः संयुगे राजन्वृत्रवासवयोरिव ॥ ३१ ॥

को युद्ध के लिए ललकारा । फिर वे दोनों परम परा-क्रमी वीर दो मस्त गजराजों की तरह बड़े उत्साह से भिड़ गये । परस्पर जय चाहनेवाले दोनों वीर पुरुष, सिंह के समान गरज-गरजकर, प्रसन्नतापूर्वक युद्ध करने लगे ॥२१।२४॥

दोनों के परस्पर प्रहार करने से वज्रपात या पर्वत फटने का सा भयङ्कर शब्द होने लगा । वे परस्पर जय की इच्छा से एक दूसरे पर चोट करने का अवसर देखते हुए युद्ध कर रहे थे । कभी हाथ मारते थे, कभी घूँसे की चोट करते थे; कभी एक में भिड़कर परस्पर एक दूसरे को ठेल ले जाते थे; कभी पृथ्वी पर गिराकर रगड़ते थे; कभी ऊपर उठा लेते थे, कभी छाती पर घूँसे जमाते थे; कभी कन्धों ■■ रख लेते थे; कभी दांव करके नीचे पकड़ लाते; कभी गरज-गरजकर वज्रसदृश चपेटा मारते थे; कभी उँगलियों से, नाखूनों से वार करते थे; कभी लातें मारते थे; कभी जांघ से जांघ लड़ाते और कभी सिर से सिर भिड़ाकर जोर करते थे । इस तरह वे कुश्ती लड़ने लगे । वे दोनों वीर एक दूसरे को खींचते, ठेलने और नीचे गिराने का यत्न करते थे ॥२५।३०॥

अंतरेण यकृल्लोमाञ्शूरसेनांश्च पांडवाः ।
लुब्धा ब्रुवाणा मत्स्यस्य विषयं प्राविशन्वनात् ॥ ४ ॥
धन्विनो बद्धनिस्त्रिंशा विवर्णाः श्मश्रुधारिणः ।
ततो जनपदं प्राप्य कृष्णा राजानमब्रवीत् ॥ ५ ॥
पश्यैकपद्यो दृश्यंते क्षेत्राणि विविधानि च ।
व्यक्तं दूरे विराटस्य राजधानी भविष्यति ।
वसामेहाऽपरां रात्रिं बलवान्मे परिश्रमः ॥ ६ ॥
युधिष्ठिर उवाच—धनंजय समुद्यम्य पांचालीं वह भारत ।
राजधान्यां निवत्स्यामो विमुक्ताश्च वनादितः ॥ ७ ॥
वैशम्पायन उवाच—तामादायाऽर्जुनस्तूर्णं द्रौपदीं गजराडिव ।
संप्राप्य नगराभ्यासमवतारयदर्जुनः ॥ ८ ॥
स राजधानीं संप्राप्य कौंतेयोऽर्जुनमब्रवीत् ।
क्वाऽऽयुधानि समासज्ज्य प्रवेक्ष्यामः पुरं वयम् ॥ ९ ॥
सायुधाश्च प्रवेक्ष्यामो वयं तात पुरं यदि ।
समुद्वेगं जनस्याऽस्य करिष्यामो न संशयः ॥ १० ॥
गाण्डीवं च महद्गाढं लोके च विदितं नृणाम् ।

मनोहर स्थानों में रहते और वन के अद्भुत वृक्ष, पशु, पक्षी आदि की सैर करते] पाण्डव लोग अपने को शिकारी बताते हुए दशार्ण देश के उत्तर, पांचाल देश के दक्षिण, यकृल्लोम और शूरसेन देश के बीच होकर मत्स्य-राज्य में पहुंचे। अस्त्र-शस्त्र बांधे, बाल बढ़ाये, पाण्डव लोग मलीन शरीर होने के कारण सचमुच शिकारी ही जँचते थे। तब द्रौपदी ने युधिष्ठिर से कहा—हे महाराज! ये अनाज के खेत और बहुत से मार्ग देखकर मैं समझती हूँ कि विराट की राजधानी अभी दूर है। मैं बहुत थक गई हूं। इसलिए यह रात्रि यहीं ठहरकर बिताइए ॥१-६॥

इस पर युधिष्ठिर ने अर्जुन से कहा—हे अर्जुन! हम इसी समय इस वन को लांघकर राजधानी में पहुँचना चाहते हैं। इसलिए तुम द्रौपदी को उठाकर ले चलो ॥७॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! तब गजराज के समान बलवान् अर्जुन ने, युधिष्ठिर की आज्ञा से, द्रौपदी को उठा लिया। उनको लिये हुए अर्जुन शीघ्र ही नगर के समीप पहुँच गये। वहां उन्होंने द्रौपदी को उतार दिया। नगर के पास पहुँचकर युधिष्ठिर ने कहा—हे अर्जुन! हम लोग इन अस्त्र-शस्त्रों को कहां, किसके पास, रखकर नगर में जावें? [इनका सुरक्षित रहना आवश्यक है।] यदि हम शस्त्र लिये हुए बस्ती में जायँगे तो नगर-

प्रभूतनागाश्वरथं महाजनं समृद्धियुक्तं बहुपानभोजनम् ।
मनोहरं कांचनचित्रभूषणं गृहं महच्छोभयतामियं मम ॥ १० ॥
ततः सुदेष्णामनुमंत्र्य कीचकस्ततः समभ्येत्य नराधिपात्मजाम् ।
उवाच कृष्णामभिसांत्वयंस्तदा मृगेंद्रकन्यामिव जंबुको वने ॥ ११ ॥

का त्वं कस्यासि कस्याणि कुतो वा त्वं वरानने ।
प्राप्ता विराटनगरं तत्त्वमाचक्ष्व शोभने ॥ १२ ॥
रूपमग्र्यं तथा कांतिः सौकुमार्यमनुत्तमम् ।
कांत्या विभाति वक्त्रं ते शशांक इव निर्मलम् ॥ १३ ॥
नेत्रे सुविपुले सुभ्रु पद्मपत्रनिभे शुभे ।
वाक्यं ते चारुसर्वांगि परपुष्टरुतोपमम् ॥ १४ ॥
एवंरूपा मया नारी काचिदन्या महीतले ।
न दृष्टपूर्वा सुश्रोणि यादृशी त्वमनिंदिते ॥ १५ ॥
लक्ष्मीः पद्मालया का त्वमथ भूतिः सुमध्यमे ।
ह्रीः श्रीः कीर्तिरथो कांतिरासां का त्वं वरानने ॥ १६ ॥

इसका मिलना ही उसकी एकमात्र औषध है। हे रानी! इस स्त्री का अलौकिक रूप है, यह तुम्हारी दासी होने के योग्य कभी नहीं है। मैं चाहता हूं कि यह मेरे ऊपर और जो कुछ मेरा है उसके ऊपर प्रभुत्व करे। अनेक हाथी-रथ-घोड़ों से युक्त, जन परिपूर्ण, समृद्धि-युक्त, खाने पीने की वस्तुओं से भरा, सुवर्ण-रत्न के गहनों से पूर्ण, मेरा मनोहर महल इस सुन्दरी के रूप से शोभित हो ॥९।१०॥

इस प्रकार सुदेष्णा से कहकर द्रौपदी से मिलने के लिए दुष्ट कीचक उनके पास गया। जैसे वन में विचरनेवाला क्षुद्र सियार सिंह कन्या के प्रेम की इच्छा करे वैसे ही द्रौपदी से मिलने की उत्कण्ठा से आकुल कीचक उनके पास पहुंचा। पास जाकर उसने द्रौपदी से पूछा—हे सुन्दरी! तुम कौन हो? किसकी स्त्री हो? यहां कहां से आई हो? हे शुभरूपिणी! तुम्हारे समान सुन्दर शरीर और रमणीय रूपवाली स्त्री आज तक मैंने नहीं देखी-सुनी। हे चन्द्रमुखी! तुम्हारा अनुपम रूपशाली मनोहर मुख मण्डल अपनी शोभा से कलङ्क-रहित चन्द्रमण्डल को भी नीचा दिखा रहा है। तुम्हारे सलोने नेत्र कमलदल के समान विशाल और हृदय को हारनेवाले हैं। तुम्हारी वाणी कोयल की तान को मात करती है। तुम्हारी ऐसी असाधारण रूपवाली, सर्वाङ्गसुन्दरी स्त्री मैंने पृथ्वी पर कहीं नहीं देखी ॥११।१५॥

हे सुन्दरी! तुम क्या कमलवासिनी लक्ष्मी हो? या भूति, ह्री, श्री, कीर्ति अथवा कान्ति में से कोई हो? अथवा अत्यन्त रूपवती साक्षात् कामदेव की स्त्री रति हो? निर्मल चांदनी के समान तुम्हारे शरीर

येन वीरः कुरुक्षेत्रमभ्यरक्षत्परंतपः ।
अमुंचद्धनुषस्तस्य ज्यामक्षय्यां युधिष्ठिरः ॥ २० ॥
पांचालान्येन संग्रामे भीमसेनोऽजयत्प्रभुः ।
प्रत्यपेधद्बहूनेकः सपत्नांश्चैव दिग्जये ॥ २१ ॥
निशम्य यस्य विस्फारं व्यद्रवंत रणात्परे ।
पर्वतस्येव दीर्णस्य विस्फोटमशनेरिव ॥ २२ ॥
सैन्धवं येन राजानं पर्यामृपितवानथ ।
ज्यापाशं धनुषस्तस्य भीमसेनोऽवतारयत् ॥ २३ ॥
अजयत्पश्चिमामाशां धनुषा येन पांडवः ।
माद्रीपुत्रो महाबाहुस्ताम्रास्यो मितभाषिता ॥ २४ ॥
तस्य मौर्वीमपाकर्षच्छूरः संक्रंदनो युधि ।
कुले नास्ति समो रूपे यस्येति नकुलः स्मृतः॥ २५ ॥
दक्षिणां दक्षिणाचारो दिशं येनाऽजयत्प्रभुः ।
अपज्यमकरोद्वीरः सहदेवस्तदायुधम् ॥ २६ ॥
खड्गांश्च दीप्तान्दीर्घांश्च कलापांश्च महाधनान् ।
विपाठान्क्षुरधारांश्च धनुर्भिर्निदधुः सह ॥ २७ ॥
वैशम्पायन उवाच—अथाऽन्वशासन्नकुलं कुंतीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
आरुह्येमां शमीं वीर धनूंष्येतानि निक्षिप ॥ २८ ॥

मनुष्य आदि को हराकर बड़े-बड़े देशों को जीत लिया था उस गम्भीर शब्दवाले, शत्रुनाशक, महाभयङ्कर गाण्डीव धनुष की डोरी उन्होंने उतार दी। शत्रुदमन युधिष्ठिर ने जिस धनुष के द्वारा कुरुक्षेत्र की रक्षा की थी उस धनुष की अक्षय डोरी उन्होंने भी उतार ली ॥१७।२०॥

एकाएकी भीमसेन ने अपने जिस धनुष के द्वारा दिग्विजय के समय शत्रुओं को मार भगाया था और पांचाल देश को जीता था, वज्रपात या पर्वत के फटने के समान जिसके टङ्कार को सुनकर शत्रु लोग रणभूमि से भाग जाते थे, जिसके बल से भीमसेन ने महाबली सिन्धुराज जयद्रथ को नीचा दिखाया था, उस धनुष की प्रत्यंचा इस समय भीमसेन ने उतारली रूप और कुल में अपनी उपमा न रखने के कारण नकुल नाम से प्रसिद्ध, मितभाषण करनेवाले, माद्री के पुत्र ने जिस धनुष की सहायता से दिग्विजय के समय पश्चिमी देशों को जीता था उस धनुष की डोरी इस समय उन्होंने भी उतार डाली । दया-दाक्षिण्य आदि गुणों से शोभित सहदेव ने जिस धनुष की सहायता से दिग्विजय में दक्षिण के राजाओं को

विराटमहिषी देवी कृपां चक्रे मनस्विनी ॥ ३ ॥
स्वमंत्रमभिसंधाय तस्याऽर्थमनुचिंत्य च ।
उद्योगं चैव कृष्णायाः सुदेष्णा सूतमब्रवीत् ॥ ४ ॥
पर्वणि त्वं समुद्दिश्य सुरामन्नं च कारय ।
तत्रैनां प्रेषयिष्यामि सुराहारीं तवांऽतिकम् ॥ ५ ॥
तत्र संप्रेषितामेनां विजने निरवग्रहे ।
सांत्वयेथा यथाकामं सांत्वमाना रमेद्यदि ॥ ६ ॥
वैशम्पायन उवाच—इत्युक्तः स विनिष्क्रम्य भगिन्या वचनात्तदा ।
सुरामाहारयामास राजार्हां सुपरिष्कृताम् ॥ ७ ॥
भक्षांश्च विविधाकारान्बहूंश्चोच्चावचांस्तदा ।
कारयामास कुशलैरन्नं पानं सुशोभनम् ॥ ८ ॥
तस्मिन्कृते तदा देवी कीचकेनोपमंत्रिता ।
सुदेष्णां प्रेषयामास सैरंध्रीं कीचकालयम् ॥ ९ ॥
सुदेष्णोवाच—उत्तिष्ठ गच्छ सैरंध्रि कीचकस्य निवेशनम् ।
पानमानय कल्याणि पिपासा मां प्रबाधते ॥ १० ॥
सैरंध्र्युवाच—न गच्छेयमहं तस्य राजपुत्रि निवेशनम् ।
त्वमेव राज्ञि जानासि यथा स निरपत्रपः ॥ ११ ॥

वैशम्पायन ने कहा—[पहले तो सुदेष्णा ने समझा-बुझाकर भाई को इस पाप-कर्म से रोकना चाहा, पर जब उसने किसी तरह न माना तब] सुदेष्णा ने कहा—अच्छा, तुम किसी पर्व के अवसर पर अपने घर में मदिरा और अनेक प्रकार की भोजन की सामग्री बनवाना। मैं मदिरा लाने के बहाने सैरन्ध्री को तुम्हारे पास भेजूंगी। उसी अवसर पर, निर्विघ्न निर्जन स्थान में, उसे इस प्रकार समझाना-बुझाना जिससे वह तुम पर प्रसन्न हो उठे ॥३-६॥

वैशम्पायन ने कहा—[अपने स्वार्थ के विचार से भाई की प्रार्थना पूर्ण करने के लिए सुदेष्णा ने यह उपाय निकाला। सुदेष्णा का उत्तर सुनने से कीचक को कुछ ढाढ़स बंधा।] वह उसी समय वहां से अपने घर चला गया। [कीचक के सिर पर तो मृत्यु सवार थी।] उसने शीघ्रता से चतुर रसोइयों से राजाओं के योग्य उत्तम भोजन-सामग्री और अनेक प्रकार का मांस बनवाया। उत्तम मदिरा भी तैयार करवाई। इस प्रकार सब तैयारी करके उसने रानी को सूचना दी। रानी सुदेष्णा ने सैरन्ध्री को बुलाकर कहा—हे सैरन्ध्री! मैं प्यास के मारे व्याकुल हो रही हूं। इसलिए तुम कीचक के घर जाकर पीने योग्य उत्तम मदिरा ले आओ ॥७-१०॥

दूल, ये पाण्डवों के पांच कल्पित नाम रख लिये। फिर अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार, अज्ञातवास में तेरहवां वर्ष व्यतीत करने के लिए, द्रौपदी और भाइयों सहित महाराज युधिष्ठिर राजा विराट की राजधानी में पहुँचे ॥३१।३६॥

—०—

विराटपर्व का पांचवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ५ ॥

अथ षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

वैशम्पायन उवाच—विराटनगरं रम्यं गच्छमानो युधिष्ठिरः ।
अस्तुवन्मनसा देवीं दुर्गां त्रिभुवनेश्वरीम् ॥ १ ॥
यशोदागर्भसंभूतां नारायणवरप्रियाम् ।
नंदगोपकुले जातां मंगल्यां कुलवर्धिनीम् ॥ २ ॥
कंसविद्रावणकरीमसुराणां क्षयंकरीम् ।
शिलातटविनिक्षिप्तामाकाशं प्रतिगामिनीम् ॥ ३ ॥
वासुदेवस्य भगिनीं दिव्यमाल्यविभूपिताम् ।
दिव्यांबरधरां देवीं खड्गखेटकधारिणीम् ॥ ४ ॥
भारावतरणे पुण्ये ये स्मरंति सदा शिवाम् ।
तान्वै तारयते पापात्पंके गामिव दुर्बलाम् ॥ ४ ॥
स्तोतुं प्रचक्रमे भूयो विविधैः स्तोत्रसंभवैः ।
आमंत्र्य दर्शनाकांक्षी राजा देवीं सहानुजः ॥ ६ ॥
नमोऽस्तु वरदे कृष्णे कुमारि ब्रह्मचारिणि ।

छठा अध्याय ॥ ६ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! विराटनगर के भीतर जाते समय महाराज युधिष्ठिर अपने मन में त्रिभुवन की ईश्वरी दुर्गा देवी की स्तुति इस तरह करने लगे—यशोदा के गर्भ से उत्पन्न होनेवाली! हे नारायण की श्रेष्ठ प्रिया [योगमाया]! हे नन्द गोप के वंश में उत्पन्न होनेवाली! मङ्गलमयी! कुल को बढ़ानेवाली! कंस दैत्य को मारनेवाली! असुरों का नाश करनेवाली! भगवती! वासुदेव कृष्ण की बहन! कंस के द्वारा शिला पर पटकी जाने पर आकाश को चली जानेवाली! दिव्य माला! दिव्य वस्त्र और खड्ग खेटक आदि शस्त्र धारण करनेवाली! तुमको प्रणाम है। हे पृथ्वी का भार उतारनेवाली शुभरूपिणी! जो लोग तुम्हारा स्मरण करते हैं उन्हें तुम पाप और सङ्कट से, दलदल में फंसी हुई दुर्बल गाय की तरह उबार लेती हो ॥१।५॥

भाइयों सहित राजा युधिष्ठिर देवी के दर्शन पाने की इच्छा से बारम्बार अनेक प्रकार से इस तरह देवी की स्तुति करने लगे—॥६॥

स पपात तदा भूमौ रक्षोबलसमाहतः ।
विघूर्णमानो निश्चेष्टश्छिन्नमूल इव द्रुमः ॥ १२ ॥
तां चाऽऽसीनौ ददृशतुर्भीमसेनयुधिष्ठिरौ ।
अमृष्यमाणौ कृष्णायाः कीचकेन पराभवम् ॥ १३ ॥
तस्य भीमो वधं प्रेप्सुः कीचकस्य दुरात्मनः ।
दंतैर्दंतांस्तदा रोषान्निष्पिपेष महामनाः ॥ १४ ॥
धूमच्छाया ह्यभजतां नेत्रे चोच्छ्रितपक्ष्मणी ।
सस्वेदा भृकुटी चोग्रा ललाटे समवर्त्तत ॥ १५ ॥
हस्तेन ममृदे चैव ललाटं परवीरहा ।
भूयश्च त्वरितः क्रुद्धः सहसोत्थातुमैच्छत ॥ १६ ॥
अथाऽवमृद्नादंगुष्ठमंगुष्ठेन युधिष्ठिरः ।
प्रबोधनभयाद्राजा भीमं तं प्रत्यषेधयत् ॥ १७ ॥
तं मत्तमिव मातंगं वीक्षमाणं वनस्पतिम् ।
स तमावारयामास भीमसेनं युधिष्ठिरः ॥ १८ ॥
आलोकयसि किं वृक्षं सूद दारुकृतेन वै ।
यदि ते दारुभिः कृत्यं बहिर्वृक्षान्निगृह्यताम् ॥ १९ ॥

वह चक्कर खाकर अचेत होकर, कटे हुए पेड़ की तरह, धरती पर गिर पड़ा। भीमसेन और युधिष्ठिर दोनों सभा में मौजूद थे। अपनी आखों के आगे कीचक के हाथों अपनी प्यारी पत्नी पाञ्चाली का यों अपमान होते देखकर क्रोध के मारे दोनों वीर अधीर हो उठे ॥१२।१३॥

महाबली भीमसेन कीचक को मारने के लिए क्रोध के मारे दात से दांत पीसने लगे। उनकी आखें अङ्गार की तरह लाल हो गईं। पलकों के रोएँ खड़े हो गये। माथे में पसीना निकल आया और बल पड़ गये। क्रोध से विह्वल भीमसेन बार-बार माथे से पसीना पोंछते हुए सामने एक पेड़ की ओर ताकने लगे मानों वे उस पेड़ को उखाड़कर उससे कीचक को मार डालना चाहते हों। वे उठना ही चाहते थे कि धर्मराज युधिष्ठिर ने, अपने प्रकट हो पड़ने के भय से, पांव के अंगूठे से भीमसेन के पाव का अंगूठा दबा दिया ॥१४।१७॥

इस प्रकार इशारे से रोक करके युधिष्ठिर ने भीमसेन से कहा—हे बल्लव ! तुम क्या लकड़ी के लिए इस पेड़ को देख रहे हो ? यदि तुमको ईंधन की आवश्यकता हो तो बाहर जाकर ले आओ। अपने क्रोध के वेग को दबाकर भीमसेन चुपचाप बैठे रहे। द्रौपदी ने सभा में अपने स्वामियों के मलिन-मुख की ओर देखा। किन्तु प्रतिज्ञा के अनुसार अपने

त्रैलोक्यरक्षणार्थाय महिषासुरनाशिनि ।
प्रसन्ना मे सुरश्रेष्ठे दयां कुरु शिवा भव ॥ १५ ॥
जया त्वं विजया चैव संग्रामे च जयप्रदा ।
ममापि विजयं देहि वरदा त्वं च सांप्रतम् ॥ १६ ॥
विंध्ये चैव नगश्रेष्ठे तव स्थानं हि शाश्वतम् ।
कालि कालि महाकालि सीधुमांसपशुप्रिये ॥ १७ ॥
कृतानुयात्रा भूतैस्त्वं वरदा कामचारिणि ।
भारावतारे ये च त्वां संस्मरिष्यंति मानवाः ॥ १८ ॥
प्रणमंति च ये त्वां हि प्रभाते तु नरा भुवि ।
न तेषां दुर्लभं किंचित्पुत्रतो धनतोऽपि वा ॥ १९ ॥
दुर्गात्तारयसे दुर्गे तत्त्वं दुर्गा स्मृता जनैः ।
कांतारेष्ववसन्नानां मग्नानां च महार्णवे ॥ २० ॥
दस्युभिर्वा निरुद्धानां त्वं गतिः परमा नृणाम्।
जलप्रतरणे चैव कांतारेष्वटवीषु च ॥ २१ ॥
ये स्मरंति महादेवि न च सीदंति ते नराः ।
त्वं कीर्तिः श्रीर्धृतिः सिद्धिर्ह्रीर्विद्या संततिर्मतिः ॥ २२ ॥
संध्या रात्रिः प्रभा निद्रा ज्योत्स्ना कांतिः क्षमा दया ।

व्रत धारण करके देवलोक को पवित्र किया है। इसी से देवता तुम्हारी स्तुति और पूजा करते हैं। त्रिलोकी की रक्षा के लिए तुमने प्रचण्ड उपद्रवी महापराक्रमी महिषासुर का संहार किया है। तुम्हारा नाम जया और विजया है; तुम युद्ध में विजय देती हो। मुझ पर दया करो। मेरा कल्याण करो। प्रसन्न होकर मुझे भी इस समय विजय दो। हे वर देनेवाली! हे सर्वमङ्गला! पर्वतराज विन्ध्याचल में तुम नित्य निवास करती हो। हे काली! हे महाकाली! हे पशु! मांस और मदिरा पर प्रीति रखनेवाली! तुम वर देनेवाली और इच्छानुसार विचरनेवाली हो। यात्रा के समय भूत तुम्हारे पीछे-पीछे चलते हैं॥१४।१८॥

हे पृथ्वी का भार उतारनेवाली भगवती! जो मनुष्य प्रात काल तुम्हारा स्मरण करते और प्रणाम करते हैं, उन्हें पुत्र या धन आदि का मिलना दुर्लभ नहीं रहता। हे दुर्गे! तुम अपने जनों का दुर्ग (सङ्कट) से उबार लेती हो, इसी से लोग तुमको दुर्गा कहते हैं। दुर्गम मार्ग में सङ्कट में पड़े हुए, महासागर में डूबे हुए, डाकुओं के हाथ में पड़े हुए मनुष्यों को बचानेवाली तुम्हीं हो। हे भगवती! वन में, सागर आदि में, दुर्गम स्थानों में विपत्ति में पड़े हुए मनुष्य तुम्हारा स्मरण करते ही सङ्कट से छुटकारा

सैरंध्र्युवाच—अतीव तेषां घृणिनामर्थेऽहं धर्मचारिणी ।
तस्य तस्यैव ते वध्या येषां ज्येष्ठोऽक्षदेविता ॥ ४५ ॥

वैशम्पायन उवाच—इत्युक्त्वा प्राद्रवत्कृष्णा सुदेष्णाया निवेशनम् ।
केशान्मुक्त्वा च सुश्रोणी संरम्भाल्लोहितेक्षणा ॥ ४६ ॥
शुशुभे वदनं तस्या रुदन्त्याः सुचिरं तदा ।
मेघलेखाविनिर्मुक्तं दिवीव शशिमंडलम् ॥ ४७ ॥

सुदेष्णोवाच—कस्त्वाऽवधीद्वरारोहे कस्माद्रोदिषि शोभने ।
कस्याऽद्य न सुखं भद्रे केन ते विप्रियं कृतम् ॥ ४८ ॥

द्रौपद्युवाच—कीचको माऽवधीत्तत्र सुराहारीं गतां तव ।
सभायां पश्यतो राज्ञो यथैव विजने वने ॥ ४९ ॥

सुदेष्णोवाच—घातयामि सुकेशांते कीचकं यदि मन्यसे ।
योऽसौ त्वां कामसंमत्तो दुर्लभामवमन्यते ॥ ५० ॥

सैरंध्र्युवाच—अन्ये चैनं वधिष्यंति येषामागः करोति सः ।
मन्ये चैवाऽद्य सुव्यक्तं यमलोकं गमिष्यति ॥ ५१ ॥

इति श्रीमन्महाभारते विराटपर्वणि कीचकवधपर्वणि द्रौपदीपरिभवे षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

अपमान का बदला लेकर तुम्हारा दुःख दूर करेंगे । सैरन्ध्री ने कहा—जान पड़ता है कि मेरे स्वामी अत्यन्त शोचनीय अवस्था में हैं;क्योंकि उनके बड़े भाई को हर घड़ी जुआ खेलने का शौक है, तथापि मैं उनके लिए सदा धर्म-पालन करती हूँ । वे किसी समय अवश्य ही अप्रियकारी दुष्टों का नाश करेंगे ।३९।४५।

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! द्रौपदी की आंखें लाल हो रही थीं । बाल बिखरे हुए थे । इसी हीन वेष से वे उसी समय रनिवास की ओर, सुदेष्णा के पास, वहां से चल दीं । रोना बन्द होने पर उनका चेहरा मेघों से मुक्त चन्द्रबिम्ब के समान जान पड़ा । राजा विराट की रानी ने उन्हें अकस्मात् इस वेष से आते देखकर पूछा—हे भद्रे ! तुम किस-लिए रो रही हो ! क्या किसी ने तुमको सताया है ! बताओ, किसने तुम्हारा अप्रिय किया है ? द्रौपदी ने कहा—आपकी आज्ञा से मदिरा लेने को मैं कीचक के घर गई थी । [उस दुष्ट ने वहां मेरा धर्म नष्ट करना चाहा । वहां से भागकर जान बचाने के लिए] मैं राजसभा में गई । वहां राजा के सामने ही लात मारकर उसने मेरा अपमान किया है । सुदेष्णा ने कहा—हे सुन्दरी ! कीचक ने तुम्हारा मिलना अत्यंत असम्भव जानकर भी, मान और मद से ज्ञानशून्य हो, तुम्हें लात मारी है । तुम कहो तो मैं अभी उसे प्राण-दण्ड दिलाऊँ । द्रौपदी ने कहा—उसने जिन गन्धर्वों का अपराध किया है वही उसे मारेंगे । दुष्ट कीचक आज या कल अवश्य मारा जायगा ।४६।५१।

विराटपर्व का सोलहवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ १६ ॥

ये स्मरिष्यंति मां राजन्यथाऽहं भवता स्मृता॥ ३२ ॥
न तेषां दुर्लभं किंचिदस्मिँल्लोके भविष्यति ।
इदं स्तोत्रवरं भक्त्या शृणुयाद्वा पठेत वा ॥ ३३ ॥
तस्य सर्वाणि कार्याणि सिद्धिं यास्यंति पांडवाः ।
मत्प्रसादाच्च वः सर्वान्विराटनगरे स्थितान् ॥ ३४ ॥
न प्रज्ञास्यंति कुरवो नरा वा तन्निवासिनः ।
इत्युक्त्वा वरदा देवी युधिष्ठिरमरिंदमम् ।
रक्षां कृत्वा च पांडूनां तत्रैवांऽतरधीयत ॥ ३५ ॥

इति श्रीमन्महाभारते विराटपर्वणि पांडवप्रवेशपर्वणि दुर्गास्तवे षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

हे राजेन्द्र ! जो लोग तुम्हारी की हुई यह स्तुति पढ़ेंगे उन्हें भी प्रसन्न होकर मैं राज्य, बड़ी आयु, सुन्दर नीरोग शरीर और पुत्र आदि दूँगी। हे धर्मराज जो लोग परदेश में, नगर में, युद्ध में, शत्रुओं के बीच में, दुर्गम मार्गों में, गहन वनों में, पर्वत और सागर आदि सङ्कट के स्थानों में तुम्हारी तरह मुझे स्मरण करेंगे उन्हें इस लोक में कुछ भी दुर्लभ न होगा। हे पाण्डवो ! जो लोग भक्तिपूर्वक इस स्तोत्र को पढ़ें या सुनेंगे उनके सब कार्य सिद्ध हो जायंगे। हे पुत्रो ! मेरे ही प्रसाद से विराटनगर में रहते समय तुम्हारे शत्रु कौरव या विराटनगर के लोग, कोई तुमको न पहचान सकेगा। वर देनेवाली देवी इस प्रकार कहकर, रक्षा करके, पाण्डवों के सामने वहीं अन्तर्द्धान हो गई ॥३१।३५॥

विराटपर्व का छठा अध्याय समाप्त हुआ ॥ ६ ॥

अथ सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

वैशम्पायन उवाच–ततो विराटं प्रथमं युधिष्ठिरो राजा सभायामुपविष्टमाव्रजत् ।
वैदूर्यरूपान्प्रतिमुच्य कांचनानक्षान्स कक्षे परिगृह्य वाससा ॥ १ ॥
नराधिपो राष्ट्रपतिं यशस्विनं महायशाः कौरववंशवर्द्धनः ।
महानुभावो नरराजसत्कृतो दुरासदस्तीक्ष्णविषो यथोरगः ॥ २ ॥
बलेन रूपेण नरर्षभो महानपूर्वरूपेण यथाऽमरस्तथा ।

सातवा अध्याय ॥ ७ ॥

वैशम्पायन ने कहा–हे राजा जनमेजय ! तीक्ष्ण विषवाले नाग की तरह दुर्द्धर्ष, कौरव-वंशवर्धन, महानुभाव, महायशस्वी, महाराज युधिष्ठिर वैडूर्यमणि और सुवर्ण की बनी हुई चौसर की गोटें वस्त्र से लपेटकर बगल में दबाकर, (ब्राह्मण के वेष से) यशस्वी राजा विराट की सभा में पहुचे। अपूर्व रूप और बल से युक्त देव-सदृश महाराज युधिष्ठिर मेघमाला से ढके हुए सूर्य के समान, राख से ढकी हुई अग्नि के समान,

वनवासगतायाश्च सैंधवेन दुरात्मना ।
परमर्शो द्वितीयो वै सोढुमुत्सहते तु का ॥ ४ ॥
मत्स्यराज्ञः समक्षं तु तस्य धूर्तस्य पश्यतः ।
कीचकेन परामृष्टा का नु जीवति मादृशी ॥ ५ ॥
एवं बहुविधैः क्लेशैः क्लिश्यमानां च भारत ।
न मां जानासि कौंतेय किं फलं जीवितेन मे ॥ ६ ॥
योऽयं राज्ञो विराटस्य कीचको नाम भारत ।
सेनानीः पुरुषव्याघ्र श्यालः परमदुर्मतिः ॥ ७ ॥
स मां सैरंध्रिवेषेण वसंतीं राजवेश्मनि ।
नित्यमेवाऽऽह दुष्टात्मा भार्या मम भवेति वै ॥ ८ ॥
तेनोपमंत्र्यमाणाया वधार्हेण सपत्नहन् ।
कालेनेव फलं पक्वं हृदयं मे विदीर्यते ॥ ९ ॥
भ्रातरं च विगर्हस्व ज्येष्ठं दुर्द्यूतदेविनम् ।
यस्याऽस्मि कर्मणा प्राप्ता दुःखमेतदनंतकम् ॥ १० ॥
को हि राज्यं परित्यज्य सर्वस्वं चाऽऽत्मना सह ।
प्रव्रज्यायैव दीव्येत विना दुर्द्यूतदेविनम् ॥ ११ ॥
यदि निष्कसहस्रेण यच्चाऽन्यत्सारवद्धनम् ।
सायंप्रातरदेविष्यदपि संवत्सरान्बहून् ॥ १२ ॥

करके अब तक मेरे हृदय में अग्नि सी लग जाती है। मेरे सिवा और कौन राजकुमारी वैसा दुस्सह दुःख सहकर जीती रह सकती ? वनवास के समय दुरात्मा जयद्रथ ने जैसा मेरा अपमान किया था उसे ही कौन राजकुमारी सह सकती ? इस समय धूर्त राजा विराट के सामने अधम कीचक ने मुझे लात मारी। इस अपमान को भी मेरे सिवा और कोई राजकुमारी नहीं सह सकती और न फिर जी सकती ॥१।५॥

हे भीमसेन ! मैं बार-बार अनेक प्रकार से क्लेश पा रही हूँ। यह देखकर भी तुम मेरे दुःख का कारण नहीं जान पाते तो फिर मेरा जीना ही व्यर्थ है। हे पुरुषसिंह ! विराट का साला और सेनापति दुष्ट कीचक मुझे सैरन्ध्री के वेष से रनिवास में रहते देखकर नित्य ही 'मेरी प्रिया बनो, मेरी प्रिया बनो' कहा करता है। उसके यूं कुवाक्य सुनकर पके हुए फल की तरह मेरा हृदय टूक-टूक हो जाता है। जिनकी करतूत से मुझे ऐसे घोर क्लेश मिल रहे हैं उन अपने जुआरी बड़े भाई युधिष्ठिर की निन्दा करो ॥६।१०॥

उनके सिवा और कौन विज्ञ पुरुष जुए में अपना राज्य और सर्वस्व हार सकता है ? कौन यों सब

युधिष्ठिर उवाच–युधिष्ठिरस्याऽऽसमहं पुरा सखा वैयाघ्रपद्यः पुनरस्मि विप्रः ।
अक्षान्प्रयोक्तुं कुशलोऽस्मि देविनां कंकेति नाम्नास्मि विराट विश्रुतः॥ १२ ॥
विराट उवाच–ददामि ते हंत वरं यमिच्छसि प्रशाधि मत्स्यान्वशगो ह्यहं तव।
प्रियाश्च धूर्ता मम देविनः सदा भवांश्च देवोपम राज्यमर्हति ॥ १३ ॥
युधिष्ठिर उवाच–प्राप्तो विवादःप्रथमं विशांपते न विद्यते कंचन मत्स्य हीनतः।
न मे जितः कश्चन धारयेद्धनं वरो ममैषोऽस्तु तव प्रसादजः ॥ १४ ॥
विराट उवाच–हन्यामवश्यं यदि तेऽप्रियं चरेत्प्रव्राजयेयं विषयाद्द्विजांस्तथा ।
शृण्वंतु मे जानपदाः समागताः कंको यथाऽहं विषये प्रभुस्तथा ॥ १५ ॥
समानयानो भविताऽसि मे सखा प्रभूतवस्त्रो बहुपानभोजनः ।
पश्येस्त्वमंतश्च बहिश्च सर्वदा कृतं च ते द्वारमपावृतं मया ॥ १६ ॥
ये त्वाऽनुवादेयुरवृत्तिकर्शिता ब्रूयाश्च तेषां वचनेन मां सदा ।
दास्यामि सर्वं तदहं न संशयो न ते भयं विद्यति सन्निधौ मम ॥ १७ ॥
वैशम्पायन उवाच–एवं स लब्ध्वा तु वरं समागमं विराटराजेन नरर्षभस्तदा ।
उवास धीरः परमार्चितः सुखी न चापि कश्चिच्चरितं बुबोध तत् ॥ १८ ॥

इति श्रीमन्महाभारते विराटपर्वणि पांडवप्रवेशपर्वणि युधिष्ठिरप्रवेशो नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

सकते हो ? ॥८।११॥

युधिष्ठिर ने कहा—मैं ब्राह्मण हूँ। मेरा नाम कङ्क और गोत्र वैयाघ्रपद है। मैं पहले महाराज युधिष्ठिर का प्रिय सखा था। मैं चौसर खेलने में बड़ा निपुण हूँ१२।

राजा विराट ने कहा—मैं तुम्हारी इच्छा पूर्ण करने के लिए तैयार हूं। तुम चाहो तो इस मत्स्य देश का शासन करो। मैं तुम्हारे वश में हूँ क्योंकि द्यूत-क्रीड़ा में निपुण लोग मुझे बहुत ही प्यारे हैं। हे देवतुल्य महापुरुष ! तुम सब तरह इस राज्य के पाने योग्य हो ॥१३॥

युधिष्ठिर ने कहा—हे महाराज ! मेरी एक प्रार्थना और भी है। वह यह कि मैं अपने से हीन पुरुष के साथ कभी जुआ न खेलूंगा और हारे हुए व्यक्ति को उसका जीता हुआ धन नहीं लौटाऊंगा। आप यदि यह मेरी प्रार्थना स्वीकार करें तो मैं यहां आपके पास रह सकता हूं ॥१४॥

राजा विराट ने कहा—मुझे तुम्हारी प्रार्थना स्वीकार है। इसके अतिरिक्त तुम्हारा अप्रिय और अहित करनेवाला यदि ब्राह्मण होगा तो उसे मैं अपने देश से निकाल दूंगा; यदि अन्य किसी वर्ण का मनुष्य होगा तो उसे प्राणदण्ड दूंगा। युधिष्ठिर से यों कहकर राजा ने अपने सभासदों से कहा—हे सभासदो और पुरवासियो ! सुनो। आज से ब्राह्मण श्रेष्ठ कङ्क को मैं अपने प्रिय सखा का पद देता हूं। इन्हें आज से मैं राज-कार्य की सब बातों में अपने ही समान अधिकार देता हूं। और हे कङ्क ! तुम

प्रेष्यत्वं समनुप्राप्तं ततो दुःखतरं नु किम् ॥ ३ ॥
यदा महानसे सिद्धे विराटमुपतिष्ठसि ।
ब्रुवाणो वल्लवः सूदस्तदा सीदति मे मनः ॥ ४ ॥
यदा प्रहृष्टः सम्राट् त्वां संयोधयति कुंजरैः ।
हसंत्यंतःपुरे नार्यो मम तूद्विजते मनः ॥ ५ ॥
शार्दूलैर्महिषैः सिंहैरागारे योध्यसे यदा ।
कैकेय्याः प्रेक्षमाणायास्तदा मे कश्मलं भवेत् ॥ ६ ॥
तत उत्थाय कैकेयी सर्वास्ताः प्रत्यभाषत ।
प्रेष्याः समुत्थिताश्चापि कैकेयीं ताः स्त्रियोऽब्रुवन् ॥ ७ ॥
प्रेक्ष्य मामनवद्यांगीं कश्मलोपहतामिव ।
स्नेहात्संवासजाद्धर्मात्सूदमेषा शुचिस्मिता ॥ ८ ॥
योध्यमानं महावीर्यमिमं समनुशोचति ।
कल्याणरूपा सैरंध्री वल्लवश्चापि सुंदरः ॥ ९ ॥
स्त्रीणां चित्तं च दुर्ज्ञेयं युक्तरूपौ च मे मतौ ।
सैरंध्री प्रियसंवासान्नित्यं करुणवादिनी ॥ १० ॥
अस्मिन्राजकुले चेमौ तुल्यकालनिवासिनौ ।
इति ब्रुवाणा वाक्यानि सा मां नित्यमतर्जयत् ॥ ११ ॥

यह दशा देखकर मेरे हृदय में शोक बढ़ रहा है। लोग तुमको रसोइया और विराट का नौकर जानते हैं, इससे बढ़कर दुःख की बात और क्या हो सकती है? रसोई का काम कर चुकने के पश्चात् विराट की सेवा के लिए जब तुम सभा में बैठते हो और लोग तुम्हें बल्लव कहा करते है, तब मेरा हृदय मानों फटने लगता है ॥१।४॥

प्रसन्नचित्त राजा विराट जब तुमको हाथियों से लड़ा देते हैं तब रनिवास की स्त्रियां हँसा करती हैं; किन्तु मेरा हृदय अत्यन्त व्याकुल हो उठता है। तुम जब रनिवास में सुदेष्णा के सामने सिंह, बाघ और भैंसों के साथ भिड़ जाते हो तब मुझे बहुत दुःख होता है। एक दिन ऐसी ही व्याकुलता की दशा में साथवाली स्त्रियों ने मुझे सँभाल लिया। तब सुदेष्णा ने कहा—सुन्दरी सैरन्ध्री रसोइया (सूपकार) बल्लव को महा बलवानों के साथ भिड़ते देखकर ही मुर्दा सी हो जाती है। इससे बल्लव के ऊपर इसका सहवास-सुलभ अनुराग जान पड़ता है ॥५।९॥

सैरन्ध्री स्वभाव से ही परम सुन्दरी है, और बल्लव भी बहुत ही सुन्दर जवान है। स्त्रियों के चित्त की गति को जानना बहुत ही कठिन है। अच्छी जोड़ी मिली है। फिर ये दोनों तो साथ ही राजभवन

ततो विराटं समुपेत्य पांडवस्त्वदीनरूपं वचनं महामनाः ।
उवाच सूदोऽस्मि नरेंद्र बल्लवो भजस्व मां व्यंजनकारमुत्तमम् ॥ ७ ॥
विराट उवाच—न सूदतां बल्लव श्रद्दधामि ते सहस्रनेत्रप्रतिमो विराजसे ।
श्रिया च रूपेण च विक्रमेण च प्रभाससे त्वं नृवरो नरेष्विव ॥ ८ ॥
भीम उवाच—नरेंद्र सूदः परिचारकोऽस्मि ते जानामि सूपान्प्रथमं च केवलान् ।
आस्वादिता ये नृप ते पुराऽभवन्युधिष्ठिरेणाऽपि नृपेण सर्वशः ॥ ९ ॥
बलेन तुल्यश्च न विद्यते मया नियुद्धशीलश्च सदैव पार्थिव ।
गजैश्च सिंहैश्च समेयिवानहं सदा करिष्यामि तवाऽनघ प्रियम् ॥ १० ॥
विराट उवाच—ददामि ते हंत वरान्महानसे तथा च कुर्याः कुशलं प्रभाषसे ।
न चैव मन्ये तव कर्म यत्समं समुद्रनेमिं पृथिवीं त्वमर्हसि ॥ ११ ॥
यथा हि कामो भवतस्तथा कृतं महानसे त्वं भव मे पुरस्कृतः ।
नराश्च ये तत्र समाहिताः पुरा भवांश्च तेषामधिपो मया कृतः ॥ १२ ॥
वैशम्पायन उवाच—तथा स भीमो विहितो महानसे विराटराज्ञो दयितोऽभवद्दृढम् ।
उवास राज्ये न च तं पृथग्जनो बुबोध तत्रानुचराश्च केचन ॥ १३ ॥

इति श्रीमन्महाभारते विराटपर्वणि पांडवप्रवेशपर्वणि भीमप्रवेशे अष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

राजा विराट की आज्ञा से उन लोगों ने शीघ्र भीमसेन के पास जाकर राजा की इच्छा प्रकट की। विराट के पास पहुंचकर भीमसेन ने बेधड़क होकर यों कहा—हे महाराज ! मैं रसोइया हूं। मेरा नाम बल्लव है। मैं बहुत ही उत्तम और अपूर्व रसोई बना सकता हूं। आप मुझे अपने यहां रख लीजिए ॥६।७॥

राजा विराट ने कहा—हे बल्लव ! तुम्हारा रूप, शोभा और विक्रम देखने से तो तुम कोई श्रेष्ठ राजा जान पड़ते हो; रसोइया नहीं जान पड़ते ॥८॥

भीमसेन ने कहा—हे महाराज ! मैं [शूद्र वर्ण का] सूपकार हूं। मैं पहले युधिष्ठिर के यहां रसोइया और भण्डारे का स्वामी था। मैं भोजन बनाने की कला में तो निपुण हूं ही, इसके अतिरिक्त मेरे समान बलवान् पहलवान भी दुर्लभ है। मैं सदा मस्त हाथी और शेर से युद्ध करा करता था। अब आपके यहां रहकर अपने कार्यों से आपको सन्तुष्ट करने की इच्छा है ॥९।१०॥

विराट ने कहा—हे बल्लव ! मैं तुम्हारी इच्छा पूर्ण करता हूं। तुम आज से मेरे यहां की पाकशाला और भण्डारे के स्वामी हुए। परन्तु यह कार्य तो तुम्हारे योग्य नहीं है। तुम तो समुद्र-पर्यन्त पृथ्वी भर का शासन कर सकते हो। अच्छा, तुम अपनी इच्छा से यही कार्य पसन्द करते हो, इसलिए मैं भी तुमको अपने यहां की पाकशाला के प्रधान कर्मचारी का पद देता हूं। इस प्रकार राजा विराट के यहां आश्रय पाकर भीमसेन भी बड़े सुख से रहने लगे। वहां का या बाहर का कोई मनुष्य उनका असली परिचय नहीं पा सका ॥११।१३॥

विराटपर्व का आठवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ८ ॥

महाभिजनसंपन्नः शीलवान्वृत्तवानिति ॥ ३७ ॥
ह्रीनिषेवो मधुरवाग्धार्मिकश्च प्रियश्च मे ।
स तेऽरण्येषु वोढव्यो याज्ञसेनि क्षपास्वपि ॥ ३८ ॥
सुकुमारश्च शूरश्च राजानं चाऽप्यनुव्रतः ।
ज्येष्ठापचायिनं वीरं स्वयं पांचालि भोजयेः ॥ ३९ ॥
इत्युवाच हि मां कुंती रुदती पुत्रगृद्धिनी ।
प्रव्रजंतं महारण्यं तं परिष्वज्य तिष्ठती ॥ ४० ॥
तं दृष्ट्वा व्यापृतं गोषु वत्सचर्मक्षपाशयम् ।
सहदेवं युधां श्रेष्ठं किन्नु जीवामि पांडव ॥ ४१ ॥
यस्त्रिभिर्नित्यसंपन्नो रूपेणाऽस्त्रेण मेधया ।
सोऽश्वबंधो विराटस्य पश्य कालस्य पर्ययम् ॥ ४२ ॥
अभ्यकीर्यंत वृंदानि दामग्रंथिमुदीक्ष्य तम् ।
विनयंतं जवेनाऽश्वान्महाराजस्य पश्यतः ॥ ४३ ॥
अपश्यमेनं श्रीमंतं मत्स्यं भ्राजिष्णुमुत्तमम् ।
विराटमुपतिष्ठंतं दर्शयंतं च वाजिनः ॥ ४४ ॥
किं नु मां मन्यसे पार्थ सुखिनीति परंतप ।
एवं दुःखशताविष्टा युधिष्ठिरनिमित्ततः ॥ ४५ ॥

हे वीर! आर्या कुन्ती सदा मेरे आगे सहदेव की सच्चरित्रता और सुशीलता की प्रशंसा किया करती थीं। सहदेव जब हम लोगों के साथ वन चलने को तैयार हुए तब पुत्रवत्सला कुन्ती ने उनको छाती से लगाकर, आंखों में आंसू भरकर, कहा था कि "हे द्रौपदी! सहदेव बहुत ही शरमीले, प्रियवादी, धर्मनिष्ट, बड़े-बूढ़ों और राजा की सेवा में अनुराग रखनेवाले, शूर, सुकुमार और मुझे अत्यन्त प्रिय हैं। इसलिए तुम सदा इनकी देख-भाल रखना और अपने हाथ से खिलाना-पिलाना" | हाय! आज उन्हीं सहदेव को गोपाल बनकर, चमड़े पर लेटकर, समय व्यतीत करना पड़ता है! यह देखकर भी मैं कैसे जीती रहने की इच्छा करूं? ॥३७।४१॥

हा! काल की कैसी विचित्र गति है! रूप, बुद्धि और अस्त्रविद्या, ये तीनों गुण जिनमें समान रूप से सर्वोत्तम भाव से वर्तमान हैं वही नकुल आज राजा विराट के साईस हैं। जिन्हें देखते ही शत्रु लोग व्याकुल हो जाते थे वे नकुल आज राजा विराट के सामने उनके घोड़ों को शीघ्र चलना सिखाते हैं! हे भीम! युधिष्ठिर के कारण मैं इसी तरह के अनेकों दुःख भोग रही हूं। तब भी तुम किस तरह मुझे सुखी समझ रहे हो? इन दुःखों के सिवा मुझे और

सा तामुवाच राजेंद्र सैरंध्र्यहमुपागता ।
कर्म चेच्छाम्यहं कर्तुं तस्य यो मां युयुक्षति ॥ ८ ॥

सुदेष्णोवाच—नैवंरूपा भवंत्येव यथा वदसि भामिनि ।
प्रेषयंतीव वै दासीर्दासांश्च विविधान्बहून् ॥ ९ ॥
नोच्चगुल्फा संहतोरुस्त्रिगंभीरा षडुन्नता ।
रक्ता पंचसु रक्तेषु हंसगद्गदभाषिणी ॥ १० ॥
सुकेशी सुस्तनी श्यामा पीनश्रोणिपयोधरा ।
तेन तेनैव संपन्ना काश्मीरीव तुरंगमी ॥ ११ ॥
अरालपक्ष्मनयना बिंबोष्ठी तनुमध्यमा ।
कंबुग्रीवा गूढशिरा पूर्णचंद्रनिभानना ॥ १२ ॥
शारदोत्पलपत्राक्ष्या शारदोत्पलगंधया ।
शारदोत्पलसेविन्या रूपेण सदृशी श्रिया ॥ १३ ॥
का त्वं ब्रूहि यथा भद्रे नासि दासी कथंचन ।
यक्षी वा यदि वा देवी गंधर्वी यदि वाऽप्सराः ॥ १४ ॥
देवकन्या भुजंगी वा नगरस्याऽथ देवता ।
विद्याधरी किन्नरी वा यदि वा रोहिणी स्वयम् ॥ १५ ॥

द्रौपदी ने कहा—मैं सैरन्ध्री हूं । जो कोई मुझे अपने यहां आश्रय देगा उसका कार्य मैं मन लगाकर करूंगी। इसी इच्छा से मैं इस नगर में आई हूं ॥५।८॥

रानी सुदेष्णा ने कहा—हे सुन्दरी ! तुमने जो कहा वह तुम ऐसी स्त्री के योग्य कभी नहीं हो सकता । बल्कि तुम्हीं बहुत सी दासियों की स्वामिनी होने योग्य हो । तुम्हारे गुल्फ (गट्टे) गूढ़ हैं; तुम्हारी जांघें बराबर हैं; नाभि गहरी है; नाक, आंखें, कान, स्तन, नख और घांटी ऊंची है; हथेलियों, तलवों, आंखों के कोयों और मुख-मण्डलका रङ्ग गुलाबी है । तुम्हारी वाणी हंस की सी है। केश बड़े मनोहर हैं । स्तन और नितम्ब मोटे हैं। पलकों के रोएं कुटिल हैं । ओठ कुंदरू के रङ्ग के हैं । कमर पतली है । गरदन शङ्ख के समान बनी है । नसें छिपी हुई हैं । शरीर का रङ्ग सांवला है । मुख-मण्डल पूर्ण चन्द्रमा के समान सुन्दर है । क्या तुम किसी दानव, गन्धर्व किन्नर या नाग की कन्या हो ? या तुम वनदेवी हो या कोई अप्सरा ? तुम काश्मीर देश की घोड़ी के समान हो । शरद ऋतु के कमल के समान विशाल नेत्रोंवाली, शरद ऋतु के कमल के समान सुगन्ध से पूर्ण, महालक्ष्मी सी जान पड़ती हो । तुम्हारा रूप बहुत ही मनोहर है । इसलिए हे सुन्दरी ! ठीक-ठीक बताओ, तुम कौन हो ? तुम किसी तरह दासी होने के योग्य नहीं हो । तुम क्या यक्ष-कन्या, देव-कन्या

यच्च राष्ट्रात्प्रच्यवनं कुरूणामवधश्च यः ।
सुयोधनस्य कर्णस्य शकुनेः सौवलस्य च ॥ ६ ॥
दुःशासनस्य पापस्य यन्मया नाऽहृतं शिरः ।
तन्मे दहति गात्राणि हृदि शल्यमिवाऽर्पितम् ।
मा धर्मं जहि सुश्रोणि क्रोधं जहि महामते ॥ ७ ॥
इमं तु समुपालंभं त्वत्तो राजा युधिष्ठिरः ।
शृणुयाद्वाऽपि कल्याणि कृत्स्नं जह्यात्स जीवितम्॥ ८ ॥
धनंजयो वा सुश्रोणि यमौ वा तनुमध्यमे ।
लोकांतरगतेष्वेषु नाऽहं शक्ष्यामि जीवितुम् ॥ ९ ॥
पुरा सुकन्या भार्या च भार्गवं च्यवनं वने ।
वल्मीकभूतं शाम्यंतमन्वपद्यत भामिनी ॥ १० ॥
नारायणी चेंद्रसेना रूपेण यदि ते श्रुता ।
पतिमन्वचरद्वृद्धं पुरा वर्षसहस्रिणम् ॥ ११ ॥
दुहिता जनकस्यापि वैदेही यदि ते श्रुता ।
पतिमन्वचरत्सीता महारण्यनिवासिनम् ॥ १२ ॥
रक्षसा निग्रहं प्राप्य रामस्य महिषी प्रिया ।
क्लिश्यमानाऽपि सुश्रोणि राममेवाऽन्वपद्यत ॥ १३ ॥

समय युधिष्ठिर के इशारे का खयाल करके चुप हूं ।।१।५।।

एक तो हम लोगों का राज्य-नाश हो गया है; दूसरे अभी तक कर्ण, शकुनि, दुर्योधन, दुःशासन आदि दुष्ट वैरी जीते हैं; ये दोनों बातें काटे की तरह मेरे हृदय में खटका करती हैं। इनके खयाल से मेरा शरीर जला करता है। हे प्रियतमे! धर्म को न छोड़कर क्रोध को त्यागो। महाराज युधिष्ठिर यदि किसी तरह तुम्हारी इन तिरस्कार की बातों को सुन पावेंगे तो वे तो अवश्य ही प्राण छोड़ देंगे। उनका परलोकवास होने पर अर्जुन, नकुल और सहदेव भी जीते नहीं रह सकते। इन लोगों के विरह में मैं भी किसी तरह जीता नहीं रह सकता ॥६।९॥

देखो, पहले के समय में महातपस्वी च्यवन ऋषि तप करते-करते वन में वल्मीकरूप हो गये थे; उस समय उनकी सहधर्मिणी राजकुमारी सुकन्या ने उनकी सेवा की और उनका साथ दिया। अनुपम रूपवती नारायणी चन्द्रसेना हज़ार वर्ष के वृद्ध की स्त्री होकर उनकी अनुगामिनी रहीं। महाराज जनक की कन्या सीता देवी को राक्षस हर ले गया, उन्हें अनेक कष्ट दिये, तो भी उन्होंने वनवासी स्वामी के साथ रहने की उत्कण्ठा नहीं छोड़ी। हे पाञ्चाली! रूप और यौवन से शोभित लोपामुद्रा, अलौकिक

प्रसक्तास्त्वां निरीक्षंते पुमांसं कं न मोहयेः ॥ २३ ॥
वृक्षांश्चाऽवस्थितान्पश्य य इमे मम वेश्मनि ।
तेऽपि त्वां सन्नमंतीव पुमांसं कं न मोहयेः ॥ २४ ॥
राजा विराटः सुश्रोणि दृष्ट्वा वपुरमानुषम् ।
विहाय मां वरारोहे गच्छेत्सर्वेण चेतसा ॥ २५ ॥
यं हि त्वमनवद्यांगि तरलायतलोचने ।
प्रसक्तमभिवीक्षेथाः सकामवशगो भवेत् ॥ २६ ॥
यश्च त्वां सततं पश्येत्पुरुषश्चारुहासिनि ।
एवं सर्वानवद्यांगि स चाऽनंगवशो भवेत् ॥ २७ ॥
अध्यारोहेद्यथा वृक्षान्वधायैवाऽऽत्मनो नरः ।
राजवेश्मनि ते सुभ्रू गृहे तु स्यात्तथा मम ॥ २८ ॥
यथा च कर्कटी गर्भमाधत्ते मृत्युमात्मनः ।
तथाविधमहं मन्ये वासं तव शुचिस्मिते ॥ २९ ॥
द्रौपद्युवाच—नाऽस्मि लभ्या विराटेन न चाऽन्येन कदाचन ।
गंधर्वाः पतयो मह्यं युवानः पंच भामिनि ॥ ३० ॥
पुत्रा गंधर्वराजस्य महासत्त्वस्य कस्यचित् ।
रक्षंति ते च मां नित्यं दुःखाचारा तथा ह्यहम् ॥ ३१ ॥

कर कहीं महाराज का चित्त चञ्चल न हो उठे। जब ये रनिवास की स्त्रियां भी मोहित होकर एकटक तुम्हीं को ताक रही हैं, और महल के भीतर वृक्ष तक तुम्हें देखने के लिए झुके से पड़ रहे हैं, तब तुम्हारे रूप को देखकर किस पुरुष का चित्त चलायमान न हो उठेगा ? हे सुन्दरी ! इसमें सन्देह नहीं कि महाराज विराट तुम्हारे अलौकिक रूप-लावण्य को देखकर मुझे छोड़ तुम्हीं पर आसक्त हो जायँगे। मुझे विश्वास है कि तुम जिस पुरुष की ओर अनुराग की दृष्टि से प्रसन्न होकर देख दोगी, या जो पुरुष सदा तुमको देखेगा वह अवश्य कामदेव के वश हो जायगा। जैसे कोई मूर्ख पेड़ पर चढ़कर अपने गिरने का सामान करे [या जिस डाल पर खड़ा हो उसे ही काटने को तैयार हो] वैसे ही मेरे लिए तुमको राजमहल में आश्रय देना भी है। जैसे कर्कटी अपने नाश के लिए ही गर्भवती होती है वैसे ही मेरा तुमको अपने पास रखना होगा ॥२२।२९॥

द्रौपदी ने कहा—हे रानीजी ! राजा विराट या और कोई पुरुष मुझे प्राप्त नहीं कर सकता। क्योंकि पांच नौजवान गन्धर्व मेरे स्वामी हैं। वे महा-बली हैं और सदा [गुप्त रूप से] मेरी रक्षा किया करते हैं। जो कोई मुझे अपनी जूठन नहीं खिलाता

दर्शने दर्शने हन्याद्यदि जह्यां च जीवितम् ।
तद्धर्मे यतमानानां महान्धर्मो न शिष्यति ॥ ३९ ॥
समयं रक्षमाणानां भार्या वो न भविष्यति ।
भार्यायां रक्ष्यमाणायां प्रजा भवति रक्षिता ॥ ४० ॥
प्रजायां रक्ष्यमाणायामात्मा भवति रक्षितः ।
आत्मा हि जायते तस्यां तेन जायां विदुर्बुधाः ॥ ४१ ॥
भर्त्ता तु भार्यया रक्ष्यः कथं जायान्ममोदरे ।
वदतां वर्णधर्मश्च ब्राह्मणानामिति श्रुतः ॥ ४२ ॥
क्षत्रियस्य सदा धर्मो नाऽन्यः शत्रुनिवर्हणात् ।
पश्यतो धर्मराजस्य कीचको मां पदाऽवधीत् ॥ ४३ ॥
तव चैव समक्षे वै भीमसेन महाबल ।
त्वया ह्यहं परित्राता तस्माद्घोराजटासुरात् ॥ ४४ ॥
जयद्रथं तथैव त्वमजैषीर्भ्रातृभिः सह ।
जहीममपि पापिष्ठं योऽयं मामवमन्यते ॥ ४५ ॥
कीचको राजवाल्लभ्याच्छोककृन्मम भारत ।
तमेवं कामसंमत्तं भिंधि कुंभमिवाऽश्मनि ॥ ४६ ॥

दीक्षा लिये हुए हो। यदि मेरी जान जाती रही तो अवश्य ही तुमको घोर अधर्म होगा। तात्पर्य यह है कि केवल प्रतिज्ञा के पालन का खयाल रखने से तुम अपनी भार्याकी रक्षा न कर सकोगे। भार्या की रक्षा हुए बिना सन्तान की रक्षा नहीं होने की ॥३९।४०॥

[सोचकर देखो, सन्तान की रक्षा कितना आवश्यक कर्त्तव्य है।] सन्तान की रक्षा से आत्मा की रक्षा होती है, क्योंकि पुरुष आप ही पुत्र-रूप से फिर जन्म लेता है इसी लिए विज्ञ पुरुषों ने भार्या का एक नाम जाया रक्खा है। पति पुत्र-रूप से मेरे गर्भ में जन्म लेगा, यही सङ्कल्प करके स्त्री को स्वामी की सेवा करनी चाहिए। वर्णाश्रम धर्म के अच्छे जानकर ब्राह्मणों से मैंने सुना है कि शत्रु को दण्ड देने से बढ़कर क्षत्रिय का और धर्म नहीं है। [इसलिए प्रतिज्ञा-पालन के अनुरोध से भयङ्कर शत्रु कीचक को यथोचित दण्ड न दिया जायगा तो तुम लोगों के सर्वोत्तम धर्म की विशेष हानि होगी।] ॥४१।४२॥

हे महाबली भीमसेन! दुष्ट कीचक ने धर्मराज युधिष्ठिर के और तुम्हारे आगे मुझे लात मारी है। तुमने पहले भयानक जटासुर से जैसे मेरी रक्षा की है, और भाइयों की सहायता से जयद्रथ को जैसे नीचा दिखाया है, वैसे ही इस समय पापी कीचक को मारो। हे भरत-कुलतिलक! कामान्ध पापी कीचक, राजा को प्रिय होने के कारण, मेरे लिए अनेक विपत्तियाँ

गोष्ठमासाद्य तिष्ठंतं भवनस्य समीपतः ।
राजाऽथ दृष्ट्वा पुरुषान्प्राहिणोज्जातविस्मयः ॥ २ ॥
तमायांतमभिप्रेक्ष्य भ्राजमानं नरर्षभम् ।
समुपस्थाय वै राजा पप्रच्छ कुरुनंदनम् ॥ ३ ॥
कस्य वा त्वं कुतो वा त्वं किं वा त्वं तु चिकीर्षसि।
न हि मे दृष्टपूर्वस्त्वं तत्त्वं ब्रूहि नरर्षभ ॥ ४ ॥
संप्राप्य राजानममित्रतापनं ततोऽब्रवीन्मेघमहौघनिःस्वनः ।
वैश्योऽस्मि नाम्नाऽहमरिष्टनेमिर्गोसंख्य आसं कुरुपुंगवानाम् ॥ ५ ॥
वस्तुं त्वयीच्छामि विशां वरिष्ठ तान्राजसिंहान्न हि वेद्मि पार्थान् ।
न शक्यते जीवितुमप्यकर्मणा न च त्वदन्यो मम रोचते नृपः ॥ ६ ॥
विराट उवाच—त्वं ब्राह्मणो यदि वा क्षत्रियोऽसि समुद्रनेमीश्वररूपवानसि।
आचक्ष्व मे तत्त्वममित्रकर्शन न वैश्यकर्म त्वयि विद्यते क्षमम् ॥ ७ ॥
कस्यासि राज्ञो विषयादिहाऽऽगतः किं वापि शिल्पं तव विद्यते कृतम्।
कथं त्वमस्मासु निवत्स्यसे सदा वदस्व किं चापि तवेह वेतनम् ॥ ८ ॥
सहदेव उवाच—पंचानां पांडुपुत्राणां ज्येष्ठो भ्राता युधिष्ठिरः ।

राजा विराट को बड़ा आश्चर्य उत्पन्न हुआ। राजाके भेजे हुए लोग सहदेव के पास आकर उनको विराट के पास ले गये। रूपवान् सहदेव को देखकर विराट ने उनका यथोचित आदर करके कहा—हे पुरुष श्रेष्ठ! तुमको पहले मैंने कभी भी नहीं देखा। तुम कौन हो? किसके पुत्र हो? कहां से, किस अभिप्राय से, यहां आये हो? अपना सब वृत्तान्त कहो ॥१।४॥

सहदेव ने मेघ के समान गम्भीर स्वर से कहा—हे महाराज! मैं गोपाल वैश्य हूं। मुझको तन्तिपाल और अरिष्टनेमि भी कहते हैं। मैं पहले महाराज युधिष्ठिर के यहां गायों की रक्षा किया करता था। अब पाण्डवों का कहीं पता नहीं है। इसी से जीविका-हीन होकर मैं आपके यहां आया हूं। आप क्षत्रियों में श्रेष्ठ हैं। आपके पास रहकर वही अपना पहले का कार्य करना चाहता हूं। और कोई कार्य करना, या आपको छोड़कर और किसी के आश्रय में रहना, मुझे पसन्द नहीं। मैं इस कार्य में बहुत ही निपुण हूं। मुझे आश्रय दीजिए ॥५।६॥

इस पर विराट ने कहा—हे शत्रुदमन! तुम ठीक-ठीक अपना परिचय दो। तुम्हारे रूप-रङ्ग से मुझे स्पष्ट जान पड़ता है कि तुम ब्राह्मण अथवा समुद्र पर्यन्त पृथ्वी-मण्डल के स्वामी कोई प्रतापी क्षत्रिय हो। वैश्य की वृत्ति कभी तुम्हारे योग्य नहीं है। तुम किस राजा के राज्य से आये हो। किस-किस कार्य में निपुण हो? मेरे यहां किस तरह रहोगे? क्या वेतन लोगे? ॥७।८॥

वैशम्पायन उवाच--तमर्थमपि जल्पंत्याः कृष्णायाः कीचकेन ह ।
दिवसार्द्धं समभवन्मासेनेव समं नृप ॥ १८ ॥
कीचकोऽथ गृहं गत्वा भृशं हर्षपरिप्लुतः ।
सैरंध्रीरूपिणं मूढो मृत्युं तन्नाऽवबुद्धवान् ॥ १९ ॥
गंधाभरणमाल्येषु व्यासक्तः स विशेषतः ।
अलंचक्रे तदाऽऽत्मानं सत्वरः काममोहितः ॥ २० ॥
तस्य तत्कुर्वतः कर्म कालो दीर्घ इवाऽभवत् ।
अनुचिंतयतश्चापि तामेवाऽऽयतलोचनाम् ॥ २१ ॥
आसीदभ्यधिका चापि श्रीः श्रियं प्रमुमुक्षतः ।
निर्वाणकाले दीपस्य वर्तीमिव दिधक्षतः ॥ २२ ॥
कृतसंप्रत्ययस्तस्याः कीचकः काममोहितः ।
नाऽजानाद्दिवसं यांतं चिंतयानः समागमम् ॥ २३ ॥
ततस्तु द्रौपदी गत्वा तदा भीमं महानसे ।
उपातिष्ठत कल्याणी कौरव्यं पतिमंतिकम् ॥ २४ ॥
तमुवाच सुकेशांता कीचकस्य मया कृतः ।
संगमो नर्तनागारे यथाऽवोचः परंतप ॥ २५ ॥

ही गन्धर्व न जानते होंगे। इसलिए तुम घोर अन्धेरी रात्रि के समय वहां मुझसे मिलने आओ तो हम दोनों लोक-लाज से बच जायँ ॥१६।१७॥

वैशम्पायन ने कहा—हे महाराज जनमेजय! कीचक से यों बातचीत हो चुकने पर द्रौपदी को वह आधा दिन एक महीने के बराबर जान पड़ने लगा। इधर कामबाण-पीड़ित दुष्ट कीचक प्रसन्नता के मारे फूला नहीं समाता था। उसे नहीं मालूम हुआ कि द्रौपदी उसके लिए साक्षात् मृत्यु है। वह द्रौपदी से निश्चय करके अपने घर को गया और चन्दन, माला, गहने आदि से अपने शरीर की शोभा बढ़ाने में लग गया। उस समय विशाल नेत्रोंवाली द्रौपदी की याद आने से रात्रि होने में जो थोड़ा सा समय शेष रह गया था वह कीचक को बहुत ही अधिक जान पड़ने लगा ॥१८।२१॥

जैसे दीपक बुझने से पहले खूब जगमगा उठता है, वैसे ही उस समय कीचक बहुत आनन्दित और शोभित हुआ। दुष्ट कीचक काम से विह्वल हुआ-हुआ और मिलने की अभिलाषा में उन्मत्त सा हो उठा। द्रौपदी की बातों पर उसको पूरा विश्वास था। इस खयाल में वह इतना मग्न हो गया था कि दिन कब व्यतीत हो गया, इसकी भी उसको कुछ मालूम नहीं हुई ॥२२।२३॥

अब सन्ध्या का समय आ गया। पतिव्रता द्रौपदी

यहां सुख से रहने लगे। राजा भी उन्हें, उनकी इच्छा के अनुसार, वेतन देकर सन्तुष्ट रखने लगे। वहां पर कोई भी सहदेव को पहचान नहीं सका ॥१६॥

—०—

विराटपर्व का दसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ १० ॥

अथ एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

वैशम्पायन उवाच—अथापरोऽदृश्यत रूपसंपदा स्त्रीणामलंकारधरो बृहत्पुमान् ।
प्राकारवप्रे प्रतिमुच्य कुंडले दीर्घे च कंबूपरिहाटके शुभे ॥ १ ॥
बाहू च दीर्घान्प्रविकीर्य मूर्धजान्महाभुजो वारणतुल्यविक्रमः ।
गतेन भूमिं प्रतिकंपयंस्तदा विराटमासाद्य सभासमीपतः ॥ २ ॥
तं प्रेक्ष्य राजोपगतं सभातले व्याजात्प्रतिच्छन्नमरिप्रमाथिनम् ।
विराजमानं परमेण वर्चसा सुतं महेंद्रस्य गजेंद्रविक्रमम् ॥ ३ ॥
सर्वानपृच्छच्च सभानुचारिणः कुतोऽयमायाति पुरा न मे श्रुतः ।
न चैनमूचुर्विदितं तदा नराः सविस्मयं वाक्यमिदं नृपोऽब्रवीत् ॥ ४ ॥
सत्वोपपन्नः पुरुषोऽमरोपमः श्यामो युवा वारणयूथपोपमः ।
आमुच्य कंबूपरिहाटके शुभे विमुच्य वेणीमपिनह्य कुंडले ॥ ५ ॥
स्रग्वी सुकेशः परिधाय चाऽन्यथा शुशोभ धन्वी कवची शरी यथा।
आरुह्य यानं परिधावतां भवान्सुतैः समो मे भव वा मया समः ॥ ६ ॥

ग्यारहवां अध्याय ॥ ११ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! अब परम सुन्दर, ऊँचे डील-डौलवाले, महाबाहु, मस्त हाथी के समान पराक्रमी अर्जुन भी स्त्रियों के समान कानों में कुण्डल, हाथों में चूड़ियां, कङ्गन और बाजू आदि पहने, बड़ी-बड़ी लटें खोले विराट की सभा के पास पहुँचे। उनके प्रत्येक पग रखने पर पृथ्वी मानों कांप उठती थी ॥१।२॥

अपने को नपुंसक के वेष में छिपाये हुए तेजस्वी इन्द्र-पुत्र अर्जुन को देखकर राजा विराट ने सभासदों से कहा—यह कौन है ? कहां से आया है ? मैंने न तो कभी इसे कहीं देखा ही है और न इसके बारे में कुछ सुना है। सभासदों ने कहा—हे महाराज! हम भी इसको नहीं जानते। इतने में नपुंसक-वेषधारी अर्जुन राजा विराट की सभा में पहुँचे। उन्हें देखकर विस्मित विराट ने कहा—हे महात्मा! तुम बलवान्, मस्त हाथी के समान पराक्रमी, सांवले, मनोहर जवान देख पड़ते हो। चूड़ी, कङ्गन, बाजू, कुण्डल, वेणी आदि धारण करने पर भी तुम्हारी शोभा कम नहीं है। तुम्हारा देव-सदृश रूप देखने से तुम नपुंसक नहीं जान पड़ते। तुम मेरी आज्ञा से रथ पर चढ़कर अपनी इच्छा के अनुसार सैर करो। आज से तुम मेरे पुत्रों के अथवा मेरे ही तुल्य हुए। मैं वृद्ध हो गया

अद्य त्वां भगिनी पापं कृष्यमाणं मया भुवि ।
द्रक्ष्यतेऽद्रिप्रतीकाशं सिंहेनेव महागजम् ॥ ५० ॥
निराबाधा त्वयि हते सैरंध्री विचरिष्यति ।
सुखमेव चरिष्यंति सैरंध्र्याः पतयः सदा ॥ ५१ ॥
ततो जग्राह केशेषु माल्यवत्सु महाबलः ।
स केशेषु परामृष्टो बलेन बलिनां वरः ॥ ५२ ॥
आक्षिप्य केशान्वेगेन बाह्वोर्जग्राह पांडवम् ।
बाहुयुद्धं तयोरासीत्क्रुद्धयोर्नरसिंहयोः ॥ ५३ ॥
वसंते वासिताहेतोर्बलवद्गजयोरिव ।
कीचकानां तु मुख्यस्य नराणामुत्तमस्य च ॥ ५४ ॥
वालिसुग्रीवयोर्भ्रात्रोः पुरेव कपिसिंहयोः ।
अन्योन्यमभिसंरब्धौ परस्परजयैषिणौ ॥ ५५ ॥
ततः समुद्यम्य भुजौ पंचशीर्षाविवोरगौ ।
नखदंष्ट्राभिरन्योन्यं घ्नतः क्रोधविषोद्धतौ ॥ ५६ ॥
वेगेनाऽभिहतो भीमः कीचकेन बलीयसा ।
स्थिरप्रतिज्ञः स रणे पदान्न चलितं पदम् ॥ ५७ ॥

हो ! कैसे सर्शरस के जानकार हो ! तुम्हारे सदृश स्त्रियों को रिझानेवाला दूसरा कोई नहीं है ॥४७।४८॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! परमपराक्रमी भीमसेन यों कहकर एकाएक उछल पड़े और फिर हँसकर अपने को प्रकट करते हुए कहने लगे—रे पापी ! सिंह जैसे गजराज पर आक्रमण करता है, वैसे ही मैं तुझे खींचकर, तेरी बहन के सामने ही तुझे धरती पर पटककर, रगड़ूंगा । तेरे मर जाने पर सैरन्ध्री बेखटके हो जायगी, और उसके स्वामी गन्धर्व भी सन्तुष्ट होंगे ॥४९।५१॥

महाबली भीमसेन ने यों कहकर चटपट उसके बाल पकड़ लिये । श्रेष्ठ बलवान् कीचक ने भी उसी घड़ी अपने बाल छुड़ाकर वेग से भीमसेन को भुजाओं में भर लिया । इस तरह क्रोध से भरे दोनों वीर परस्पर भिड़ गये। वसन्त ऋतु में हथिनी के लिए काम से उन्मत्त दो गजराज जैसे परस्पर युद्ध करें, या पहले बाली और सुग्रीव ने जैसा दारुण युद्ध किया था, वैसे ही वे दोनों भयानक युद्ध करने लगे। दोनों को समान रूप से जय की इच्छा थी, दोनों ही क्रोध से भरे हुए थे ॥५२।५५॥

तीक्ष्ण विषवाले पांच सिर के नागों के समान भयङ्कर भुजाएं उठाकर दोनों ही परस्पर नखों और दांतों से प्रहार करने लगे । कीचक महावेग से प्रहार करता था, पर प्रतिज्ञा में स्थिर प्रतापी भीमसेन पग

दासियों को,नाचने और गाने-बजाने की शिक्षा देने लगे कुछ ही दिनोंमें वे उनको बहुत प्यारे हो गये। हे राजेंद्र! इस तरह स्त्रियों के बीच में राजा विराट के अन्तः-पुर में अर्जुन रहने लगे। रनिवास के भीतर या बाहर कोई मनुष्य उनको नहीं पहचान सका ॥११।१४॥

—०—

विराटपर्व का ग्यारहवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ११ ॥

अथ द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

वैशम्पायन उवाच—अथाऽपरोऽदृश्यत पांडवः प्रभुर्विराटराजं तरसा समेयिवान्।
तमापतंतं ददृशे पृथग्जनो विमुक्तमभ्रादिव सूर्यमंडलम् ॥ १ ॥
स वै हयानैक्षत तांस्ततस्ततः समीक्षमाणं स ददर्श मत्स्यराट्।
ततोऽब्रवीत्तानतुगान्नरेश्वरः कुतोऽयमायाति नरोऽमरोपमः ॥ २ ॥
स्वयं हयानीक्षति मामकान्दृढं ध्रुवं हयज्ञो भविता विचक्षणः ।
प्रवेश्यतामेष समीपमाशु मे विभाति वीरो हि यथाऽमरस्तथा ॥ ३ ॥
अभ्येत्य राजानममित्रहाऽब्रवीज्जयोऽस्तु ते पार्थिव भद्रमस्तु वः ।
हयेषु युक्तो नृप संमतः सदा तवाऽश्वसूतो निपुणो भवाम्यहम् ॥ ४ ॥
विराट उवाच—ददामि यानानि धनं निवेशनं ममाऽश्वसूतो भवितुं त्वमर्हसि।
कुतोऽसि कस्यासि कथं त्वमागतः प्रब्रूहि शिल्पं तव विद्यते च यत्॥ ५ ॥
नकुल उवाच—पंचानां पांडुपुत्राणां ज्येष्ठो भ्राता युधिष्ठिरः ।
तेनाऽहमश्वेषु पुरा नियुक्तः शत्रुकर्शन ॥ ६ ॥
अश्वानां प्रकृतिं वेद्मि विनयं चापि सर्वशः ।

बारहवां अध्याय ॥ १२ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! [इसके पश्चात् परम सुन्दर नकुल विराट की सभा में पहुंचे।] मेघ-मण्डली से निकले हुए सूर्य के समान तेजस्वी नकुल को राजा विराट[और उनके सभासदों] ने देखा। नकुल महाराज विराट के घोड़ों को देखते चले आ रहे थे। राजा विराट ने अपने नौकरों से कहा—यह देवतुल्य पुरुष कहां से आ रहा है ! यह मेरे घोड़ों को बड़े ध्यान से देखता आ रहा है, इससे यह घोड़ों के बारे में अधिक जानकारी रखनेवाला मनुष्य जान पड़ता है। तुम लोग शीघ्र इसे मेरे पास लाओ। राजा के सेवक जब नकुल को लाकर राजसभा में पहुंचे तब नकुल ने कहा—हे राजेंद्र! आपकी जय हो। घोड़ों के बारे में मुझे पूरी जानकारी है। [मेरा नाम ग्रन्थिक है।] मैं आपकी अश्व-शाला में रहकर घोड़ों की देख रेख का कार्य करना चाहता हूं। [आप वेतन नियत करके मुझे अपने यहां रख लीजिए।] ॥१।४॥

राजा विराट ने कहा—हे ग्रन्थिक! मैं तुमको अपनी घुड़साल का प्रधान कर्मचारी बनाता हूं।

एवमुक्त्वा महाराज भीमो भीमपराक्रमः ।
पादेन पीडयामास तस्य कायं दुरात्मनः ॥ ८५ ॥
ततोऽग्निं तत्र प्रज्वाल्य दर्शयित्वा तु कीचकम् ।
पांचालीं स तदा वीर इदं वचनमब्रवीत् ॥ ८६ ॥
प्रार्थयंति सुकेशांते ये त्वां शीलगुणान्विताम् ।
एवं ते भीरु वध्यंते कीचकः शोभते यथा ॥ ८७ ॥
तत्कृत्वा दुष्करं कर्म कृष्णायाः प्रियमुत्तमम् ।
तथा स कीचकं हत्वा गत्वा रोषस्य वै शमम् ॥ ८८ ॥
आमंत्र्य द्रौपदीं कृष्णां क्षिप्रमायान्महानसम् ।
कीचकं घातयित्वा तु द्रौपदी योषितां वरा ।
प्रहृष्टा गतसंतापा सभापालानुवाच ह ॥ ८९ ॥
कीचकोऽयं हतः शेते गंधर्वैः पतिभिर्मम ।
परस्त्रीकामसंमत्तस्तत्राऽगच्छत पश्यत ॥ ९० ॥
तच्छ्रुत्वा भाषितं तस्या नर्तनागाररक्षिणः ।
सहसैव समाजग्मुरादायोल्काः सहस्रशः ॥ ९१ ॥
ततो गत्वाऽथ तद्वेश्म कीचकं विनिपातितम् ।
गतासुं ददृशुर्भूमौ रुधिरेण समुक्षितम् ॥ ९२ ॥
पाणिपादविहीनं तु दृष्ट्वा च व्यथिताऽभवन् ।
निरीक्षंति ततः सर्वे परं विस्मयमागताः ॥ ९३ ॥

मांस का लौंदा बना दिया। फिर द्रौपदी को बुलाकर भीमसेन ने कहा—हे "प्रिये ! देखो, इस लम्पट की मैंने कैसी दुर्गति कर डाली है।" ॥८१।८४॥

अब भीमसेन ने कीचक की लाश पर कई लातें मारीं और अग्नि जलाकर द्रौपदी को उसकी दुर्दशा दिखाकर कहा—हे पाञ्चाली ! अब और भी जो कोई तुम्हारी इच्छा करेगा उसकी ऐसी ही दशा करूंगा। द्रौपदी की प्रसन्नता के लिए वैसा कठिन कर्म करके, प्रिया से विदा होकर, महावीर भीमसेन शीघ्रता से पाकशाला को लौट गये। कीचक के मरने से द्रौपदी का दुःख शान्त हो गया, विपत्ति मिट गई। द्रौपदी ने नाट्यशाला के रक्षकों के पास जाकर कहा—"लम्पट कीचक मेरे स्वामी गन्धर्वों के हाथ से मारा गया है; भीतर नाट्यशाला में मरा पड़ा है। जी चाहे तो जाकर देख आओ।" ॥८५।९०॥

यह सुनते ही पहरेदार लोग मशालें जलाकर देखने के लिए नाट्यशाला के भीतर गये। वहां पहुंचकर उन्होंने देखा कि खून से तर, मांस का लौंदा

सका। [redacted] राजा जनमेजय! इस प्रकार समुद्र पर्यन्त पृथ्वी मण्डल के स्वामी होने पर भी सत्यपरायण पांचों पाण्डव, प्रिया द्रौपदी सहित, राजा विराट के यहां रहने लगे। प्रतिज्ञा पूर्ण करने के लिए पराई सेवा का दुःख और अज्ञातवास का कष्ट उन्हें स्वीकार करना पड़ा ॥१२।१३॥

विराटपर्व का बारहवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ १२ ॥

अथ समयपालनपर्व ।

अथ त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

जनमेजय उवाच—एवं ते मत्स्यनगरे प्रच्छन्नाः कुरुनंदनाः ।
अत ऊर्ध्वं महावीर्याः किमकुर्वत वै द्विज ॥ १ ॥
वैशम्पायन उवाच—एवं मत्स्यस्य नगरे प्रच्छन्नाः कुरुनंदनाः ।
आराधयंतो राजानं यदकुर्वत तच्छृणु ॥ २ ॥
तृणविंदुप्रसादाच्च धर्मस्य च महात्मनः ।
अज्ञातवासमेवं तु विराटनगरेऽवसन् ॥ ३ ॥
युधिष्ठिरः सभास्तारो मत्स्यानामभवत्प्रियः ।
तथैव च विराटस्य सपुत्रस्य विशांपते ॥ ४ ॥
स ह्यक्षहृदयज्ञस्तान्क्रीडयामास पांडवः ।
अक्षवत्यां यथाकामं सूत्रबद्धानिव द्विजान् ॥ ५ ॥
अज्ञातं च विराटस्य विजित्य वसु धर्मराट् ।
भ्रातृभ्यः पुरुषव्याघ्रो यथार्हं संप्रयच्छति ॥ ६ ॥

तेरहवां अध्याय ॥ १३ ॥

राजा जनमेजय ने पूछा—हे भगवन्! विराट के नगर में रहकर वेष बदले हुए महापराक्रमी पांडवों ने इसके उपरान्त क्या किया? ॥१॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! भगवान् धर्म और महाराज तृणविन्दु के प्रसाद से अज्ञात होकर, विराट राजा के यहां उन्हें प्रसन्न करते हुए, पाण्डव अज्ञातवास का समय व्यतीत करने लगे। महाराज युधिष्ठिर राजा विराट की सभा के मुख्य सभासद हुए। राजा, राजपुत्र और सब सभासदों को वे परम प्रिय थे। चौसर खेलने में वे बड़े ही निपुण थे। लोग जैसे डोरी से बंधे हुए पक्षियों को लेकर, अपनी इच्छा के अनुसार चला-फिराकर, खेलते हैं वैसे ही चौसरके पांसों पर महाराज युधिष्ठिरका अधिकार था२।५।

वे नित्य चौसर के खेल में बहुत सा धन जीतकर गुप्त रूप से अपने भाइयों को देते थे [जिसमें वे सुख से रहें]। भीमसेन विराट के यहां रसोईघर के स्वामी थे। वे नित्य अनेक उत्तम भोजन की सामग्रियां, स्वादिष्ट मांस आदि अपने भाइयों को

ऊरुवेगेन तस्याऽथ न्यग्रोधाश्वत्थकिंशुकाः ।
भूमौ निपतिता वृक्षाः संघशस्तत्र शेरते ॥ २३ ॥
तं सिंहमिव संक्रुद्धं दृष्ट्वा गंधर्वमागतम् ।
वित्रेसुः सर्वशः सूता विषादभयकंपिताः ॥ २४ ॥
गंधर्वो बलवानेति क्रुद्ध उद्यम्य पादपम् ।
सैरंध्री मुच्यतां शीघ्रं यतो नो भयमागतम् ॥ २५ ॥
ते तु दृष्ट्वा तदाऽऽविद्धं भीमसेनेन पादपम् ।
विमुच्य द्रौपदीं तत्र प्राद्रवन्नगरं प्रति ॥ २६ ॥
द्रवतस्तांस्तु संप्रेक्ष्य स वज्री दानवानिव ।
शतं पंचाधिकं भीमः प्राहिणोद्यमसादनम् ॥ २७ ॥
वृक्षेणैतेन राजेंद्र प्रभंजनसुतो बली ।
तत आश्वासयत्कृष्णां स विमुच्य विशांपते ॥ २८ ॥
उवाच च महाबाहुः पांचालीं तत्र द्रौपदीम् ।
अश्रुपूर्णमुखीं दीनां दुर्धर्षः स वृकोदरः ॥ २९ ॥
एवं ते भीरु वध्यंते ये त्वां क्लिश्यंत्यनागसम् ।
प्रैहि त्वं नगरं कृष्णे न भयं विद्यते तव ॥ ३० ॥
अन्येनाऽहं गमिष्यामि विराटस्य महानसम् ॥ ३१ ॥
वैशम्पायन उवाच--पंचाधिकं शतं तच्च निहतं तेन भारत ।
महावनमिव छिन्नं शिश्ये विगलितद्रुमम् ॥ ३२ ॥

की जाघों के वेग से वहां में लगे हुए पीपल, बरगद, ढाक आदि के पेड़ उखड-उखडकर टूट-टूटकर गिरने लगे। क्रोधित सिंह के समान भयानक भीमसेन को अकस्मात् आते देख, गन्धर्व जानकर, सूतपुत्र बहुत ही व्याकुल हुए। अपने बचने का कोई उपाय न सूझ पड़ने के कारण भय से व्याकुल उदास सूतपुत्रों के हृदय धड़कने लगे वे परस्पर कहने लगे--"वह देखो, वह भारी वृक्ष कन्धे पर रखे, मृत्यु की तरह, दौड़ता हुआ गन्धर्व हम लोगों की ओर चला आ रहा है। इसलिए इस विपत्ति की जड सैरन्ध्री को शीघ्र छोड़ दीजिए ॥२१।२५॥

द्रौपदी को छोड़कर वे लोग नगर की ओर भागे। यह देखकर भीमसेन ने उनका पीछा किया। इन्द्र ने दानवों को जैसे दल मल डाला था, वैसे ही महाबली कालरूप भीमसेन ने उसी वृक्ष से एक सौ पांच उपकीचकों को उसी दम मार डाला। इसके पश्चात् रुदन करती हुई द्रौपदी के पास जाकर, बन्धन काटकर, सान्त्वना देते हुए भीमसेन ने कहा--हे भीरु! जो लोग बिना किसी अपराध के तुम्हें क्लेश देंगे वे यों ही मृत्यु के मुंह में पड़ेंगे। अब तुम्हें कुछ

महाकाया महावीर्याः कालखंजा इवाऽसुराः ।
वीर्योन्मत्ता बलोदग्रा राज्ञा समभिपूजिताः ॥ १६ ॥
सिंहस्कंधकटिग्रीवाः स्ववदाता मनस्विनः ।
असकृल्लब्धलक्षास्ते रंगे पार्थिवसन्निधौ ॥ १७ ॥
तेषामेको महानासीत्सर्वमल्लानथाऽऽह्वयत् ।
आवल्गमानं तं रंगे नोपतिष्ठति कश्चन ॥ १८ ॥
यदा सर्वे विमनसस्ते मल्ला हतचेतसः ।
अथ सूदेन तं मल्लं योधयामास मत्स्यराट् ॥ १९ ॥
नोद्यमानस्तदा भीमो दुःखेनैवाऽकरोन्मतिम् ।
न हि शक्नोति विवृते प्रत्याख्यातुं नराधिपम् ॥ २० ॥
ततः स पुरुषव्याघ्रः शार्दूलशिथिलश्चरन् ।
प्रविवेश महारंगं विराटमभिपूजयन् ॥ २१ ॥
बबंध कक्षां कौंतेयस्ततः संहर्षयञ्जनम् ।
ततस्तु वृत्रसंकाशं भीमो मल्लं समाह्वयत् ॥ २२ ॥
जीमूतं नाम तं तत्र मल्लं प्रख्यातविक्रमम् ।

किया करती थी। ब्रह्मा और शङ्कर की सभा का सा राजा का दरबार लगा खूब जमाव होने लगा ॥११।१५॥

अपना-अपना बल और कौशल दिखाने को बड़े-बड़े बली, महाकाय पहलवान और वीर चारों ओर से आने लगे। वे अनेकों बार इस उत्सव के अवसर पर आकर मत्स्यराज को अपना बाहु-बल और उस्तादी दिखा चुके थे। उनमें सबसे अधिक बलवान् जीमूत नाम का पहलवान था। वह अखाड़े में खड़ा होकर बाहर से आये हुए, और राजा के यहां रहनेवाले, पहलवानों तथा वीरों को युद्ध के लिए बार-बार ललकारने लगा। किन्तु किसी को उससे युद्ध करने के लिए सामने जाने का साहस नहीं हुआ। जब कोई पहलवान जीमूत से युद्ध करने को तैयार न हुआ तब राजा विराट ने अपने रसोइये बल्लव (भीमसेन) को बुलाया। उन्होंने भीमसेन को उस पहलवान से युद्ध करने की आज्ञा दी। आज्ञा पाकर भीमसेन बड़े असमंजस में पड़े। वे सोचने लगे कि यदि नहीं युद्ध करता हूँ तो राजा अप्रसन्न होंगे, और जो युद्ध करता हूं तो कहीं कोई मेरा बल देखकर मुझे पहचान न ले। [अन्त को भीमसेन ने युधिष्ठिर का इशारा पाकर युद्ध करना ही ठीक समझा।] ॥१६।२०॥

सिंह के समान रोबीले भीमसेन, विराट से आज्ञा लेकर, अखाड़े में आये। अब उन्होंने लँगोट बांधा। उन्हें देखकर सब लोग बहुत प्रसन्न हुए। तब महाबली भीमसेन ने वृत्रासुर सदृश महापराक्रमी जीमूत

बृहन्नलोवाच—बृहन्नलाऽपि कल्याणि दुःखमाप्नोत्यनुत्तमम् ।
तिर्यग्योनिगता बाले न चैनामवबुद्ध्यसे ॥ २३ ॥
त्वया सहोषिता चाऽस्मि त्वं च सर्वैः सहोषिता ।
क्लिश्यंत्यां त्वयि सुश्रोणि को नु दुःखं न चिंतयेत् ॥ २४ ॥
न तु केनचिदत्यंतं कस्यचिद्धृदयं क्वचित् ।
वेदितुं शक्यते नूनं तेन मां नाऽवबुद्ध्यसे ॥ २५ ॥
वैशम्पायन उवाच—ततः सहैव कन्याभिर्द्रौपदी राजवेश्म तत् ।
प्रविवेश सुदेष्णायाः समीपमुपगामिनी ॥ २६ ॥
तामब्रवीद्राजपत्नी विराटवचनादिदम् ।
सैरंध्रि गम्यतां शीघ्रं यत्र कामयसे गतिम् ॥ २७ ॥
राजा बिभेति ते भद्रे गंधर्वेभ्यः पराभवात् ।
त्वं चापि तरुणी सुभ्रु रूपेणाऽप्रतिमा भुवि ।
पुंसामिष्टश्च विषयो गंधर्वाश्चाऽतिकोपनाः ॥ २८ ॥
सैरंध्र्युवाच—त्रयोदशाहमात्रं मे राजा क्षम्यतु भामिनी ।
कृतकृत्या भविष्यंति गंधर्वास्ते न संशयः ॥ २९ ॥
ततो मामुपनेष्यंति करिष्यंति च ते प्रियम् ।
ध्रुवं च श्रेयसा राजा योक्ष्यते सह बांधवैः ॥ ३० ॥

इति श्रीमन्महाभारते विराटपर्वणि कीचकवधपर्वणि कीचकदाहे चतुर्विंशोऽध्याय ॥ २४ ॥
समाप्तं चेदं कीचकवधपर्व ।

बहुत चाहता है । सैरन्ध्री ने कहा— हे बृहन्नला ! अब सैरन्ध्री का दुःख सुनकर तुम क्या करोगी ? तुम रनिवास में सुख से रहती हो। सैरन्ध्री कैसे कैसे दुःख भोग रही है, सो तुम क्या जानोगी ? हे कल्याणी ! जान पड़ता है कि तुम यह प्रश्न दिल्लगी के लिए कर रही हो ! ॥२०।२२॥

बृहन्नला ने कहा—हे भद्रे ! नपुंसक योनि को पाकर बृहन्नला जिन क्लेशों को सह रही है उन्हें तुम नहीं जानतीं । तुम्हें दुःख सहते देखकर भला किसे क्लेश न होगा ? हम सब एक ही जगह रहते हैं तो भी कोई किसी के हृदय का हाल नहीं जानता—इस कारण, तुम भी मेरे जी के दुःख को नहीं जान सकतीं ॥२३।२५॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! अब उन कन्याओं के साथ द्रौपदी राजभवन में पहुँचीं । वे जब सुदेष्णा के पास गईं तब, विराट के कहने के अनुसार, सुदेष्णा ने कहा—हे सैरन्ध्री ! तुम्हारा भला हो । तुम्हारा जहा जी चाहे वहा जाओ, क्योंकि गन्धर्वों द्वारा पराभव होने की आशङ्का से महाराज तुमसे बहुत भयभीत हो गये हैं । हे कल्याणी !

प्रकर्षणाकर्षणयोरभ्याकर्षविकर्षणैः ।
आकर्षतुरथाऽन्योन्यं जानुभिश्चापि जघ्नतुः ॥ ३२ ॥
ततःशब्देन महता भर्त्सयंतौ परस्परम् ।
व्यूढोरस्कौ दीर्घभुजौ नियुद्धकुशलावुभौ ।
बाहुभिः समसज्जेतामायसैः परिघैरिव ॥ ३३ ॥
चकर्ष दोर्भ्यामुत्पात्य भीमो मल्लममित्रहा ।
निनदंतमभिक्रोशञ्शार्दूल इव वारणम् ॥ ३४ ॥
समुद्यम्य महाबाहुर्भ्रामयामास वीर्यवान् ।
ततो मल्लाश्च मत्स्याश्च विस्मयं चक्रिरे परम् ॥ ३५ ॥
भ्रामयित्वा शतगुणं गतसत्त्वमचेतनम् ।
प्रत्यपिं पन्महाबाहुर्मल्लं भुवि वृकोदरः ॥ ३६ ॥
तस्मिन्विनिहते वीरे जीमूते लोकविश्रुते ।
विराटः परमं हर्षमगच्छद्बांधवैः सह ॥ ३७ ॥
प्रहर्षात्प्रददौ वित्तं बहु राजा महामनाः ।
वल्लवाय महारंगे यथा वैश्रवणस्तथा ॥ ३८ ॥
एवं स सुबहून्मल्लान्पुरुषांश्च महाबलान् ।
विनिघ्नन्मत्स्यराजस्य प्रीतिमाहरदुत्तमाम् ॥ ३९ ॥
यदाऽस्य तुल्यः पुरुषो न कश्चित्तत्र विद्यते ।
ततो व्याघ्रैश्च सिंहैश्च द्विरदैश्चाऽप्ययोधयत् ॥ ४० ॥

फिर परस्पर झिड़ककर हुमककर लोहे के बेलन सरीखे हाथ से हाथ मिलाकर भिड़ गये। तब शत्रुनाशन महाबली भीमसेन ने, हाथी पर सिंह की भांति, झपटकर शत्रु पर आक्रमण किया। जोर से गरजकर उन्होंने जीमूत को उठा लिया। वे उसे सिर के ऊपर घुमाने लगे। यह देखकर सब पहलवानों और नगरनिवासी दर्शकों को बड़ा आश्चर्य हुआ। महाबाहु भीमसेन ने सैकड़ों बार घुमाकर उसे पृथ्वी पर पटक दिया। उसे पटककर वे ऊपर से रगड़ने लगे। इस तरह बड़ा प्रसिद्ध पहलवान जीमूत जब भीमसेन के हाथ से मारा गया तब राजा विराट, उनके भाई बन्धु और दर्शक बहुत ही प्रसन्न हुए। राजा विराट ने प्रसन्न होकर भीमसेन को बहुत सा धन दिया। महावीर भीमसेन ने इसी तरह धीरे-धीरे सब पहलवानों और वीरों को हरा दिया। कुछ दिन में वे महाराज विराट के बहुत ही प्यारे हो गये। जब विराट ने देखा कि उनके राज्य में भीमसेन के समान वीर दूसरा नहीं है तब वे सिंह, बाघ और मस्त

अथ सप्तविंशोऽध्याय ॥ २७ ॥

वैशम्पायन उवाच—अथाऽब्रवीन्महावीर्यो द्रोणस्तत्त्वार्थदर्शिवान् ।
न तादृशा विनश्यंति न प्रयांति पराभवम् ॥ १ ॥
शूराश्च कृतविद्याश्च बुद्धिमंतो जितेंद्रियाः ।
धर्मज्ञाश्च कृतज्ञाश्च धर्मराजमनुव्रताः ॥ २ ॥
नीतिधर्मार्थतत्त्वज्ञं पितृवच्च समाहितम् ।
धर्मे स्थितं सत्यधृतिं ज्येष्ठं ज्येष्ठानुयायिनः ॥ ३ ॥
अनुव्रता महात्मानं भ्रातरो भ्रातरं नृप ।
अजातशत्रुं श्रीमंतं सर्वभ्रातॄननुव्रतम् ॥ ४ ॥
तेषां तथा विधेयानां निभृतानां महात्मनाम् ।
किमर्थं नीतिमान्पार्थः श्रेयो नैषां करिष्यति ॥ ५ ॥
तस्माद्यत्नात्प्रतीक्षंते कालस्योदयमागतम् ।
न हि ते नाशमृच्छेयुरिति पश्याम्यहं धिया ॥ ६ ॥
सांप्रतं चैव यत्कार्यं तच्च क्षिप्रमकालिकम् ।
क्रियतां साधु संचिंत्य वासश्चैषां प्रचिंत्यताम् ॥ ७ ॥
यथावत्पांडुपुत्राणां सर्वार्थेषु धृतात्मनाम् ।
दुर्ज्ञेयाः खलु शूरास्ते दुरापास्तपसा वृताः ॥ ८ ॥
शुद्धात्मा गुणवान्पार्थः सत्यवान्नीतिमाञ्शुचिः ।
तेजोराशिरसंख्येयो गृह्णीयादपि चक्षुषा ॥ ९ ॥

सत्ताईसवा अध्याय ॥ २७ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! इसके पश्चात् यथार्थ सूक्ष्म तत्त्व के जाननेवाले, महापराक्रमी द्रोणाचार्य ने कहा—देखो, पाण्डव लोग शूर, विद्वान्, बुद्धिमान्, जितेन्द्रिय, धर्म पर निष्ठा रखनेवाले और कृतज्ञ हैं। इस कारण ऐसे वीर पाण्डवों का नाश या पराभव होना असम्भव है। बड़े पाण्डव युधिष्ठिर नीति, धर्म और अर्थ के तत्त्व को बहुत अच्छी जानते हैं, और भाइयों की उन पर पिता के समान भक्ति है। वे भी अपने भाइयों को बहुत ही स्नेह की दृष्टि से देखते हैं। इस कारण यह सम्भव नहीं कि असाधारण नीतिज्ञ युधिष्ठिर अपने ऐसे आज्ञाकारी विनीत भाइयों की भलाई के लिए यत्न न करें ॥१।५॥

अनुभव और ज्ञान की दृष्टि से मैं स्पष्ट देख रहा हूँ कि पाण्डवों का नाश कभी नहीं हुआ। वे केवल यत्न के साथ भाग्योदय के शुभ समय की राह देख रहे हैं। जितने समय तक उन्होंने वन में रहने

याज्ञसेनी सुदेष्णां तु शुश्रूषंती विशांपते ।
आवसत्परिचारार्हा सुदुःखं जनमेजय ॥ २ ॥
तथा चरंती पांचाली सुदेष्णाया निवेशने ।
तां देवीं तोपयामास तथा चांऽतःपुरस्त्रियः ॥ ३ ॥
तस्मिन्वर्षे गतप्राये कीचकस्तु महाबलः ।
सेनापतिर्विराटस्य ददर्श द्रुपदात्मजाम् ॥ ४ ॥
तां दृष्ट्वा देवगर्भाभां चरंतीं देवतामिव ।
कीचकः कामयामास कामबाणप्रपीडितः ॥ ५ ॥
स तु कामाग्निसंतप्तः सुदेष्णामभिगम्य वै ।
प्रहसन्निव सेनानीरिदं वचनमब्रवीत् ॥ ६ ॥
नेयं मया जातु पुरेह दृष्टा राज्ञो विराटस्य निवेशने शुभा ।
रूपेण चोन्मादयतीव मां भृशं गंधेन जाता मदिरेव भामिनी ॥ ७ ॥
का देवरूपा हृदयंगमा शुभे ह्याचक्ष्व मे कस्य कुतोऽत्र शोभने।
चित्तं हि निर्मथ्य करोति मां वशे न चाऽन्यदत्रौषधमस्ति मे मतम् ॥ ८ ॥
अहो तवेयं परिचारिका शुभा प्रत्यग्ररूपा प्रतिभाति मामियम् ।
अयुक्तरूपं हि करोति कर्म ते प्रशास्तु मां यच्च ममाऽस्ति किंचन ॥ ९ ॥

चौदहवां अध्याय ॥ १४ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! महारथी पाण्डवों ने इस तरह छिपे रहकर विराट राजा के यहां दस महीने व्यतीत किये; परन्तु द्रौपदी के दुःख की सीमा नहीं थी। क्योंकि वे स्वयं दासियों पर प्रभुता करने योग्य होकर भी विराट की रानी सुदेष्णा की सेवा किया करती थीं। अपने कार्य और अपने चाल-चलन से वे रानी को बहुत प्यारी थीं। रनिवास की और स्त्रियां भी उन्हें स्नेह की दृष्टि से देखती थीं ॥१।३॥

एक दिन परम सुन्दरी द्रौपदी रनिवास में देवी के समान बैठी थीं। इसी समय राजा विराट का साला और सेनापति महाबली कीचक भीतर आया। द्रौपदी को देखते ही वह कामदेव के वश हो गया। उनको पाने की इच्छा से अधीर और काम की अग्नि से तप्त कीचक अपनी बहन सुदेष्णा के पास पहुंचा। उसने मुसकराकर प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा—हे बहन! यह परम रूप-लावण्यमयी स्त्री कौन है? किस की स्त्री है? कहां से आई है? मैंने पहले कभी राजा विराट के रनिवास में इस त्रिभुवन-सुन्दरी को नहीं देखा। मदिरा जैसे अपनी महक से ही मन को मतवाला बना देती है वैसे ही यह मुझे अपने रूप से विह्वल कर रही है। यह मुझे अपने वश में किये लेती है और मेरे मन को मथे डालती है। इसे देखकर मैं कामदेव के बाणों से घायल हो गया हूं।

वृद्धानुशासने युक्ताः सत्यव्रतपरायणाः ।
समयं समयज्ञास्ते पालयंतः शुचिव्रताः ॥ ६ ॥
क्षत्रधर्मरता नित्यं केशवानुगताः सदा ।
प्रवीरपुरुषास्ते वै महात्मानो महाबलाः ।
नाऽवसीदितुमर्हंति उद्वहंतः सतां धुरम् ॥ ७ ॥
धर्मतश्चैव गुप्तास्ते सुवीर्येण च पांडवाः ।
न नाशमधिगच्छेयुरिति मे धीयते मतिः ॥ ८ ॥
तत्र बुद्धिं प्रवक्ष्यामि पांडवान्प्रति भारत ।
न तु नीतिः सुनीतस्य शक्यतेऽन्वेषितुं परैः ॥ ९ ॥
यत्तु शक्यमिहाऽस्माभिस्तान्वै संचिंत्य पांडवान् ।
बुद्ध्या प्रयुक्तं न द्रोहात्प्रवक्ष्यामि निबोध तत् ॥ १० ॥
न त्वियं मादृशैर्नीतिस्तस्य वाच्या कथंचन ।
सा त्वियं साधुवक्तव्या न त्वनीतिः कथंचन ॥ ११ ॥
वृद्धानुशासने तात तिष्ठता सत्यशीलिना ।
अवश्यं त्विह धीरेण सतां मध्ये विवक्षता ॥ १२ ॥
यथार्हमिह वक्तव्यं सर्वथा धर्मलिप्सया ।
तत्र नाऽहं तथा मन्ये यथाऽयमितरो जनः ॥ १३ ॥

तरह नष्ट होनेवाले या हिम्मत हारनेवाले नहीं हैं । मुझे जान पड़ता है कि समय-पालन के जानकर पाण्डव अपने बाहुबल और धर्म के प्रभाव से अच्छी तरह रक्षित रहकर अज्ञातवास का समय व्यतीत कर रहे हैं । हे भरतश्रेष्ठ ! मैं उनका पता लगाने के लिए जो उपाय,बताता हूँ उसे ध्यान देकर सुनो । सुनीति के जाननेवाले लोग जिन नीतियों से काम लेते हैं, वे बड़ी कठिन होती हैं । और लोग सहज में उनके प्रयोजन को नहीं समझ सकते । पाण्डवों के बारे में स्थिर बुद्धि से विचार करके जो मुझे युक्तिसङ्गत जान पड़ रहा है, वही कहता हूँ । तुम्हारा अनिष्ट या युधिष्ठिर की भलाई की चाह मेरे इस कथन का कारण नहीं है ॥१।१०॥

भले लोगों को ही नीति का उपदेश देना चाहिए; अपात्र को उसका उपदेश मैं नहीं दे सकता—फिर अनीति की सम्मति तो किसी को न दे । बड़े-बूढ़ों के अनुशासन का विचार रखनेवाले, सत्यपरायण, धर्मात्मा लोग सभा में बैठकर ठीक बात ही कहते हैं । यही उनका कर्तव्य और धर्म होता है । तुम्हारे अन्यान्य सभासद युधिष्ठिर के इस वर्ष अज्ञात होकर रहने का जिस प्रकार अनुमान प्रकट करते है, उसे मैं नहीं मानता । हे भाई दुर्योधन ! युधिष्ठिर जिस नगर

द्रौपद्युवाच—अप्रार्थनीयामिह मां सूतपुत्राऽभिमन्यसे ।
निहीनवर्णां सैरंध्रीं बीभत्सां केशकारिणीम् ॥ ३४ ॥
परदाराऽस्मि भद्रं ते न युक्तं तव सांप्रतम् ।
दयिताः प्राणिनां दारा धर्मं समनुचिंतय ॥ ३५ ॥
परदारे न ते बुद्धिर्जातु कार्या कथंचन ।
विवर्जनं ह्यकार्याणामेतत्सत्पुरुषव्रतम् ॥ ३६ ॥
मिथ्याभिगृध्नो हि नरः पापात्मा मोहमास्थितः ।
अयशः प्राप्नुयाद्घोरं महद्वा प्राप्नुयाद्भयम् ॥ ३७ ॥
वैशम्पायन उवाच—एवमुक्तस्तु सैरंध्र्या कीचकः काममोहितः ।
जानन्नपि सुदुर्बुद्धिः परदाराभिमर्शने ॥ ३८ ॥
दोषान्बहून्प्राणहरान्सर्वलोकविगर्हितान् ।
प्रोवाचेदं सुदुर्बुद्धिर्द्रौपदीमजितेंद्रियः ॥ ३९ ॥
नाऽर्हस्येवं वरारोहे प्रत्याख्यातुं वरानने ।
मां मन्मथसमाविष्टं त्वत्कृते चारुहासिनि ॥ ४० ॥
प्रत्याख्याय च मां भीरु वशगं प्रियवादिनम् ।
नूनं त्वमसितापांगि पश्चात्तापं करिष्यसि ॥ ४१ ॥
अहं हि सुभ्रु राज्यस्य कृत्स्नस्याऽस्य सुमध्यमे ।
प्रभुर्वासयिता चैव वीर्ये चाऽप्रतिमः क्षितौ ॥ ४२ ॥

द्रौपदी ने कहा—हे सूतपुत्र ! मैं हीन वंश में उत्पन्न चोटी गूंथने का काम करनेवाली दासी सैरन्ध्री हूं । मुझको लोग घृणा की दृष्टि से देखते हैं और उनका यह भाव ही ठीक है । इसलिए मुझसे ऐसी बातें करना और मुझे इस दृष्टि से देखना कभी तुम्हारे योग्य कार्य नहीं । फिर मैं तो पराई स्त्री हूं । मैं स्वभाव से ही दया के योग्य हूं । तुम धर्मात्मा हो; धर्म का पालन करो । पराई स्त्री से अपने को प्रसन्न करने की इच्छा मत करो । कुकर्म का त्याग ही सज्जनों का नित्य-व्रत है । पापी लोग, लोभ और मोह के वश में होकर, घोर अयश के भागी होते हैं । उन्हें दारुण भय प्राप्त होता है ॥३४।३७॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! दुष्ट बुद्धिवाला कीचक यह जानता था कि पराई स्त्री को प्राप्त करने की चेष्टा बुरी होती है । उसमें प्राण तक चले जाते हैं । वह सब दोषों की खान है । किन्तु वह काम के वश हो रहा था । इसलिए द्रौपदी के यों कहने का उस पर कुछ भी असर न हुआ ॥३८।४१॥

तस्मात्तत्र प्रविष्टेपु पांडवेपु महात्मसु ।
गूढभावेपु च्छन्नेपु काले चोदयमागते ॥ ५ ॥
स्वराष्ट्रे परराष्ट्रे च ज्ञातव्यं वलमात्मनः ।
उदयः पांडवानां च प्राप्ते काले न संशयः ॥ ६ ॥
निवृत्तसमयाः पार्था महात्मानो महावलाः ।
महोत्साहा भविष्यंति पांडवा ह्यमितौजसः ॥ ७ ॥
तस्माद्बलं च कोशश्च नीतिश्चापि विधीयताम्।
यथा कालोदये प्राप्ते सम्यक्तैः संदधीमहे ॥ ८ ॥
तात बुद्धयाऽपि तत्सर्वं बुद्धयस्व वलमात्मनः ।
नियतं सर्वमित्रेपु वलवत्स्ववलेपु च ॥ ९ ॥
उच्चावचं वलं ज्ञात्वा मध्यस्थं चापि भारत ।
प्रहृष्टमप्रहृष्टं च संदधाम तथा परैः ॥ १० ॥
साम्ना भेदेन दानेन दंडेन वलिकर्मणा ।
न्यायेनाऽऽक्रम्य च परान्वलाच्चाऽऽनम्य दुर्वलान्॥ ११ ॥
सांत्वयित्वा तु मित्राणि वलं चाऽऽभाष्यतां सुखम्।
सुकोशवलसंवृद्धः सम्यक् सिद्धिमवाप्स्यसि ॥ १२ ॥

या साधारण नहीं समझते । महात्मा पाण्डव अवश्य ही कहीं छिपे हुए अज्ञातवास का समय व्यतीत कर रहे हैं ॥१।५॥

किन्तु अब उनके प्रकट होने का समय समीप आ गया है । महात्मा, महाबली, परमतेजस्वी पांडव प्रतिज्ञा की अवधि पूरी होते ही बड़े उत्साह के साथ आकर उपस्थित होंगे । उस समय, यदि आवश्यक हो तो, ऐसा उपाय करना चाहिए जिसमें उनके साथ सहज ही समझौता किया जा सके । पहले से ही कोप और बल (सेना) को बढ़ाकर नीति का मार्ग ग्रहण करना अच्छा होगा । हे भाई दुर्योधन ! मुझे तो यही ठीक जान पड़ता है कि तुम पहले अपने और अपने मित्रों के बल को जानने का यत्न करो। पहले यह ज्ञात करो कि उत्तम, मध्यम और निकृष्ट, सब प्रकार की सेना तुम्हारे अधीन और अनुकूल है या नहीं । इसके पश्चात् शत्रुओं से मेल करना या युद्ध ठानना, जो उचित समझो सो करो ॥६।१०॥

साम (समझाना), दान (धन आदि देना), भेद (फोड़ना) और दण्ड के द्वारा, 'कर' लेकर, उचित रूप से आक्रमण (चढ़ाई) करके शत्रुओं को, हेलमेल और आश्वास के द्वारा मित्रों को और सादर भाषण तथा पुरस्कार (इनाम) आदि के द्वारा सब सेना को अपनी मुट्ठी में करना तुम्हारा पहला और प्रधान कर्त्तव्य है । इस प्रकार अपना कोप और बल

तथाऽपि तेषां न विमोक्षमर्हसि प्रमाथिनो देवसुता हि खेचराः ॥ ५० ॥
त्वं कालरात्रीमिव कश्चिदातुरः किं मां दृढं प्रार्थयसेऽद्य कीचक ।
किं मातुरंके शयितो यथा शिशुश्चंद्रं जिघृक्षुरिव मन्यसे हि माम् ॥ ५१ ॥
तेषां प्रियां प्रार्थयतो न ते भुवि गत्वा दिवं वा शरणं भविष्यति ।
न वर्तते कीचक ते दृशा शुभं या तेन संजीवनमर्थयेत सा ॥ ५२ ॥

इति श्रीमन्महाभारते विराटपर्वणि कीचकवधपर्वणि कीचककृष्णासंवादे चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

वे सदा अदृश्यरूप से मेरी रक्षा किया करते हैं। तुम मुझे नहीं पा सकते। मेरे पति गन्धर्व कुपित होकर तुमको मार डालेंगे। आप ही अपना नाश मत करो, कहे देती हूं! तुम उस राह में आना चाहते हो जिसमें कोई पुरुष नहीं जा सकता। जैसे कोई मूर्ख छोटा बालक नदी को तैरकर पार होना चाहे वैसा ही तुम्हारा यह दुष्ट विचार है ॥४६।४९॥

देखो, ऐसा दुष्ट विचार करके यदि तुम पाताल में, अन्तरिक्ष में, या समुद्र-पार में भी भागकर जाओगे तो उन बदला लेने में समर्थ, आकाशचारी गन्धर्वों के हाथ से किसी तरह नहीं बचोगे। जैसे कोई रोग-पीड़ित पुरुष अपनी मृत्यु चाहता हो वैसे ही तुम मुझे चाह रहे हो। जैसे मा की गोद में पड़ा हुआ बालक आकाश के चन्द्रमा को पकड़ना चाहे वैसे ही तुम मुझे पाने की वृथा इच्छा कर रहे हो। यदि उन गन्धर्वों की प्रिया मुझको प्राप्त करना चाहोगे तो किसी तरह जीते न बचोगे। याद रक्खो, इस ख्याल को छोड़ देने में ही तुम्हारी आयु है। न मानोगे तो मरोगे ॥५०।५२॥

—०—

विराटपर्व का चौदहवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ १४ ॥

अथ पंचदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

वैशम्पायन उवाच—प्रत्याख्यातो राजपुत्र्या सुदेष्णां कीचकोऽब्रवीत् ।
अमर्यादेन कामेन घोरेणाऽभिपरिप्लुतः ॥ १ ॥
यथा कैकेयि सैरंध्री समेयात्तद्विधीयताम् ।
येनोपायेन सैरंध्री भजेन्मां गजगामिनी ।
तं सुदेष्णे परीप्सस्व प्राणान्मोहात्प्रहासिषम् ॥ २ ॥
वैशम्पायन उवाच—तस्य सा बहुशः श्रुत्वा वाचं विलपतस्तदा ।

पन्द्रहवा अध्याय ॥ १५ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! द्रौपदी के स्वीकार न करने पर कामदेव के बाणों से पीड़ित और मोह को प्राप्त कीचक अपनी बहन सुदेष्णा रानी के पास जाकर कहने लगा—हे बहन! कोई ऐसा उपाय करो जिससे यह गजराजगामिनी सैरन्ध्री शीघ्र मुझे मिले। यदि ऐसा न होगा तो मैं अपने प्राण दे दूंगा ॥१।२॥

गवां शतसहस्राणि श्रीमंति गुणवंति च ।
वयमप्यनुगृह्णीमो द्विधा कृत्वा वरूथिनीम् ॥ २४ ॥

वैशम्पायन उवाच—ते स्म गत्वा यथोद्दिष्टां दिशं वह्नेर्महीपते ।
सन्नद्धा रथिनःसर्वे सपदाता बलोत्कटाः ॥ २५ ॥
प्रतिवैरं चिकीर्षंतो गोषु गृद्धा महाबलाः ।
आदातुं गाः सुशर्माऽथ कृष्णपक्षस्य सप्तमीम् ॥ २६ ॥
अपरे दिवसे सर्वे राजन्संभूय कौरवाः ।
अष्टम्यां ते न्यगृह्णंन गोकुलानि सहस्रशः ॥ २७ ॥

इति श्रीमन्महाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि दक्षिणगोग्रहे सुशर्मादिमत्स्यदेशयाने त्रिंशोऽध्यायः ॥३०॥

बड़े-बूढ़ों से सम्मति करके युद्ध के लिए सेना को तैयार करो। महारथी सुशर्मा अपनी सेना, सवारी और त्रिगर्त देश के वीरों को साथ लेकर पहले विराट राज्य में पहुंचें। वहां गोपालों से बढ़िया गायें छीन लें और धन-रत्न आदि लूटें। हम और किसी दिन, सङ्गठित रूप में, विराट नगरी पर आक्रमण करने के लिए कूच करेंगे ॥१९।२४॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! इस प्रकार निश्चय हो चुकने पर, कृष्णपक्ष की सप्तमी के दिन, आग्नेय (पूर्व-दक्षिण) कोण की ओर यात्रा करके महारथी सुशर्मा विराट के राज्य में घुसा। वहां जाकर उसने गायें छीनकर अपने अधिकार में कर लीं। दूसरे दिन अष्टमी को कौरवों ने भी अपनी सेना साथ लेकर यात्रा की। वहां पहुंचकर वे भी गायों को लूटने लगे ॥२५।२७॥

—o—

विराटपर्व का तीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ३० ॥

अथ एकत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३१ ॥

वैशम्पायन उवाच—ततस्तेषां महाराज तत्रैवाऽमिततेजसाम् ।
छद्मलिंगप्रविष्टानां पांडवानां महात्मनाम् ॥ १ ॥
व्यतीतः समयः सम्यग्वसतां वै पुरोत्तमे ।
कुर्वतां तस्य कर्माणि विराटस्य महीपतेः ॥ २ ॥
कीचके तु हते राजा विराटः परवीरहा ।
परां संभावनां चक्रे कुंतीपुत्रे युधिष्ठिरे ॥ ३ ॥

इकतीसवां अध्याय ॥ ३१ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! इधर परम तेजस्वी होने पर भी छिपे हुए पाण्डवों ने राजा विराट के यहां, उनके कार्य करते हुए, अज्ञातवास का समय सकुशल समाप्त कर दिया। जब कीचक

न चाऽहमनवद्यांगि तव वेश्मनि भामिनि ।
कामवृत्ता भविष्यामि पतीनां व्यभिचारिणी ॥ १२ ॥
त्वं चैव देवि जानासि यथा स समयः कृतः ।
प्रविशंत्या मया पूर्वं तव वेश्मनि भामिनि ॥ १३ ॥
कीचकस्तु सुकेशांते मूढो मदनदर्पितः ।
सोऽवमंस्यति मां दृष्ट्वा न यास्ये तत्र शोभने ॥ १४ ॥
संति बह्व्यस्तव प्रेष्या राजपुत्री वशानुगाः ।
अन्यां प्रेषय भद्रं ते स हि मामवमंस्यते ॥ १५ ॥
सुदेष्णोवाच—नैव त्वां जातु हिंस्यात्स इतः संप्रेषितां मया ।
इत्युक्त्वा प्रददौ पात्रं सपिधानं हिरण्मयम् ॥ १६ ॥
सा शंकमाना रुदती दैवं शरणमीयुषी ।
प्रातिष्ठत सुराहारी कीचकस्य निवेशनम् ॥ १७ ॥
सैरंध्र्युवाच—यथाऽहमन्यं भर्तृभ्यो नाऽभिजानामि कंचन ।
तेन सत्येन मां प्राप्तां मा कुर्यात्कीचको वशे ॥ १८ ॥
वैशम्पायन उवाच—उपातिष्ठत सा सूर्यं मुहूर्तमबला ततः ।
स तस्यास्तनुमध्यायाः सर्वं सूर्योऽवबुद्धवान् ॥ १९ ॥

द्रौपदी ने कहा—हे रानीजी ! कीचक बड़ा निर्लज्ज है । इस कारण मैं उसके घर न जा सकूंगी । मैं पतियों की इच्छा के विरुद्ध कार्य करनेवाली या अपनी इच्छाके अनुसार कार्य करनेवाली होकर आपके यहा न रह सकूगी । आपके घर में रहने से पहले मैंने जो नियम आपसे स्वीकार कराये थे, उन्हें आप भूली न होंगी । कामदेव के वश मदान्ध कीचक मुझे देखते ही मेरा सतीत्व नष्ट करने को उद्यत हो जायगा। इस कारण मैं किसी तरह उसके पास नहीं जा सकती । हे रानीजी ! आपके यहा बहुत सी दासिया हैं, उनमें से किसी और को भेज दीजिए ॥११।१५॥

सुदेष्णा ने कहा—हे सैरन्ध्री ! मैं तुम्हीं को भेजूंगी । कीचक कभी तुम्हारा अपमान न करेगा । तुम वृथा शङ्का करती हो । अब रानी ने सुवर्ण का बर्तन द्रौपदी के हाथ में दे दिया । लाचार द्रौपदी को स्वीकार करना पड़ा । परमेश्वर को और धर्म को अपना सहायक समझकर, आखों में आसू भरे, भय से विह्वल द्रौपदी कीचक के घर की ओर चली । जाते समय पल भर में सूर्य की आराधना करके द्रौपदी ने कहा—पतियों के सिवा भूलकर भी पल भर के लिए भी मैंने और किसी पुरुष को अपने हृदय में कभी स्थान नहीं दिया । मेरे इसी सतीत्व के प्रभाव से कीचक मेरे धर्म को नष्ट न कर सके ॥१६।१८॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! सबके

क्षरंतश्चैव नागेन्द्राः सुदंताः षष्टिहायनाः ॥ ३१ ॥
स्वारूढा युद्धकुशलैः शिक्षिता हस्तिसादिभिः।
राजानमन्वयुः पश्चाच्चलंत इव पर्वताः ॥ ३२ ॥
विशारदानां मुख्यानां हृष्टानां चारुजीविनाम् ।
अष्टौ रथसहस्राणि दश नागशतानि च ॥ ३३ ॥
षष्टिश्चाऽश्वसहस्राणि मत्स्यानामभिनिर्ययुः ।
तदनीकं विराटस्य शुशुभे भरतर्षभ ॥ ३४ ॥
संप्रयातं तदा राजन्निरीक्षंतं गवां पदम् ।
तद्बलाग्र्यं विराटस्य संप्रस्थितमशोभत ।
दृढायुधजनाकीर्णं गजाश्वरथसंकुलम् ॥ ३५ ॥

इति श्रीमन्महाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि दक्षिणगोग्रहे मत्स्यराजरणोद्योगे एकत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३१

राजा की सेना के साथ चले। आठ हजार रथ, साठ हज़ार घोड़े साथ लेकर मत्स्यदेश के प्रधान वीर, और राजा विराट के भाई-बंटे, संग्राम के लिए चले। ये सब अच्छी जीविकावाले, चतुर और मुखिया थे। हे राजा जनमेजय! गायों की रक्षा करने के लिए राजा विराट की विशाल चतुरङ्गिणी सेना चली। [हाथियों, घोड़ों, और रथों का शब्द आकाश तक गूंज उठा।] गायों को छुड़ाने के लिए जाती हुई विराट की सेना बहुत भली मालूम हुई ॥३१।३५॥

—०—

विराटपर्व का इकतीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ३१ ॥

अथ द्वात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३२ ॥

वैशम्पायन उवाच—निर्याय नगराच्छूरा व्यूढानीकाः प्रहारिणः ।
त्रिगर्तानस्पृशन्मत्स्याः सूर्ये परिणते सति ॥ १ ॥
ते त्रिगर्त्ताश्च मत्स्याश्च संरब्धा युद्धदुर्मदाः ।
अन्योन्यमभिगर्जंतो गोषु गृद्धा महाबलाः ॥ २ ॥
भीमाश्च मत्तमातंगास्तोमरांकुशनोदिताः ।
ग्रामणीयैः समारूढाः कुशलैर्हस्तिसादिभिः ॥ ३ ॥

बत्तीसवां अध्याय ॥ ३२ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! महाबली मत्स्यदेश के सिपाहियों ने नगर से बाहर निकलकर शत्रुओं का पीछा किया। वे चौथे पहर शत्रुओं के पास पहुंच गये। वहां व्यूहरचना करके इन्होंने,

कीचक उवाच—अन्या भद्रे नयिष्यंति राजपुत्र्याः प्रतिश्रुतम् ।
इत्येनां दक्षिणे पाणौ सूतपुत्रः परामृशत् ॥ ५ ॥
द्रौपद्युवाच—यथैवाऽहं नाऽभिचरे कदाचित्पतीन्मदाद्वै मनसाऽपि जातु ।
तेनैव सत्येन वशीकृतं त्वां द्रष्टास्मि पापं परिकृष्यमाणम् ॥ ६ ॥
वैशम्पायन उवाच—स तामभिप्रेक्ष्य विशालनेत्रां जिघृक्षमाणः परिभर्त्सयंतीम् ।
जग्राह तामुत्तरवस्त्रदेशे स कीचकस्तां सहसाऽऽक्षिपंतीम् ॥ ७ ॥
प्रगृह्यमाणा तु महाजवेन मुहुर्विनिःश्वस्य च राजपुत्री ।
तया समाक्षिप्ततनुः स पापः पपात शाखीव निकृत्तमूलः ॥ ८ ॥
सा गृहीता विधुन्वाना भूमावाक्षिप्य कीचकम् ।
सभां शरणमागच्छद्यत्र राजा युधिष्ठिरः ॥ ९ ॥
तां कीचकः प्रधावंतीं केशपाशे परामृशत् ।
अथैनां पश्यतो राज्ञः पातयित्वा पदाऽवधीत ॥ १० ॥
तस्य योऽसौ तदाऽर्केण राक्षसः संनियोजितः ।
स कीचकमपोवाह वातवेगेन भारत ॥ ११ ॥

द्रौपदी ने कहा—रानी सुदेष्णा ने मुझे मदिरा लाने के लिए तुम्हारे पास भेजा है। उन्होंने मुझसे कहा है 'मैं बहुत ही प्यासी हो रही हूँ। तुम शीघ्र जाकर पीने योग्य उत्तम मदिरा ले आओ।' [इसी लिए मैं आई हू। मुझे शीघ्र मदिरा दो, मैं जाऊ।] कीचक ने कहा—"हे सुन्दरी! रानी के लिए मदिरा दूसरी दासिया ले जायगी। [तुम कहा जाओगी? तुम तो मेरे लिए आई हो।]" यों कहकर दुष्ट कीचक ने द्रौपदी का दाहना हाथ पकड़ लिया। तब द्रौपदी ने क्रोध से उसका हाथ झटककर कहा—रे दुष्ट! मैं कभी अपने पतियों के सिवा पर पुरुष का स्मरण नहीं करती, अपने स्वामियों के प्रतिकूल मार्ग में पाव नहीं रखती। देख, आज उसी पुण्य के बल से तेरी दुर्गति होगी ॥४।६॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजेंद्र! इस पर भी दुष्ट कीचक ने अपना बुरा विचार नहीं छोड़ा। उसने बलपूर्वक लपककर द्रौपदी के वस्त्रका कोना पकड़ लिया। इससे क्रोध के मारे द्रौपदी का शरीर कापने लगा। वे शीघ्र शीघ्र लम्बी और गरम सासें छोड़ने लगी। झटका देकर द्रौपदी ने उसे (उसी राक्षस की सहायता से) पृथ्वी पर गिरा दिया। कीचक महाबली होने पर भी कटे हुए पेड़ की तरह पृथ्वी पर गिर पड़ा। इसके पश्चात् आश्रय की इच्छा से कापती हुई द्रौपदी राजसभा को भागीं, जहा राजा युधिष्ठिर बैठे हुए थे। कीचक भी उठकर उनके पीछे पीछे दौड़ता हुआ राजसभा में पहुचा। वहा जाकर उसने, राजा विराट के सामने ही, झोंटा पकड़कर द्रौपदी को धरती पर गिरा दिया और लात मारी। इसी समय सूर्य के भेजे हुए राक्षस ने अलक्षित रूप से कीचक को दूर फेंक दिया ॥७।१०॥

ततः सैन्यं महाराज मत्स्यराजसुशर्मणोः ।
नाऽभ्यजानत्तदाऽन्योन्यं सैन्येन रजसाऽऽवृतम्॥ ३० ॥

इति श्रीमन्महाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि दक्षिणगोग्रहे विराटसुशर्मयुद्धे द्वात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३२ ॥

प्रकार सब हथियारों से लैस दोनों राजाओं ने ऐसा भयङ्कर युद्ध किया कि दोनों ओर के वीरों के दौड़ने से उड़ी हुई धूल चारों दिशाओं में छा गई। कौन कहां पर है, यह कोई नहीं जान सकता था ॥२१।३०॥

विराटपर्व का बत्तीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ३२ ॥

अथ त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३३ ॥

वैशम्पायन उवाच—तमसाऽभिप्लुते लोके रजसा चैव भारत ।
अतिष्ठन्वै मुहूर्त्तं तु व्यूढानीकाः प्रहारिणः ॥ १ ॥
ततोंऽधकारं प्रणुदन्नुदतिष्ठत चंद्रमाः ।
कुर्वाणो विमलां रात्रिं नंदयन्क्षत्रियान्युधि ॥ २ ॥
ततः प्रकाशमासाद्य पुनर्युद्धमवर्तत ।
घोररूपं ततस्ते स्म नाऽवैक्षंत परस्परम् ॥ ३ ॥
ततः सुशर्मा त्रैगर्त्तः सह भ्रात्रा यवीयसा ।
अभ्यद्रवन्मत्स्यराजं रथव्रातेन सर्वशः ॥ ४ ॥
ततो रथाभ्यां प्रस्कंद्य भ्रातरौ क्षत्रियर्षभौ ।
गदापाणी सुसंरब्धौ समभ्यद्रवतां रथान् ॥ ५ ॥
तथैव तेषां तु बलानि तानि क्रुद्धान्यथाऽन्योन्यमभिद्रवंति ।
गदासिखड्गैश्च परश्वधैश्च प्रासैश्च तीक्ष्णाग्रसुपीतधारैः ॥ ६ ॥

तेंतीसवां अध्याय ॥ ३३ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! इस प्रकार अत्यन्त धूल और गहरा अँधेरा पृथ्वी पर छा गया। सैनिकों ने उस अंधेरे से व्याकुल होकर थोड़ी देर के लिए युद्ध बन्द कर दिया। कुछ देर के पश्चात् सब अँधेरे को हटाकर चन्द्रदेव प्रकट हुए। उजेला हो जाने से क्षत्रिय लोग फिर घोर संग्राम करने लगे। किन्तु धूल फिर उठी। उससे पहले से दुगना अँधेरा छा गया। उस अन्धेरे में कोई किसी को देख नहीं सकता था ॥१।३॥

अपने छोटे भाई सुधर्मा के साथ त्रिगर्त्तनरेश सुशर्मा ने, रथियों की सेना लेकर, राजा विराट पर आक्रमण किया। विराट पर आक्रमण करने के लिये शीघ्र रथ से उतरकर, गदा हाथ में लेकर, दोनों भाई शत्रुपक्ष के रथों को चूर्ण करने लगे। इधर दोनों पक्षों के वीर भी पैनी तलवारें, फरसे, भाले आदि बहुत से शस्त्र लेकर एक दूसरे पर आक्रमण करने लगे ॥४।६॥

सा स भाद्वारमासाद्य रुदती मत्स्यमब्रवीत् ।
अवेक्षमाणा सुश्रोणी पतींस्तान्दीनचेतसः ॥ २० ॥
आकारमभिरक्षंती प्रतिज्ञाधर्मसंहिता ।
दह्यमानेव रौद्रेण चक्षुषा द्रुपदात्मजा ॥ २१ ॥
द्रौपद्युवाच—येषां वैरी न स्वपिति षष्ठेऽपि विषये वसन् ।
तेषां मां मानिनीं भार्यां सूतपुत्रः पदाऽवधीत् ॥ २२ ॥
ये दद्युर्न च याचेयुर्ब्रह्मण्याः सत्यवादिनः ।
तेषां मां मानिनीं भार्यां सूतपुत्रः पदाऽवधीत् ॥ २३ ॥
येषां दुंदुभिनिर्घोषो ज्याघोषः श्रूयतेऽनिशम् ।
तेषां मां मानिनीं भार्यां सूतपुत्रः पदाऽवधीत् ॥ २४ ॥
ये च तेजस्विनो दांता बलवंतोऽतिमानिनः ।
तेषां मां मानिनीं भार्यां सूतपुत्रः पदाऽवधीत् ॥ २५ ॥
सर्वलोकमिमं हन्युर्धर्मपाशसितास्तु ये ।
तेषां मां मानिनीं भार्यां सूतपुत्रः पदाऽवधीत् ॥ २६ ॥
शरणं ये प्रपन्नानां भवंति शरणार्थिनाम् ।
चरंति लोके प्रच्छन्नाः क नु तेऽद्य महारथाः ॥ २७ ॥

को छिपाकर, कुटिल कोपपूर्ण कटाक्ष से मानों दसों दिशाओं को जला देंगी, इस तरह सब ओर देखती हुई द्रौपदी ने विराट से कहा—॥१८।२१॥

हे महाराज ! मैं उन महापुरुषों की स्त्री हू जिनके वैरी पृथ्वी पर सुख की नींद नहीं सो सकते; वे महापुरुष सत्यवादी, ब्राह्मण-भक्त, सदा दान और ध्यान में लगे रहते हैं; वे कभी किसी से कुछ नहीं मागते और उनके युद्ध के नगाड़े की ध्वनि तथा उनके धनुष की टङ्कार सदा सुन पड़ती है । हे महाराज ! मैं उन महापुरुषों की स्त्री हू जो बड़े तेजस्वी और पराक्रमी हैं; वे लोग अभिमानी होने पर भी शान्तशील हैं; यदि धर्म-पाश का बन्धन न हो तो वे तीनों लोकों का नाश कर सकते हैं तथा शरणागत की रक्षा और दीन की सहायता करने में वे सर्वत्र प्रसिद्ध हैं । दुष्ट कीचक ने लात मारकर मुझ मानिनी का अपमान किया ! हाय ! इस समय वे छिपे हुए महारथी कहा हैं ? दुष्ट कीचक ने मुझे लात मारी, और महाबली तेजस्वी होकर भी उन्होंने नामर्द की तरह चुपचाप सहज ही सब सह लिया ! वे किसी तरह मेरी रक्षा करने के लिए तैयार नहीं हुए ! उनका वह तेज, बल और क्रोध कहा चला गया ? कीचक ने बिना किसी अपराध के मुझे लात मारी, और विराट देश के राजा आप चुपचाप देखते रहे, अपना राज-धर्म आपने नष्ट होने दिया ! [मैं अकेली असहाय अबला

सुस्कंधोऽयं महावृक्षो गदारूप इव स्थितः ।
अहमेनमपारुज्य द्रावयिष्यामि शात्रवान् ॥ १६ ॥
वैशम्पायन उवाच—तं मत्तमिव मातंगं वीक्षमाणं वनस्पतिम् ।
अब्रवीद्भ्रातरं वीरं धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥ १७ ॥
मा भीम साहसं कार्षीस्तिष्ठत्वेष वनस्पतिः ।
मा त्वं वृक्षेण कर्माणि कुर्वाणमतिमानुषम् ॥ १८ ॥
जनाः समवबुध्येरन्भीमोऽयमिति भारत ।
अन्यदेवाऽऽयुधं किंचित्प्रतिपद्यस्व मानुषम् ॥ १९ ॥
चापं वा यदि वा शक्तिं निस्त्रिंशं वा परश्वधम् ।
यदेव मानुषं भीम भवेदन्यैरलक्षितम् ॥ २० ॥
तदेवाऽऽयुधमादाय मोक्षयाऽऽशु महीपतिम् ।
यमौ च चक्ररक्षौ ते भवितारौ महाबलौ ॥ २१ ॥
सहिताः समरे तत्र मत्स्यराजं परीप्सत ।
वैशम्पायन उवाच—एवमुक्तस्तु वेगेन भीमसेनो महाबलः ॥ २२ ॥
गृहीत्वा तु धनुः श्रेष्ठं जवेन सुमहाजवः ।
व्यमुंचच्छरवर्षाणि सतोय इव तोयदः ॥ २३ ॥
तं भीमो भीमकर्माणं सुशर्माणमथाऽद्रवत् ।
विराटं समवीक्ष्यैनं तिष्ठ तिष्ठेति चाऽवदत् ॥ २४ ॥

भीमसेन ने कहा—हे महाराज ! मैं आपकी आज्ञा से अभी विराट को शत्रु के हाथ से छुड़ा दूँगा। आप भाइयों के साथ खड़े-खड़े देखिए । मैं इस बड़ी बड़ी डालोंवाले गदा-सदृश वृक्ष को उखाड़कर उसी के द्वारा शत्रुओं का नाश करूंगा ॥१४।१६॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! मस्त हाथी के समान महापराक्रमी भीमसेन को उस वृक्ष की ओर ताकते देखकर युधिष्ठिर ने कहा—हे भीम ! तुम ऐसा साहस मत करो । यदि वृक्ष उखाड़कर, मनुष्य की शक्ति के बाहर कार्य करके, युद्ध करोगे तो अभी सब लोग जान जायंगे कि तुम भीम हो । इसलिए अभी वृक्ष न उखाड़कर धनुष, शक्ति, खड्ग, फरसा आदि मनुष्यों के युद्ध करने के शस्त्रों से ही युद्ध करो । इस प्रकार अलक्षित रूप से युद्ध करके महाराज विराट को छुड़ाओ जिसमें कोई तुमको पहचान न सके । महाबली नकुल और सहदेव आस-पास रहकर तुम्हारे रथ की रक्षा करेंगे ॥१७।२१॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! तब महाबली भीमसेन [युधिष्ठिर की आज्ञा से] धनुष लेकर बादलों की तरह लगातार बाण-वर्षा करते हुए

सभ्या ऊचु—यस्येयं चारुसर्वांगी भार्या स्यादायतेक्षणा ।
परो लाभस्तु तस्य स्यान्न च शोचेत्कथंचन ॥ ३७ ॥
नहीदृशी मनुष्येषु सुलभा वरवर्णिनी ।
नारी सर्वानवद्यांगी देवीं मन्यामहे वयम् ॥ ३८ ॥
वैशम्पायन उवाच—एवं संपूजयंतस्ते कृष्णां प्रेक्ष्य सभासदः ।
युधिष्ठिरस्य कोपात्तु ललाटे स्वेद आगमत् ॥ ३९ ॥
अथाऽब्रवीद्राजपुत्रीं कौरव्यो महिषीं प्रियाम् ।
गच्छ सैरंध्रि माऽत्र स्थाः सुदेष्णाया निवेशनम् ॥ ४० ॥
भर्त्तारमनुरुंधत्यः क्लिश्यंते वीरपत्नयः ।
शुश्रूषया क्लिश्यमानाः पतिलोकं जयंत्युत ॥ ४१ ॥
मन्ये न कालं क्रोधस्य पश्यंति पतयस्तव ।
तेन त्वां नाभिधावंति गंधर्वाः सूर्यवर्चसः ॥ ४२ ॥
अकाला लज्ञाऽसि सैरंध्रि शैलूषीव विरोदिषि ।
विघ्नं करोषि मत्स्यानां दीव्यतां राजसंसदि ॥ ४३ ॥
गच्छ सैरंध्रि गंधर्वाः करिष्यंति तव प्रियम् ।
व्यपनेष्यंति ते दुःखं येन ते विप्रियं कृतम् ॥ ४४ ॥

स्त्री ऐसी सर्वाङ्गसुन्दरी और सुलक्षणों से युक्त है कि देवकन्या सी जान पड़ती है । मनुष्यलोक में ऐसी सर्वाङ्गसुन्दरी श्रेष्ठ स्त्री दूसरी नहीं है । अधिक क्या कहें, यह रूपवती जिस भाग्यशाली पुरुष की स्त्री है उसे और क्या चाहिए; उसके लिए शोक का विषय कुछ नहीं है ॥३६।३८॥

वैशम्पायन ने कहा—महाराज ! सभासद इस तरह अनेक प्रकार से द्रौपदी की प्रशंसा करने लगे। क्रोध और खेद के मारे युधिष्ठिर के माथे में पसीने की बूंदें निकल आईं । उन्होंने अपनी प्यारी स्त्री द्रौपदी से कहा—हे सैरन्ध्री ! तुम रनिवास में रानी सुदेष्णा के पास जाओ । [यहां ठहरने की आवश्यकता नहीं ।] वीरपत्नियां अपने पतियों का मुंह देखकर उनके लिए असह्य क्लेश भी सह लेती हैं । वे अनेक कष्ट झेलकर स्वामियों की सेवा और भलाई करती हैं और निःसन्देह अन्त में पतिलोक पाती हैं । जान पड़ता है, सूर्य के समान प्रतापी और तेजस्वी तुम्हारे स्वामी गन्धर्व यह समझकर ही चुप हैं कि क्रोध प्रकट करने का समय अभी नहीं आया । इसी से वे [तुम्हारी सहायता करने को] तैयार नहीं होते । हे सैरन्ध्री ! तुम्हें समय का ज्ञान नहीं है । इसी कारण तुम नटी की तरह रो-पीटकर सभासदों के चौसर के खेल में विघ्न डाल रही हो । जाओ, समय उपस्थित होने पर तुम्हारे स्वामी गन्धर्व इस

स्वबाहुबलसम्पन्ना ह्रीनिषेवा यतव्रताः ।
विराटस्य महात्मानः परिक्लेशविनाशनाः ॥ ५२ ॥
स्थिताः समक्षं ते सर्वे त्वथ भीमोऽभ्यभाषत ॥ ५३ ॥
नायं पापसमाचारो मत्तो जीवितुमर्हति ।
किं तु शक्यं मया कर्तुं यद्राजा सततं घृणी ॥ ५४ ॥
गले गृहीत्वा राजानमानीय विवशं वशम् ।
तत एनं विचेष्टन्तं बद्ध्वा पार्थो वृकोदरः ॥ ५५ ॥
रथमारोपयामास विसंज्ञं पांसुगुण्ठितम् ।
अभ्येत्य रणमध्यस्थमभ्यगच्छद्युधिष्ठिरम् ॥ ५६ ॥
दर्शयामास भीमस्तु सुशर्माणं नराधिपम् ।
प्रोवाच पुरुषव्याघ्रो भीममाहवशोभिनम् ॥ ५७ ॥
तं राजा प्राहसद् दृष्ट्वा मुच्यतां वै नराधमः ।
एवमुक्तोऽब्रवीद्भीमः सुशर्माणं महाबलम् ॥ ५८ ॥
भीम उवाच—जीवितुं चेच्छसे मूढ हेतुं मे गदतः शृणु ।
दासोऽस्मीति त्वया वाच्यं संसत्सु च सभासु च॥ ५९ ॥
एवं ते जीवितं दद्यामेष युद्धजितो विधिः ।
तमुवाच ततो ज्येष्ठो भ्राता सप्रणयं वचः ॥ ६० ॥

हो गया। यह देखकर त्रिगर्तदेश के सैनिक प्राण लेकर इधर-उधर भागने लगे। इस प्रकार अपने बाहु-बल से त्रिगर्तराज सुशर्मा को परास्त कर, विराट को छुड़ाकर, और छिनी हुई गायें फेरकर व्रतधारी महा-रथी पाण्डव एक स्थान पर एकत्र हुए। भीमसेन ने कहा—मैं इस पापी दुराचारी सुशर्मा को जीता छोड़ना नहीं चाहता। किन्तु राजा विराट बड़े दयालु हैं। इसलिए मैं क्या कर सकता हूँ ॥५०।५४॥

फिर भीमसेन ने अचेत पड़े हुए धूलि-धूसरित सुशर्मा को, गर्दन पकड़कर, रथ में रख लिया। दिखाने के लिए युधिष्ठिर के पास ले जाने का विचार करके भीमसेन वहाँ से चल दिये। युधिष्ठिर के पास जाकर भीमसेन ने उन्हें सुशर्मा की दशा दिखाई। पुरुषसिंह महाराज युधिष्ठिर ने त्रिगर्तराज सुशर्मा की यह दशा देख हँसकर भीमसेन से कहा—हे वीर! तुम इस नीच को छोड़ दो ॥५५।५७॥

तब भीमसेन ने सुशर्मा से कहा—रे मूढ! यदि तू अपना जीवन चाहता है तो मेरी बात सुन। आज सभा के बीच तुझे यह स्वीकार करना होगा कि तू महाराज विराट का दास है। तभी मैं तुझे छोड़ूंगा। यही सनातन नियम है कि युद्ध में हारे हुए मनुष्य को विजयी का दासत्व स्वीकार करना पड़ता है ॥५८।५९॥

अथ सप्तदशोऽध्याय ॥ १७ ॥

वैशम्पायन उवाच—सा हृता सूतपुत्रेण राजपत्नी यशस्विनी ।
वधं कृष्णा परीप्संती सेनावाहस्य भामिनी ॥ १ ॥
जगामाऽऽवासमेवाऽथ सा तदा द्रुपदात्मजा ।
कृत्वा शौचं यथान्यायं कृष्णा सा तनुमध्यमा ॥ २ ॥
गात्राणि वाससी चैव प्रक्षाल्य सलिलेन सा ।
चिंतयामास रुदती तस्य दुःखस्य निर्णयम् ॥ ३ ॥
किं करोमि क्व गच्छामि कथं कार्यं भवेन्मम ।
इत्येवं चिंतयित्वा सा भीमं वै मनसाऽगमत् ॥ ४ ॥
नाऽन्यः कर्ता ऋते भीमान्ममाऽद्य मनसः प्रियम्।
तत उत्थाय रात्रौ सा विहाय शयनं स्वकम् ॥ ५ ॥
प्राद्रवन्नाथमिच्छंती कृष्णा नाथवती सती ।
भवनं भीमसेनस्य क्षिप्रमायतलोचना ॥ ६ ॥
दुःखेन महता युक्ता मानसेन मनस्विनी ।
सैरन्ध्र्युवाच—तस्मिञ्जीवति पापिष्ठे सेनावाहे मम द्विषि ॥ ७ ॥
तत्कर्म कृतवानद्य कथं निद्रां निषेवसे ।
वैशम्पायन उवाच—एवमुक्त्वाऽथ तां शालां प्रविवेश मनस्विनी ॥ ८ ॥
यस्यां भीमस्तथा शेते मृगराज इव श्वसन् ।

सत्रहवां अध्याय ॥ १७ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! इस तरह अपमानित होकर यशस्विनी द्रौपदी, कीचक के मरने की इच्छा करती हुई, अपने रहने के घर में आई । हाथ और वस्त्र धोकर विधिपूर्वक शुद्ध होने के उपरान्त द्रौपदी बैठकर इस दुःख के दूर करने का उपाय सोचने लगीं । उस समय भी उनकी आंखों में आंसू भरे हुए थे । वे सोचने लगीं—क्या करूं ? कहां जाऊं ? किस उपाय से मेरा यह कार्य हो सकता है ? कुछ देर तक सोचने के पश्चात् द्रौपदी ने निश्चय किया कि महाबाहु भीमसेन के सिवा और कोई इस समय मेरे जी के कांटे को न निकाल सकेगा, इसलिए उन्हीं की शरण में जाऊं ॥१-५॥

विशाल नेत्रोंवाली यशस्विनी मानिनी द्रौपदी, सनाथ होने पर भी अनाथ की तरह शरण चाहती हुई, आधी रात्रि के समय बिछौने से उठ खड़ी हुई। [उनका हृदय क्रोध और क्षोभ से व्याकुल हो रहा था, इसी से उन्हें नींद नहीं आई ।] वे भीमसेन के रहने के घर में पहुँची । घर के भीतर घुसकर

दुर्मुखो दुःशलश्चैव ये चैवाऽन्ये महारथाः ॥ ३ ॥
एते मत्स्यानुपागम्य विराटस्य महीपतेः ।
घोषान्विद्राव्य तरसा गोधनं जन्हुरोजसा ॥ ४ ॥
षष्टिं गवां सहस्राणि कुरवः कालयंति च ।
महता रथवंशेन परिवार्य समंततः ॥ ५ ॥
गोपालानां तु घोषस्य हन्यतां तैर्महारथैः ।
आरावः सुमहानासीत्संप्रहारे भयंकरे ॥ ६ ॥
गोपाध्यक्षो भयत्रस्तो रथमास्थाय सत्वरः ।
जगाम नगरायैव परिक्रोशंस्तदाऽऽर्त्तवत् ॥ ७ ॥
स प्रविश्य पुरं राज्ञो नृपवेश्माऽभ्ययात्ततः ।
अवतीर्य रथात्तूर्णमाख्यातुं प्रविवेश ह ॥ ८ ॥
दृष्ट्वा भूमिंजयं नाम पुत्रं मत्स्यस्य मानिनम् ।
तस्मै तत्सर्वमाचष्ट राष्ट्रस्य पशुकर्षणम् ॥ ९ ॥
षष्टिं गवां सहस्राणि कुरवः कालयंति ते ।
तद्विजेतुं समुत्तिष्ठ गोधनं राष्ट्रवर्धन ॥ १० ॥
राजपुत्र हितप्रेप्सुः क्षिप्रं निर्याहि च स्वयम् ।
त्वां हि मत्स्यो महीपालः शून्यपालमिहाऽकरोत्॥ ११ ॥
त्वया परिषदो मध्ये श्लाघते स नराधिपः ।
पुत्रो ममाऽनुरूपश्च शूरश्चेति कुलोद्वहः ॥ १२ ॥

शकुनि, दुःशासन, विविंशति, विकर्ण, चित्रसेन, दुर्मुख, दुस्सह और अन्य महारथी कौरव मत्स्यराज्य पर चढ़ आये। उनके रथों से वह नगर चारों ओर घिर गया ॥१।३॥

उन्होंने गोपालों को मारकर भगा दिया और साठ हजार गायें छीन लीं। उस भयङ्कर आक्रमण में महारथियों की मार से पीड़ित और व्याकुल गायों और गोपालों के आर्त्तनाद से चारों दिशाएँ पूर्ण हो उठीं। तब अत्यन्त भयभीत हुआ-हुआ गोपालों का मुखिया, रथ पर चढ़कर, आर्त्तनाद करता हुआ नगर की ओर भागा ॥४।७॥

फिर नगर में प्रवेश करके, रथ से उतरकर, सूचना देने के लिए वह राजभवन में पहुंचा। वहां वीर होने का दम भरनेवाला, राजा विराट का पुत्र, उत्तर उसे देख पड़ा। उसने उत्तर कुमार से कहा— हे राजकुमार! कौरव लोग आपकी साठ हजार गायें हरे लिये जाते हैं। उन गायों को उनसे छीन लाने के लिए अभी चालिए। राजकुमार, अपने हित के

न ते प्रकृतिमान्वर्णः कृशा पांडुश्च लक्ष्यसे ।
आचक्ष्व परिशेषेण सर्वं विद्यामहं यथा ॥ १८ ॥
सुखं वा यदि वा दुःखं द्वेष्यं वा यदि वा प्रियम्।
यथावत्सर्वमाचक्ष्व श्रुत्वा ज्ञास्यामि यत्क्षमम् ॥ १९ ॥
अहमेव हि ते कृष्णे विश्वास्यः सर्वकर्मसु ।
अहमापत्सु चापि त्वां मोक्षयामि पुनः पुनः ॥ २० ॥
शीघ्रमुक्त्वा यथाकामं यत्ते कार्यं विवक्षितम् ।
गच्छ वै शयनायैव पुरा नाऽन्येन बुध्यते ॥ २१ ॥

इति श्रीमन्महाभारते विराटपर्वणि कीचकवधपर्वणि द्रौपदीभीमसंवादे सप्तदशोऽध्याय ॥ १७ ॥

द्रौपदी के वचन सुनकर भीमसेन जाग उठे। सुन्दर सजे हुए पलँग पर बैठकर उन्होंने द्रौपदी से कहा—हे प्रिये! तुम क्यों इस तरह शीघ्रता करके बिहाल सी मेरे पास आई हो? तुम ऐसी व्याकुल क्यों हो? तुम्हारा चेहरा क्यों मलिन पड़ गया है? कहो, क्या बात है? किसने तुम्हारा अप्रिय किया है? तुम्हें क्या दुःख है? मैं सुनकर उसके बारे में अपना कर्तव्य निश्चित करूंगा। देखो, सभी बातों में तुम मुझ पर विश्वास किया करती हो। मैं ही तुम्हारी सब तरह की विपत्तियों को दूर किया करता हूं। इसलिए शीघ्र अपने जी का हाल कहकर, और लोगों की आंख खुलने के पहले ही, अपने शयन-गृह को चली जाओ ॥१७।२१॥

—०—

विराटपर्व का सत्रहवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ १७ ॥

अथ अष्टादशोऽध्याय ॥ १८ ॥

द्रौपद्युवाच—अशोच्यत्वं कुतस्तस्या यस्या भर्ता युधिष्ठिरः ।
जानन्सर्वाणि दुःखानि किं मां त्वं परिपृच्छसि ॥ १ ॥
यन्मां दासीप्रवादेन प्रातिकामी तदाऽनयत् ।
सभापरिषदो मध्ये तन्मां दहति भारत ॥ २ ॥
पार्थिवस्य सुता नाम का नु जीवति मादृशी ।
अनुभूयेदृशं दुःखमन्यत्र द्रौपदी प्रभो ॥ ३ ॥

अठारहवां अध्याय ॥ १८ ॥

द्रौपदी ने कहा—जिसके स्वामी युधिष्ठिर हैं वह बिना शोक के कब रह सकती है? उसको सुख की सम्भावना ही कहां? तुम मेरे दुःख का सब हाल जानकर भी अजान की तरह क्या पूछ रहे हो? सोचकर देखो, जुआ खेलने के समय दुःशासन दासी कहकर मुझे भरी सभा में खींच लाया था, वह याद

योऽसौ बृहद्वारणाभो युवा सुप्रियदर्शनः ।
बृहन्नलेति विख्यातः पार्थस्याऽऽसीत्स सारथिः ॥ १६ ॥
धनुष्यनवरश्चाऽऽसीत्तस्य शिष्यो महात्मनः ।
दृष्टपूर्वो मया वीर चरंत्या पाण्डवान्प्रति ॥ १७ ॥
यदा तत्पावको दावमदहत्खाण्डवं महत् ।
अर्जुनस्य तदाऽनेन संगृहीता हयोत्तमाः ॥ १८ ॥
तेन सारथिना पार्थः सर्वभूतानि सर्वशः ।
अजयत्खाण्डवप्रस्थे न हि यंताऽस्ति तादृशः ॥ १९ ॥
उत्तर उवाच—सैरन्ध्रि जानासि तथा युवानं नपुंसको नैव भवेद्यथाऽसौ ।
अहं न शक्नोमि बृहन्नलां शुभे वक्तुं स्वयं यच्छ हयान्ममेति वै ॥ २० ॥
द्रौपद्युवाच—येयं कुमारी सुश्रोणी भगिनी ते यवीयसी ।
अस्याः सा वीर वचनं करिष्यति न संशयः ॥ २१ ॥
यदि वै सारथिः स स्यात्कुरून्सर्वान्न संशयः ।
जित्वा गाश्च समादाय ध्रुवमागमनं भवेत् ॥ २२ ॥
एवमुक्तः स सैरंध्र्या भगिनीं प्रत्यभाषत ।
गच्छ त्वमनवद्यांगि तामानय बृहन्नलाम् ॥ २३ ॥
सा भ्रात्रा प्रेषिता शीघ्रमगच्छन्नर्तनागृहम् ।
यत्रास्ते स महाबाहुश्छन्नः सत्रेण पाण्डवः ॥ २४ ॥

इति श्रीमन्महाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोग्रहे बृहन्नलासारथ्यकथने षट्त्रिंशोऽध्यायः ॥३६॥

आप जिन मस्त हाथी के समान बली और सुन्दर बृहन्नला को देखते हैं वे पहले अर्जुन के सारथी रह चुके हैं। ये नपुंसक होने पर भी उन्हीं वीर अर्जुन के शिष्य हैं, और धनुर्विद्या में किसी तरह उनसे कम नहीं हैं। मैं जब पाण्डवों के यहां थी तब से इनके बारे में अच्छी तरह जानती हूं। अर्जुन ने जब अग्नि को खाण्डव वन जलाने के लिए दिया था और इन्द्र से घोर युद्ध किया था तब ये बृहन्नला ही उनके सारथी थे। खाण्डवप्रस्थ में अर्जुन ने इन्हीं के सारथी होने के बल से विजय पाई थी ॥१४।१९॥

यह सुनकर उत्तर ने कहा—हे सैरन्ध्री! यह नपुंसक युवक जिस तरह का मनुष्य है सो तुम अच्छी तरह से जानती ही हो। किन्तु मैं स्वयं बृहन्नला से सारथी बनने के लिए नहीं कह सकता ॥२०॥

द्रौपदी ने कहा—हे राजकुमार! बृहन्नला आपकी बहन उत्तरा की बात को अवश्य मानेंगे। जो बृहन्नला आपके सारथी हों तो आप, अवश्य कौरवों को हराकर, अपनी गायें फेरकर राजधानी को लौट सकते हैं।

रुक्मं हिरण्यं वासांसि यानं युग्यमजाविकम् ।
अश्वाश्वतरसंघाश्च न जातु क्षयमावहेत् ॥ १३ ॥
सोऽयं द्यूतप्रवादेन श्रियः प्रत्यवरोपितः ।
तूष्णीमास्ते यथा मूढः स्वानि कर्माणि चिंतयन् ॥ १४ ॥
दशनागसहस्राणि हयानां हेममालिनाम् ।
यं यांतमनुयांतीह सोऽयं द्यूतेन जीवति ॥ १५ ॥
रथाः शतसहस्राणि नृपाणाममितौजसाम् ।
उपासंत महाराजमिंद्रप्रस्थे युधिष्ठिरम् ॥ १६ ॥
शतं दासीसहस्राणां यस्य नित्यं महानसे ।
पात्रीहस्तं दिवारात्रमतिथीन्भोजयत्युत ॥ १७ ॥
एष निष्कसहस्राणि प्रदाय ददतां वरः ।
द्यूतजेन ह्यनर्थेन महता समुपाश्रितः ॥ १८ ॥
एनं हि स्वरसंपन्ना बहवः सूतमागधाः ।
सायं प्रातरुपातिष्ठन्सुमृष्टमणिकुंडलाः ॥ १९ ॥
सहस्रमृषयो यस्य नित्यमासन्सभासदः ।
तपः श्रुतोपसंपन्नाः सर्वकामैरुपस्थिताः ॥ २० ॥
अष्टाशीतिसहस्राणि स्नातका गृहमेधिनः ।

हारकर मुनिवेष से वनवासी हो सकता है ? यदि वे नित्य सायं-प्रायः हज़ार-हज़ार निष्क (अशर्फियां) या और बहुत-सा धन बदकर खेलते तो भी उनकी अक्षय सम्पत्ति कभी घट नहीं सकती थी। वे इस समय जुए में सब हारकर, श्रीभ्रष्ट होकर, मूढ़ की तरह चुपचाप समय व्यतीत कर रहे हैं। चिन्ता किया करते हैं, पर कुछ उपाय नहीं करते ॥१३।१४॥

हाय ! जिनके गले में सुवर्ण की सांकलें पड़ी रहती थीं, ऐसे दस हज़ार हाथी जिनकी सवारी के साथ चलते थे, इन्द्रप्रस्थ में रहते समय सैकड़ों-हज़ारों राजा जिनकी नौकरी में हाज़िर रहते थे; जिनके यहां हज़ारों दास-दासियां सुवर्ण के थालों में भोजन-सामग्री लिये अतिथियों को भोजन कराती रहती थीं, उन युधिष्ठिर की जीविका का उपाय इस समय राजसभा में जुआ खेलना-खिलाना है। जो नित्य ब्राह्मणों को लाखों की संख्या में धन और सुवर्ण का दान करते थे; ॥१५।१८॥

जगमगाते हुए जड़ाऊ कुण्डल कानों में पहने सूत-मागध लोग प्रातःकाल और सन्ध्या के समय जिनके गुण गाते थे; तप और स्वाध्याय में निरत बहुत से ऋषि जिनके सभासद थे और उन ऋषियों का भरपूर सत्कार होता था; जिनके यहां नित्यमत-

तदनीकं महद् दृष्ट्वा गजाश्वरथसंकुलम् ।
कर्णदुर्योधनकृपैर्गुप्तं शान्तनवेन च ॥ ८ ॥
द्रोणेन च सपुत्रेण महेष्वासेन धीमता ।
हृष्टरोमा भयोद्विग्नः पार्थं वैराटिरब्रवीत् ॥ ९ ॥
उत्तर उवाच—नोत्सहे कुरुभिर्योद्धुं रोमहर्षं हि पश्य मे ।
बहुप्रवीरमत्युग्रं देवैरपि दुरासदम् ॥ १० ॥
प्रतियोद्धुं न शक्ष्यामि कुरुसैन्यमनंतकम् ।
नाऽऽशंसे भारतीं सेनां प्रवेष्टुं भीमकार्मुकाम् ॥ १० ॥
रथनागाश्वकलिलां पत्तिध्वजसमाकुलाम् ।
दृष्ट्वैव हि परानाजौ मनः प्रव्यथतीव मे ॥ १२ ॥
यत्र द्रोणश्च भीष्मश्च कृपः कर्णो विविंशतिः ।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सोमदत्तश्च बाल्हिकः ॥ १३ ॥
दुर्योधनस्तथा वीरो राजा च रथिनां वरः ।
द्युतिमंतो महेष्वासाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥ १४ ॥
दृष्ट्वैव हि कुरूनेतान्व्यूढानीकान्प्रहारिणः ।
हृषितानि च रोमाणि कश्मलं चाऽऽगतं मम ॥ १५ ॥

दीखता था। उस धूल में वह सेना ऐसी जान पड़ती थी कि मानों बहुत वृक्षोंवाला वड़ा भारी जङ्गल आकाश में चक्कर फिर रहा हो। ॥४।७॥

घोड़े-हाथी-रथ आदि से परिपूर्ण और कर्ण, दुर्योधन, कृपाचार्य, द्रोणाचार्य, अश्वत्थामा, भीष्म आदि महारथी वीरों से सुरक्षित उस विशाल कौरव-सेना को देखते ही राजकुमार उत्तर का हृदय भय के मारे धड़कने लगा। उसके रोंगटे खड़े हो गये। उसने व्याकुल होकर कहा—हे बृहन्नला! सारथी! कौरवों से युद्ध करने की मुझे हिम्मत नहीं पड़ती। यह देखो, मेरे रोंगटे खड़े हो आये हैं। इस सेना में अनेकों योद्धा हैं। देवता भी इस सेना पर आक्रमण करने की हिम्मत नहीं कर सकते। भयानक धनुष चढ़ाये महारथी योद्धा खड़े हुए हैं। असंख्य हाथी-घोड़े-रथ आदि से भरी, भयानक, कौरवों की सेना के भीतर मैं नहीं जा सकता ॥८।११॥

हे बृहन्नला! कौरव-सेना के वीरों को देखकर मेरा चित्त व्याकुल हो रहा है। मैं इस सेना के विरुद्ध हथियार कैसे उठाऊंगा! दुर्योधन, भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य, कर्ण, विविंशति, अश्वत्थामा, विकर्ण, सोमदत्त और वाह्लीक आदि युद्ध विद्या में चतुर, महावीर, महारथी शस्त्र लिये जहां खड़े हैं वहां जाकर, उनके सामने, मैं कैसे शस्त्र उठाऊंगा! इन लोगों के साथ युद्ध करने की कौन कहे, इन्हें देखने से ही मेरा कलेजा धड़क रहा है! मुझ तो मूर्छा आना चाहती है ॥१२।१५॥

सदस्थं समुपासीनं परस्य प्रियवादिनम् ।
दृष्ट्वा युधिष्ठिरं कोपो वर्द्धते मामसंशयम् ॥ ३० ॥
अतदर्हं महाप्राज्ञं जीवितार्थेऽभिसंस्थितम् ।
दृष्ट्वा कस्य न दुःखं स्याद्धर्मात्मानं युधिष्ठिरम् ॥ ३१ ॥
उपास्ते स्म सभायां यं कृत्स्ना वीर वसुंधरा ।
तमुपासीनमप्यन्यं पश्य भारत भारतम् ॥ ३२ ॥
एवं बहुविधैर्दुःखैः पीड्यमानामनाथवत् ।
शोकसागरमध्यस्थां किं मां भीम न पश्यसि ॥ ३३ ॥

इति श्रीमन्महाभारते विराटपर्वणि कीचकवधपर्वणि द्रौपदीभीमसंवादे अष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

और दूसरों की आज्ञा मानने के लिए बाध्य हो रहे हैं। जिनके सूर्य के समान प्रताप से सारा पृथ्वीमण्डल तप रहा था वही आज मत्स्यराजके सभासद हैं। मुनिगण और राजा लोग सभा-मण्डप में बैठकर जिनकी उपासना किया करते थे वही आज दूसरे की खुशामद कर रहे हैं। उनकी ऐसी दशा देखकर किसका हृदय शोक की अग्नि से न जलने लगेगा ? ॥२३।३०॥ दूसरे का आश्रय लेना जिनके लिए सर्वथा निषिद्ध है वही महामति युधिष्ठिर दूसरे के आश्रय में रहकर जीवन व्यतीत कर रहे हैं, यह देखकर किस मनुष्य का हृदय व्याकुल न हो उठेगा ? हे वीर! सोचकर देखो, सब लोग जिनकी सेवा में लगे हुए थे वही आज दूसरे की सेवा कर रहे हैं। इस तरह के अनेक दुःखों से अत्यन्त पीड़ित होकर मैं अनाथ की तरह शोक-सागर में डूब रही हूं; तो भी तुम मेरा दुःख नहीं देखते ॥३१।३३॥

विराटपर्व का अठारहवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ १८ ॥

अथ एकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

द्रौपद्युवाच—इदं तु ते महद्दुःखं यत्प्रवक्ष्यामि भारत ।
न मेऽभ्यसूया कर्तव्या दुःखादेतद्ब्रवीम्यहम् ॥ १ ॥
सूदकर्मणि हीने त्वमसमे भरतर्षभ ।
ब्रुवन्वल्लवजातीयः कस्य शोकं न वर्द्धयेः ॥ २ ॥
सूपकारं विराटस्य वल्लवं त्वां विदुर्जनाः ।

उन्नीसवां अध्याय ॥ १९ ॥

द्रौपदी ने कहा—हे भीम! मेरे दुःख की सीमा नहीं है। मैं तुमसे और एक अपने जी का दुःख कहती हूं। तुम मुझे इसके लिए दोष न देना; क्योंकि मैं बहुत ही दुःखित होने के कारण ये बातें कह रही हूं। सोचकर देखो, तुम बल्लव नाम रखकर अपने लिए अयोग्य रसोइये का कार्य कर रहे हो। तुम्हारी

छन्नं तथा तं सत्रेण पांडवं प्रेक्ष्य भारत ।
उत्तरं तु प्रधावंतमभिद्रुत्य धनंजयः ।
गत्वा पदशतं तूर्णं केशपक्षे परामृशत् ॥ ४० ॥
सोऽर्जुनेन परामृष्टः पर्यदेवयदार्त्तवत् ।
बहुलं कृपणं चैव विराटस्य सुतस्तदा ॥ ४१ ॥
उत्तर उवाच—शृणुयास्त्वं हि कल्याणि बृहन्नले सुमध्यमे ।
निवर्त्तय रथं क्षिप्रं जीवन्भद्राणि पश्यति ॥ ४२ ॥
शातकुंभस्य शुद्धस्य शतं निष्कान्ददामि ते ।
मणीनष्टौ च वैदूर्यान्हेमबद्धान्महाप्रभान् ॥ ४३ ॥
हेमदंडप्रतिच्छन्नं रथं युक्तं च सुव्रतैः ।
मत्तांश्च दश मातंगान्मुंच मां त्वं बृहन्नले ॥ ४४ ॥
वैशम्पायन उवाच—एवमादीनि वाक्यानि विलपंतमचेतसम् ।
प्रहस्य पुरुषव्याघ्रो रथस्यांऽतिकमानयत् ॥ ४५ ॥
अथैनमब्रवीत्पार्थो भयार्त्तं नष्टचेतसम् ।
यदि नोत्सहसे योद्धुं शत्रुभिः शत्रुकर्षण ।
एहि मे त्वं हयान्यच्छ युध्यमानस्य शत्रुभिः ॥ ४६ ॥

जनशून्य विराट की राजधानी में राजकुमार उत्तर अकेला ही था। बालकपन के मारे अपने पौरुष को न जानने के कारण राजकुमार उत्तर अपने यहां छिपे हुए अर्जुन को अपना सारथी बनाकर युद्ध में आया था; इस समय हम लोगों को देखकर भय के मारे व्याकुल होकर भागा जा रहा है और अर्जुन उसे पकड़ने के लिए उसका पीछा कर रहे हैं ॥३४।३८॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! अपने को छिपाये हुए अर्जुन को देखकर कौरव लोग इस प्रकार तर्क-वितर्क करने लगे; पर कुछ निश्चय न कर सके। उधर उत्तर सौ कदम भी भागकर गया न होगा कि अर्जुन ने पीछे से जाकर उसके केश पकड़ लिये। तब उत्तर गिड़गिड़ाकर दीन भाव से कहने लगा ॥३९।४१॥

हे बृहन्नला! तुम तुरन्त रथ लौटाकर ले चलो। जीवन रहने पर मनुष्य भले दिन देख सकता है। मैं तुमको एक सौ निष्क (अशर्फियां) सुवर्ण में जड़ी हुई चमकदार आठ वैदूर्य मणियां, सुवर्ण-दंड-शोभित और अच्छे घोड़ों से अलंकृत अनेक रथ और दस सजे हुए मस्त हाथी दूंगा। तुम मुझको छोड़ दो ॥४२।४४॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! इस प्रकार बहुत विलाप करके उत्तर कुमार अचेत सा हो गया। मुसकाते हुए अर्जुन उसे रथ के पास ले गये। भय से व्याकुल और अचेत-सदृश राजकुमार उत्तर

क्रुध्यंतीं मां च संप्रेक्ष्य समशंकत मां त्वयि ।
तस्यां तथा ब्रुवत्यां तु दुःखं मां महदाविशत् ॥ १२ ॥
त्वय्येवं निरयं प्राप्ते भीमे भीमपराक्रमे ।
शोके यौधिष्ठिरे मग्ना नाऽहं जीवितुमुत्सहे ॥ १३ ॥
यः स देवान्मनुष्यांश्च सर्वांश्चैकरथोऽजयत् ।
सोऽयं राज्ञो विराटस्य कन्यानां नर्त्तको युवा ॥ १४ ॥
योऽतर्पयदमेयात्मा खांडवे जातवेदसम् ।
सोऽतःपुरगतः पार्थः कूपेऽग्निरिव संवृतः ॥ १५ ॥
यस्माद्भयममित्राणां सदैव पुरुषर्षभात् ।
स लोकपरिभूतेन वेषेणाऽऽस्ते धनंजयः ॥ १६ ॥
यस्य ज्याक्षेपकठिनौ बाहू परिघसन्निभौ ।
सशंखपरिपूर्णाभ्यां शोचन्नास्ते धनंजयः ॥ १७ ॥
यस्य ज्यातलनिर्घोषात्समकंपंत शत्रवः ।
स्त्रियो गीतस्वनं तस्य मुदिताः पर्युपासते ॥ १८ ॥
किरीटं सूर्यसंकाशं यस्य मूर्द्धन्यशोभत ।
वेणीविकृतकेशांतः सोऽयमद्य धनंजयः ॥ १९ ॥

में आये हैं । इस कारण इसमें सन्देह नहीं कि बलव सैरन्ध्री को प्रिय है और इसी लिए ऐसे समय इसकी यह दशा हो जाती है । यह कहकर रानी सुदेष्णा मुझे प्रायः शिड़का करती हैं। मैं यदि क्रोध दिखाती हूं तो उनका सन्देह और भी दृढ होता है । इससे भी मेरे अन्तःकरण में बहुत व्यथा पहुंचती है । एक तो महाराज युधिष्ठिर की दशा और दुःख देखकर मैं व्यथित हो रही हूं, उस पर तुम भी महाबली होकर ऐसा दुःख भोग रहे हो । इन कारणों से मैं जीवित रहना नहीं चाहती ॥१०।१३॥

कैसे ही दुःख की बात है । जिन्होंने अकेले ही मनुष्यों और देवताओं को जीत लिया, वही अर्जुन राजा विराट की कन्याओं को नाचना-गाना सिखाते हैं । जिन्होंने अपने प्रभाव से खाण्डव वन भस्म कराकर अग्नि को तृप्त किया वही अर्जुन आज, कुएं में पड़ी अग्नि की तरह, रनिवास में छिपे हुए हैं । जिनके भय से शत्रु सदा व्याकुल रहते थे, वही अर्जुन इस समय लोक निन्दित हिजड़े का वेष बनाये हुए हैं । जिनके बेलन के समान हाथ धनुष की डोरी की रगड़ से कठिन हो रहे थे वही अर्जुन इस समय उन हाथों में चूड़ियां पहनकर दुःख भोग रहे हैं ॥१४।१७॥

जिनके धनुष की डोरी के शब्द को सुनकर शत्रुओं के कलेजे कांप उठते थे, वही अर्जुन इस समय रनिवास में स्त्रियों के बीच गाते हैं और उनका

वाणों से उसे मार डालेंगे ॥१५।१६॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! दुर्योधन के ऐसे उत्साह प्रकट करनेवाले वचन सुनकर भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य और अश्वत्थामा आदि वीर उसकी प्रशंसा करने लगे ॥१७॥

—०—

विराटपर्व का उनतालीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ३९ ॥

अथ चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४० ॥

वैशम्पायन उवाच—तां शमीमुपसंगम्य पार्थो वैराटिमब्रवीत् ।
सुकुमारं समाज्ञाय संग्रामे नाऽतिकोविदम् ॥ १ ॥
समादिष्टो मया क्षिप्रं धनूंष्यवहरोत्तर ।
नेमानि हि त्वदीयानि सोढुं शक्ष्यंति मे बलम् ।
भारं चापि गुरुं वोढुं कुंजरं वा प्रमर्दितुम् ॥ २ ॥
मम वा बाहुविक्षेपं शत्रूनिह विजेष्यतः ।
तस्माद्भूमिंजयाऽऽरोह शमीमेतां पलाशिनीम् ॥ ३ ॥
अस्यां हि पांडुपुत्राणां धनूंषि निहितान्युत ।
युधिष्ठिरस्य भीमस्य बीभत्सोर्यमयोस्तथा ॥ ४ ॥
ध्वजाः शराश्च शूराणां दिव्यानि कवचानि च ।
अत्र चैतन्महावीर्यं धनुः पार्थस्य गांडिवम् ॥ ५ ॥
एकं शतसहस्रेण संमितं राष्ट्रवर्धनम् ।
व्यायामसहमत्यर्थं तृणराजसमं महत् ॥ ६ ॥

चालीसवां अध्याय ॥ ४० ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! इधर राजकुमार उत्तर को सुकुमार और युद्ध-कौशल में निपट अनाड़ी जानकर, शमीवृक्ष के पास पहुँचकर, अर्जुन ने कहा—हे उत्तर कुमार! तुम मेरी आज्ञा से शीघ्र ही इस शमीवृक्ष पर चढ़ जाओ और इसके ऊपर रक्खे हुए दिव्य धनुषों को उतार लाओ। मैं जब युद्ध-भूमि में पहुँचकर हाथी-घोड़ों आदि को मारने और शत्रुओं को परास्त करने लगूँगा तब तुम्हारे ये कमज़ोर धनुष कभी मेरे हाथ के झटकों को—मेरे बल-वीर्य को—न सह सकेंगे; इनके टुकड़े-टुकड़े हो जायगे। इसलिए तुम शीघ्र इस घने पत्तोंवाले शमी के पेड़ पर चढ़ जाओ ॥१।३॥

इसके ऊपर महाराज युधिष्ठिर, भीम, नकुल और सहदेव के बढ़िया धनुष, बाण और दिव्य कवच रक्खे हुए हैं। इसी वृक्ष के ऊपर महावीर अर्जुन का दिव्य गांडीव धनुष रक्खा हुआ है। वह एक ही गाण्डीव धनुष हज़ारों धनुषों के बराबर है। वह हाथों के ज़ोर को सहनेवाला, लचीला, सब शस्त्रों में श्रेष्ठ, सुवर्णमण्डित

यदा ह्येनं परिवृतं कन्याभिर्देवरूपिणम् ।
प्रभिन्नमिव मातंगं परिकीर्णं करेणुभिः ॥ २९ ॥
मत्स्यमर्थपतिं पार्थं विराटं समुपस्थितम् ।
पश्यामि तुर्यमध्यस्थं दिशो नश्यंति मे तदा ॥ ३० ॥
नूनमार्या न जानाति कृच्छ्रं प्राप्तं धनंजयम् ।
अजातशत्रुं कौरव्यं मग्नं दुर्द्यूतदेविनम् ॥ ३१ ॥
तथा दृष्ट्वा यवीयांसं सहदेवं गवां पतिम् ।
गोषु गोवेषमायांतं पांडुभूताऽस्मि भारत ॥ ३२ ॥
सहदेवस्य वृत्तानि चिंतयंती पुनः पुनः ।
न निद्रामभिगच्छामि भीमसेन कुतो रतिम् ॥ ३३ ॥
न विंदामि महाबाहो सहदेवस्य दुष्कृतम् ।
यस्मिन्नेवंविधं दुःखं प्राप्नुयात्सत्यविक्रमः ॥ ३४ ॥
दूयामि भरतश्रेष्ठ दृष्ट्वा ते भ्रातरं प्रियम् ।
गोषु गोवृषसंकाशं मत्स्येनाऽभिनिवेशितम् ॥ ३५ ॥
संरब्धं रक्तनेपथ्यं गोपालानां पुरोगमम् ।
विराटमभिनंदंतमथ मे भवति ज्वरः ॥ ३६ ॥
सहदेवं हि मे वीरं नित्यमार्या प्रशंसति ।

और सत्य आदि गुणों से जो सबके प्यारे हैं वही अर्जुन स्त्री-वेषधारी हैं ! यह देखकर मेरी छाती फटी जारही है। जब मैं उन देवरूपी अर्जुन को, हथिनियों के झुण्ड में स्थित गजराज की तरह, [नाट्यशाला में] राजा विराट की उपासना करते देखती हूँ तब मुझे चारों ओर अन्धेरा ही अन्धेरा देख पड़ता है ॥२९।३०॥

हाय ! आर्या कुन्ती यह कुछ नहीं जानतीं कि अर्जुन और जुआ खेलनेवाले महाराज युधिष्ठिर ऐसे दुःख में पड़े हुए हैं । हे नाथ ! छोटे भाई सहदेव को देखो । वे गोप वेष धारण करके अपने अयोग्य ग्वाले का कार्य कर रहे हैं । उनकी यह दशा देख कर मैं पीली पड़ती जा रही हू । मुझे शान्ति तो क्या मिलेगी, सहदेव की दशा का ध्यान करके मुझे नींद तक नहीं आती । सत्यपराक्रमी सहदेव का ऐसा कुछ पाप मुझे नहीं देख पड़ता जिससे वे ऐसी विपत्ति में पड़ें ॥३१।३३॥

हे भरतकुलतिलक ! सहदेव को गोप-वेष से राजा विराट के यहा रहते देखकर मैं बहुत ही दुखी होती हू । उनको वस्त्र आभूषण आदि पहनकर गोपों के आगे आगे चलकर प्रसन्नतापूर्वक विराट की सभा में जाते और उनको सन्तुष्ट करने की चेष्टा करते देखकर मुझ ज्वर सा चढ़ आता है ॥३४।३६॥

कस्येमे पृथवो दीर्घाश्चंद्रबिंबार्धदर्शनाः ।
शतानि सप्त तिष्ठंति नाराचा रुधिराशनाः ॥ ९ ॥
कस्येमे शुकपत्राभैः पूर्वैरर्धैः सुवाससः ।
उत्तरैरायसैः पीतैर्हेमपुंखैः शिलाशितैः ॥ १० ॥
गुरुभारसहो दिव्यः शात्रवाणां भयंकरः ।
कस्याऽयं सायको दीर्घः शिलीपृष्ठः शिलीमुखः ॥ ११ ॥
वैयाघ्रकोशे निहितो हेमचित्रत्सरुर्महान् ।
सुफलश्चित्रकोशश्च किंकिणीसायको महान् ॥ १२ ॥
कस्य हेमत्सरुर्दिव्यः खड्गः परमनिर्मलः ।
कस्याऽयं विमलः खड्गो गव्ये कोशे समर्पितः ॥ १३ ॥
हेमत्सरुरनाधृष्यो नैषध्यो भारसाधनः ।
कस्य पांचनखे कोशे सायको हेमविग्रहः ॥ १४ ॥
प्रमाणरूपसंपन्नः पीत आकाशसन्निभः ।
कस्य हेममये कोशे सुतप्ते पावकप्रभे ॥ १५ ॥
निस्त्रिंशोऽयं गुरुः पीतः सायकः परनिर्व्रणः ।
कस्याऽयमसितः खड्गो हेमबिंदुभिरावृतः ॥ १६ ॥
आशीविषसमस्पर्शः परकायप्रभेदनः ।
गुरुभारसहो दिव्यः सपत्नानां भयप्रदः ॥ १७ ॥
निर्दिशस्व यथातत्त्वं मया पृष्टा बृहन्नले ।
विस्मयो मे परो जातो दृष्ट्वा सर्वमिदं महत् ॥ १८ ॥

इति श्रीमन्महाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरवाक्यं नाम द्विचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४२ ॥

तोते की तरह है, पिछला हिस्सा लोहे का है, और 'फल' खूब पैना है, वे ये सुवर्णपुङ्ख बाण किसके हैं ॥८।१०॥

ये भारी बोझ को सहनेवाले, शत्रुओं के छक्के छुड़ानेवाले, लम्बे, शिलीमुख बाण किसके हैं? यह बाघ के चमड़े की म्यान में रक्खा हुआ, सुवर्ण की मूठवाला, बहुत से घुंघरुओं से शोभित दिव्य खड्ग किसका है? यह गोचर्म की म्यान में रक्खी हुई, निर्मल, बहुत बोझ को सहनेवाली, सुवर्ण की मूठ से शोभित, निषध देश की बनी तलवार किसकी है? यह सुवर्ण से अलंकृत, धारदार, लम्बी, देखने में सुन्दर, निर्मल, बकरे की खाल की म्यान में रक्खी हुई, नीले रङ्ग की, चमकदार तलवार किस महावीर

नूनं हि बालया धातुर्मया वै विप्रियं कृतम् ।
यस्य प्रसादाद्दुर्नीतं प्राप्ताऽस्मि भरतर्षभ ॥ १४ ॥
वर्णावकाशमपि मे पश्य पांडव यादृशम् ।
तादृशो मे न तत्राऽऽसीद्दुःखे परमके तदा ॥ १५ ॥
त्वमेव भीम जानीषे यन्मे पार्थ सुखं पुरा ।
साऽहं दासीत्वमापन्ना न शांतिमवशा लभे ॥ १६ ॥
नाऽदैविकमहं मन्ये यत्र पार्थो धनंजयः ।
भीमधन्वा महाबाहुरास्ते च्छन्न इवाऽनलः ॥ १७ ॥
अशक्या वेदितुं पार्थ प्राणिनां वै गतिर्नरैः ।
विनिपातमिमं मन्ये युष्माकं ह्यविचिंतितम् ॥ १८ ॥
यस्या मम सुखप्रेक्ष्या यूयमिंद्रसमाः सदा ।
सा प्रेक्षे मुखमन्यासामवराणां वरा सती ॥ १९ ॥
पश्य पांडव मेऽवस्थां यथा नाऽर्हामि वै तथा।
युष्मासु ध्रियमाणेषु पश्य कालस्य पर्ययम् ॥ २० ॥
यस्याः सागरपर्यन्ता पृथिवी वशवर्तिनी ।
आसीत्साऽद्य सुदेष्णाया भीताऽहं वशवर्तिनी ॥ २१ ॥

है । भाई, ससुर और पुत्रोंवाली होकर कौन स्त्री इस तरह दुःख भोगने के लिए विवश हुई होगी ? जान पड़ता है कि मैंने बाल्यावस्था में विधाता का कोई बड़ा अपराध किया था, जिसके कारण इस समय ऐसी विपत्ति में पड़ी हुई हूं । हे भरतश्रेष्ठ ! देखो, मेरी रङ्गत कैसी फीकी पड़ गई है ? बड़े-बड़े दुःख सहकर भी मेरी जो दशा नहीं हुई थी, वही दशा आज यहां हो रही है ॥११।१५॥

हे भीमसेन ! यह तुमसे छिपा नहीं है कि पहले मैं कैसे-कैसे सुख भोगती थी । वही मैं इस समय दासी होकर सेवावृत्ति से अपना निर्वाह कर रही हूं ! फिर बताओ, मुझे किस तरह शान्ति मिल सकती है ? प्रचण्ड धनुष धारण करनेवाले महाबाहु अर्जुन भी जब राख से ढकी हुई अग्नि की तरह रनिवास में छिपे हुए हैं तब मुझे यह सब दैव की लीला माननी पड़ती है । दैव के द्वारा प्रेरित प्राणियों की गति को कोई नहीं जान सकता । तुम लोगों की ऐसी दशा होगी, इसकी किसी को सम्भावना भी न थी । हे वीर ! समय का प्रतिकूल होना देखो ! इन्द्र-तुल्य तुम लोग सदा अनुराग-पूर्ण दृष्टि से मेरी ओर देखा करते थे; वही मैं आज दूसरों के वश में हो रही हूं ॥१६।१९॥

तुम लोगों के जीते जी मैं बिलकुल ही अयोग्य दशा को प्राप्त हो रही हूं । सारी पृथ्वी जिसके अधीन

अथ चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४४ ॥

उत्तर उवाच—सुवर्णविकृतानीमान्यायुधानि महात्मनः ।
रुचिराणि प्रकाशंते पार्थानामाशुकारिणाम् ॥ १ ॥
क नु स्विदर्जुनः पार्थः कौरव्यो वा युधिष्ठिरः ।
नकुलः सहदेवश्च भीमसेनश्च पाण्डवः ॥ २ ॥
सर्व एव महात्मानः सर्वामित्रविनाशनाः ।
राज्यमक्षैः पराकीर्य न श्रूयंते कथंचन ॥ ३ ॥
द्रौपदी क च पांचाली स्त्रीरत्नमिति विश्रुता ।
जितानक्षैस्तदा कृष्णा तानेवाऽन्वगमद्वनम् ॥ ४ ॥
अर्जुन उवाच—अहमस्म्यर्जुनः पार्थः सभास्तारो युधिष्ठिरः ।
बल्लवो भीमसेनस्तु पितुस्ते रसपाचकः ॥ ५ ॥
अश्वबंधोऽथ नकुलः सहदेवस्तु गोकुले ।
सैरन्ध्री द्रौपदीं विद्धि यत्कृते कीचका हताः ॥ ६ ॥
उत्तर उवाच—दश पार्थस्य नामानि यानि पूर्वं श्रुतानि मे ।
प्रब्रूयास्तानि यदि मे श्रद्दध्यां सर्वमेव ते ॥ ७ ॥
अर्जुन उवाच—हंत तेऽहं समाचक्षे दश नामानि यानि मे ।
वैराटे शृणु तानि त्वं यानि पूर्वं श्रुतानि ते ॥ ८ ॥

चवालीसवां अध्याय ॥ ४४ ॥

[सब शस्त्रों को देखकर आश्चर्य के साथ] उत्तर कुमार ने कहा—हे बृहन्नला ! महात्मा पाण्डवों के सुवर्णमय धनुष, बाण और खड्ग तो ये सब हैं, किंतु युधिष्ठिर आदि पांचों पाण्डव इस समय कहां हैं ? वे कौरवों से जुए में सर्वस्व हारकर, राज्य से भ्रष्ट होकर, कहां गये ? हम लोग तो यह कुछ भी नहीं जानते । सुना है, जगत्प्रसिद्ध स्त्री रत्न द्रौपदी भी उनके साथ वन को गई थीं। वे द्रौपदी इस समय कहां हैं ? ॥१।४॥

अर्जुन ने कहा—हे राजकुमार ! कुन्ती का पुत्र अर्जुन मैं ही हूं । धर्मराज युधिष्ठिर इस समय तुम्हारे पिता की सभा के मुख्य मुसाहब कङ्क के नाम से प्रसिद्ध हैं । बल्लव नाम से प्रसिद्ध होकर रसोइये का काम करनेवाले ही महावीर भीमसेन हैं । नकुल ग्रन्थिक नाम से प्रसिद्ध होकर तुम्हारे पिता के यहां घोड़ों की देखरेख और शिक्षा का काम करते हैं । तुम्हारे पिता के यहां तन्तिपाल के नाम से प्रसिद्ध गोप के वेष में अपने को छिपाये जो पुरुष है वही सहदेव हैं । और, जिनके कारण दुष्ट कीचक और उसके भाई उपकीचक मारे गये हैं वे सैरन्ध्री के वेष मे

वैशम्पायन उवाच—ततस्तस्याः करौ सूक्ष्मौ किणवद्धौ वृकोदरः ।
मुखमानीय वै पत्न्या रुरोद परवीरहा ॥ ३० ॥
तौ गृहीत्वा च कौंतेयो बाष्पमुत्सृज्य वीर्यवान् ।
ततः परमदुःखार्त्त इदं वचनमब्रवीत् ॥ ३१ ॥

इति श्रीमन्महाभारते विराटपर्वणि कीचकवधपर्वणि द्रौपदीभीमसंवादे विंशोऽध्यायः ॥ २० ॥

धीरे-धीरे रोने लगीं। बार-बार गर्म लम्बी सांसें छोड़कर भीमसेन के हृदय को विदीर्ण करती हुई द्रौपदी ने आंसुओं के मारे गद्गद स्वर में कहा—जान पड़ता है कि मैंने देवताओं का कोई बड़ा भारी अपराध किया है, इसी से अत्यन्त अभागिनि की तरह घोर कष्ट सहकर भी मैं जी रही हूं। तब महावीर भीमसेन ने कार्य करने से कड़े पड़ गये द्रौपदी के हाथों को हाथ में लेकर, और एक हाथ से उनके आंसू पोंछकर, उन्हें ढाढ़स बंधाया। हृदय में घोर दुःख भरा होने के कारण उनकी भी आंखों में आंसू बहने लगे २७।३१।

विराटपर्व का बीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ २० ॥

अथ एकविंशोऽध्यायः ॥ २१ ॥

भीमसेन उवाच—धिगस्तु मे बाहुबलं गांडीवं फाल्गुनस्य च ।
यत्ते रक्तौ पुरा भूत्वा पाणी कृतकिणाविमौ ॥ १ ॥
सभायां तु विराटस्य करोमि कदनं महत् ।
तत्र मे कारणं भाति कौंतेयो यत्प्रतीक्षते ॥ २ ॥
अथवा कीचकस्याऽहं पोथयामि पदा शिरः ।
ऐश्वर्यमदमत्तस्य क्रीडन्निव महाद्विपः ॥ ३ ॥
अपश्यं त्वां यदा कृष्णे कीचकेन पदा हताम्।
तदैवाऽहं चिकीर्षामि मत्स्यानां कदनं महत् ॥ ४ ॥
तत्र मां धर्मराजस्तु कटाक्षेण न्यवारयत् ।
तदहं तस्य विज्ञाय स्थित एवाऽस्मि भामिनि ॥ ५ ॥

इक्कीसवां अध्याय ॥ २१ ॥

भीमसेन ने कहा—तुम्हारे लाल-लाल और कोमल हाथ ऐसे कड़े हो गये हैं कि उनमें ढट्ठे पड़ गये हैं। मेरे बाहुबल और अर्जुन के गाण्डीव धनुष को धिक्कार है! महाराज युधिष्ठिर उपयुक्त समय की राह देख रहे हैं; नहीं तो मैं विराट की सभा में ही गजराज की तरह लात मारकर दुरात्मा कीचक का सिर पृथ्वी में घुसेड़ देता। मैंने तो उसी घड़ी सारे मत्स्यराज का विध्वंस करना विचारा था जिस समय उस पापी ने तुम्हें लात मारी थी। परन्तु युधिष्ठिर ने आंख के इशारे से मुझे रोक दिया। मैं इस

अर्जुन उवाच—अहं वै कुरुभिर्योत्स्याम्यवजेष्यामि ते पशून् ॥ ६ ॥
संकल्पपक्षविक्षेपं बाहुप्राकारतोरणम् ।
त्रिदंडतूणसंबाधमनेकध्वजसंकुलम् ॥ ७ ॥
ज्याक्षेपणं क्रोधकृतं नेमीनिनददुंदुभिः ।
नगरं ते मया गुप्तं रथोपस्थं भविष्यति ॥ ८ ॥
अधिष्ठितो मया संख्ये रथो गांडीवधन्वना ।
अजेयः शत्रुसैन्यानां वैराटे व्येतु ते भयम् ॥ ९ ॥
उत्तर उवाच—बिभेमि नाऽहमेतेषां जानामि त्वां स्थिरं युधि ।
केशवेनाऽपि संग्रामे साक्षादिंद्रेण वा समम् ॥ १० ॥
इदं तु चिन्तयन्नेवं परिमुह्यामि केवलम् ।
निश्चयं चापि दुर्मेधा न गच्छामि कथंचन ॥ ११ ॥
एवं युक्तांगरूपस्य लक्षणैः सूचितस्य च ।
केन कर्मविपाकेन क्लीबत्वमिदमागतम् ॥ १२ ॥
मन्ये त्वां क्लीबवेषेण चरन्तं शूलपाणिनम् ।
गंधर्वराजप्रतिमं देवं वाऽपि शतक्रतुम् ॥ १३ ॥
अर्जुन उवाच—भ्रातुर्नियोगाज्ज्येष्ठस्य संवत्सरमिदं व्रतम् ।
चरामि व्रतचर्यं च सत्यमेतद्ब्रवीमि ते ॥ १४ ॥
नाऽस्मि क्लीबो महाबाहो परवान्धर्मसंयुतः ।

कौरवों को हराकर तुम्हारी सब गायें लौटा लाऊँगा। मेरी विशाल भुजाएँ चहार-दीवारी और फाटकबन्दी की तरह तुम्हारे नगर की रक्षा करेंगी। थोड़े ही देर में मेरे धनुष की डोरी का और युद्ध के डङ्के का शब्द तुम्हारे नगर में गूंज उठेगा। गाण्डीव धनुष लेकर, रथ पर चढ़कर, मैं जब युद्ध के मैदान में पहुँचूंगा तब शत्रु लोग कभी तुमको परास्त न कर सकेंगे। इसलिए तुम शङ्का न करो ॥६।९॥

उत्तर ने कहा—हे अद्वितीय वीर ! मैं शत्रुओं के दल से अब बिलकुल नहीं डरता। आपके बल और पराक्रम को मैंने अच्छी तरह जान लिया। नि.सन्देह आप युद्ध में कृष्णचन्द्र और इन्द्र के समान पराक्रम दिखा सकते हैं। हे वीरवर ! मैं इस चिन्ता में बहुत ही व्यग्र हो रहा हूं कि आप किस कर्म के कारण नपुंसक हो गये हैं। मेरी बुद्धि मन्द है। इस कारण मैं इस विषय में बहुत विचार करके भी कुछ निश्चय नहीं कर पाता। ऐसा जान पड़ता है कि आप नपुंसकवेषधारी भगवान् शङ्कर, या गन्धर्वराज चित्ररथ अथवा इन्द्र होंगे ॥१०।१३॥

अर्जुन ने कहा—हे राजकुमार ! मैं वास्तव

लोपामुद्रा तथा भीरु वयोरूपसमन्विता ।
अगस्तिमन्वयाद्धित्वा कामान्सर्वानमानुषान् ॥ १४ ॥
द्युमत्सेनसुतं वीरं सत्यवंतमनिंदिता ।
सावित्र्यनुचचारैका यमलोकं मनस्विनी ॥ १५ ॥
यथैताः कीर्तिता नार्यो रूपवत्यः पतिव्रताः ।
तथा त्वमपि कल्याणि सर्वैः समुदिता गुणैः ॥ १६ ॥
मा दीर्घं क्षम कालं त्वं मासमर्द्धं च संमितम् ।
पूर्णे त्रयोदशे वर्षे राज्ञां राज्ञी भविष्यसि ॥ १७ ॥
द्रौपद्युवाच—आर्त्तयैतन्मया भीम कृतं बाष्पप्रमोचनम् ।
अपारयंत्या दुःखानि न राजानमुपालभे ॥ १८ ॥
किमुक्तेन व्यतीतेन भीमसेन महाबल ।
प्रत्युपस्थितकालस्य कार्यस्याऽनंतरो भव ॥ १९ ॥
ममेह भीम कैकेयी रूपाभिभवशंकया ।
नित्यमुद्विजते राजा कथं नेयादिमामिति ॥ २० ॥
तस्या विदित्वा तं भावं स्वयं चाऽनृतदर्शनः ।
कीचकोऽयं सुदुष्टात्मा सदा प्रार्थयते हि माम् ॥ २१ ॥

सुख-भोग की लालसा छोड़कर, अगस्त्य ऋषि की सहधर्मिणी बनीं। द्युमत्सेन के पुत्र सत्यवान् की पत्नी पतिव्रता सावित्री का हाल तुमसे छिपा नहीं है। उन्होंने यमलोक तक अपने स्वामी का साथ नहीं छोड़ा। हे सुन्दरी! ये सब राजकन्याएँ जैसी रूपवती और पतिव्रता थीं, वैसी ही तुम भी हो। तुम में सभी श्रेष्ठ गुण विद्यमान् हैं। इसलिए और थोड़े समय तक ठहर जाओ। और एक मास के लगभग शेष रह गया है। तेरहवां वर्ष पूर्ण होते ही तुम राजरानी हो जाओगी ॥१०।१७॥

द्रौपदी ने कहा—प्यारे भीमसेन! मैं अत्यन्त पीड़ित और दुःखित होने के कारण ही इस तरह रो रही हूं। मैं महाराज युधिष्ठिर की निन्दा नहीं करती। हे भीमसेन! अब इस समय व्यतीत हुई बातों पर विचार करना व्यर्थ है। वह उपाय करो, जिससे अपने ऊपर आई हुई यह आपत्ति टल जाय। राजरानी सुदेष्णा सदा शङ्कित रहती हैं कि उनके पति राजा विराट कहीं मेरे ऊपर आसक्त न हो जायँ [कहीं इस तरह रानी को अपने रूप का अपमान या पराभव न देखना पड़े]। ॥१८।२०॥

राजा का साला और सेनापति कीचक स्वभाव से ही बुरे हृदय का और दुर्बुद्धि है। रानी की उक्त आशङ्का को जानकर वह सदा मुझसे अपनी प्रणयिनी होने के लिए कहा करता है। पहले पहल उसके यों

नैवंविधः शंखशब्दः पुरा जातु मया श्रुतः ।
ध्वजस्य चापि रूपं मे दृष्टपूर्वं नहीदृशम् ॥ १५ ॥
धनुषश्चैव निर्घोषः श्रुतपूर्वो न मे क्वचित् ।
अस्य शंखस्य शब्देन धनुषो निःस्वनेन च ॥ १६ ॥
अमानुषाणां शब्देन भूतानां ध्वजवासिनाम् ।
रथस्य च निनादेन मनो मुह्यति मे भृशम् ॥ १७ ॥
व्याकुलाश्च दिशः सर्वा हृदयं व्यथतीव मे ।
ध्वजेन पिहिताः सर्वा दिशो न प्रतिभांति मे ॥ १८ ॥
गांडीवस्य च शब्देन कर्णौ मे बधिरीकृतौ ।
स मुहूर्तं प्रयातं तु पार्थो वैराटिमब्रवीत् ॥ १९ ॥

अर्जुन उवाच—एकांतं रथमास्थाय पद्भ्यां त्वमवपीडयन् ।
दृढं च रश्मीन्संयच्छ शंखं ध्मास्याम्यहं पुनः ॥ २० ॥

वैशम्पायन उवाच—ततः शंखमुपाध्मासीद्दारयन्निव पर्वतान् ।
गुहा गिरीणां च तदा दिशः शैलांस्तथैव च ।
उत्तरश्चापि संलीनो रथोपस्थ उपाविशत् ॥ २१ ॥
तस्य शंखस्य शब्देन रथनेमिस्वनेन च ।
गाण्डीवस्य च घोषेण पृथिवी समकंपत ॥ २२ ॥

उत्तर ने कहा—हे महाबाहु ! यह सत्य है कि मैंने बहुत से शङ्खों, नगाड़ों और युद्ध के मस्त हाथियों का शब्द सुना है; किन्तु इससे पहले कभी ऐसा प्रचण्ड शंखनाद, रथ की घरघराहट, प्रत्यञ्चा का कानों को बहरा कर देनेवाला शब्द और ध्वजा पर स्थित भूतों का घोर गर्जन नहीं सुना। ऐसी विचित्र और भयानक ध्वजा भी कभी नहीं देखी। इन अमानुष अद्भुत शब्दों को सुनने से मेरा हृदय अत्यन्त व्यथित हो रहा है ॥१४।१७॥

मुझे दिशाओं का ज्ञान नहीं रहा। इस विशाल ध्वजा से सब दिशाएं छिप सी गई हैं। मुझे इस समय कुछ भी नहीं दिखाई पड़ता। गाण्डीव धनुष के शब्द से मैं बहरा सा हो रहा हूं। तब अर्जुन ने फिर कहा—हे उत्तर! तुम दृढ़ता के साथ घोड़ों की रास पकड़ो और संभलकर अपने स्थान पर बैठो। सावधान हो जाओ, मैं फिर शंख बजाता हूं ॥१८।२०॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! अब अर्जुन ने दुबारा शंख बजाया। उससे पर्वत मानों फटने लगे। शत्रु व्याकुल होने लगे। मित्रों को प्रसन्नता हुई। पर्वतों की कन्दराएं प्रतिध्वनित हो उठीं। दिशाओं में वह शब्द गूंज गया। पृथ्वी कांप उठी। इन अद्भुत घटनाओं को देखकर उत्तर फिर भी मोहित

विदित्वा तस्य संकल्पं कीचकस्य दुरात्मनः ।
तथाऽहं राजशरणं जवेनैव प्रधाविता ॥ ३१ ॥
संदर्शने तु मां राज्ञः सूतपुत्रः परामृशत् ।
पातयित्वा तु दुष्टात्मा पदाऽहं तेन ताडिता ॥ ३२ ॥
प्रेक्षते स्म विराटस्तु कंकस्तु बहवो जनाः ।
रथिनः पीठमर्दाश्च हस्त्यारोहाश्च नैगमाः ॥ ३३ ॥
उपालब्धो मया राजा कंकश्चापि पुनः पुनः ।
ततो न वारितो राज्ञा न तस्याऽविनयः कृतः॥ ३४ ॥
योऽयं राज्ञो विराटस्य कीचको नाम सारथिः।
त्यक्तधर्मा नृशंसश्च नरस्त्रीसंमतः प्रियः ॥ ३५ ॥
शूरोऽभिमानी पापात्मा सर्वार्थेषु च मुग्धवान् ।
दारामर्शी महाभाग लभतेऽर्थान्बहूनपि ॥ ३६ ॥
आहरेदपि वित्तानि परेषां क्रोशतामपि ।
न तिष्ठते स्म सन्मार्गे न च धर्मं बुभूषति ॥ ३७ ॥
पापात्मा पापभावश्च कामबाणवशानुगः ।
अविनीतश्च दुष्टात्मा प्रत्याख्यातः पुनः पुनः ॥ ३८ ॥

दुष्ट मुझे देखते ही [अनेक प्रकार के प्रलोभन दिखाकर] खुशामद करने लगा । मेरे प्रसन्न न होने पर वह बलात्कार करने पर तैयार हुआ ॥२५।३०॥

उसके इस अभिप्राय को जानकर मैं वहां से भागी और शरण की इच्छा से सभा में गई । किन्तु उस पापी ने वहीं जाकर राजा के सामने मुझे लात मारी । राजा विराट, कङ्क (युधिष्ठिर), विराट के और-और सभासद, सचिव और सब नगरवासी चुपचाप बैठे देखते रहे । मैंने राजा को और कङ्क को कठिन वचन भी कहे किन्तु कुछ फल नहीं हुआ । राजा विराट ने न तो उसको दण्ड दिया और न मना किया ।३१।३४।

कीचक राजा विराट का प्रधान सहायक है । राजा और रानी, दोनों उस पर भरोसा और अनुराग रखते हैं । कुचाली कीचक जैसा पर-स्त्रीगामी, लम्पट और विवेकहीन है वैसा ही क्रूर, धर्मत्यागी और बहादुरी का घमण्ड रखता है । वह पापी राजा से बहुत सा द्रव्य पाकर भी सन्तुष्ट नहीं होता, सदा औरों का धन छीन लेने की धुन में लगा रहता है । वह सताये गये दुखियों के आर्तनाद पर ध्यान नहीं देता । वह सहज ही सुचाल छोड़कर मन-माने बुरे कार्य करता रहता है । मैंने बारम्बार उसे डांटा है । इसलिए वह दुष्ट, पापी, कामान्ध, बेहूदा कीचक अब की जो मुझको देख पावेगा और सतावेगा, तो मैं उसी घड़ी अपनी जान दे दूँगी । तुम लोग धर्मरक्षा की

किमत्र कार्यं पार्थस्य कथं वा स प्रशस्यते ।
अन्यत्र कामाद् द्वेषाद्वा रोषादस्मासु केवलात् ॥ २७ ॥
आचार्या वै कारुणिकाः प्राज्ञाश्चाऽपापदर्शिनः ।
नैते महाभये प्राप्ते संप्रष्टव्याः कथंचन ॥ २८ ॥
प्रासादेषु विचित्रेषु गोष्ठीपूपवनेषु च ।
कथा विचित्राः कुर्वाणाः पंडितास्तत्र शोभनाः ॥ २९ ॥
बहून्याश्चर्यरूपाणि कुर्वाणा जनसंसदि ।
इष्वास्त्रे चोपसंधाने पंडितास्तत्र शोभनाः ॥ ३० ॥
परेषां विवरज्ञाने मनुष्यचरितेषु च ।
हस्त्यश्वरथचर्यासु खरोष्ट्राजाविकर्मणि ॥ ३१ ॥
गोधनेषु प्रतोलीषु वरद्वारमुखेषु च ।
अन्नसंस्कारदोषेषु पंडितास्तत्र शोभनाः ॥ ३२ ॥
पंडितान्पृष्ठतः कृत्वा परेषां गुणवादिनः ।
विधीयतां तथा नीतिर्यथा वध्यो भवेत्परः ॥ ३३ ॥
गावश्च संप्रतिष्ठाप्य सेनां व्यूह्य समंततः ।
आरक्षाश्च विधीयंतां यत्र योत्स्यामहे परान् ॥ ३४ ॥

इति श्रीमन्महाभारते विराटपर्वणि उत्तरगोग्रहे दुर्योधनवाक्ये सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४७ ॥

तो घोड़ा का स्वभाव ही है । वायु भी सदा चला करती है । नित्य इन्द्रदेव वर्षा किया करते हैं । आकाश में मेघों के प्रकट होते ही बिजली कड़का करती है । इसमें भय की क्या बात है ? इसमें अर्जुन की क्या अलौकिक वीरता देख पड़ती है ? अर्जुन की इतनी प्रशंसा आचार्य किसलिए कर रहे हैं ? इसका कारण अर्जुन की सराहना करने की इच्छा या हमारे प्रति आचार्य का द्वेष और रोष का भाव ही हो सकता है । आचार्य लोग करुणापूर्ण, प्राज्ञ और विनाश को ही देखनेवाले होते हैं । इसलिए घोर महायुद्ध के अवसर पर इनसे इस बारे में कुछ न पूछना चाहिए ॥२५।२८॥

ये लोग विचित्र महलों, सभा या उपवन आदि स्थानों में विचित्र बातों का वर्णन करके पाण्डित्य दिखा सकते हैं । लोगों के सामने अनेक प्रकार के अलौकिक कार्य दिखाना, यज्ञ कराना, शिक्षा देना और सन्धि के अवसर पर निपुणता दिखाना इनका कार्य है । दूसरों के दोषों की खोज, लोक-चरित्र के ज्ञान, हाथी घोड़े-ऊँट-रथ आदि की सवारी, बैल-खच्चर-बकरी भेड़ आदि की चिकित्सा का ज्ञान, सड़कों और नगर के द्वारों की बनावट का ज्ञान और रसोई बनाने के दोषों को जानना—इन्हीं कामों में आचार्य पण्डित निपुण होते हैं । और इन्हीं बातों में इनसे सम्मति लेनी चाहिए ॥२९।३२॥

यो निमित्तमनर्थानां बहूनां मम भारत ।
तं चेज्जीवंतमादित्यः प्रातरभ्युदयिष्यति ॥ ४७ ॥
विषमालोड्य पास्यामि मा कीचकवशं गमम् ।
श्रेयो हि मरणं मह्यं भीमसेन तवाऽग्रतः ॥ ४८ ॥

वैशम्पायन उवाच—इत्युक्त्वा प्रारुदत्कृष्णा भीमस्योरः समाश्रिता ।
भीमश्च तां परिष्वज्य महत्सांत्वं प्रयुज्य च ॥ ४९ ॥
आश्वासयित्वा बहुशो भृशमार्त्तां सुमध्यमाम् ।
हेतुतत्त्वार्थसंयुक्तैर्वचोभिर्द्रुपदात्मजाम् ॥ ५० ॥
प्रमृज्य वदनं तस्याः पाणिनाऽश्रुसमाकुलम् ।
कीचकं मनसाऽगच्छत्स्त्रक्किणी परिसंलिहन् ।
उवाच चैनां दुःखार्तां भीमः क्रोधसमन्वितः ॥ ५१ ॥

इति श्रीमन्महाभारते विराटपर्वणि कीचकवधपर्वणि द्रौपदीसान्त्वने एकोविंशोऽध्याय ॥ २१ ॥

की जड़ हो गया है। पत्थर पर पटके गये मिट्टी के घड़े की तरह तुम इसी घड़ी उसे चूर-चूर कर डालो। जो सूर्योदय के समय तक वह जीता रहेगा तो मैं विष पीकर प्राण दे दूँगी। कीचक के वशीभूत होकर जीते रहने की अपेक्षा तुम्हारे सामने मर जाना ही मुझे अच्छा जान पड़ता है ॥४४।४८॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! इस प्रकार करुणाजनक दीन वचन कहकर, भीमसेन की छाती पर सिर रखकर, द्रौपदी रोने लगी। भीमसेन ने दुःख से पीड़ित सुन्दरी द्रौपदी को गले से लगा लिया। फिर युक्तिपूर्ण वचनों से द्रौपदी को सान्त्वना देकर अपने हाथ से भीमसेन ने उनके आसू पोंछे। वे क्रोध के मारे ओठ चाटने लगे, मानों कीचक उनके सामने ही खड़ा हो। इसके पश्चात् दुःखित द्रौपदी से भीमसेन ने कहा। ॥४९।५१॥

— ० —

विराटपर्व का इक्कीसवा अध्याय समाप्त हुआ ॥ २१ ॥

अथ द्वाविंशोऽध्याय ॥ २२ ॥

भीमसेन उवाच—तथा भद्रे करिष्यामि यथा त्वं भीरु भाषसे ।
अद्य तं सूदयिष्यामि कीचकं सहबांधवम् ॥ १ ॥

बाईसवा अध्याय ॥ २२ ॥

भीमसेन कहा—हे प्रिय! मैं वही करूगा जो तुम कह रही हो। दुष्ट कीचक को भाई बन्धुवों सहित मार डालूगा। हे मधुरहासिनी! तुम कल सन्ध्या के समय कीचक से मिलना और बेधड़क

अथ एकोनपञ्चाशततमोऽध्याय ॥ ४९ ॥

कृप उवाच—सदैव तव राधेय युद्धे क्रूरतरा मतिः ।
नाऽर्थानां प्रकृतिं वेत्सि नाऽनुबंधमवेक्षसे ॥ १ ॥
माया हि बहवः संति शास्त्रमाश्रित्य चिंतिताः
तेषां युद्धं तु पापिष्ठं वेदयंति पुराविदः ॥ २ ॥
देशकालेन संयुक्तं युद्धं विजयदं भवेत् ।
हीनकालं तदेवेह फलं न लभते पुनः ।
देशे काले च विक्रांतं कल्याणाय विधीयते ॥ ३ ॥
आनुकूल्येन कार्याणामतरं संविधीयते ।
भारं हि रथकारस्य न व्यवस्यंति पंडिताः ॥ ४ ॥
परिचिंत्य तु पार्थेन संनिपातो न नः क्षमः ।
एकः कुरूनभ्यगच्छदेकश्चाऽग्निमतर्पयत् ॥ ५ ॥
एकश्च पंच वर्षाणि ब्रह्मचर्यमधारयत् ।
एकः सुभद्रामारोप्य द्वैरथे कृष्णमाह्वयत् ॥ ६ ॥
एकः किरातरूपेण स्थितं रुद्रमयोधयत् ।
अस्मिन्नेव वने पार्थो हृतां कृष्णामवाजयत् ॥ ७ ॥

उनचासवाँ अध्याय ॥ ४९ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमजय ! कर्ण की ये बातें सुनकर नीति-शास्त्र के ज्ञाता, और कौरवों के आचार्य, कृपाचार्य ने कहा—हे राधा के पुत्र कर्ण ! तुमको युद्ध बहुत अच्छा लगता है । किन्तु तुम यह नहीं विचारते कि अपना कार्य कैसे बनेगा और आगे चलकर उसका क्या परिणाम होगा। शास्त्र में बहुत प्रकार के कपटयुद्धों का उल्लेख है । किन्तु पण्डितों ने उन युद्धों को पापयुद्ध माना है । देखो, देश और काल का विचार करके युद्ध करने से जय प्राप्त होती है । परस्पर की अनुकूलता और सम्मति से कार्य करने पर वह उचित होता है । जो देश और समय उपयुक्त नहीं है उसमें युद्ध करने से अनर्थ उपस्थित होता है । जैसे कोई रथ बनानेवाला रथ लाकर कहे कि यह रथ बहुत ही दृढ़ है, इस पर बैठकर युद्ध करने से तुम देवताओं को भी जीत सकते हो; ॥१४॥

तो केवल उसके इस कहने पर विश्वास करके कोई बुद्धिमान् युद्ध करने के लिए तैयार न हो जायगा, वैसे ही केवल तुम्हारे कहने पर विश्वास करके, देश-काल आदि का विचार न करके, हम लोगों को युद्ध के लिए तैयार हो जाना उचित नहीं । सब बातों पर अच्छी तरह विचार करके देखने से मुझको इस समय यहाँ अर्जुन के साथ युद्ध करना किसी तरह अच्छा नहीं जँचता । अर्जुन अकेले ही युद्ध में शत्रुओं को

मां सुखं प्रतिपद्यस्व दासो भीरु भवामि ते ।
अह्लाय तव सुश्रोणि शतं निष्कान्ददाम्यहम् ॥ १० ॥
दासीशतं च ते दद्यां दासानामपि चाऽपरम् ।
रथं चाऽश्वतरीयुक्तमस्तु नौ भीरु संगमः ॥ ११ ॥
द्रौपद्युवाच—एवं मे समयं त्वद्य प्रतिपद्यस्व कीचक ।
न त्वां सखा वा भ्राता वा जानीयात्संगतं मया ॥ १२ ॥
अनुप्रवादाद्भीताऽस्मि गंधर्वाणां यशस्विनाम् ।
एवं मे प्रतिजानीहि ततोऽहं वशगा तव ॥ १३ ॥
कीचक उवाच—एवमेतत्करिष्यामि यथा सुश्रोणि भाषसे ।
एको भद्रे गमिष्यामि शून्यमावसथं तव ॥ १४ ॥
समागमार्थं रंभोरु त्वया मदनमोहितः ।
यथा त्वां नैव पश्येयुर्गंधर्वाः सूर्यवर्चसः ॥ १५ ॥
द्रौपद्युवाच—यदेतन्नर्तनागारं मत्स्यराजेन कारितम् ।
दिवाऽत्र कन्या नृत्यंति रात्रौ यांति यथा गृहम् ॥ १६ ॥
तमिस्रे तत्र गच्छेथा गंधर्वास्तन्न जानते ।
तत्र दोषः परिहृतो भविष्यति न संशयः ॥ १७ ॥

तुम मुझ पर प्रेम करके परम सुख भोगो। हम लोगों का परस्पर मिलन होने पर मैं जन्म भर तुम्हारे चरणों का सेवक बना रहूंगा। तुम्हें इसी घड़ी असंख्य सुवर्ण-मुद्रा और अनमोल रत्न दूंगा। तुम्हारी सेवा के लिए हजारों दास दासियां नियुक्त कर दूंगा। [तुम्हारी सवारी के लिए] सुन्दर रथ तैयार रहेगा जिसमें खच्चरियां जुती होंगी ॥६।११॥

द्रौपदी ने कहा—हे कीचक! हम लोगों के मिलने में अब कुछ खटका नहीं है। भय इतना ही है कि जो यह बात प्रसिद्ध हो जायगी तो वे यशस्वी गन्धर्व सुन लेंगे। इसलिए जो तुम यह प्रतिज्ञा करने को प्रसन्न हो कि हम दोनों के इस गुप्त मिलन को तुम्हारे भाई या मित्र कोई न जान सकेंगे, तो मैं तुम्हारा कहा करने को तैयार हूं ॥१२।१३॥

कीचक ने प्रसन्नता प्रकट करके कहा—हे सुंदरी! तुम जैसा कह रही हो वैसा ही होगा। हे सुन्दरी! मैं तुमसे मिलने के लिए अकेला तुम्हारे उस सूने घर में आऊंगा जहां तुम रात्रि को सोती हो। तब तो वे सूर्य के समान तेजस्वी गन्धर्व कुछ हाल न जान सकेंगे ॥१४।१५॥

द्रौपदी ने कहा—नहीं जी, ऐसा न करो। मत्स्यराज की स्थापित की हुई नाट्यशाला में दिन को कन्याएँ नाच गाकर रात्रि के समय अपने-अपने घर को चली जाती हैं। उस निर्जन स्थान को अवश्य

आत्मानं कः समुद्धृत्य कंठे बद्ध्वा महाशिलाम् ।
समुद्रं तरते दोर्भ्यां तत्र किं नाम पौरुषम् ॥ १६ ॥
अकृतास्त्रः कृतास्त्रं वै बलवंतं सुदुर्बलः ।
तादृशं कर्ण यः पार्थं योद्धुमिच्छेत्स दुर्मतिः ॥ १७ ॥
अस्माभिर्ह्येष निकृतो वर्षाणीह त्रयोदश ।
सिंहः पाशविनिर्मुक्तो न नः शेषं करिष्यति ॥ १८ ॥
एकान्ते पार्थमासीनं कूपेऽग्निमिव संवृतम् ।
अज्ञानादभ्यवस्कंद्य प्राप्ताः स्मो भयमुत्तमम् ॥ १९ ॥
सह युध्यामहे पार्थमागतं युद्धदुर्मदम् ।
सैन्यास्तिष्ठंतु सन्नद्धा व्यूढानीकाः प्रहारिणः ॥ २० ॥
द्रोणो दुर्योधनो भीष्मो भवान्द्रौणिस्तथा वयम् ।
सर्वे युध्यामहे पार्थं कर्ण मा साहसं कृथाः ॥ २१ ॥
वयं व्यवसितं पार्थं वज्रपाणिमिवोद्धतम् ।
षड्रथाः प्रतियुध्येम तिष्ठेम यदि संहताः ॥ २२ ॥
व्यूढानीकानि सैन्यानि यत्ताः परमधन्विनः ।
युध्यामहेऽर्जुनं संख्ये दानवा इव वासवम् ॥ २३ ॥

इति श्रीमन्महाभारते विराटपर्वणि उत्तरगोग्रहे कृपावाक्यं नाम एकोनपंचाशत्तमोऽध्यायः ॥४९॥

है उसे देखने से जान पड़ता है कि स्वयं इन्द्र भी उनसे लोहा नहीं ले सकते। जो उनसे युद्ध करना चाहे उस (के पागलपन) की चिकित्सा होनी चाहिए। हे सूतपुत्र! तुम [महातेजस्वी अर्जुन के साथ युद्ध करने की इच्छा प्रकट करके मानों] ॥९।१२॥

दाहना हाथ बढ़ाकर क्रोधित विषैले नाग के मुँह में उंगली डालना और उसके दांत उखाड़ना चाहते हो। तुम अकेले, अंकुश हाथ में लिये बिना, महावन में स्थित मस्त हाथी के ऊपर चढ़कर नगर के भीतर जाना चाहते हो। तुम देह में घी पोतकर, वल्कल पहनकर, घी, मेदा, चर्बी आदि की आहुतियों से प्रज्वलित अग्नि के भीतर होकर चलना चाहते हो। अपने अङ्गों को बन्धन से जकड़कर गले में बड़ी भारी शिला बांधकर, दोनों हाथों से तैरता हुआ कौन पुरुष समुद्र के पार जा सकता है? ॥१३।१६॥

जिसने अस्त्र-शिक्षा नहीं पाई वह दुर्बल पुरुष यदि अद्वितीय अस्त्र-निपुण किसी बलवान् पुरुष से युद्ध करना चाहे तो वह उसकी दुर्बुद्धि नहीं तो क्या है? हम लोगों के द्वारा छले गये अर्जुन इस समय, तेरह वर्ष वन में रहकर, प्रतिज्ञा के बन्धन से छूट गये हैं। बन्धन से छूटे हुए सिंह की तरह क्या वे हमारा नाश न कर डालेंगे? कुएं में छिपी

शून्यं स नर्तनागारमागमिष्यति कीचकः ।
एको निशि महाबाहो कीचकं तं निषूदय ॥ २६ ॥
तं सूतपुत्रं कौंतेय कीचकं मददर्पितम् ।
गत्वा त्वं नर्तनागारं निर्जीवं कुरु पांडव ॥ २७ ॥
दर्पाच्च सूतपुत्रोऽसौ गंधर्वानवमन्यते ।
तं त्वं प्रहरतां श्रेष्ठ ह्रदान्नागमिवोद्धर ॥ २८ ॥
अश्रुदुःखाभिभूताया मम मार्जस्व भारत ।
आत्मनश्चैव भद्रं ते कुरु मानं कुलस्य च ॥ २९ ॥
भीमसेन उवाच—स्वागतं ते वरारोहे यन्मां वेदयसे प्रियम् ।
न ह्यन्यं कंचिदिच्छामि सहायं वरवर्णिनि ॥ ३० ॥
या मे प्रीतिस्त्वयाऽऽख्याता कीचकस्य समागमे।
हत्वा हिडिंबं सा प्रीतिर्ममाऽऽसीद्वरवर्णिनि ॥ ३१ ॥
सत्यं भ्रातृंश्च धर्मं च पुरस्कृत्य ब्रवीमि ते ।
कीचकं निहनिष्यामि वृत्रं देवपतिर्यथा ॥ ३२ ॥
तं गह्वरे प्रकाशे वा पोथयिष्यामि कीचकम् ।
अथ चेदपि योत्स्यंति हिंसे मत्स्यानपि ध्रुवम् ॥ ३३ ॥

ने रसोई-घर में जाकर भीमसेन से कहा—हे शत्रु-दमन ! तुम्हारी आज्ञा से मैंने कीचक को नाट्यशाला में बुलाया है । वह दुष्ट रात्रि को वहां अकेला जायगा, उसी समय तुम उसको मार डालना । वह दुष्ट सर्वदा गन्धर्वों (पाण्डवों) का अनादर किया करता है; इस-लिए तुम आज ही उसे मार डालो । गजराज जैसे सहज ही कमल के पेड़ को उखाड़कर रौंद डालता है, वैसे ही तुम उसे मारकर मेरा दुःख दूर करो; मेरे आंसू पोंछो; वंश की मर्यादा बचाओ और अपना कल्याण करो ॥२४।२९॥

भीमसेन ने कहा—हे पाञ्चाली ! प्रसन्नता की बात है कि तुम बिना किसी विघ्न के सब काम ठीक कर आई हो । यहां आकर तुमने मुझे यह प्रिय संवाद दिया, इससे मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई । हे कल्याणी ! मैं यही बात सुनना चाहता था । इसके सिवा मुझे और कोई सहायता न चाहिए । पहले हिडिम्ब दानव को मारते समय मुझे जैसी प्रसन्नता हुई थी वैसी ही प्रसन्नता इस समय भी, तुम्हारे मुँह से यह शुभ संवाद सुनकर, हुई है । मैं इस समय तुम्हारे आगे सत्य, धर्म और प्यारे भाइयों की सौगन्द खाकर कहता हूं कि जैसे इन्द्र ने वृत्रासुर को मारा था वैसे ही मैं दुष्ट कीचक को एकान्त में या सबके सामने, जहां मिलेगा, मार डालूंगा । इसके लिए यदि सब मत्स्यराज के वीर युद्ध करने आवेंगे तो उन्हें

अयं ते मातुलः प्राज्ञः क्षत्रधर्मस्य कोविदः ।
दुर्द्यूतदेवी गांधारः शकुनिर्युध्यतामिह ॥ २३ ॥
नाऽक्षान्क्षिपति गांडीवं न कृतं द्वापरं न च ।
ज्वलतो निशितान्बाणांस्तांस्तान्क्षिपति गाण्डिवम्॥ २४ ॥
न हि गांडीवनिर्मुक्ता गार्ध्रपक्षाः सुतेजनाः ।
नांऽतरेष्ववतिष्ठंते गिरीणामपि दारुणाः ॥ २५ ॥
अंतकः पवनो मृत्युस्तथाऽग्निर्वडवामुखः ।
कुर्युरेते क्वचिच्छेषं न तु क्रुद्धो धनंजयः ॥ २६ ॥
यथा सभायां द्यूतं त्वं मातुलेन सहाऽकरोः ।
तथा युध्यस्व संग्रामे सौबलेन सुरक्षितः ॥ २७ ॥
युध्यंतां कामतो योधा नाऽहं योत्स्ये धनंजयम् ।
मत्स्यो ह्यस्माभिरायोध्यो यद्यागच्छेद्गवां पदम् ॥ २८ ॥

इति श्रीमन्महाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोग्रहे द्रौणिवाक्ये पंचाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५० ॥

आचार्य लोग शिष्य के ऊपर पुत्र का सा स्नेह रखते हैं। इसी कारण महात्मा द्रोणाचार्य की प्रीति अर्जुन पर रहती है ॥१८।२१॥

हे दुर्योधन ! तुम जैसे जुआ खेले, जैसे द्रौपदी को सभा में ले आये और जैसे इन्द्रप्रस्थ का राज्य तुमने हर लिया, वैसे ही इस समय तुम अर्जुन के साथ युद्ध करो। क्षात्रियधर्म में निपुण, छल करके जुआ खेलनेवाले, तुम्हारे मामा गान्धाराज शकुनि इस समय युद्ध करें। अर्जुन के गाण्डीव धनुष से तीक्ष्ण बाण ही फेंके जाते हैं, पासे नहीं ॥२२।२४॥

अर्जुन के गाण्डीव धनुष से छूटे हुए बाण पर्वत को भी फाड सकते हैं; वे व्यर्थ नहीं जाते। प्रबल आंधी, मृत्यु और अग्नि, ये जड़-मूल से नष्ट चाहे न करें, किन्तु कुपित अर्जुन शेष कुछ न छोडेंगे। तुमने जैसे शकुनि के द्वारा रक्षित होकर सभा में भी जुआ खेला था वैसे ही इस समय शकुनि की सहायता से अर्जुन से युद्ध करो। और-और योद्धा भी अपनी इच्छा के अनुसार युद्ध करें। मैं तो अर्जुन के साथ कभी युद्ध न करूंगा। हां, जो स्वयं विराट आवें तो मैं उनके साथ युद्ध करूंगा ॥२५।२८॥

विराटपर्व का पचासवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ५० ॥

अथ एकपंचाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५१ ॥

भीष्म उवाच—साधु पश्यति वै द्रौणिः कृपः साध्वनुपश्यति ।
कर्णस्तु क्षत्रधर्मेण केवलं योद्धुमिच्छति ॥ १ ॥
आचार्यो नाऽभिवक्तव्यः पुरुषेण विजानता ।

शयानं शयने तत्र सूतपुत्रः परामृशत् ।
जाज्वल्यमानं कोपेन कृष्णाधर्षणजेन ह ॥ ४२ ॥
उपसंगम्य चैवैनं कीचकः काममोहितः ।
हर्षोन्मथितचित्तात्मा स्मयमानोऽभ्यभाषत ॥ ४३ ॥
प्रापितं ते मया वित्तं बहुरूपमनंतकम् ।
यत्कृतं धनरत्नाढ्यं दासीशतपरिच्छदम् ॥ ४४ ॥
रूपलावण्ययुक्ताभिर्युवतीभिरलंकृतम् ।
गृहं चांऽतःपुरं सुभ्रु क्रीडारतिविराजितम् ।
तत्सर्वं त्वां समुद्दिश्य सहसाऽऽहमुपागतः ॥ ४५ ॥
अकस्मान्मां प्रशंसंति सदा गृहगताः स्त्रियः ।
सुवासा दर्शनीयश्च नान्योऽस्ति त्वादृशः पुमान् ॥ ४६॥
भीमसेन उवाच—दिष्ट्या त्वं दर्शनीयोऽथ दिष्ट्याऽऽत्मानं प्रशंससि।
ईदृशस्तु त्वया स्पर्शः स्पृष्टपूर्वो न कर्हिचित् ॥ ४७ ॥
स्पर्शं वेत्सि विदग्धस्त्वं कामधर्मविचक्षणः ।
स्त्रीणां प्रीतिकरो नाऽन्यस्त्वत्समः पुरुषस्त्विह ॥ ४८ ॥
वैशम्पायन उवाच—इत्युक्त्वा तं महाबाहुर्भीमो भीमपराक्रमः ।
सहसोत्पत्य कौंतेयः प्रहस्येदमुवाच ह ॥ ४९ ॥

कामान्ध कीचक उसके भीतर गया ॥३८।४१॥

उसे क्या मालूम था कि द्रौपदी के अपमान से उत्पन्न क्रोध की अग्नि से प्रज्वलित भीमसेन, साक्षात् मृत्यु की तरह, वहा लेटे हुए हैं। भीतर आकर, पास पहुचकर [जलते हुए अग्निकुण्ड में गिरने के लिए उतारू पतङ्ग या सिंह को छूनेवाले पशु की तरह] कीचक ने द्रौपदी के धोखे भीमसेन के शरीर पर हाथ रक्खा। उसका हृदय आनन्द से मत्त हो उठा। उसने हसकर कहा—हे प्रिये! आज मैं तुम्हारे लिए बहुत सी अनमोल सामग्री-धन-रत्न वस्त्र आभूषण आदि—निकाल कर रख आया हू। मेरे घर में सैकड़ों दास दासिया हैं, रूप-लावण्यवती युवती स्त्रिया हैं। अनेक मणि रत्न आदि मेरे रनिवास की शोभा को बढ़ा रहे हैं। तुम्हारे समागम की लालसा से वह रनिवास छोड़कर मैं यहा आया हू। हे सुन्दरी! मेरे अन्त पुर में रहनेवाली स्त्रिया मुझको अद्वितीय सुन्दर और प्रियदर्शन कहकर सदा मेरी प्रशसा किया करती हैं ॥४२।४६॥

भीमसेन ने कहा—मेरा परम सौभाग्य है कि तुम ऐसे प्रियदर्शन हो। तुम्हारी यह अपनी प्रशसा भी ठीक है। किन्तु तुमने पहले कभी ऐसे कोमल स्पर्शसुख का अनुभव न किया होगा। अहा! तुम तो बड़े कामकलानिपुण हो! अच्छे रसिकशिरोमणि

सर्वं यथावच्चरितं यद्यदेभिः प्रतिश्रुतम् ।
एवमेतद् ध्रुवं ज्ञात्वा ततो बीभत्सुरागतः ॥ ५ ॥
सर्वे चैव महात्मानः सर्वे धर्मार्थकोविदाः ।
येषां युधिष्ठिरो राजा कस्माद्धर्मेऽपराध्नुयुः ॥ ६ ॥
अलुब्धाश्चैव कौंतेयाः कृतवंतश्च दुष्करम् ।
न चापि केवलं राज्यमिच्छेयुस्तेऽनुपायतः ॥ ७ ॥
तदैव ते हि विक्रांतुमीपुः कौरवनंदनाः ।
धर्मपाशनिबद्धास्तु न चेलुः क्षत्रियव्रतात् ॥ ८ ॥
यच्चाऽनृत इति ख्यायाद्यः स गच्छेत्पराभवम् ।
वृणुयुर्मरणं पार्था नाऽनृतत्वं कथंचन ॥ ९ ॥
प्राप्तकाले तु प्राप्तव्यं नोत्सृजेयुर्नरर्षभाः ।
अपि वज्रभृता गुप्तं तथावीर्या हि पांडवाः ॥ १० ॥
प्रतियुध्येम समरे सर्वशस्त्रभृतां वरम् ।
तस्माद्यदत्र कल्याणं लोके सद्भिरनुष्ठितम् ।
तत्संविधीयतां शीघ्रं मा वो ह्यर्थोऽभ्यगात्परम् ॥ ११ ॥
न हि पश्यामि संग्रामे कदाचिदपि कौरव ।
एकांतसिद्धिं राजेंद्र संप्राप्तश्च धनंजयः ॥ १२ ॥

वर्ष पूरे होकर पाच महीने छ दिन अधिक हो गये हैं। पाण्डवों ने जो प्रतिज्ञा की थी वह पूरी हो चुकी, इसी से अर्जुन तुम्हारे सामने आये हैं ॥१।५॥

पाचों पाण्डव धर्म और अर्थ के जानकार हैं, विशेषकर युधिष्ठिर उनके मुखिया हैं। इसलिए वे धर्म के विषय में अपराधी कैसे हो सकते हैं? वे लोभहीन हैं और कठिन साधना कर चुके हैं। वे अधर्म करके राज्य पाने की आशा नहीं रखते। वे धर्म के बन्धन में बंधे हुए हैं, इसी लिये क्षात्र धर्म से विचलित नहीं हुए; नहीं तो वे उसी समय अपना पराक्रम दिखला देते। वे मृत्यु के मुंह में सहज ही जा सकते हैं, पर असत्य की राह में पाव नहीं बढ़ा सकते ॥६।९॥

जिस वस्तु पर इनका अधिकार है उसको व पुरुषश्रेष्ठ कभी नहीं छोड़ सकते। यदि इन्द्र भी वह वस्तु न देना चाहें तो वे यथासमय वह वस्तु ले ही लेंगे। इन लोगों में ऐसी ही शक्ति है। इस समय हम लोगों को श्रेष्ठ शस्त्रधारी अर्जुन से युद्ध करना होगा। इसलिए तुम लोग शीघ्र सज्जन-सम्मत कल्याणकर कार्य करो। हाथ से अवसर न जाने पावे। हे दुर्योधन! युद्ध में यह निश्चय नहीं कि हमारी ही जीत होगी। युद्ध में एक जीतना है तो

तावन्योन्यं समाश्लिष्य प्रकर्षंतौ परस्परम् ।
उभावपि प्रकाशेते प्रवृद्धौ वृषभाविव ॥ ५८ ॥
तयोर्ह्यासीत्सुतुमुलः संप्रहारः सुदारुणः ।
नखदंतायुधवतोर्व्याघ्रयोरिव दृप्तयोः ॥ ५९ ॥
अभिपत्याऽथ बाहुभ्यां प्रत्यगृह्णादमर्षितः ।
मातंग इव मातंगं प्रभिन्नकरटामुखम् ॥ ६० ॥
स चाप्येनं तदा भीमः प्रतिजग्राह वीर्यवान् ।
तमाक्षिपत्कीचकोऽथ बलेन बलिनां वरः ॥ ६१ ॥
तयोर्भुजाविनिष्पेषादुभयोर्बलिनोस्तदा ।
शब्दः समभवद्घोरो वेणुस्फोटसमो युधि ॥ ६२ ॥
अथैनमाक्षिप्य बलाद्गृहमध्ये वृकोदरः ।
धूनयामास वेगेन वायुश्चंड इव द्रुमम् ॥ ६३ ॥
भीमेन च परामृष्टो दुर्बलो बलिना रणे ।
प्रास्पंदत यथा प्राणं विचकर्ष च पांडवम् ॥ ६४ ॥
ईषदाकलितं चापि क्रोधाद् द्रुतपदं स्थितम् ।
कीचको बलवान्भीमं जानुभ्यामाक्षिपद्भुवि ॥ ६५ ॥
पातितो भुवि भीमस्तु कीचकेन बलीयसा ।
उत्पपाताऽथ वेगेन दंडपाणिरिवांतकः ॥ ६६ ॥

भर भी अपने स्थान से नहीं हटते थे। वे परस्पर खींचकर, लिपटकर नखों और दांतों के प्रहार करते थे। ऐसा जान पड़ता था कि दो बली साड अथवा दो क्रोधित सिंह भिड़कर युद्ध कर रहे है। जिसके मद बह रहा हो ऐसा क्रोधित गजराज जैसे दूसरे गजराज पर झपटे वैसे ही कीचक एकाएक भीमसेन पर झपटा। ॥५६।६०॥

इस प्रकार बलपूर्वक कीचक के आक्रमण करने पर भीमसेन ने भी झपटकर वैसे ही उस पर चोट की। किन्तु कीचक ने बलपूर्वक रेलकर भीमसेन को हटा दिया। उन दोनों के हाथ मारने से बास फटने का सा भयानक शब्द होने लगा। अब भीमसेन ने बल पूर्वक कीचक को खींचकर इस तरह विचलित कर दिया जिस तरह आधी किसी बड़े पेड़ को हिलाकर ढीला कर देती है। कीचक युद्ध करते-करते थककर यद्यपि बेदम सा हो गया था, तो भी वह भरसक भीमसेन को खींचने लगा ॥६१।६४॥

क्रोध के मारे भिड़कर, भीमसेन को कुछ विचलित कर, घुटनों की मार से उसने पृथ्वी पर गिरा दिया। एकाएक गिरकर भीमसेन तुरन्त वेग से दण्ड-

भीष्मः प्रस्थाप्य राजानं गोधनं तदनंतरम् ।
सेनामुख्यान्व्यवस्थाप्य व्यूहितुं संप्रचक्रमे ॥ २१ ॥
भीष्म उवाच—आचार्यमध्ये तिष्ठ त्वमश्वत्थामा तु सव्यतः ।
कृपः शारद्वतो धीमान्पार्श्वं रक्षतु दक्षिणम् ॥ २२ ॥
अग्रतः सूतपुत्रस्तु कर्णस्तिष्ठतु दंशितः ।
अहं सर्वस्य सैन्यस्य पश्चात्स्थास्यामि पालयन् ॥ २३ ॥

इति श्रीमन्महाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोग्रहे भीष्मसैन्यव्यूहे द्विपंचाशततमोऽध्यायः ॥५२॥

रवाना कर दिया, फिर गायें भेज दीं। फिर सेनापतियों को तैनात करके, व्यूहरचना करने के लिए, वे द्रोण से कहने लगे—हे आचार्य ! आप बीच में रहिए। अश्वत्थामा बायें ओर की और कृपाचार्य दाहने ओर की रक्षा करें। सूतपुत्र कर्ण आगे बढ़कर अर्जुन को रोकने के लिए तैयार रहेंगे, और मैं सबके पीछे रहकर सँभाले रहूंगा ॥२०।२३॥

—०—

विराटपर्व का बावनवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ५२ ॥

अथ त्रिपंचाशततमोऽध्यायः ॥ ५३ ॥

वैशम्पायन उवाच—तथा व्यूढेष्वनीकेषु कौरवेयेषु भारत ।
उपायादर्जुनस्तूर्णं रथघोषेण नादयन् ॥ १ ॥
ददृशुस्ते ध्वजाग्रं वै शुश्रुवुश्च महास्वनम् ।
दोधूयमानस्य भृशं गांडीवस्य च निःस्वनम् ॥ २ ॥
ततस्तु सर्वमालोक्य द्रोणो वचनमब्रवीत् ।
महारथमनुप्राप्तं दृष्ट्वा गांडीवधन्विनम् ॥ ३ ॥
द्रोण उवाच—एतद् ध्वजाग्रं पार्थस्य दूरतः संप्रकाशते ।
एष घोषः स रथजो रोरवीति च वानरः ॥ ४ ॥

तिरपनवां अध्याय ॥ ५३ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! रथ के पहियों की घरघराहट से चारों दिशाओं को पूर्ण करते हुए महावीर अर्जुन एकाएक कौरव-सेना के बीच में आ पहुंचे। कौरवों को उनकी ध्वजा का ऊपरी भाग स्पष्ट देख पड़ने लगा। गाण्डीव का और रथ के पहियोंका शब्द साफ़-साफ़ सुन पड़ने लगा ॥१।२॥

[आये हुए अर्जुन को देखकर] गुरु द्रोणाचार्य कहने लगे—वह देखो, दूर से ही अर्जुन के रथ की पताका देख पड़ती है; रथ के पहियों का शब्द भी सुन पड़ता है। [ध्वजा के अग्रभाग में स्थित] वानर महाभयङ्कर शब्द कर [के सैनिकों को दहला] रहा है। रथ पर बैठे हुए अर्जुन बार-बार धनुष की

प्रगृह्य तरसा दोर्भ्यां कंठं तस्य वृकोदरः ।
अपीडयत कृष्णायास्तदा कोपोपशांतये ॥ ७६ ॥
अथ तं भग्नसर्वांगं व्याविद्धनयनांबरम् ।
आक्रम्य च कटीदेशे जानुना कीचकाधमम् ।
अपीडयत बाहुभ्यां पशुमारममारयत् ॥ ७७ ॥
तं विषीदंतमाज्ञाय कीचकं पांडुनंदनः ।
भूतले भ्रामयामास वाक्यं चेदमुवाच ह ॥ ७८ ॥
अद्याऽहमनृणो भूत्वा भ्रातुर्भार्यापहारिणम् ।
शांतिं लब्धास्मि परमां हत्वा सैरंध्रिकंटकम् ॥ ७९ ॥
इत्येवमुक्त्वा पुरुषप्रवीरस्तं कीचकं क्रोधसरागनेत्रः ।
अस्रस्तवस्त्राभरणं स्फुरंतमुद्भ्रांतनेत्रं व्यसुमुत्ससर्ज ८०॥
निष्पिष्य पाणिना पाणिं संदष्टोष्ठपुटं बली ।
समाक्रम्य च संक्रुद्धो बलेन बलिनां वरः ॥ ८१ ॥
तस्य पादौ च पाणी च शिरो ग्रीवां च सर्वशः ।
काये प्रवेशयामास पशोरिव पिनाकधृक् ॥ ८२ ॥
तं संमथितसर्वांगं मांसपिंडोपमं कृतम् ।
कृष्णाया दर्शयामास भीमसेनो महाबलः ॥ ८३ ॥
उवाच च महातेजा द्रौपदीं योषितां वराम् ।
पश्यैनमेहि पांचालि कामुकोऽयं यथा कृतः ॥ ८४ ॥

द्रौपदी का क्रोध शान्त करने के लिए कीचक को पटक-कर भीमसेन दोनों हाथों से उसका गला घोंटने लगे । ॥७१।७६॥

अन्त को घुटने की चोट से उन्होंने उसकी कमर तोड़ डाली । हाथों से छाती की हड्डियां और पस-लियां तोड़ दीं । इस प्रकार प्रहार करके भीमसेन ने उसे पशु की मौत मार डाला । जब कीचक सिसक रहा था तब उसके शरीरको धरती पर लथेड़कर भीमसेन कहने लगे--आज सैरन्ध्री के जी का कांटा निकालकर मैं भाई से उरिन हुआ, आज मुझे शांति मिली । भीमसेन के प्रहार से कीचक के प्राण निकल गये । उस की आंखें ऊपर चढ़ गईं, वस्त्र और आभूषण इधर उधर गिर पड़े । देह ऐंठकर लकड़ी हो गई ॥७७।८०॥

क्रोध के मारे दांत चबाने लगे और हाथ से हाथ मसलते हुए भीमसेन ने फिर कीचक की लोथ पर आक्रमण करके, महादेव ने जैसे गजासुर के सब अङ्ग शरीर के भीतर घुसेड़ दिये थे वैसे ही, हाथ-पांव आदि सब अङ्ग शरीर के भीतर घुसेड़कर उसे एक

गोषु प्रयातासु जवेन मत्स्यान्किरीटिनं कृतकार्यं च मत्वा ।
दुर्योधनायाऽभिमुखं प्रयातं कुरुप्रवीराः सहसाऽभिपेतुः ॥ २ ॥
तेषामनीकानि बहूनि गाढं व्यूढानि दृष्ट्वा बहुलध्वजानि ।
मत्स्यस्य पुत्रं द्विषतां निहंता वैराटिमामंत्र्य ततोऽभ्युवाच ॥ ३ ॥
एतेन तूर्णं प्रतिपादयेमाञ्श्वेतान्हयान्कांचनरश्मियोक्त्रान् ।
जवेन सर्वेण कुरु प्रयत्नमासादयेऽहं कुरुसिंहवृंदम् ॥ ४ ॥
गजो गजेनेव मया दुरात्मा योद्धुं समाकांक्षति सूतपुत्रः ।
तमेव मां प्रापय राजपुत्र दुर्योधनापाश्रयजातदर्पम् ॥ ५ ॥
स तैर्हयैर्वातजवैर्बृहद्भिः पुत्रो विराटस्य सुवर्णकक्षैः ।
व्यध्वंसयत्तद्रथिनामनीकं ततोऽवहत्पांडवमाजिमध्ये ॥ ६ ॥
तं चित्रसेनो विशिखैर्विपाठैः संग्रामजिच्छत्रुसहो जयश्च ।
प्रत्युद्ययुर्भारतमापतंतं महारथाः कर्णमभीप्समानाः ॥ ७ ॥
ततः स तेषां पुरुषप्रवीरः शरासनार्चिः शरवेगतापः ।
व्रातं रथानामदहत्समन्युर्वनं यथाऽग्निः कुरुपुंगवानाम् ॥ ८ ॥
तस्मिंस्तु युद्धे तुमुले प्रवृत्ते पार्थं विकर्णोऽतिरथं रथेन ।
विपाठवर्षेण कुरुप्रवीरो भीमेन भीमानुजमाससाद ॥ ९ ॥

ने जब देखा कि गायें राजा विराट की राजधानी को लौटी जा रही हैं और अर्जुन सफलता प्राप्त करके दुर्योधन की ओर बढ़े जा रहे हैं, तब वे एकाएक अर्जुन को रोकने के लिए उनकी ओर झपटे ॥१।२॥

बहुतेरी विचित्र ध्वजाओं से शोभित कौरव-सेना के व्यूह को देखकर महावीर अर्जुन ने उत्तर से कहा—हे राजकुमार ! सुनहरी लगामोंवाले इन श्वेत घोड़ों को तुरन्त इस ओर बढ़ाओ, तो सहज ही इस कौरवों के व्यूह के पास पहुँचे । वह देखो, सूतपुत्र कर्ण मुझसे युद्ध करने के लिए तैयार खड़ा है । यह दुरात्मा, दुर्योधन का आश्रय पाकर, बल के घमण्ड पर फूला हुआ है । तुम शीघ्र ही मेरा रथ इसके पास ले चलो ॥३।५॥

तब विराटकुमार उत्तर, वायु के समान तेज़, श्वेत घोड़ों को बढ़ाकर शत्रुसेना का नाश करते हुए युद्ध के मैदान में पहुँचे । उधर चित्रसेन आदि वीर भी कर्ण की सहायता के लिए अर्जुन के ऊपर बाण बरसाने लगे पुरुषश्रेष्ठ वीर अर्जुन धनुष से छूटे हुए बाणों की अग्नि से, महावन के समान, शत्रुसेना को भस्म करने लगे ॥६।८॥

इस प्रकार घोर संग्राम छिड़ जाने पर रथ पर चढ़ा हुआ विकर्ण अर्जुन के पास आकर उन पर

अमानुषं कृतं कर्म तं दृष्ट्वा विनिपातितम् ।
काऽस्य ग्रीवा क्व चरणौ क्व पाणी क्व शिरस्तथा ।
इति स्म तं परीक्षंते गंधर्वेण हतं तदा ॥ ९४ ॥

इति श्रीमन्महाभारते विराटपर्वणि कीचकवधपर्वणि कीचकवधे द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥

बना हुआ, कीचक मरा पड़ा है । उसकी यह दशा देखकर उन लोगों को दुःख भी हुआ और आश्चर्य भी । वे आपस में कहने लगे—मनुष्य तो कभी ऐसा अद्भुत काम नहीं कर सकता । देखो, इसके हाथ, पांव, गर्दन आदि अङ्ग-प्रत्यङ्ग न जाने कहां चले गये हैं । अतएव निःसन्देह इसको गन्धर्वों ने ही मारा है । ॥९१।९४॥

—०—

विराटपर्व का बाईसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ २२ ॥

अथ त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

वैशम्पायन उवाच—तस्मिन्काले समागम्य सर्वे तत्राऽस्य बांधवाः ।
रुरुदुः कीचकं दृष्ट्वा परिवार्य समंततः ॥ १ ॥
सर्वे संहृष्टरोमाणः संत्रस्ताः प्रेक्ष्य कीचकम् ।
तथा संभिन्नसर्वांगं कूर्मं स्थल इवोद्धृतम् ॥ २ ॥
पोथितं भीमसेनेन तमिंद्रेणेव दानवम् ।
संस्कारयितुमिच्छंतो बहिर्नेतुं प्रचक्रमुः ॥ ३ ॥
ददृशुस्ते ततः कृष्णां सूतपुत्राः समागताः ।
अदूराच्चाऽनवद्यांगीं स्तंभमालिंग्य तिष्ठतीम् ॥ ४ ॥
समवेतेषु सर्वेषु तामूचुरुपकीचकाः ।
हन्यतां शीघ्रमसतीं यत्कृते कीचको हतः ॥ ५ ॥

तेईसवां अध्याय ॥ २३ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय। यह सूचना पाकर कीचक के भाई-बन्धु वहां पर आ गये। वे कीचक की यह दशा देख, उसे चारों ओर से घेरकर, विलाप करने लगे । हे महाराज ! थल पर लाकर रक्खे गये कछुए की तरह कीचक की लोथ के मांस-पिण्ड को देखकर भय के मारे उन सबके रोंगटे खड़े हो गये । इन्द्र के हाथ से मरे हुए वृत्रासुर के समान, भीमसेन के हाथ से मरे हुए कीचक का अन्त्येष्टिसंस्कार करने के लिए वे लोग तैयारियां करने लगे । इसी समय उन्होंने देखा कि पतिव्रता द्रौपदी सामने का खम्भा पकड़े खड़ी हैं ॥१।४॥

उन्हें देखकर कीचक के भाई उपकीचक कहने

अथाऽस्य बाहूरुशिरोललाटं ग्रीवां वरांगानि परावमर्दी ।
शितैश्च बाणैर्युधि निर्बिभेद गांडीवमुक्तैरशनिप्रकाशैः ॥ ३५ ॥
स पार्थमुक्तैरिषुभिः प्रणुन्नो गजो गजेनेव जितस्तरस्वी ।
विहाय संग्रामशिरः प्रयातो वैकर्त्तनः पांडवबाणतप्तः ॥ ३६ ॥

इति श्रीमन्महाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोग्रहे कर्णापयाने चतुःपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५४ ॥

तरकस से भल्ल बाण निकालकर उनके प्रहार से कर्ण को विह्वल कर दिया। अर्जुन के तीक्ष्ण बाण कर्ण की भुजा, सिर, जांघ, मस्तक, गरदन आदि सब अङ्गों में घुस गये। तब जैसे एक हाथी दूसरे हाथी से हारकर जी छोड़कर भाग जाता है वैसे ही महावीर कर्ण, वज्रप्रहार से भी कठिन बाणों की चोट से अत्यन्त व्यथित होकर, युद्धभूमि छोड़कर भाग गया। ॥३१।३६॥

विराटपर्व का चौवनवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ५४ ॥

अथ पञ्चपंचाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५५ ॥

वैशम्पायन उवाच—अपयाते तु राधेये दुर्योधनपुरोगमाः ।
अनीकेन यथास्वेन शनैरार्च्छन पांडवम् ॥ १ ॥
बहुधा तस्य सैन्यस्य व्यूढस्याऽऽपततः शरैः ।
अधारयत वेगं स वेलेव तु महोदधेः ॥ २ ॥
ततः प्रहस्य बीभत्सुः कौंतेयः श्वेतवाहनः ।
दिव्यमस्त्रं प्रकुर्वाणः प्रत्यायाद्रथसत्तमः ॥ ३ ॥
यथारश्मिभिरादित्यः प्रच्छादयति मेदिनीम् ।
तथा गांडीवनिर्मुक्तैः शरैः पार्थो दिशो दश ॥ ४ ॥
न रथानां न चाऽश्वानां न गजानां न वर्मणाम् ।
आनिर्विद्धं शितैर्बाणैरासीद् द्व्यंगुलमंतरम् ॥ ५ ॥

पचपनवां अध्याय ॥ ५५ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! कर्ण के भाग जाने पर, अपनी-अपनी सेना साथ लिये हुए, दुर्योधन आदि वीर अर्जुन पर आक्रमण करके चारों ओर से बाणों की वर्षा करने लगे। तटभूमि जैसे समुद्र के वेग को रोकती है वैसे ही हँसते हुए निडर अर्जुन ने उस कौरव-सेना के वेग को रोक लिया। अब वे अपने दिव्य अस्त्रों का प्रयोग करने लगे। जैसे सूर्य की किरणें पृथ्वी पर सर्वत्र फैल जाती हैं वैसे ही गाण्डीव धनुष से छूटे हुए बाण दसों दिशाओं में छा गये ॥१।४॥

अर्जुन अपने पैने बाणों से शत्रुओं के रथों को तोड़ने और उनके हाथी-घोड़े आदि वाहनों को

वैशम्पायन उवाच—तस्यास्ताः कृपणा वाचः कृष्णायाः परिदेवितम्।
श्रुत्वैवाऽभ्यपतद्भीमः शयनादविचारयन् ॥ १५ ॥
भीमसेन उवाच—अहं शृणोमि ते वाचं त्वया सैरंध्रि भाषिताम्।
तस्मात्ते सूतपुत्रेभ्यो भयं भीरु न विद्यते ॥ १६ ॥
वैशम्पायन उवाच—इत्युक्त्वा स महाबाहुर्विजजृंभे जिघांसया ।
ततः स व्यायतं कृत्वा वेषं विपरिवर्त्य च ॥ १७ ॥
अद्वारेणाऽभ्यवस्कंद्य निर्जगाम बहिस्तदा ।
स भीमसेनः प्राकारादारुह्य तरसा द्रुमम् ॥ १८ ॥
श्मशानाभिमुखः प्रायाद्यत्र ते कीचका गताः।
स लंघयित्वा प्राकारं निःसृत्य च पुरोत्तमात्।
जवेन पतितो भीमः सूतानामग्रतस्तदा ॥ १९ ॥
चितासमीपे गत्वा स तत्राऽपश्यद्वनस्पतिम् ।
तालमात्रं महास्कंधं मूर्धशुष्कं विशांपते ॥ २० ॥
तं नागवदुपक्रम्य बाहुभ्यां परिरभ्य च ।
स्कंधमारोपयामास दशव्यामं परंतपः ॥ २१ ॥
स तं वृक्षं दशव्यामं सस्कंधविटपं बली ।
प्रगृह्याऽभ्यद्रवत्सूतान्दंडपाणिरिवांऽतकः ॥ २२ ॥

को भय से व्याकुल कर देते हैं वे मेरी पुकार सुनें। सूतपुत्र मुझे जलाने के लिए मसान की ओर लिये जा रहे हैं ॥१२।१४॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! भीमसेन उस समय बिस्तर पर लेटे हुए थे। एकाएक द्रौपदी का आर्त्तनाद सुन पड़ते ही वे शीघ्र उठ खड़े हुए और कहने लगे कि हे भीरु ! सूतपुत्रों से तुम भयभीत होओ मत। तुम्हारी पुकार मैंने सुन ली है। अब क्या था, वे कीचक के भाइयों को मारने के लिए तैयार हो गये। देखते ही देखते उनका शरीर मानों बहुत अधिक बढ़ गया। उन्होंने अपना वेष बदल लिया। फिर वे द्वार से न जाकर, दीवार पर चढ़कर, उसे अनायास लाँघ गये। राजभवन के बाहर कूदकर वे मसान की ओर दौड़े। नगर की चहारदीवारी लाँघकर दौड़ते हुए वे सूतपुत्रों के सामने पहुँचे। ताड़ ऐसा ऊँचा और बहुत ही मोटा, ऊपर से सूखा, एक विशाल वृक्ष चिता के पास ही लगा हुआ था। उसे भीमसेन ने अपने बाहुबल के प्रभाव से उखाड़ लिया ॥१५।२०॥

उस वृक्ष को कन्धे पर रखकर और कभी घुमाते हुए भीमसेन, दण्ड हाथ में लिये यमराज की तरह उपकीचकों को मारने के लिए वेग से दौड़े। भीमसेन

सेदुः पार्थहतानीव पार्थकर्मानुशासनात् ॥ ३० ॥
ओषधीनां शिरांसीव द्विषच्छीर्षाणि सोऽन्वयात् ।
अवनेशुः कुरूणां हि वीर्याण्यर्जुनजाद्भयात् ॥ ३१ ॥
अर्जुनानिलभिन्नानि वनान्यर्जुनविद्विषाम् ।
चक्रुर्लोहितधाराभिर्धरणीं लोहितांतराम् ॥ ३२ ॥
लोहितेन समायुक्तैः पांसुभिः पवनोद्धुतैः ।
बभूवुर्लोहितास्तत्र भृशमादित्यरश्मयः ॥ ३३ ॥
सार्कं खं तत्क्षणेनाऽऽसीत्संध्यायामेव लोहितम् ।
अप्यस्तं प्राप्य सूर्योऽपि निवर्तेत न पाण्डवः॥ ३४ ॥
तान्सर्वान्समरे शूरः पौरुषे समवस्थितान् ।
दिव्यैरस्त्रैरचिंत्यात्मा सर्वानार्च्छदनुर्धरान् ॥ ३५ ॥
स तु द्रोणं त्रिसप्तत्या क्षुरप्राणां समार्पयत् ।
दुःसहं दशभिर्बाणैर्द्रौणिमष्टाभिरेव च ॥ ३६ ॥
दुःशासनं द्वादशभिः कृपं शारद्वतं त्रिभिः ।
भीष्मं शांतनवं षष्ट्या राजानं च शतेन ह ।
कर्णं च कर्णिना कर्णे विव्याध परवीरहा ॥ ३७ ॥
तस्मिन्विद्धे महेष्वासे कर्णे सर्वास्त्रकोविदे ।
हताश्वसूते विरथे ततोऽनीकमभज्यन ॥ ३८ ॥

कार्य देखकर व्यथित भी हो गई ॥२७।३०॥

पकी हुई फसल के सिर जैसे झुक जाते हैं वैसे ही अर्जुन के भय से उत्साहहीन शत्रुओं के सिर झुकने लगे। अर्जुन के तेज और फुर्ती ने कौरव-पक्ष के तेज और उत्साह को कम कर दिया। आंधी के समान अर्जुन ने शत्रुओं के जङ्गल को मथकर रक्त-प्रवाह से पृथ्वी को लाल कर दिया। रक्त से सनी हुई धूल के कण वायु में उड़ने से सूर्य की किरणें भी लाल-लाल देख पड़ने लगीं। उस समय आकाश सन्ध्याकाल की ललाई से लाल सा जान पड़ने लगा। सूर्य भी अस्ताचल पर पहुंचकर लौट पड़ते हैं परन्तु अर्जुन युद्ध से हटते न देख पड़ते थे ॥३१।३४॥

महाशूर पराक्रमी अर्जुन युद्ध में डटी हुई शत्रु-पक्ष की सेना के ऊपर दिव्य अस्त्रों का प्रयोग करने लगे। उन्होंने द्रोणाचार्य को तिहत्तर क्षुरप्र बाण मारकर दुःसह को दस, अश्वत्थामा को आठ, दुःशासन को बारह, कृपाचार्य को तीन, भीष्म को साठ और दुर्योधन को एक सौ बाण मारे। फिर शत्रुदमन अर्जुन ने कर्णी नामक बाण कर्ण के कान में मार तथा उसके सारथी और घोड़ों को मारकर उसका

एवं ते निहता राजञ्शतं पंच [redacted] कीचकाः ।
स च सेनापतिः पूर्वमित्येतत्सूतषट्शतम् ॥ ३३ ॥
तद् दृष्ट्वा महदाश्चर्यं नरा नार्यश्च संगताः ।
विस्मयं परमं गत्वा नोचुः किंचन भारत ॥ ३४ ॥

इति श्रीमन्महाभारते विराटपर्वणि कीचकवधपर्वणि त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

भय नहीं है। तुम आनन्द से नगर के भीतर जाओ। मैं भी दूसरी राह से पाकशाला में जाता हूं ॥२६।३१॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! इस प्रकार भीमसेन के हाथ से उपकीचक मारे गये और उनकी पड़ी हुई लोथों से वह मसान की भूमि, टूटे हुए पेड़ों से पूर्ण, महावन के समान जान पड़ने लगी। बालक बूढ़े-जवान सब नगरवासी यह हाल सुनकर मसान में एकत्र होने लगे। वे इस अद्भुत घटना को देखकर आश्चर्य के मोरे सन्नाटे में आ गये ॥३२।३४॥

—०—

विराटपर्व का तेईसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ २३ ॥

अथ चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ २४ ॥

वैशम्पायन उवाच—ते दृष्ट्वा निहतान्सूतान्राज्ञे गत्वा न्यवेदयन् ।
गंधर्वैर्निहता राजन्सूतपुत्रा महाबलाः ॥ १ ॥
यथा वज्रेण वै दीर्णं पर्वतस्य महच्छिरः ।
व्यतिकीर्णाः प्रदृश्यंते तथा सूता महीतले ॥ २ ॥
सैरंध्री च विमुक्ताऽसौ पुनरायाति ते गृहम् ।
सर्वं संशयितं राजन्नगरं ते भविष्यति ॥ ३ ॥
यथारूपा च सैरंध्री गंधर्वाश्च महाबलाः ।
पुंसामिष्टश्च विषयो मैथुनाय न संशयः ॥ ४ ॥
यथा सैरंध्रीदोषेण न ते राजन्निदं पुरम् ।
विनाशमेति वै क्षिप्रं तथा नीतिर्विधीयताम् ॥ ५ ॥

चौबीसवा अध्याय ॥ २४ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! इसके पश्चात् सब नगरनिवासियों ने राजा विराट के पास आकर कहा—हे महाराज! गन्धर्वों के हाथ से बड़े वीर सूतपुत्र मारे गये। वज्रपात से फटे हुए पर्वत शिखर के समान वे पृथ्वी पर पड़े हुए हैं। छुटकारा पाकर सैरन्ध्री भी घरको लौट आई है। जान पड़ता है कि आप का यह राज्य शीघ्र ही नष्ट हो जायगा, क्योंकि सैरन्ध्री का रूप-लावण्य असाधारण है, गन्धर्व भी महापराक्रमी हैं और पुरुषों की प्रवृत्ति भी स्वभाव से स्त्री-सङ्ग की ओर हुआ करती है। इसलिए यथोचित

सहोपायात्तदा राजन्विश्वाश्विमरुतां गणैः ॥ ३ ॥
तद्देवयक्षगंधर्वं महोरगसमाकुलम् ।
शुशुभेऽभ्रविनिर्मुक्तं ग्रहाणामिव मंडलम् ॥ ४ ॥
अस्त्राणां च बलं तेषां मानुषेषु प्रयुंजताम् ।
तच्च भीमं महद्युद्धं कृपार्जुनसमागमे ।
द्रष्टुमभ्यागता देवाः स्वविमानैः पृथक् पृथक् ॥ ५ ॥
शतं शतसहस्राणां यत्र स्थूणा हिरण्मयी ।
मणिरत्नमयी चाऽन्या प्रासादं तदधारयत् ॥ ६ ॥
ततः कामगमं दिव्यं सर्वरत्नविभूषितम् ।
विमानं देवराजस्य शुशुभे खेचरं तदा ॥ ७ ॥
तत्र देवास्त्रयस्त्रिंशत्तिष्ठंति सहवासवाः ।
गंधर्वा राक्षसाः सर्पाः पितरश्च महर्षिभिः ॥ ८ ॥
तथा राजा वसुमना बलाक्षः सुप्रतर्दनः ।
अष्टकश्च शिबिश्चैव ययातिर्नहुषो गयः ॥ ९ ॥
मनुः पूरू रघुर्भानुः कृशाश्वः सगरो नलः ।
विमाने देवराजस्य समदृश्यंत सुप्रभाः ॥ १० ॥
अग्नेरीशस्य सोमस्य वरुणस्य प्रजापतेः ।
तथा धातुर्विधातुश्च कुबेरस्य यमस्य च ॥ ११ ॥
अलंबुषोग्रसेनानां गंधर्वस्य च तुंबुरोः ।

और अर्जुन का भयानक युद्ध देखने के लिए अश्विनीकुमार और विश्वेदेवा आदि देवताओं के साथ, दिव्य विमान पर बैठे हुए, इन्द्र आकाशमार्ग में आ गये। देवता, यक्ष, गन्धर्व और नागों के मणिरत्न-खचित असंख्य विमान आकाश में, मेघ से छुटे हुए ग्रहों के समान, शोभा देने लगे। उनमें इन्द्र का, चाहे जहां जाने की शक्ति रखनेवाला, सब रत्नों से अलंकृत विमान और भी अधिक शोभित हुआ। आकाशमण्डल में वसु, रुद्र आदि तेंतीस देवता, गन्धर्व, राक्षस, नाग, सिद्ध, महर्षि और पितरों की भीड़ हो गई। राजा वसुमना, बलाक्ष, सुप्रतर्दन, अष्टक, शिबि, ययाति, नहुष, गये, मनु, पुरु, रघु, भानु, कृशाश्व, सगर और नल आदि स्वर्ग-वासी नरेश भी उस समय आकाश में आ गये ॥१।१०॥

अग्नि, ईश, सोम, वरुण, प्रजापति, धाता, विधाता, कुबेर, यम, उग्रसेन, अलम्बुष और तुम्बुरु

ततो महानसद्वारि भीमसेनमवस्थितम् ।
ददर्श राजन्पांचाली यथा मत्तं महाद्विपम् ॥ १४ ॥
तं विस्मयंती शनकैः संज्ञाभिरिदमब्रवीत् ।
गंधर्वराजाय नमो येनाऽस्मि परिमोचिता ॥ १५ ॥
भीमसेन उवाच—ये पुरा विचरंतीह पुरुषा वशवर्तिनः ।
तस्यास्ते वचनं श्रुत्वा ह्यनृणा विहरंत्वतः ॥ १६ ॥
वैशम्पायन उवाच—ततः सा नर्त्तनागारे धनंजयमपश्यत ।
राज्ञः कन्या विराटस्य नर्त्तयानं महाभुजम् ॥ १७ ॥
ततस्ता नर्त्तनागाराद्विनिष्क्रम्य सहार्जुनाः ।
कन्या ददृशुरायांतीं क्लिष्टां कृष्णामनागसम् ॥ १८ ॥
कन्या ऊचुः—दिष्ट्या सैरंध्रि मुक्तासि दिष्ट्याऽसि पुनरागता।
दिष्ट्या विनिहताः सूता ये त्वां क्लिश्यंत्यनागसम्॥ १९ ॥
बृहन्नलोवाच—कथं सैरंध्रि मुक्ताऽसि कथं पापाश्च ते हताः ।
इच्छामि वै तव श्रोतुं सर्वमेव यथातथम् ॥ २० ॥
सैरंध्र्युवाच—बृहन्नले किं नु तव सैरंध्र्या कार्यमद्य वै ।
या त्वं वससि कल्याणि सदा कन्यापुरे सुखम्॥ २१ ॥
न हि दुःखं समाप्नोषि सैरंध्री यदुपाश्नुते ।
तेन मां दुखितामेवं पृच्छसे प्रहसन्निव ॥ २२ ॥

नगर के भीतर पाकशाला के द्वार पर मस्त हाथी की तरह खड़े भीमसेन को देखकर द्रौपदी ने, इशारे के तौर पर, यह कहकर अपनी कृतज्ञता जताई कि जिन गन्धर्वराज ने इस विपत्ति से मुझे छुड़ाया है उनको मैं प्रणाम करती हूँ। भीमसेन ने भी इसके उत्तर में उसी तरह इशारे के तौर पर कहा—पहले से ही पुरुष (गन्धर्व) जिसके वश में होकर यहां निवास करते हैं उसी (सैरन्ध्री) के वाक्य सुनकर इस समय वे उरिन हो गये। अब आनन्द से रहें ॥१४।१६॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! द्रौपदी जब नाट्यशाला के समीप पहुँची तब उन्हें देखकर राजघराने की लड़कियां, बृहन्नला (अर्जुन) को साथ लेकर, बाहर आईं और द्रौपदी से कहने लगीं—हे सैरन्ध्री! बड़े भाग्य की बात है कि तुम शत्रु के हाथ से छुटकारा पाकर सकुशल यहां लौट आई। जो लोग बिना अपराध के तुमको क्लेश देने का यत्न कर रहे थे वे सूतगण भी सौभाग्यवश मारे गये ॥१७।१९॥

बृहन्नला ने कहा—हे सैरन्ध्री! इस विपत्ति से तुम्हारा छुटकारा किस तरह हुआ और दुष्ट सूतपुत्र कैसे मारे गये? इसका ब्यौरा सुनने को मेरा जी

ततः पार्थस्तु संक्रुद्धश्चित्रान्मार्गान्प्रदर्शयन् ।
दिशः संछादयन्बाणैः प्रदिशश्च महारथः ।
एकच्छायमिवाऽऽकाशमकरोत्सर्वतः प्रभुः ॥ १९ ॥
प्राच्छादयदमेयात्मा पार्थः शरशतैः कृपम् ।
स शैरर्दितः क्रुद्धः शितैरग्निशिखोपमैः ॥ २० ॥
तूर्णं दशसहस्रेण पार्थमप्रतिमौजसम् ।
अर्दयित्वा महात्मानं ननर्द समरे कृपः ॥ २१ ॥
ततः कनकपर्वाग्रैर्वीरः सन्नतपर्वभिः ।
त्वरन्गांडीवनिर्मुक्तैरर्जुनस्तस्य वाजिनः ॥ २२ ॥
चतुर्भिश्चतुरस्तीक्ष्णैराविध्यत्परमेषुभिः ।
ते हया निशितैर्बाणैर्ज्वलद्भिरिव पन्नगैः ।
उत्पेतुः सहसा सर्वे कृपः स्थानादथाऽच्यवत् ॥ २३ ॥
च्युतं तु गौतमं स्थानात्समीक्ष्य कुरुनंदनः ।
नाऽविध्यत्परवीरघ्नो रक्षमाणोऽस्य गौरवम् ॥ २४ ॥
स तु लब्ध्वा पुनः स्थानं गौतमः सव्यसाचिनम् ।
विव्याध दशभिर्बाणैस्त्वरितः कंकपत्रिभिः ॥ २५ ॥
ततः पार्थो धनुस्तस्य भल्लेन निशितेन ह ।
चिच्छेदैकेन भूयश्च हस्तावापमथाऽहरत् ॥ २६ ॥
अथाऽस्य कवचं बाणैर्निशितैर्मर्मभेदिभिः ।

छोड़ने लगे। कृपाचार्य ने अपने पैने बाणों से अर्जुन के चलाये, रक्त पीनेवाले, नाराच बाणों के टुकड़े-टुकड़े कर डाले। फिर महावीर अर्जुन ने अत्यन्त क्रोधित हो पैंतड़े बदलकर अपने विचित्र बाणों से चारों दिशाओं को व्याप्त कर दिया और कृपाचार्य के ऊपर सैकड़ों बाण चलाये ॥१७।१९॥

अग्नि की लौ के समान प्रज्वलित अर्जुन के बाणों से घायल कृपाचार्य ने भी कुपित होकर अर्जुन के ऊपर दस हज़ार बाण चलाये और विकट सिंहनाद किया। महावीर अर्जुन ने भी अत्यन्त तीक्ष्ण चार बाण मारकर कृपाचार्य के रथ के चारों घोड़ों को घायल कर दिया। अग्नि उगलते हुए सर्पों के समान अर्जुन के बाण लगने से घोड़े व्याकुल होकर उछल पड़े। कृपाचार्य रथ से नीचे गिर पड़े ॥२०।२३॥

अर्जुन ने उस समय, अवसर पाकर भी, आचार्य के गौरव की रक्षा के लिए वार नहीं किया। कुपित कृपाचार्य ने शीघ्रता से दूसरे रथ पर चढ़कर अर्जुन को दस बाण मारे। अर्जुन ने तीक्ष्ण भल्ल बाण से

तुम्हारा अलौकिक रूप है और गुण भी तुममें वैसे ही हैं । पुरुषों की प्रवृत्ति विषय-भोग की ओर अधिक हुआ करती है। इधर तुम्हारे स्वामी गन्धर्व बड़े क्रोधी हैं । [इसलिए यहां तुम्हारे रहने से हम लोग किसी तरह चैन से नहीं रह सकते ।] ॥२६।२८॥

सैरन्ध्री ने कहा—हे भद्रे ! केवल तेरह दिन और मुझे राजा अपने यहां रहने दें । तेरह दिन के पश्चात् गन्धर्वों का मनोरथ पूरा हो जायगा । वे मुझे ले जायेंगे । वे तुम्हारा और राजा का प्रिय भी करेंगे । भाई-बन्धुवों सहित राजा की सब तरह भलाई करने में वे किसी प्रकार की कोई कमी न रखेंगे ॥२९।३०॥

—०—

विराटपर्व का चौबीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ २४ ॥

अथ गोहरणपर्व ।

अथ पंचविंशोऽध्यायः ॥ २५ ॥

वैशम्पायन उवाच—कीचकस्य तु घातेन सानुजस्य विशांपते ।
अत्याहितं चिंतयित्वा व्यस्मयंत पृथग्जनाः ॥ १ ॥
तस्मिन्पुरे जनपदे संजल्पोऽभूच्च संघशः ।
शौर्याद्धि वल्लभो राज्ञो महासत्त्वः स कीचकः ॥ २ ॥
आसीत्प्रहर्ता सैन्यानां दारामर्शी च दुर्मतिः ।
स हतः खलु पापात्मा गंधर्वैर्दुष्टपूरुषः ॥ ३ ॥
इत्यजल्पन्महाराज परानीकविनाशनम् ।
देशे देशे मनुष्याश्च कीचकं दुष्प्रधर्षणम् ॥ ४ ॥
अथ वै धार्त्तराष्ट्रेण प्रयुक्ता ये बहिश्चराः ।
मृगयित्वा बहून्ग्रामान्राष्ट्राणि नगराणि च ॥ ५ ॥
संविधाय यथादृष्टं यथादेशप्रदर्शनम् ।
कृतकृत्या न्यवर्तंत ते चरा नगरं प्रति ॥ ६ ॥

पच्चीसवा अध्याय ॥ २५ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय । इस तरह कीचक और उपकीचकों के मारे जाने पर सब लोग अत्यन्त शङ्कित, चिन्तित और विस्मित हुए । क्या राजा विराट की राजधानी में और क्या अन्य नगरों में, सर्वत्र यही चर्चा होने लगी कि दुरात्मा कीचक अपनी शूरवीरता के प्रभाव से महाराज विराट का परम प्रिय सेनापति था । वह परस्त्रीगामी और पापी था । गन्धर्वों की प्यारी स्त्री को प्राप्त करने की चेष्टा करने के कारण वह उन्हींके हाथों मारागया॥१।४॥

पांडवों का पता लगाने के लिए राजा दुर्योधन ने पहले से ही बहुत से गुप्तचर इधर-उधर भेज रक्खे थे । बहुत से गावों, राज्यों और नगरों में पता लगाने

विस्फार्य सुमहच्चापं हेमपृष्ठं दुरासदम् ।
भारद्वाजोऽथ संक्रुद्धः फाल्गुनं प्रत्यविध्यत ॥ २८ ॥
स सायकमयैर्जालैरर्जुनस्य रथं प्रति ।
भानुमद्भिः शिलाधौतैर्भानोराच्छादयत्प्रभाम् ॥ २९ ॥
पार्थं च सुमहाबाहुर्महावेगैर्महारथः ।
विव्याध निशितैर्बाणैर्मेघो वृष्ट्येव पर्वतम् ॥ ३० ॥
तथैव दिव्यं गांडीवं धनुरादाय पांडवः ।
शत्रुघ्नं वेगवान्हृष्टो भारसाधनमुत्तमम् ॥ ३१ ॥
विससर्ज शरांश्चित्रान्सुवर्णविकृतान्बहून् ।
नाशयञ्शरवर्षाणि भारद्वाजस्य वीर्यवान् ।
तूर्णं चापविनिर्मुक्तैस्तदद्भुतमिवाऽभवत् ॥ ३२ ॥
स रथेन चरन्पार्थः प्रेक्षणीयो धनंजयः ।
युगपद्दिक्षु सर्वासु सर्वतोऽस्त्राण्यदर्शयत् ॥ ३३ ॥
एकच्छायमिवाऽऽकाशं बाणैश्चक्रे समंततः ।
नाऽदृश्यत तदा द्रोणो नीहारेणेव संवृतः ॥ ३४ ॥
तस्याऽभवत्तदा रूपं संवृतस्य शरोत्तमैः ।
जाज्वल्यमानस्य तदा पर्वतस्येव सर्वतः ॥ ३५ ॥
दृष्ट्वा तु पार्थस्य रणे शरैः स्वरथमावृतम् ।
स विस्फार्य धनुः श्रेष्ठं मेघस्तनितनिःस्वनम् ॥ ३६ ॥

अर्जुन को घायल करने लगे। द्रोणाचार्य के चलाये चमकीले तेज़ बाणों से सूर्य की प्रभा छिप गई। जैसे मेघ वर्षा की बूँदों से पर्वत को छा लेते हैं वैसे ही महावीर अर्जुन पर द्रोणाचार्य तीक्ष्ण बाणों की वर्षा कर रहे थे। प्रसन्नचित्त अर्जुन गाण्डीव धनुष चढ़ाकर सुवर्ण-मण्डित विचित्र बाणों से द्रोणाचार्य के बाणों की वर्षा को रोकने लगे। अर्जुन के धनुष से निकले हुए बाण-जाल अद्भुत काम कर रहे थे। रथ पर सवार अर्जुन, इधर-उधर विचरकर, चारों ओर अस्त्र-विद्या का प्रभाव दिखा रहे थे ॥२७।३२॥

उस समय आकाशमण्डल में बाण ही बाण छा गये। द्रोणाचार्य मानों कुहरे के भीतर छिपकर अदृश्य हो गये। चारों ओर अग्नि लगने से जैसा पर्वत देख पड़ता है वैसे ही अर्जुन के बाणों से छाये हुए द्रोणाचार्य जान पड़ने लगे ॥३३।३५॥

युद्धचतुर द्रोणाचार्य, अपने रथ को अर्जुन के

नदीकुंजेषु तीर्थेषु ग्रामेषु नगरेषु च ।
आश्रमेषु च रम्येषु पर्वतेषु गुहासु च ॥ १२ ॥
अथाऽग्रजानंतरजः पापभावानुरागवान् ।
ज्येष्ठं दुःशासनस्तत्र भ्राता भ्रातरमब्रवीत् ॥ १३ ॥
येषु नः प्रत्ययो राजंश्चारेषु मनुजाधिप ।
ते यांतु दत्तदेया वै भूयस्तान्परिमार्गितुम् ॥ १४ ॥
एतच्च कर्णो यत्प्राह सर्वमीहामहे तथा ।
यथोद्दिष्टं चराः सर्वे मृगयंतु यतस्ततः ॥ १५ ॥
एते चाऽन्ये च भूयांसो देशाद्देशं यथाविधि ।
न तु तेषां गतिर्वासः प्रवृत्तिश्चोपलभ्यते ॥ १६ ॥
अत्यंतं वा निगूढास्ते पारं चोर्मिमतो गताः ।
व्यालैश्चापि महारण्ये भक्षिताः शूरमानिनः ॥ १७ ॥
अथवा विषमं प्राप्य विनष्टाः शाश्वतीः समाः ।
तस्मान्मानसमव्यग्रं कृत्वा त्वं कुरुनंदन ।
कुरु कार्यं महोत्साहं मन्यसे यन्नराधिप ॥ १८ ॥

इति श्रीमन्महाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि कर्णदुःशासनवाक्ये षड्विंशोऽध्यायः॥ २६ ॥

पहचानते हैं वे अपने को बहुत ही छिपाकर नदी, कुञ्ज, तीर्थ, गांव, नगर, रमणीय आश्रम, पर्वत, गुफा आदि स्थानों में जाकर छिपे हुए पाण्डवों का पता लगावें ॥८।१२॥

इसके पश्चात् दुःशासन ने बड़े भाई दुर्योधन से कहा—हे महाराज ! जासूसों में जो लोग हमारे अधिक विश्वासपात्र हैं उन्हें, उनके योग्य पुरस्कार देकर, फिर पाण्डवों का पता लगाने को भेजिए । और, कर्ण ने जो उपाय बताया है उसे हम सभी ठीक समझते हैं । अन्यान्य जासूस, कर्ण के बताये हुए स्थानों में जाकर, पाण्डवों के रहने का रङ्ग-ढङ्ग और कामकाज देखें । मेरी समझ में पाण्डव या तो कहीं गुप्त रूप से रहते हैं और या समुद्र-पार चले गये हैं; अथवा घने जङ्गल में भयानक खूनी जानवर उनको खा गये हैं; या घोर दुर्दशा में पड़कर दुःखित हो उन्होंने स्वयं अपनी जान दे दी है । इसलिए हे कुरु-श्रेष्ठ ! आप व्याकुल न होकर हृदय में उत्साह लावें और अपने कर्तव्य का ध्यान रखकर कार्य करें ॥१३।१८॥

विराटपर्व का छब्बीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ २६ ॥

हयानस्याऽर्जुनः सर्वान्कृतवानल्पजीवितान् ।
ते राजन्न प्रजानंत दिशं कांचन मोहिताः ॥ ५ ॥
ततो द्रौणिर्महावीर्यः पार्थस्य विचरिष्यतः ।
विवरं सूक्ष्ममालोक्य ज्यां चिच्छेद क्षुरेण ह ।
तदस्याऽपूजयन्देवाः कर्म दृष्ट्वाऽतिमानुषम् ॥ ६ ॥
द्रोणो भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्चैव महारथाः ।
साधु साध्विति भाषंतोऽपूजयन्कर्म तस्य तत् ॥ ७ ॥
ततो द्रौणिर्धनुःश्रेष्ठमपकृष्य रथर्षभम् ।
पुनरेवाऽहनत्पार्थं हृदये कंकपत्रिभिः ॥ ८ ॥
ततः पार्थो महाबाहुः प्रहस्य स्वनवत्तदा ।
योजयामास नवया मौर्व्या गांडीवमोजसा ॥ ९ ॥
ततोऽर्धचंद्रमावृत्य तेन पार्थः समागमत् ।
वारणेनेव मत्तेन मत्तो वारणयूथपः ॥ १० ॥
ततः प्रववृते युद्धं पृथिव्यामेकवीरयोः ।
रणमध्ये द्वयोरेवं सुमहल्लोमहर्षणम् ॥ ११ ॥
तौ वीरौ ददृशुः सर्वे कुरवो विस्मयान्विताः ।
युध्यमानौ महावीर्यौ यूथपाविव संगतौ ॥ १२ ॥
तौ समाजघ्नतुर्वीरावन्योन्यं पुरुषर्षभौ ।

हो जाने से अन्धेरा फैल गया। जलते हुए बांस की पोरें फटने का सा बाणों के परस्पर टकराने का 'चट-चट' शब्द सुन पड़ने लगा ॥१।४॥

अर्जुन ने अश्वत्थामा के घोड़ों को इतने बाण मारे कि वे बहुत ही पीड़ित और व्याकुल होकर यह जानने में असमर्थ हो गये कि उन्हें किधर जाना होगा। इधर महापराक्रमी अश्वत्थामा ने अवसर पाकर तीक्ष्ण क्षुर बाण से गाण्डीव धनुष की डोरी काट डाली। अश्वत्थामा के इस अलौकिक काम को देखकर देवता उनकी प्रशंसा करने लगे। इधर द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, भीष्म और कर्ण ने भी अश्वत्थामा को खूब शाबाश दी। फिर अश्वत्थामा ने अपना श्रेष्ठ धनुष खींचकर अर्जुन के हृदयमें अनेक बाण मारे ।५।८।

महाबाहु अर्जुन ने हंसते हुए इन प्रहारों को सह लिया। उन्होंने गाण्डीव को जोर से झुकाकर उस पर दूसरी डोरी चढ़ाई। जैसे यूथपति गजराज किसी मस्त हाथी से युद्ध करे वैसे ही अर्जुन फिर गाण्डीव धनुष लेकर अश्वत्थामा से भिड़ गये। दोनों वीरों के बाण क्रुद्ध हुए सर्पों की तरह प्रज्वलित थे। उनके द्वारा युद्ध करनेवाले दोनों महावीरों के युद्ध

विज्ञाय क्रियतां तस्माद् भूयश्च मृगयामहे ।
ब्राह्मणैश्चारकैः सिद्धैर्ये चाऽन्ये तद्विदो जनाः ॥ १० ॥

इति श्रीमन्महाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि द्रोणवाक्ये चारप्रत्याचारे सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २७ ॥

की प्रतिज्ञा की है उसके समाप्त होने के पहले ही तुमको जो करना हो सो कर लो । इस समय पाण्डव लोगों के रहने के स्थान का पता लगाने में ही श्रेय है । किन्तु वे तपस्वी, शूर, दुर्जेय, और दुर्द्धर्ष हैं तथा तेजस्वी युधिष्ठिर स्वभाव से ही विशुद्ध-हृदय, नीतिमान् और सत्यपरायण हैं । इसलिए साधारण लोग उनका पता न लगा सकेंगे । जो ब्राह्मण जाति के जासूस अनुभवी और अपने काम में चतुर हैं—पाण्डवों के आकार-प्रकार और स्वभाव से भली भांति परिचित हैं—उन्हें फिर पाण्डवों का पता लगाने के लिए भेजो ॥६।१०॥

—०—

विराटपर्व का सत्ताईसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ २७ ॥

अथ अष्टाविंशोऽध्यायः ॥ २८ ॥

वैशम्पायन उवाच—ततः शांतनवो भीष्मो भरतानां पितामहः ।
श्रुतवान्देशकालज्ञस्तत्त्वज्ञः सर्वधर्मवित् ॥ १ ॥
आचार्यवाक्योपरमे तद्वाक्यमभिसंदधत् ।
हितार्थं समुवाचैनां भारतीं भारतान्प्रति ॥ २ ॥
युधिष्ठिरे समासक्तां धर्मज्ञे धर्मसंवृताम् ।
असत्सु दुर्लभां नित्यं सतां चाऽभिमतां सदा ॥ ३ ॥
भीष्मः समं वदत्तत्र गिरं साधुभिरर्चिताम् ।
यथैष ब्राह्मणः प्राह द्रोणः सर्वार्थतत्त्ववित् ।
तद्वाक्यमभिनन्दामि न मे तत्र विचारणा ॥ ४ ॥
सर्वलक्षणसंपन्नाः साधुव्रतसमन्विताः ।
श्रुतव्रतोपपन्नाश्च नानाश्रुतिसमन्विताः ॥ ५ ॥

अट्ठाईसवां अध्याय ॥ २८ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! द्रोणाचार्य की बातें समाप्त होने पर देश-कालज्ञ, सब धर्मों के जानकार, भरतकुल के पितामह, भीष्मजी ने द्रोणाचार्य के कथन की पुष्टि करके कहा—हे कौरवो ! सब विषयों के ज्ञाता इन द्रोणाचार्य ने पाण्डवों के बारे में जो कुछ कहा सो धर्मसङ्गत, साधुसम्मत और आदरणीय है । मैं बिना किसी सन्देह के इनकी बातों का अनुमोदन करता हूँ । सब सुलक्षणों से युक्त, सच्चरित्र, सदाचारी, बड़े बूढ़ों की बात मानकर चलनेवाले पांचों पाण्डव वीर पुरुष, पराक्रमी, क्षत्रियों के धर्म में दृढ़ और श्रीकृष्णचन्द्र के कहे में हैं । वे सज्जनों के मार्ग पर आरूढ़ हैं । इस कारण वे किसी

अथ षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६० ॥

अर्जुन उवाच—कर्ण यत्ते सभामध्ये बहु वाचा विकत्थितम् ।
न मे युधि समोऽस्तीति तदिदं समुपस्थितम् ॥ १ ॥
सोऽद्य कर्ण मया सार्धं व्यवहृत्य महामृधे ।
ज्ञास्यस्यबलमात्मानं न चाऽन्यानवमन्यसे ॥ २ ॥
अवोचः परुषा वाचो धर्ममुत्सृज्य केवलम् ।
इदं तु दुष्करं मन्ये यदिदं ते चिकीर्षितम् ॥ ३ ॥
यत्त्वया कथितं पूर्वं मामनासाद्य किंचन ।
तदद्य कुरु राधेय कुरुमध्ये मया सह ॥ ४ ॥
यत्सभायां स पांचालीं क्लिश्यमानां दुरात्मभिः ।
दृष्टवानासि तस्याऽद्य फलमाप्नुहि केवलम् ॥ ५ ॥
धर्मपाशनिबद्धेन यन्मया मर्षितं पुरा ।
तस्य राधेय कोपस्य विजयं पश्य मे मृधे ॥ ६ ॥
वने द्वादश वर्षाणि यानि सोढानि दुर्मते ।
तस्याऽद्य प्रतिकोपस्य फलं प्राप्नुहि संप्रति ॥ ७ ॥
एहि कर्ण मया सार्धं प्रतियुध्यस्व संगरे ।
प्रेक्षकाः कुरवः सर्वे भवंतु तव सैनिकाः ॥ ८ ॥

साठवाँ अध्याय ॥ ६० ॥

अर्जुन ने कहा—हे कर्ण ! पहले कौरवों की सभा में तुमने बड़े अहङ्कार के साथ कहा था कि पृथ्वी पर मेरे समान कोई योद्धा नहीं है । अब यह युद्ध का समय आ गया है । आओ, मुझसे युद्ध करो । तुम्हें अपने पराक्रम की थाह लग जायगी और फिर तुम कभी इस तरह किसी का अपमान न करोगे । हे राधा के पुत्र ! तुमने धर्म का विचार न करके सदा निरे कठोर वचन कहे हैं । इस समय तुम्हारा वह अभिप्राय पूर्ण होना कठिन जान पड़ता है । तूने मेरे पीठ दुर्योधन आदि कौरवों से जो बातें कहीं हैं—जो डींग मारी है—उन्हें इस समय मेरे साथ, कौरवों के आगे, पूरा करके दिखा ॥१।४॥

जिस समय दुष्ट कौरव भरी सभा में द्रौपदी का अपमान कर रहे थे उस समय तुम बड़े आनन्द से द्रौपदी की दुर्दशा देख रहे थे । इस समय तुम उसका उचित फल पावोगे । मैं उस समय धर्म—प्रतिज्ञा—के बन्धन में बँधा हुआ था, इससे सब कुछ सहता रहा । इस समय अपने उसी कोप को मैं सफल करूंगा । हे दुष्टबुद्धि ! बारह वर्ष वन में रहकर हम लोगों ने जिन कठिन क्लेशों को सहा है उनका

नाऽहं शक्ष्यामि वीरेह नियंतुं ते हयोत्तमान् ।
विषीदन्ति मम प्राणा मनो विह्वलतीव मे ॥ ४ ॥
अस्त्राणामिव दिव्यानां प्रभावः संप्रयुज्यताम् ।
त्वया च कुरुभिश्चैव द्रवंतीव दिशो दश ॥ ५ ॥
गंधेन मूर्छितश्चाऽहं वसारुधिरमेदसाम् ।
द्वैधीभूतं मनो मेऽद्य तव चैव प्रपश्यतः ॥ ६ ॥
अदृष्टपूर्वः शूराणां मया संख्ये समागमः ।
गदापातेन महता शंखानां निःस्वनेन च ॥ ७ ॥
सिंहनादैश्च शूराणां गजानां बृंहितैस्तथा ।
गाण्डीवशब्देन भृशमशनिप्रतिमेन च ।
श्रुतिः स्मृतिश्च मे वीर प्रनष्टा मूढचेतसः ॥ ८ ॥
अलातचक्रप्रतिमं मण्डलं सततं त्वया ।
व्याक्षिप्यमाणं समरे गाण्डीवं च प्रकर्षता ।
दृष्टिः प्रचलिता वीर हृदयं दीर्यतीव मे ॥ ९ ॥
वपुश्चोग्रं तव रणे क्रुद्धस्येव पिनाकिनः ।
व्यायच्छतस्तव भुजं दृष्ट्वा भीर्मे भवत्यपि ॥ १० ॥
नाऽऽददानं न संधानं न मुंचंतं शरोत्तमान् ।
त्वामहं संप्रपश्यामि पश्यन्नपि न चेतनः ॥ ११ ॥

प्रभाव से जहा देखो तहा रक्त की नदिया बहने लगी हैं। चर्बी, रक्त और मेदा की दुर्गन्धि से मैं अचेत-सा होता जाता हू। इन अलौकिक घटनाओं को देखकर मेरा मन अत्यन्त व्याकुल हो रहा है। मैंने युद्ध-भूमि में कभी ऐसा वीरों का जमघट नहीं देखा। गदाओं के शब्द, शङ्खनाद, सिंहनाद, हाथी-घोड़ों के दारुण शब्द और वज्रपात-तुल्य गाण्डीव धनुष के भयानक शब्द से मेरे कान बहरे से हुए जा रहे हैं, स्मरणशक्ति काम नहीं देती। अलातचक्र (जलती हुई लकड़ी घुमाने से जो अग्नि का चक्कर सा बन जाता है उस) के समान गाण्डीव धनुष को आप लगातार घुमा रहे हैं। उसे देखकर मेरी आखें चौंधिया रही हैं और हृदय फटा सा जा रहा है। क्रोधित शङ्कर के समान आपकी भयङ्कर मूर्ति और महाभुजाओं को देखकर मैं बहुत ही भयभीत हो रहा हू ॥१।१०॥

मुझे कुछ भी नहीं जान पड़ता कि आप कब तरकस से बाण निकालते हैं, कब धनुष पर चढ़ाते और कब धनुष को छोड़ते हैं। युद्ध में आप की फुर्ती देखकर मैं अचेत सा हो रहा हू। मुझे

निवासं धर्मराजस्य वर्षेऽस्मिन्वै त्रयोदशे ।
तत्र तात न तेषां हि राज्ञां भाव्यमसांप्रतम् ॥ १४ ॥
पुरे जनपदे चापि यत्र राजा युधिष्ठिरः ।
दानशीलो वदान्यश्च निभृतो ह्रीनिषेवकः ।
जनो जनपदे भाव्यो तत्र राजा युधिष्ठिरः ॥ १५ ॥
प्रियवादी सदा दांतो भव्यः सत्यपरो जनः ।
हृष्टः पुष्टः शुचिर्दक्षो यत्र राजा युधिष्ठिरः ॥ १६ ॥
नाऽसूयको न चाऽपीर्पुर्नाऽभिमानी न मत्सरी ।
भविष्यति जनस्तत्र स्वयं धर्ममनुव्रतः ॥ १७ ॥
ब्रह्मघोषाश्च भूयांसः पूर्णाहुत्यस्तथैव च ।
क्रतवश्च भविष्यंति भूयांसो भूरिदक्षिणाः ॥ १८ ॥
सदा च तत्र पर्जन्यः सम्यग्वर्षी न संशयः ।
संपन्नसस्या च मही निरातंका भविष्यति ॥ १९ ॥
गुणवंति च धान्यानि रसवंति फलानि च ।
गंधवंति च माल्यानि शुभशब्दा च भारती ॥ २० ॥
वायुश्च सुखसंस्पर्शो निष्प्रतीपं च दर्शनम् ।
न भयं त्वाविशेत्तत्र यत्र राजा युधिष्ठिरः ॥ २१ ॥
गावश्च बहुलास्तत्र न कृशा न च दुर्बलाः ।
पयांसि दधिसर्पींपि रसवंति हितानि च ॥ २२ ॥

या जनपद में रहते होंगे वहा के राजाओं का अमङ्गल किसी तरह नहीं हो सकता। राजा युधिष्ठिर जहा रहते होंगे वहा के सब लोग दानी, प्रिय वचन बोलने-वाले, लोकलज्जा का खयाल रखनेवाले, जितेन्द्रिय, सत्यवादी, हृष्ट पुष्ट, विशुद्धहृदय और अपने धर्म मा अनुराग रखते होंगे। वे कभी ईर्ष्या परवश, पराई बढ़ती देखकर कुढ़नेवाले, अभिमानी या मात्सर्ययुक्त नहीं होंगे। युधिष्ठिर के निवासस्थान में सदा वेद पाठ की ध्वनि सुन पड़ती होगी, पूर्णाहुति और बहुत सी दक्षिणावाले अनेक प्रकार के यज्ञ होते होंगे। ठीक समय पर खूब जल बरसता होगा। पृथ्वी अन्न से हरी भरी और भयरहित होगी। सब अन्न रसीले होंगे। फलों में गुण होंगे। पुष्पमालाएँ सुगन्धित होंगी। लोगों के वचन शुभ शब्दों से युक्त होंगे। शीतल, मन्द, सुगन्ध वायु चलती होगी। कोई किसी का विरोधी न होगा ॥११।२०॥

भय नाम लेने को न होगा। गाय आदि उप-योगी पशु सबल होंगे और उनकी बढ़ती होगी।

दुःशासनस्तु भल्लेन विध्वा वैराटिमुत्तरम् ।
द्वितीयेनाऽर्जुनं वीरः प्रत्यविध्यस्तनांतरे ॥ ३८ ॥
तस्य जिष्णुरुपावृत्य पृथुधारेण कार्मुकम् ।
चकर्त्त गार्ध्रपत्रेण जातरूपपरिष्कृतम् ॥ ३९ ॥
अथैनं पंचभिः पश्चात्प्रत्यविध्यस्तनांतरे ।
सोऽपयातो रणं हित्वा पार्थवाणप्रपीडितः ॥ ४० ॥
तं विकर्णः शरैस्तीक्ष्णैर्गृध्रपत्रैराजिह्मगैः ।
विव्याध परवीरघ्नमर्जुनं धृतराष्ट्रजः ॥ ४१ ॥
ततस्तमपि कौंतेयः शरेणाऽऽनतपर्वणा ।
ललाटेऽभ्यहनत्तूर्णं स विद्धः प्रापतद्रथात् ॥ ४२ ॥
ततः पार्थमभिद्रुत्य दुःसहः सविविंशतिः ।
अवाकिरच्छरैस्तीक्ष्णैः परीप्सुर्भ्रातरं रणे ॥ ४३ ॥
तावुभौ गार्धपत्राभ्यां निशिताभ्यां धनंजयः ।
विध्वा युगपदव्यग्रस्तयोर्वाहानसूदयत् ॥ ४४ ॥
तौ हताश्वौ विभिन्नांगौ धृतराष्ट्रात्मजावुभौ ।
अभिपत्य रथैरन्यैरपनीतौ पदानुगैः ॥ ४५ ॥
सर्वा दिशश्चाऽभ्यपतद्बीभत्सुरपराजितः ।
किरीटमाली कौंतेयो लब्धलक्षो महाबलः ॥ ४६ ॥

इति श्रीमन्महाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोग्रहे अर्जुनदुःशासनादियुद्धे एकषष्टितमोऽध्यायः ॥६१॥

विविंशति, इन चारों वीरों ने आकर एकाएक अर्जुन पर आक्रमण किया। दुःशासन ने उत्तर के ऊपर एक भल्ल नाम का वाण चलाया। साथ ही और एक तीक्ष्ण वाण छाती में मारकर अर्जुन को घायल कर दिया। तब अर्जुन ने तीक्ष्ण धारवाले गृध्रपत्र-भूषित वाण से दुःशासन का धनुष काट डाला। साथ ही हृदय में पांच वाण मारकर उसको घायल कर दिया। अर्जुन के वाणों से पीड़ित हो, युद्ध छोड़कर, दुःशासन भाग गया ॥३६।४०॥

तब महावीर विकर्ण अर्जुन के ऊपर गृध्रपत्र-भूषित तीक्ष्ण वाण बरसाने लगा। अर्जुन ने शीघ्र ही एक अत्यन्त तीक्ष्ण वाण विकर्ण के मस्तक में मारा। उसके लगते ही वह अचेत होकर रथ से नीचे गिर पड़ा। दुःसह और विविंशति दोनों, विकर्ण की जान बचाने के लिए, अर्जुन, के ऊपर तीक्ष्ण वाण बरसाने लगे। महावीर अर्जुन ने भी गृध्रपत्र-भूषित पैने वाणों से उनके घोड़ों को मारा और उन्हें भी घायलकर दिया। उन दोनों वीरोंके पार्श्वरक्षक सैनिक

ह्रीः श्रीः कीर्तिः परं तेज आनृशंस्यमथाऽऽर्जवम् ।
तस्मात्तत्र निवासं तु च्छन्नं यत्नेन धीमतः ।
गतिं च परमां तत्र नोत्सहे वक्तुमन्यथा ॥ ३२ ॥
एवमेतत्तु संचिन्त्य यत्कृते मन्यसे हितम् ।
तत्क्षिप्रं कुरु कौरव्य यद्येवं श्रद्दधासि मे ॥ ३३ ॥

इति श्रीमन्महाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि चारप्रत्याचारे भीष्मवाक्ये अष्टाविंशोऽध्यायः ॥ २८ ॥

सकते, फिर साधारण मनुष्य किस तरह जान सकेंगे ? इसलिए हे राजेन्द्र ! जिन सद्गुणों और सुलक्षणों से युक्त स्थानों का उल्लेख मैंने किया है वैसे ही स्थानों में कहीं पर बुद्धिमान् युधिष्ठिर, वेष बदले हुए, रहते होंगे । मैं इतना ही कह सकता हूँ । इसके सिवा और तरह का अनुमान करने को मेरा जी नहीं चाहता। हे कौरव ! अब यदि मेरी बात पर, जो मैंने युधिष्ठिर के अज्ञातवास के सम्बन्ध में कही है, तुम्हें श्रद्धा हो तो अच्छी तरह विचार करके जो अपने लिए हित समझो वह करने का उपाय करो ॥२६।३३॥

विराटपर्व का अट्ठाईसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ २८ ॥

अथ एकोनविंशोऽध्यायः ॥ २९ ॥

वैशम्पायन उवाच—ततः शारद्वतो वाक्यमित्युवाच कृपस्तदा ।
युक्तं प्राप्तं च वृद्धेन पांडवान्प्रति भाषितम् ॥ १ ॥
धर्मार्थसहितं श्लक्ष्णं तत्त्वतश्च सहेतुकम् ।
तत्राऽनुरूपं भीष्मेण ममाऽप्यत्र गिरं शृणु ॥ २ ॥
तेषां चैव गतिस्तीर्थैर्वासश्चैषां प्रचिंत्यताम् ।
नीतिर्विधीयतां चापि सांप्रतं या हिता भवेत् ॥ ३ ॥
नाऽवज्ञेयो रिपुस्तात प्राकृतोऽपि बुभूषता ।
किं पुनः पांडवास्तात सर्वास्त्रकुशला रणे ॥ ४ ॥

उनतीसवाँ अध्याय ॥ २९ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! अब कृपाचार्य ने कहा—हे तात दुर्योधन ! कुरुवंश के वृद्ध पितामह भीष्म ने पाण्डवों के बारे में जो कुछ कहा वह युक्तिसङ्गत, धर्म और अर्थ के अनुकूल, कारणयुक्त और मनोहर भी है । मैं भी भीष्म के समान कुछ कहता हूं, सुनो । इस समय पाण्डवों के गुप्त रहन-सहन और अज्ञातवास के बारे में विचार करना और पता लगाना जैसे आवश्यक है वैसे ही नीति का आश्रय लेकर यथोचित रूप से हित का विचार भी करना चाहिए। हे राजेन्द्र ! देश-काल का अच्छा और पूरा ज्ञान रखनेवाले पाण्डवों की कौन कहे, बुद्धिमान् लोग साधारण शत्रु को भी, कभी, तुच्छ

अथ त्रिषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६३ ॥

वैशम्पायन उवाच—ततो दुर्योधनः कर्णो दुःशासनविविंशती ।
द्रोणश्च सह पुत्रेण कृपश्चापि महारथः ॥ १ ॥
पुनर्ययुश्च संरब्धा धनंजयजिघांसवः ।
विस्फारयंतश्चापानि बलवंति दृढानि च ॥ २ ॥
तान्विकीर्णपताकेन रथेनाऽऽदित्यवर्चसा ।
प्रत्युद्ययौ महाराज समंताद्वानरध्वजः ॥ ३ ॥
ततः कृपश्च कर्णश्च द्रोणश्च रथिनां वरः ।
तं महास्त्रैर्महावीर्यं परिवार्य धनंजयम् ॥ ४ ॥
शरौघान्सम्यगस्यंतो जीमूता इव वार्षिकाः ।
ववर्षुः शरवर्षाणि पातयंतो धनंजयम् ॥ ५ ॥
इषुभिर्बहुभिस्तूर्णं समरे लोमवाहिभिः ।
अदूरात्पर्यवस्थाप्य पूरयामासुराहृताः ॥ ६ ॥
तथा तैरवकीर्णस्य दिव्यैरस्त्रैः समंततः ।
न तस्य द्व्यंगुलमपि विवृतं संप्रदृश्यते ॥ ७ ॥
ततः प्रहस्य बीभत्सुर्दिव्यमैंद्रं महारथः ।
अस्त्रमादित्यसंकाशं गांडीवे समयोजयत् ॥ ८ ॥
शररश्मिरिवाऽऽदित्यः प्रतस्थे समरे बली ।
किरीटमाली कौंतेयः सर्वान्प्राच्छादयत्कुरून् ॥ ९ ॥

त्रेसठवां अध्याय ॥ ६३ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! तब दुर्योधन, कर्ण, दुःशासन, विविंशति, द्रोणाचार्य, अश्वत्थामा, कृपाचार्य आदि सब महारथी अर्जुन को मारने के लिए धनुष चढ़ा-चढ़ाकर उनकी ओर चले। उधर सूर्य के समान प्रतापी और प्रभावशाली अर्जुन, फहराती हुई पताका से शोभित रथ पर चढ़कर, उक्त महावीरों की ओर बढ़े ॥१।३॥

थोड़ी ही दूर पर खड़े कृपाचार्य, कर्ण और महारथी द्रोण ने अर्जुन के ऊपर, वर्षाकाल के बादलों की तरह, ऐसी बाणों की वर्षा की कि अर्जुन का शरीर कहीं पर दो अंगुल भर भी कोरा नहीं रह गया। सब जगह बाणों के घाव थे। तब महारथी अर्जुन ने हँसते-हंसते धनुष पर ऐन्द्र अस्त्र चढ़ाया। उस अस्त्र का तेज सूर्य के समान था। अर्जुन ने उसी अस्त्र से कौरवपक्ष के सब वीरों को परास्त कर दिया। उस समय अर्जुन के हाथ में गाण्डीव धनुष

योत्स्यसे चापि बलिभिररिभिः प्रत्युपस्थितैः ।
अन्यैस्त्वं पांडवैर्वापि हीनैः स्वबलवाहनैः ॥ १३ ॥
एवं सर्वं विनिश्चित्य व्यवसायं स्वधर्मतः ।
यथाकालं मनुष्येंद्र चिरं सुखमवाप्स्यसि ॥ १४ ॥

इति श्रीमन्महाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि चारप्रत्यापचारे कृपवाक्ये एकोनविंशोऽध्यायः ॥२९॥

बढ़ा लेने पर अवश्य ही तुम सफलता और विजय पाने में समर्थ होगे। हे राजेन्द्र! इस प्रकार कोष और बल बढ़ाकर तुम अपने को समृद्धिशाली बना लोगे तो तुमसे कम सहायक और धन रखनेवाले पाण्डव हों या और कोई प्रबल शत्रु हो, सबसे युद्ध कर सकोगे। तात्पर्य यह है कि धर्म के अनुसार इन सब कामों को कर लोगे तो यथासमय सदा के लिए सुख के अधिकारी बन जाओगे ॥११।१४॥

विराटपर्व का उनतीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ २९ ॥

अथ त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३० ॥

वैशम्पायन उवाच—अथ राजा त्रिगर्तानां सुशर्मा रथयूथपः ।
प्राप्तकालमिदं वाक्यमुवाच त्वरितो बली ॥ १ ॥
असकृन्निकृताः पूर्वं मत्स्यशाल्वेयकैः प्रभो ।
सूतेनैव च मत्स्यस्य कीचकेन पुनः पुनः ॥ २ ॥
बाधितो बंधुभिः सार्द्धं बलाद्बलवतां विभो ।
स कर्णमभ्युदीक्ष्याऽथ दुर्योधनमभाषत ॥ ३ ॥
असकृन्मत्स्यराज्ञा मे राष्ट्रं बाधितमोजसा ।
प्रणेता कीचकस्तस्य बलवानभवत्पुरा ॥ ४ ॥
क्रूरोऽमर्षी सुदुष्टात्मा भुवि प्रख्यातविक्रमः ।
निहतः स तु गंधर्वैः पापकर्मा नृशंसवान् ॥ ५ ॥

तीसवां अध्याय ॥ ३० ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! [पहले दुरात्मा कीचक ने मत्स्य और शाल्व देश की सेना को साथ लेकर भाई-बन्धुवों सहित त्रिगर्त देश के राजा सुशर्मा को कई बार हराया था।] इस समय उपयुक्त अवसर देखकर सुशर्मा ने कर्ण की ओर देखा और दुर्योधन से कहा—हे महाराज! मत्स्यनरेश विराट ने कीचक की सहायता से कई बार मेरे राज्य पर आक्रमण करके मुझे हराया है। इस समय वह दुरात्मा क्रूर कीचक बली गन्धर्वों के हाथ से मार डाला गया है ॥१।५॥

कोऽन्यः समर्थः पार्थस्य वेगं धारयितुं रणे ॥ २० ॥
ऋते शांतनवाद्भीष्मात्कृष्णाद्वा देवकीसुतात् ।
आचार्यप्रवराद्वाऽपि भारद्वाजान्महाबलात् ॥ २१ ॥
अस्त्रैरस्त्राणि संवार्य क्रीडंतौ भरतर्षभौ ।
चक्षूंपि सर्वभूतानां मोहयंतौ महाबलौ ॥ २२ ॥
प्राजापत्यं तथैवेंद्रमाग्नेयं रौद्रदारुणम् ।
कौबेरं वारुणं चैव याम्यं वायव्यमेव च ।
प्रयुंजानौ महात्मानौ समरे तौ विचेरतुः ॥ २३ ॥
विस्मितान्यथ भूतानि तौ दृष्ट्वा संयुगे तदा ।
साधु पार्थ महाबाहो साधु भीष्मेति चाऽब्रुवन् ॥ २४ ॥
नाऽयं युक्तो मनुष्येषु योऽयं संदृश्यते महान् ।
महास्त्राणां संप्रयोगः समरे भीष्मपार्थयोः ॥ २५ ॥
वैशम्पायन उवाच—एवं सर्वास्त्रविदुषोरस्त्रयुद्धमवर्त्तत ।
अस्त्रयुद्धे तु निर्वृत्ते शरयुद्धमवर्त्तत ॥ २६ ॥
अथ जिष्णुरुपावृत्य क्षुरधारेण कार्मुकम् ।
चकर्त्त भीष्मस्य तदा जातरूपपरिष्कृतम् ॥ २७ ॥
निमिषांतरमात्रेण भीष्मोऽन्यत्कार्मुकं रणे ।
समादाय महाबाहुः सज्यं चक्रे महारथः ।

अर्जुन से युद्ध करके भीष्म पितामह सचमुच बड़ा कठिन कार्य कर रहे थे। क्योंकि भीष्म बूढ़े थे, और अर्जुन थे नौजवान और फुर्तीले। श्रीकृष्ण, द्रोणाचार्य और कुरु पितामह [बालब्रह्मचारी] भीष्म के सिवा और कौन वीर अजेय अर्जुन के वेग को रोक सकता था ! ॥१७।२१॥

हे महाराज ! फिर वे दोनों कुरुकुल के वीर परस्पर अस्त्र-शस्त्र चलाकर युद्धक्रीड़ा करने लगे। उनके उस अद्भुत युद्ध और दिव्य अस्त्रों को देखकर लोगों के अचरज का ठिकाना न रहा। वे परस्पर प्राजापत्य, ऐन्द्र, आग्नेय, पाशुपत, कौबेर, वारुण, याम्य, वायव्य आदि दिव्य अस्त्रों का प्रयोग कर रहे थे। उस समय कोई "शाबाश अर्जुन!" कहता था, और कोई "धन्य भीष्म" कहता था। चारों ओर यही सुन पड़ता था कि हमने भीष्म और अर्जुन का सा दारुण युद्ध और कभी नहीं देखा ॥२३।२५॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! फिर सब अस्त्रों के ज्ञाता दोनों वीर परस्पर प्रहार करते हुए अपने-अपने युद्ध-कौशल और अस्त्र शिक्षा का परिचय देने लगे। इसी बीच में अर्जुन ने एक पैने

तस्मात्क्षिप्रं विनिर्यामो योजयित्वा वरूथिनीम्।
विभज्य चाप्यनीकानि यथा वा मन्यसेऽनघ ॥ १५ ॥
प्राज्ञो वा कुरुवृद्धोऽयं सर्वेषां नः पितामहः ।
आचार्यश्च यथा द्रोणः कृपः शारद्वतस्तथा ।
मन्यंते ते यथा सर्वे तथा यात्रा विधीयताम् ॥ १६ ॥
संमंत्र्य चाऽऽशु गच्छामः साधनार्थं महीपतेः ।
किं च नः पांडवैः कार्यं हीनार्थबलपौरुषैः ॥ १७ ॥
अत्यंतं वा प्रनष्टास्ते प्राप्ता वापि यमक्षयम् ।
यामो राजन्निरुद्विग्ना विराटनगरं वयम् ।
आदास्यामो हि गास्तस्य विविधानि वसूनि च ॥ १८ ॥
वैशम्पायन उवाच—ततो दुर्योधनो राजा वाक्यमादाय तस्य तत् ।
वैकर्त्तनस्य कर्णस्य क्षिप्रमाज्ञापयत्स्वयम् ॥ १९ ॥
शासने नित्यसंयुक्तं दुःशासनमनंतरम् ।
सह वृद्धैस्तु संमंत्र्य क्षिप्रं योजय वाहिनीम् ॥ २० ॥
यथोद्देशं च गच्छामः सहितास्तत्र कौरवैः ।
सुशर्मा च यथोद्दिष्टं देशं यातु महारथः ।
त्रिगर्तैः सहितो राजा समग्रबलवाहनः ॥ २१ ॥
प्रागेव हि सुसंवीतो मत्स्यस्य विषयं प्रति ।
जघन्यतो वयं तत्र यास्यामो दिवसांतरे ।
विषयं मत्स्यराजस्य सुसमृद्धं सुसंहताः ॥ २२ ॥
ते यांतु सहितास्तत्र विराटनगरं प्रति ।
क्षिप्रं गोपान्समासाद्य गृह्णंतु विपुलं धनम् ॥ २३ ॥

धन, बल और पौरुष से हीन पाण्डवों को व्यर्थ खोजने का क्या प्रयोजन है ? वे सदा के लिए देश छोड़कर भाग गये हैं, अथवा यमपुरी पहुँच गये हैं। इसलिए हम लोग बेखटके पाण्डवों का पीछा छोड़कर विराट के नगर पर आक्रमण कर सकते हैं। [वहा अवश्य हमारी जीत होगी और] हम धन, रत्न, गोधन आदि लूट लावेंगे ॥११।१८॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! कर्ण की सम्मति को पसन्द करके राजा दुर्योधन ने अपने भाई दुःशासन को तुरन्त आज्ञा दी कि तुम लोग

दुर्योधनश्चापि तमुग्रतेजाः पार्थश्च दुर्योधनमेकवीरः ।
अन्योन्यमाजौ पुरुषप्रवीरौ समौ समाजग्मतुराजमीढौ ॥ ६ ॥
ततः प्रभिन्नेन महागजेन महीधराभेन पुनर्विकर्णः ।
रथैश्चतुर्भिर्गजपादरक्षैः कुंतीसुतं जिष्णुमथाऽभ्यधावत् ॥ ७ ॥
तमापतंतं त्वरितं गजेंद्रं धनंजयः कुंभविभागमध्ये ।
आकर्णपूर्णेन महायसेन बाणेन विव्याध महाजवेन ॥ ८ ॥
पार्थेन सृष्टः स तु गार्ध्रपत्र आपुंखदेशात्प्रविवेश नागम् ।
विदार्य शैलप्रवरं प्रकाशं यथाऽशनिः पर्वतमिंद्रसृष्टः ॥ ९ ॥
शरप्रतप्तः स तु नागराजः प्रवेपितांगो व्यथितांतरात्मा ।
संसीदमानो निपपात मह्यां वज्राहतं श्रृंगमिवाऽचलस्य ॥ १० ॥
निपातिते दंतिवरे पृथिव्यां त्रासाद्विकर्णः सहसाऽवतीर्य ।
तूर्णं पदान्यष्टशतानि गत्वा विविंशतेः स्यंदनमारुरोह ॥ ११ ॥
निहत्य नागं तु शरेण तेन वज्रोपमेनाऽद्रिवरांबुदाभम् ।
तथाविधेनैव शरेण पार्थो दुर्योधनं वक्षसि निर्बिभेद ॥ १२ ॥
ततो गजे राजनि चैव भिन्ने भग्ने विकर्णे च सपादरक्षे ।
गांडीवमुक्तैर्विशिखैः प्रणुन्नास्ते योधमुख्याः सहसाऽपजग्मुः॥ १३ ॥

क्रोध के मारे अधीर हो उठे।] तब वे गाण्डीव धनुष पर [विष और अग्नि के समान दुर्द्धर्ष प्राणनाशक] बाण चढ़ाकर दुर्योधन पर प्रहार करने लगे। दुर्योधन भी उन पर लगातार बाण बरसाने लगा। इस प्रकार जिस समय अर्जुन और दुर्योधन से युद्ध हो रहा था उसी समय वीर विकर्ण भी पर्वत-सदृश ऊंचे एक मस्त हाथी पर चढ़कर बड़े वेग से अर्जुन की ओर चला। इस हाथी के चारों पावों की रक्षा के लिए एक-एक रथ तैनात था। अर्जुन ने इस हाथी के मस्तक को ताककर, कान तक धनुष की डोरी खींचकर, एक बाण चला दिया। इन्द्र के हाथ से छूटा हुआ वज्र जैसे किसी पर्वत को फाड़ डाले वैसे ही अर्जुन का चलाया हुआ वह बाण उस हाथी के मस्तक को फाड़कर पृथ्वी में घुस गया ॥५।८॥

उस प्रहार से वह हाथी बहुत ही पीड़ित होकर कांपकर उसी समय पृथ्वी पर गिर पड़ा और मर गया। यह देखकर विकर्ण बहुत ही भयभीत हुआ। वह हाथी की पीठ पर से कूदकर, शीघ्रता से एक सौ आठ पग भागकर, विविंशति के रथ पर सवार हो गया। फिर अर्जुन ने वैसा ही एक बाण मारकर दुर्योधन के हृदय में घाव कर दिया। अब वे अन्य योद्धाओं पर लगातार बाण बरसाने लगे। योद्धा लोग अर्जुन के बाणों से घायल होकर वहां से इधर-उधर भागने लगे। इन अद्भुत कर्मों को देख-सुनकर

ततस्त्रयोदशस्यांऽते तस्य वर्षस्य भारत ।
सुशर्मणा गृहीतं तद्गोधनं तरसा बहु ॥ ४ ॥
ततो जवेन महता गोपः पुरमथाऽव्रजत् ।
स दृष्ट्वा मत्स्यराजं च रथात्प्रस्कंद्य कुंडली ॥ ५ ॥
शूरैः परिवृतं योधैः कुंडलांगदधारिभिः ।
संवृतं मंत्रिभिः सार्द्धं पांडवैश्च महात्मभिः ॥ ६ ॥
तं सभायां महाराजमासीनं राष्ट्रवर्द्धनम् ।
सोऽब्रवीदुपसंगम्य विराटं प्रणतस्तदा ॥ ७ ॥
अस्मान्युधि विनिर्जित्य परिभूय सबांधवान् ।
गवां शतसहस्राणि त्रिगर्त्ताः कालयंति ते ॥ ८ ॥
तान्परीप्सस्व राजेन्द्र मा नेशुः पशवस्तव ।
तच्छ्रुत्वा नृपतिः सेनां मत्स्यानां समयोजयत् ॥ ९ ॥
रथनागाश्वकलिलां पत्तिध्वजसमाकुलाम् ।
राजानो राजपुत्राश्च तनुत्राण्यथ भेजिरे ॥ १० ॥
भानुमंति विचित्राणि शूरसेव्यानि भागशः ।
स वज्रायसगर्भं तु कवचं तत्र कांचनम् ॥ ११ ॥
विराटस्य प्रियो भ्राता शतानीकोऽभ्यहारयत् ।

[भाइयों सहित] मारा गया तब राजा विराट को शत्रुमान-मर्दन करनेवाले पाण्डवों का ही भरोसा रह गया। हे राजा जनमेजय! जिस समय पाण्डवों के अज्ञातवास का वर्ष समाप्त हुआ उसी समय त्रिगर्त्त देश का राजा सुशर्मा विराटनगरी में पहुँचकर उनके गोधन को छीनने लगा। तब गोपाल राजसभामें गया।१।५

वहा महाप्रभावशाली मत्स्यराज बैठे हुए थे। उनके आस-पास शूरवीर योद्धा, मन्त्री और पुरुषश्रेष्ठ पाचों पाण्डव अपने-अपने स्थान पर बैठे थे। सभा में बैठे हुए राज्यरक्षक महाराज विराट के पास पहुँ-कर, प्रणाम करके, गोपाल ने कहा—हे राजेन्द्र! त्रिगर्त्त देश के सिपाही हमें हराकर आपकी असंख्य गायें हरे लिये जा रहे हैं। आप गायों को छुड़ाना चाहते हों तो कोई उपाय कीजिए। गोपाल के मुँह से यह सुनते ही राजा ने हाथी, घोड़े, रथ, पैदल, इन चार अङ्गोंवाली मत्स्यदेश की सेना को सजने की आज्ञा दे दी। राजा और राजपुत्र शूरों के योग्य कवच आदि पहनने लगे ॥६।१०॥

मत्स्यराज के प्यारे भाई शतानीक ने फौलाद का बना सुवर्ण का कामदार कवच पहना। उनके छोटे भाई मदिराक्ष ने सुवर्ण के पत्तरों से मढ़ा हुआ कवच पहना। वह कवच इतना दृढ़ था कि किसी शस्त्र की

सोऽमृष्यमाणो वचसाऽभिमृष्टो महारथेनाऽतिरथस्तरस्वी ।
पर्याववर्ताऽथ रथेन वीरो भोगी यथा पादतलाभिमृष्टः ॥ २ ॥
तं प्रेक्ष्य कर्णः परिवर्त्तमानं निवर्त्य संस्तभ्य च विद्धगात्रम्।
दुर्योधनस्योत्तरतोऽभ्यगच्छत्पार्थं नृवीरो युधि हेममाली ॥ ३ ॥
भीष्मस्ततः शांतनवो विवृत्य हिरण्यकक्षस्त्वरयाऽभिषंगी।
दुर्योधनं पश्चिमतोऽभ्यरक्षत्पार्थान्महाबाहुरधिज्यधन्वा ॥ ४ ॥
द्रोणः कृपश्चैव विविंशतिश्च दुःशासनश्चैव विवृत्य शीघ्रम् ।
सर्वे पुरस्ताद्वितत्तोरुचापा दुर्योधनार्थं त्वरिताऽभ्युपेयुः ॥ ५ ॥
स तान्यनीकानि निवर्त्तमानान्यालोक्य पूर्णौघनिभानि पार्थः ।
हंसो यथा मेघमिवाऽऽपतंतं धनंजयः प्रत्यपतत्तरस्वी ॥ ६ ॥
ते सर्वतः संपरिवार्य पार्थमस्त्राणि दिव्यानि समाददानाः।
ववर्षुरभ्येत्य शरैः समंतान्मेघा यथा भूधरमंबुवेगैः ॥ ७ ॥
ततोऽस्त्रमस्त्रेण निवार्य तेषां गांडीवधन्वा कुरुपुंगवानाम् ।
संमोहनं शत्रुसहोऽन्यदस्त्रं प्रादुश्चकारैंद्रिरपारणीयम् ॥ ८ ॥
ततो दिशश्चाऽनुदिशो विवृत्य शरैः सुधारैर्निशितैः सुपुत्रैः ।
गांडीवघोषेण मनांसि तेषां महाबलः प्रव्यथयांचकार ॥ ९ ॥

पांव की चोट नहीं सह सकता वैसे ही अर्जुन के तिरस्कारपूर्ण वचन दुर्योधन से नहीं सहे गये । कर्ण ने बहुत ही घायल दुर्योधन को फिर युद्ध के लिए लौटते देखा । तब उसने स्वस्थ होकर, दुर्योधन के उत्तर ओर से जाकर, अर्जुन पर आक्रमण किया । महारथी भीष्म भी लौटकर, दुर्योधन के पश्चिम ओर पहुंचकर, उसकी रक्षा करने लगे ॥१।४॥

द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, विविंशति और दुःशासन आदि योद्धा भी दुर्योधन की सहायता के लिए, धनुष बाण ले-लेकर, शीघ्र ही अर्जुन के सामने पहुंच गये। हंस (सूर्य) जैसे आती हुई मेघ-माला के सामने उपस्थित हो वैसे ही महाबलशाली कौरव योद्धाओं की सेना के प्रभाव को फिरते देखकर अर्जुन उत्साह के साथ उनके सामने आये । जैसे मेघ चारों ओर से घेरकर पर्वत पर जल बरसाते हैं वैसे ही वह कौरवों की सेना अर्जुन को चारों ओर से घेरकर उन पर लगातार बाणों और शस्त्रों की वर्षा करने लगी ।५।७।

अब महावीर अर्जुन ने एक अस्त्र चलाकर कौरवों के अस्त्र-शस्त्रों को निष्फल कर दिया । फिर उन्होंने अव्यर्थ सम्मोहन अस्त्र प्रकट किया । उस अस्त्र का प्रयोग करते ही सब दिशाओं में बाण ही बाण देख पड़ने लगे । अर्जुन के उस गाण्डीव धनुष की प्रचण्ड टङ्कार से कौरवों के हृदय व्यथित होने लगे । फिर अर्जुन ने भयानक शब्दवाला महाशङ्ख

एतेषामपि दीयंतां रथा ध्वजपताकिनः ।
कवचानि च चित्राणि दृढानि च मृदूनि च ॥ २२ ॥
प्रतिमुंचंतु गात्रेषु दीयंतामायुधानि च ।
वीरांगरूपाः पुरुषा नागराजकरोपमाः ॥ २३ ॥
नेमे जातु न युद्ध्येरन्निति मे धीयते मतिः ।
एतच्छ्रुत्वा तु नृपतेर्वाक्यं त्वरितमानसः ।
शतानीकस्तु पार्थेभ्यो रथान्राजन्समादिशत् ॥ २४ ॥
सहदेवाय राज्ञे च भीमाय नकुलाय च ।
तान्प्रहृष्टांस्ततः सूता राजभक्तिपुरस्कृताः ॥ २५ ॥
निर्दिष्टा नरदेवेन रथाञ्शीघ्रमयोजयन् ।
कवचानि विचित्राणि मृदूनि च दृढानि च ॥ २६ ॥
विराटः प्रादिशद्यानि तेषामक्लिष्टकर्मणाम् ।
तान्यामुच्य शरीरेषु दंशितास्ते परंतपाः ॥ २७ ॥
रथान्हयैःसुसंपन्नानास्थाय च नरोत्तमाः ।
निर्ययुर्मुदिताः पार्थाः शत्रुसंघावमर्दिनः ॥ २८ ॥
तरस्विनश्छन्नरूपाः सर्वे युद्धविशारदाः ।
रथान्हेमपरिच्छन्नानास्थाय च महारथाः ॥ २९ ॥
विराटमन्वयुः पार्थाः सहिताः कुरुपुंगवाः ।
चत्वारो भ्रातरः शूराः पांडवाः सत्यविक्रमाः ॥ ३० ॥
भीमाश्च मत्तमातंगाः प्रभिन्नकरटामुखाः ।

हे भाई ! कङ्क, बल्लव, ग्रन्थिक और तन्तिपाल भी युद्ध कर सकते हैं । तुम इन्हें भी ध्वजा-पताका आदि से युक्त रथ और अनेक प्रकार के अस्त्र-शस्त्र दो । ये भी हम लोगों की तरह विचित्र, सुदृढ होने पर भी पहनने में कष्ट न देनेवाले, कवच पहन लें । राजा विराट की आज्ञा पाकर शतानीक ने उसी समय पाण्डवों के लिए सुन्दर रथ मँगा दिये । राजभक्त सारथी लोग उसी समय राजा की आज्ञा से रथ सजाकर ले आये । शत्रुदलनकारी, युद्धविशारद, परम तेजस्वी, अपने को छिपाये हुए, कुरुकुलतिलक, चारों पाण्डव राजा की आज्ञा से तुरन्त रथों पर चढ़कर प्रसन्नता के साथ चले ॥२१।३०॥

पर्वत ऐसे ऊँचे, बली, भयानक आकारवाले, मस्त, साठ वर्ष की आयुवाले सधे हुए हज़ार हाथी

अथ सप्तषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६७ ॥

वैशम्पायन उवाच—ततो विजित्य संग्रामे कुरून्स वृषभेक्षणः ।
स मानयामास तदा विराटस्य धनं महत् ॥ १ ॥
गतेषु च प्रभग्नेषु धार्तराष्ट्रेषु सर्वशः ।
वनान्निष्क्रम्य गहनाद्बहवः कुरुसैनिकाः ॥ २ ॥
भयात्संत्रस्तमनसः समाजग्मुस्ततस्ततः ।
मुक्तकेशास्त्वदृश्यंत स्थिताः प्रांजलयस्तदा ॥ ३ ॥
क्षुत्पिपासापरिश्रांता विदेशस्था विचेतसः ।
ऊचुः प्रणम्य संभ्रांताः पार्थ किं करवाम ते ॥ ४ ॥
अर्जुन उवाच—स्वस्ति व्रजत वो भद्रं न भेतव्यं कथंचन ।
नाऽहमार्ताञ्जिघांसामि भृशमाश्वासयामि वः॥ ५ ॥
वैशम्पायन उवाच—तस्य तामभयां वाचं श्रुत्वा योधाः समागताः।
आयुःकीर्तियशोदाभिस्तमाशीर्भिरनंदयन् ॥ ६ ॥
ततोऽर्जुनं नागमिव प्रभिन्नमुत्सृज्य शत्रून्विनिवर्तमानम् ।
विराटराष्ट्राभिमुखं प्रयांतं नाशक्नुवंस्तं कुरवोऽभियातुम्॥ ७ ॥
ततः स तन्मेघमिवाऽऽपतंतं विद्राव्य पार्थः कुरुमेघसैन्यम् ।
मत्स्यस्य पुत्रं द्विषतां निहंता वचोऽब्रवीत्संपरिरभ्य भूयः॥ ८ ॥

सड़सठवाँ अध्याय ॥ ६७ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! संग्राम में इस तरह कौरवों को हराकर अर्जुन ने महाराज विराट की गायें लौटा लीं । कौरवों के भाग जाने पर कुरुसेना के कुछ विदेशी सिपाही व्याकुल हुए-हुए, पास के वन से निकलकर, हाथ जोड़कर अर्जुन के पास आये । वे भयभीत हुए-हुए थे । उनके बाल बिखरे हुए थे । वे भूख और प्यास के मारे व्याकुल हो रहे थे । उन्होंने [शरण में आकर] कहा—हे अर्जुन ! हम आपके अनुगत हैं । आज्ञा दीजिए, हम आपकी क्या सेवा करें ? ॥१।४॥

अर्जुन ने कहा—मैं तुम लोगों को अभय देता हूँ । तुम्हारा भला हो । मैं दुखी को और शरणागत को कभी नहीं मारता ॥५॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! अब उन सैनिकों ने अर्जुन से अभयदान पाकर प्रणाम किया और आशीर्वाद दिया कि तुम्हारी आयु और यश बढ़े । इस प्रकार विमुख और शरणागत शत्रुओं को अभय देकर, मस्त हाथी की तरह, विजयी अर्जुन विराटनगरी की ओर चले । फिर कौरवों की सेना के वीरों को अर्जुन पर आक्रमण करने की हिम्मत नहीं पड़ी । मेघमाला के समान उमड़ी हुई कौरव-सेना का शत्रुदमन अर्जुन ने [आँधी की तरह] भगाकर

तेषां समागमो घोरस्तुमुलो लोमहर्षणः ।
घ्नतां परस्परं राजन्यमराष्ट्रविवर्द्धनः ॥ ४ ॥
देवासुरसमो राजन्नासीत्सूर्येऽवलंबति ।
पदातिरथनागेंद्रहयारोहबलौघवान् ॥ ५ ॥
अन्योऽन्यमभ्यापततां निघ्नतां चेतरेतरम् ।
उदतिष्ठद्रजो भौमं न प्राज्ञायत किंचन ॥ ६ ॥
पक्षिणश्चाऽपतन्भूमौ सैन्येन रजसाऽऽवृताः ।
इषुभिर्व्यतिसर्पद्भिरादित्योऽन्तरधीयत ॥ ७ ॥
खद्योतैरिव संयुक्तमंतरिक्षं व्यराजत ।
रुक्मपृष्ठानि चापानि व्यतिषिक्तानि धन्विनाम् ॥ ८ ॥
पततां लोकवीराणां सव्यदक्षिणमस्यताम् ।
रथा रथैः समाजग्मुः पादातैश्च पदातयः ॥ ९ ॥
सादिनः सादिभिश्चैव गजैश्चापि महागजाः ।
असिभिः पट्टिशैः प्रासैः शक्तिभिस्तोमरैरपि ॥ १० ॥
संरब्धाः समरे राजन्निजघ्नुरितरेतरम् ।
निघ्नंतः समरेऽन्योन्यं शूराः परिघबाहवः ॥ ११ ॥
न शेकुरभिसंरब्धाः शूरान्कर्तुं पराङ्मुखान् ।
कृत्तोत्तरोष्ठं सुनसं कृत्तकेशमलंकृतम् ॥ १२ ॥

गोधन हरकर ले जानेवाले, त्रिगर्तदेश के वीरों पर आक्रमण किया। गोधन को ले जाने की इच्छा सब को थी। इसी से त्रिगर्त और मत्स्यदेश की सेना संग्राम करने लगी। दोनों ओर के युद्धचतुर प्रधान-प्रधान योद्धा, मस्त हाथियों पर चढ़े हुए, बारम्बार अंकुश मारकर उन्हें प्रबल वेग से बढ़ाते हुए शत्रु सेना की ओर चले। हे महाराज! सूर्य अस्ताचल की ओर जा रहे थे; इसी समय दोनों ओर की सेना परस्पर मारने और जय पाने की आशा से यमपुर को जीवों से भरनेवाला, रोमाञ्चकारी, देवासुर-संग्राम के समान, घोर युद्ध करने लगी। सैनिकों के परस्पर आक्रमण से बड़ी धूल उड़ी। धूल में कुछ सूझ न पड़ने के कारण पक्षी पृथ्वी पर गिरने लगे। बाणों की वर्षा से सूर्यमण्डल छिप गया। उस समय ऐसा जान पड़ने लगा कि मानों आकाशमण्डल में जुगनू से चमक रहे हैं। धनुर्द्धर वीर योद्धा दाहने और बायें सुवर्णमंडित धनुशों को चढ़ाने लगे। रथ पर सवार लोग रथ के सवारों से, पैदल पैदलों से, घोड़ों के सवार घुड़सवारों से और हाथियों के सवार हाथियों के सवारों से युद्ध करने लगे। हे राजेन्द्र! पराक्रमी वीर तलवार, कुठार,

तस्माद्गच्छंतु मे योधा बलेन महता वृताः ।
उत्तरस्य परीप्सार्थं ये त्रिगर्तैरविक्षताः ॥ ११ ॥
हयांश्च नागांश्च रथांश्च शीघ्रं पदातिसंघांश्च ततः प्रवीरान् ।
प्रस्थापयामास सुतस्य हेतोर्विचित्रशस्त्राभरणोपपन्नान् ॥ १२ ॥
एवं स राजा मत्स्यानां विराटो वाहिनीपतिः ।
व्यादिदेशाऽथ तां क्षिप्रं वाहिनीं चतुरंगिणीम् ॥ १३ ॥
कुमारमाशु जानीत यदि जीवति वा न वा ।
यस्या यंता गतः षंढो मन्येऽहं स न जीवति ॥ १४ ॥
वैशम्पायन उवाच–तमब्रवीद्धर्मराजो विहस्य विराटराजं तु भृशाभितप्तम् ।
बृहन्नलासारथिश्चेन्नरेंद्र परे न नेष्यंति तवाऽद्य गास्ताः ॥ १५ ॥
सर्वान्महीपान्सहितान्कुरूंश्च तथैव देवासुरसिद्धयक्षान् ।
अतीव जेतुं समरे सुतस्ते स्वनुष्ठितः सारथिना हि तेन ॥ १६ ॥
वैशम्पायन उवाच—अथोत्तरेण प्रहिता दूतास्ते शीघ्रगामिनः ।
विराटनगरं प्राप्य विजयं समवेदयन् ॥ १७ ॥
राज्ञस्तत्सर्वमाचख्यौ मंत्री विजयमुत्तमम् ।
पराजयं कुरूणां चाप्युपायांतं तथोत्तरम् ॥ १८ ॥

पड़ता है कि कौरव लोग त्रिगर्त-नरेश के भाग जाने की सूचना पाकर कभी वहां नहीं ठहरेंगे अच्छा, जो लोग इस युद्ध से लौटकर आये हैं और घायल नहीं हैं वे योद्धा, उत्तर के प्राणों की रक्षा के लिए, बहुत सी सेना लेकर अभी जायँ ॥९।११॥

यह आज्ञा देकर मत्स्यराज विराट ने सैनिकों से कहा—तुम हाथी, घोड़े, रथ आदि पर सवार होकर अभी युद्ध-भूमि में जाकर देखो कि उत्तर कुमार जीवित हैं या नहीं। इसी समय आकर मुझे यह सूचना दो। मैं तो समझता हूं कि जब एक नपुंसक सारथी बनकर गया है तब अवश्य ही कुमार अब जीते न होंगे ॥१२।१४॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! अब विराट के ये वचन सुनकर धर्मराज युधिष्ठिर मुसकाये और बोले—हे महाराज! बृहन्नला राजकुमार का सारथी बनकर गया है तो कभी कोई आपकी गायें हरकर नहीं ले जा सकता। जब बृहन्नला सारथी है तब राजकुमार उत्तर के लिए योद्धाओं समेत कौरवों को जीत लेना कुछ कठिन काम नहीं; इस दशा में यदि देवता, असुर, सिद्ध और यक्ष भी सामना करेंगे तो कुँअर उनके भी छक्के छुड़ा देंगे ॥१५।१६॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! इसी बीच में उत्तर के भेजे हुए दूतों ने राजसभा में आकर राजकुमार की जीत का समाचार दिया।

लक्षयित्वा त्रिगर्तानां तौ प्रविष्टौ रथव्रजम् ।
अग्रतः सूर्यदत्तश्च मदिराक्षश्च पृष्ठतः ॥ २१ ॥
विराटस्तत्रसंग्रामे हत्वा पंचशतान्रथान् ।
हयानां च शतान्यष्टौ हत्वा पंच महारथान् ॥ २२ ॥
चरन्स विविधान्मार्गान्रथेन रथसत्तमः ।
त्रिगर्तानां सुशर्माणमार्च्छद्रुक्मरथं रणे ॥ २३ ॥
तौ व्यवाहरतां तत्र महात्मानौ महाबलौ ।
अन्योन्यमभिगर्जंतौ गोष्ठेषु वृषभाविव ॥ २४ ॥
ततो राजा त्रिगर्तानां सुशर्मा युद्धदुर्मदः ।
मत्स्यं समीयाद्राजानं द्वैरथेन नरर्षभः ॥ २५ ॥
ततो रथाभ्यां रथिनौ व्यतीयतुरमर्षणौ ।
शरान्व्यसृजतां शीघ्रं तोयधारा घना इव ॥ २६ ॥
अन्योऽन्यं चापि संरब्धौ विचेरतुरमर्षणौ ।
कृतास्त्रौ निशितैर्बाणैरसिशक्तिगदाभृतौ ॥ २७ ॥
ततो राजा सुशर्माणं विव्याध दशभिः शरैः ।
पंचभिः पंचभिश्चाऽस्य विव्याध चतुरो हयान् ॥ २८ ॥
तथैव मत्स्यराजानं सुशर्मा युद्धदुर्मदः ।
पंचाशद्भिः शितैर्बाणैर्विव्याध परमास्त्रवित् ॥ २९ ॥

और विशालाक्ष ने चार सौ सैनिकों को मारा। इस प्रकार उन दोनों वीरों ने शत्रुओं के रथों को खोजते हुए सेना के भीतर घुसकर उसके छक्के छुड़ा दिये। वीर लोग विपक्षी वीरों के बाल खींचकर, उनके रथों पर आक्रमण कर, घोर संग्राम कर रहे थे॥१२।२०॥

सूर्यदत्त राजा विराट के आगे थे और मदिराक्ष पीछे। राजा विराट ने शत्रुपक्ष के पांच सौ रथी। पांच महारथी और आठ सौ घुड़सवार मारे। इस तरह चारों ओर फिरकर शत्रुसेना का संहार करते हुए राजा विराट ने सुवर्णमण्डित रथ पर चढ़े हुए सुशर्मा पर आक्रमण किया। वे दोनों महाबली पराक्रमी वीर, मैदान में दो सांड़ों के समान, परस्पर स्पर्धा-पूर्वक युद्ध करने लगे। अब युद्धचतुर सुशर्मा मत्स्य-राज विराट को ललकारकर परस्पर युद्ध करने लगा। वर्षाकाल के बादलों के समान गरज-गरजकर वे दोनों वीर शक्ति, खड्ग आदि शस्त्रों की ओर बाणों की वर्षा करने लगे। राजा विराट ने सुशर्मा को दस बाण और उसके घोड़ों को पांच-पांच बाण मारे। सब शस्त्रों के ज्ञाता युद्धनिपुण सुशर्मा ने भी विराट के ऊपर पांच सौ बाण चलाये। हे राजेन्द्र! इस

मरुद्गणैः परिवृतः साक्षादपि मरुत्पतिः ।
कोऽन्यो बृहन्नलायास्तान्प्रतियुध्येत संगतान् ॥ ४२ ॥
यस्य बाहुबले तुल्यो न भूतो न भविष्यति ।
अतीव समरं दृष्ट्वा हर्षो यस्योपजायते . ॥ ४३ ॥
योऽजयत्संगतान्सर्वान्ससुरासुरमानवान् ।
तादृशेन सहायेन कस्मात्स न विजेष्यते ॥ ४४ ॥
विराट उवाच—बहुशः प्रतिषिद्धोऽसि न च वाचं नियच्छसि ।
नियंता चेन्न विद्येत न कश्चिद्धर्ममाचरेत् ॥ ४५ ॥
वैशम्पायन उवाच—ततः प्रकुपितो राजा तमक्षेणाऽहनद्भृशम् ।
मुखे युधिष्ठिरं कोपान्नैवमित्येव भर्त्सयन् ॥ ४६ ॥
बलवत्प्रतिविद्धस्य नस्तः शोणितमाव्रहत् ।
तदप्राप्तं महीं पार्थः पाणिभ्यां प्रत्यगृह्णत ॥ ४७ ॥
अवैक्षत स धर्मात्मा द्रौपदीं पार्श्वतः स्थिताम् ।
सा ज्ञात्वा तमभिप्रायं भर्तुश्चित्तवशानुगा ॥ ४८ ॥
पात्रं गृहीत्वा सौवर्णं जलपूर्णमनिंदिता ।
तच्छोणितं प्रत्यगृह्णाद्यत्प्रसुस्राव नस्ततः ॥ ४९ ॥

और अन्य महारथी यदि साक्षात् इन्द्र को भी साथ लेकर समरभूमि में आवें तो बृहन्नला उनका सामना कर सकता है । बृहन्नला के सिवा और कोई उन महारथियों से युद्ध नहीं कर सकता । बाहु-बल में बृहन्नला के समान वीर न कोई हुआ है और न होगा। अत्यन्त घोर संग्राम में बृहन्नला का हृदय आनन्दित और उत्साहित हो उठता है । जो मनुष्य सब देवताओं, दानवों और मनुष्यों को अकेला ही एक साथ सहज ही जीत सकता है उसकी सहायता पाकर युद्ध में विजयी कौन नहीं हो सकता ? ॥४१।४४॥

"हे कङ्क ! मैं बार-बार तुम्हें मना करता हूँ, तो भी तुम शांत नहीं रहते । जान पड़ता है कि कोई दण्ड देनेवाला न होने से कोई भी धर्ममार्ग में नहीं चलता । देखो, मैं फिर कहता हूँ, तुम ऐसी बात अब कभी न कहना।" ॥४५॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! यों डपटकर विराट ने अपने हाथ के पासे धर्मराज के मुँह पर खींचकर मारे । पासे लगने से युधिष्ठिर की नाक से रक्त की धारा बह चली । परन्तु वह रक्त पृथ्वी पर नहीं गिरने पाया, युधिष्ठिर ने उसे अपने हाथ में ले लिया । द्रौपदी पास ही खड़ी थीं । युधिष्ठिर ने उनकी ओर देखा । वे उनका अभिप्राय समझकर उसी समय जल से भरा सुवर्ण का बर्तन ले आईं । उन्होंने जल में वह रक्त धो दिया ॥४६।४९॥

लक्षयित्वा त्रिगर्तानां तौ प्रविष्टौ रथव्रजम् ।
अग्रतः सूर्यदत्तश्च मदिराक्षश्च पृष्ठतः ॥ २१ ॥
विराटस्तत्रसंग्रामे हत्वा पंचशतान्रथान् ।
हयानां च शतान्यष्टौ हत्वा पंच महारथान् ॥ २२ ॥
चरन्स विविधान्मार्गान्रथेन रथसत्तमः ।
त्रिगर्तानां सुशर्माणमार्च्छद्रुक्मरथं रणे ॥ २३ ॥
तौ व्यवाहरतां तत्र महात्मानौ महाबलौ ।
अन्योन्यमभिगर्जंतौ गोष्ठेषु वृषभाविव ॥ २४ ॥
ततो राजा त्रिगर्तानां सुशर्मा युद्धदुर्मदः ।
मत्स्यं समीयाद्राजानं द्वैरथेन नरर्षभः ॥ २५ ॥
ततो रथाभ्यां रथिनौ व्यतीयतुरमर्षणौ ।
शरान्व्यसृजतां शीघ्रं तोयधारा घना इव ॥ २६ ॥
अन्योऽन्यं चापि संरब्धौ विचेरतुरमर्षणौ ।
कृतास्त्रौ निशितैर्बाणैरसिशक्तिगदाभृतौ ॥ २७ ॥
ततो राजा सुशर्माणं विव्याध दशभिः शरैः ।
पंचभिः पंचभिश्चाऽस्य विव्याध चतुरो हयान् ॥ २८ ॥
तथैव मत्स्यराजानं सुशर्मा युद्धदुर्मदः ।
पंचाशद्भिः शितैर्बाणैर्विव्याध परमास्त्रवित् ॥ २९ ॥

और विशालाक्ष ने चार सौ सैनिकों को मारा। इस प्रकार उन दोनों वीरों ने शत्रुओं के रथों को खोजते हुए सेना के भीतर घुसकर उसके छक्के छुड़ा दिये। वीर लोग विपक्षी वीरों के बाल खींचकर, उनके रथों पर आक्रमण कर, घोर संग्राम कर रहे थे ॥१२।२०॥

सूर्यदत्त राजा विराट के आगे थे और मदिराक्ष पीछे। राजा विराट ने शत्रुपक्ष के पांच सौ रथी। पांच महारथी और आठ सौ घुड़सवार मारे। इस तरह चारों ओर फिरकर शत्रुसेना का संहार करते हुए राजा विराट ने सुवर्णमण्डित रथ पर चढ़े हुए सुशर्मा पर आक्रमण किया। वे दोनों महाबली पराक्रमी वीर, मैदान में दो सांड़ों के समान, परस्पर स्पर्धापूर्वक युद्ध करने लगे। अब युद्धचतुर सुशर्मा मत्स्यराज विराट को ललकारकर परस्पर युद्ध करने लगा। वर्षाकाल के बादलों के समान गरज-गरजकर वे दोनों वीर शक्ति, खड्ग आदि शस्त्रों की और बाणों की वर्षा करने लगे। राजा विराट ने सुशर्मा को दस बाण और उसके घोड़ों को पांच-पांच बाण मारे। सब शस्त्रों के ज्ञाता युद्धनिपुण सुशर्मा ने भी विराट के ऊपर पांच सौ बाण चलाये। हे राजेन्द्र ! इस

अवगाढा द्विषंतो मे सुखो वातोऽभिवाति माम् ।
यस्त्वं धनमथाऽजैषीः कुरुभिर्ग्रस्तमाहवे ॥ ७५ ॥
तेषां भयाभिपन्नानां सर्वेषां बलशालिनाम् ।
नूनं प्रकाल्य तान्सर्वांस्त्वया युधि नरर्षभ ।
आच्छिन्नं गोधनं सर्वं शार्दूलेनाऽऽमिषं यथा ॥ ७६ ॥

इति श्रीमन्महाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोमहे विराटोत्तरसंवादे अष्टषष्टितमोऽध्याय. ॥६८॥

सब शस्त्रधारियों में श्रेष्ठ, महाशूर, अश्वत्थामा से तुम कैसे लड़े ? युद्ध-भूमि में जिन्हें देखकर योद्धा लोग उस व्यापारी की तरह सन्नाटे में आ जाते हैं जिसका सर्वस्व लुट गया हो, उन कृपाचार्य से तुम कैसे लड़े ? जो बाण से पर्वत को तोड़ सकते हैं उन राजपुत्र दुर्योधन से तुमने कैसे युद्ध किया ? जो हो, महापराक्रमी कौरव मेरी सब गायें हर ले गये थे; मांसभोजी सिंह जिस तरह शिकार को छीन लेता है उसी तरह तुम युद्ध में उन्हें हराकर गायों को फेर लाये । बड़ी प्रसन्नता की बात है कि बलवान् शत्रुओं को नीचा देखना पड़ा ॥७३।७६॥

—०—

विराटपर्व का अड़सठवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ६८ ॥

अथ एकोनसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ६९ ॥

उत्तर उवाच—न मया निर्जिता गावो न मया निर्जिताः परे ।
कृतं तत्सकलं तेन देवपुत्रेण केनचित् ॥ १ ॥
स हि भीतं द्रवंतं मां देवपुत्रो न्यवर्त्तयत् ।
स चाऽतिष्ठद्रथोपस्थे वज्रसन्नहनो युवा ॥ २ ॥
तेन ता निर्जिता गावः कुरवश्च पराजिताः ।
तस्य तत्कर्म वीरस्य न मया तात तत्कृतम् ॥ ३ ॥
स हि शारद्वतं द्रोणं द्रोणपुत्रं च षड्रथान् ।
सूतपुत्रं च भीष्मं च चकार विमुखाञ्शरैः ॥ ४ ॥

उनहत्तरवां अध्याय ॥ ६९ ॥

उत्तर ने कहा—हे पिताजी ! मैंने स्वयं न तो उन शत्रुओं को परास्त किया और न मैं गायें ही लौटाकर लाया हूं । एक देवपुत्र ने आकर यह अद्भुत काम किया है । मैं शत्रुसेना से भयभीत होकर भागा था; उन देवपुत्र ने आकर मुझे रोका । उन्होंने स्वयं रथ पर बैठकर कौरवों को परास्त किया और गायें लौटा लीं । अकेले ही उन्होंने अपने पैने बाणों से कृपाचार्य, द्रोणाचार्य, कर्ण, अश्वत्थामा, भीष्म और दुर्योधन, इन छः महारथियों को हरा दिया ॥१४॥

यह देख दुर्योधन और विकर्ण आदि भयभीत

बलं तु मत्स्यस्य बलेन राजा सर्वं त्रिगर्ताधिपतिः सुशर्मा ।
प्रमथ्य जित्वा च प्रसह्य मत्स्यं विराटमोजस्विनमभ्यधावत् ॥ ७ ॥
तौ निहत्य पृथग्धुर्यावुभौ तौ पार्ष्णिसारथी ।
विरथं मत्स्यराजानं जीवग्राहमगृह्णताम् ॥ ८ ॥
तमुन्मथ्य सुशर्माऽथ युवतीमिव कामुकः ।
स्यंदनं स्वं समारोप्य प्रययौ शीघ्रवाहनः ॥ ९ ॥
तस्मिन्गृहीते विरथे विराटे बलवत्तरे ।
प्राद्रवंतभयान्मत्स्यास्त्रिगर्तैरर्दिता भृशम् ॥ १० ॥
तेषु संत्रस्यमानेषु कुंतीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
प्रत्यभाषन्महाबाहुं भीमसेनमरिंदमम् ॥ ११ ॥
मत्स्यराजः परामृष्टस्त्रिगर्तेन सुशर्मणा ।
तं मोचय महाबाहो न गच्छेद्द्विषतां वशम् ॥ १२ ॥
उषिताः स्वं सुखं सर्वे सर्वकामैः सुपूजिताः ।
भीमसेन त्वया कार्या तस्य वासस्य निष्कृतिः ॥ १३ ॥
भीमसेन उवाच—अहमेनं परित्रास्ये शासनात्तव पार्थिव ।
पश्य मे सुमहत्कर्म युध्यतः सह शत्रुभिः ॥ १४ ॥
स्वबाहुबलमाश्रित्य तिष्ठ त्वं भ्रातृभिः सह ।
एकांतमाश्रितो राजन्पश्य मेऽद्य पराक्रमम् ॥ १५ ॥

त्रिगर्तराज सुशर्मा ने बड़े पराक्रम से राजा विराट की सेना को मथ डाला और हरा दिया । अन्त को वह राजा विराट की ओर झपटा । पास जाकर उसने विराट के रथ के दो घोड़ों को, रथ की रक्षा करने वाले आसपास के सिपाहियों को और सारथी को मार डाला । इस प्रकार रथ से हीन विराट को पकड़कर, अपने रथ पर बिठाकर, सुशर्मा अपने नगर की ओर चला । यह देखकर विराट की सेना बहुत भयभीत । त्रिगर्तदेश की सेना के पराक्रम से अत्यन्त पीड़ित होकर मत्स्यदेश के सिपाही युद्धभूमि से इधर-उधर भागने लगे ॥७।१०॥

उन्हें युद्ध मे विमुख और भयभीत हुआ देखकर महाराज युधिष्ठिर ने शत्रुदमन भीमसेन से कहा—हे महाबाहु ! त्रिगर्तराज सुशर्मा मत्स्यनरेश विराट को पकड़ लिये जा रहा है । तुम उनको शत्रु के हाथ से छुड़ा लो । देखो, वह कैद न होने पावें । हम लोग राजा विराट के यहां अपनी सब इच्छाएँ पूर्ण करते हुए बड़े सुख से रहते रहे हैं । इसलिए अब तुम महाराज विराट को छुड़ाकर उस उपकार का उचित बदला चुकाओ ॥११।१३॥

स्मयमानोऽर्जुनो राजन्निदं वचनमब्रवीत् ॥ ८ ॥

अर्जुन उवाच—इंद्रस्याऽर्द्धासनं राजन्नयमारोढुमर्हति ।
ब्रह्मण्यः श्रुतवांस्त्यागी यज्ञशीलो दृढव्रतः ॥ ९ ॥
एष विग्रहवान्धर्म एष वीर्यवतां वरः ।
एष बुद्ध्याधिको लोके तपसां च परायणम् ॥ १० ॥
एषोऽस्त्रं विविधं वेत्ति त्रैलोक्ये सचराचरे ।
न चैवाऽन्यः पुमान्वेत्ति न वेत्स्यति कदाचन ॥ ११ ॥
न देवा नाऽसुराः केचिन्न मनुष्या न राक्षसाः ।
गंधर्वयक्षप्रवराः सकिन्नरमहोरगाः ॥ १२ ॥
दीर्घदर्शी महातेजाः पौरजानपदप्रियः ।
पांडवानामतिरथो यज्ञधर्मपरो वशी ॥ १३ ॥
महर्षिकल्पो राजर्षिः सर्वलोकेषु विश्रुतः ।
बलवान्धृतिमान्दक्षः सत्यवादी जितेन्द्रियः ।
धनैश्च संचयैश्चैव शक्रवैश्रवणोपमः ॥ १४ ॥
यथा मनुर्महातेजा लोकानां परिरक्षिता ।
एवमेष महातेजाः प्रजानुग्रहकारकः ॥ १५ ॥
अयं कुरूणामृषभो धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
अस्य कीर्तिः स्थिता लोके सूर्यस्येवोद्यतः प्रभाः ॥ १६ ॥
संसरंति दिशः सर्वा यशसोऽस्य इवांऽशवः ।
उदितस्येव सूर्यस्य तेजसोऽनु गभस्तयः ॥ १७ ॥

भी आधे आसन पर बैठने की योग्यता रखनेवाले, स्वाध्याय-संपन्न, यज्ञनिरत, दृढव्रत, धर्मस्वरूप, अलौकिक बुद्धिवाले, तपस्वी, नगर और जनपद में रहनेवाले सभी प्रजा को प्यारे, महर्षितुल्य, महातेजस्वी, महापुरुष, जगत्प्रसिद्ध, कुरुकुलतिलक महाराज युधिष्ठिर हैं। देवता, असुर, मनुष्य, राक्षस, किन्नर, नाग आदि किसी को इनके समान अस्त्र विद्या का ज्ञान नहीं है ॥८।१२॥

ये बलवान्, गम्भीर, कार्य-चतुर, सत्यवादी और जितेन्द्रिय हैं। धन का संग्रह करने में ये इन्द्र और यक्षराज कुबेर के समान हैं। ये महातेजस्वी महाराज मनु के समान प्रजा पर कृपा रखते और उसका प्रतिपालन करते हैं। सूर्य की प्रभा के समान इनकी कीर्ति से सब दिशाएँ उज्ज्वल हो रही हैं। ये जब अपने राज्य में, कुरुकुल में, रहते थे तब महाभाग्यशाली, सुवर्ण-मालाओं से भूषित, दस हजार

सुशर्मा चिंतयामास कालांतकयमोपमम् ।
तिष्ठतिष्ठेति भाषंतं पृष्ठतो रथपुंगवः ।
पश्यतां सुमहत्कर्म महद्युद्धमुपस्थितम् ॥ २५ ॥
परावृत्तो धनुर्गृह्य सुशर्मा भ्रातृभिः सह ।
निमिषांतरमात्रेण भीमसेनेन ते रथाः ॥ २६ ॥
रथानां च गजानां च वाजिनां च समादिनाम् ।
सहस्रशतसंघाताः शूराणामुग्रधन्विनाम् ॥ २७ ॥
पातिता भीमसेनेन विराटस्य समीपतः ।
पत्तयो निहतास्तेषां गदां गृह्य महात्मना ॥ २८ ॥
तद् दृष्ट्वा तादृशं युद्धं सुशर्मा युद्धदुर्मदः ।
चिंतयामास मनसा किं शेषं हि बलस्य मे ।
अपरो दृश्यते सैन्ये पुरा मग्नो महाबले ॥ २९ ॥
आकर्णपूर्णेन तदा धनुषा प्रत्यदृश्यत ।
सुशर्मा सायकांस्तीक्ष्णान्क्षिपते च पुनः पुनः ॥ ३० ॥
ततः समस्तास्ते सर्वे तुरगानभ्यचोदयन् ।
दिव्यमस्त्रं विकुर्वाणास्त्रिगर्त्तान्प्रत्यमर्षणाः ॥ ३१ ॥
तान्निवृत्तरथान्दृष्ट्वा पांडवान्सा महाचमूः ।
वैराटिः परमक्रुद्धो युयुधे परमाद्भुतम् ॥ ३२ ॥
सहस्रमवधीत्तत्र कुंतीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
भीमः सप्तसहस्राणि यमलोकमदर्शयत् ॥ ३३ ॥

बड़े वेग से सुशर्मा की ओर झपटे। भीमसेन ने राजा विराट की ओर देखकर कहा कि तनिक ठहर जाइए। यमराजके समान भीमसेन को अपने पीछे आते देखकर, अपने भाइयों के साथ, सुशर्मा भी लौट पड़ा। अब सुशर्मा और भीमसेन से घोर युद्ध होने लगा २२।२६

महारथी भीमसेन ने क्षण भर में विपक्ष के हजारों रथों, सवारों समेत घोड़ों, हाथियों और प्रधान योद्धाओं को मार डाला। फिर हाथ में गदा लेकर वे पैदल सेना का संहार करने लगे। शूरवीर सुशर्मा ने अपने भाई को सङ्कट में फँसा हुआ देखकर सोचा कि अरे यहां तो मेरी सेना भी बुरी तरह से मारी गई। अब धनुष चढ़ाकर सुशर्मा भी लगातार पैने बाण बरसाने लगा। तब पाण्डव लोग विकट क्रोध से त्रिगर्त-सेना की ओर बढ़कर बाणों की वर्षा करने लगे। [अपनी ओर से] पाण्डवों को युद्ध करते देखकर विराट का कुंअर भी बड़े उत्साह से युद्ध करने लगा ॥२७।३२॥

यत्कृत्यं मन्यसे पार्थ क्रियतां तदनंतरम् ।
सर्वे कामाः समृद्धा मे संबंधी यस्य मेऽर्जुनः ॥ ११ ॥
वैशम्पायन उवाच—एवं ब्रुवति राजेंद्रे कुंतीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
अन्वशासत्स संयोगं समये मत्स्यपार्थयोः ॥ १२ ॥
ततो मित्रेषु सर्वेषु वासुदेवं च भारत ।
प्रेषयामास कौंतेयो विराटश्च महीपतिः ॥ १३ ॥
ततस्त्रयोदशे वर्षे निवृत्ते पंच पांडवाः ।
उपप्लव्यं विराटस्य समपद्यंत सर्वशः ॥ १४ ॥
अभिमन्युं च बीभत्सुरानिनाय जनार्दनम् ।
आनर्त्तेभ्योऽपि दाशार्हानानयामास पांडवः ॥ १५ ॥
काशिराजश्च शैब्यश्च प्रीयमाणो युधिष्ठिरे ।
अक्षौहिणीभ्यां सहितावागतौ पृथिवीपती ॥ १६ ॥
अक्षौहिण्या च सहितो यज्ञसेनो महाबलः ।
द्रौपद्याश्च सुता वीराः शिखंडी चाऽपराजितः ॥ १७ ॥
धृष्टद्युम्नश्च दुर्धर्षः सर्वशस्त्रभृतां वरः ।
समस्ताक्षौहिणीपाला यज्वानो भूरिदक्षिणाः ।
वेदावभृथसंपन्नाः सर्वे शूरास्तनुत्यजः ॥ १८ ॥

तुम्हारे साथ सम्बन्ध हो जाने से मैं अपने को कृतार्थ समझता हूं। मेरी सब इच्छाएं पूर्ण हो गई ॥१०।११॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! इसके पश्चात् महाराज युधिष्ठिर ने भी परस्पर के इस प्रशंसनीय सम्बन्ध का अनुमोदन किया। राजा विराट के और पाण्डवों के जो इष्ट-मित्र नातेदार थे, उनके यहां उसी समय यह सूचना और विवाह का न्योता लेकर दूत रवाना हुए। धर्मराज युधिष्ठिर ने उसी समय एक दूत के द्वारा यह समाचार कृष्णचन्द्र के पास भेजा। इसके पश्चात् ही यह सूचना सब जगह फैल गई कि अज्ञातवास का तेरहवां वर्ष व्यतीत करके इस समय पांचों पाण्डव राजा विराट के नगर में हैं ॥१२।१३॥

अर्जुन ने अभिमन्यु, कृष्णचन्द्र और बलभद्र आदि सब यादवों को ले आने के लिए दूत भेज दिये। महात्मा काशिराज और महाराज शैव्य, दोनों ही महाराज युधिष्ठिर के प्रिय मित्र थे। वे यह समाचार और निमन्त्रण पाकर, एक-एक अक्षौहिणी सेना साथ लेकर, विराट की राजधानी में आ गये। महाबली राजा द्रुपद भी एक अक्षौहिणी सेना लेकर आये। उनके साथ द्रौपदी के पांचों पुत्र, शिखण्डी और धृष्टद्युम्न भी आये। ये सब यज्ञ करनेवाले,

पलायमानं त्रैगर्तं दृष्ट्वा भीमोऽभ्यभाषत ।
राजपुत्र निवर्तस्व न ते युक्तं पलायनम् ॥ ४३ ॥
अनेन वीर्येण कथं गास्त्वं प्रार्थयसे बलात् ।
कथं चाऽनुचरांस्त्यक्त्वा शत्रुमध्ये विषीदसि ॥ ४४ ॥
इत्युक्तः स तु पार्थेन सुशर्मा रथयूथपः ।
तिष्ठ तिष्ठेति भीमं स सहसाऽभ्यद्रवद्बली ॥ ४५ ॥
भीमस्तु भीमसंकाशो रथात्प्रस्कन्द्य पाण्डवः ।
प्राद्रवत्तूर्णमव्यग्रो जीवितेप्सुः सुशर्मणः ॥ ४६ ॥
तं भीमसेनो धावन्तमभ्यधावत वीर्यवान् ।
त्रिगर्तराजमादातुं सिंहः क्षुद्रमृगं यथा ॥ ४७ ॥
अभिद्रुत्य सुशर्माणं केशपक्षे परामृशत् ।
समुद्यम्य तु रोषात्तं निष्पिपेष महीतले ॥ ४८ ॥
पदा मूर्ध्नि महाबाहुः प्राहरद्विलपिष्यतः ।
तस्य जानुं ददौ भीमो जघ्ने चैनमरत्निना ।
स मोहमगमद्राजा प्रहारवरपीडितः ॥ ४९ ॥
तस्मिन्गृहीते विरथे त्रिगर्तानां महारथे ।
अभज्यत बलं सर्वं त्रैगर्तं तद्भयातुरम् ॥ ५० ॥
निवर्त्य गास्ततः सर्वाः पाण्डुपुत्रा महारथाः ।
अवजित्य सुशर्माणं धनं चाऽऽदाय सर्वशः ॥ ५१ ॥

हे राजपुत्र ! लौटो । इस तरह युद्ध से पीठ दिखाकर भागना तुम्हें उचित नहीं है । क्या इसी बिरते पर तुम महाराज विराट की गायें छीनने आये थे ? अब अपने साथियों को छोड़कर युद्धभूमि से क्यों भागते हो ? महाबली भीमसेन के ये वाक्य सुनकर सुशर्मा फिर लौट पड़ा। "ठहरो, ठहरो" कहकर वह भीमसेन की ओर लपका । भीमपराक्रमी भीमसेन तुरन्त रथ से उतरकर सुशर्मा को मारने के लिए इस तरह झपटे जिस तरह सिंह किसी क्षुद्र मृग की ओर चले । ॥४३।४७॥

लपककर उन्होंने भागनेवाले सुशर्मा के बाल पकड़ लिये और क्रोध के मारे झटका देकर उसे पृथ्वी पर पटक दिया । भीमसेन ने सुशर्मा को पृथ्वी पर अच्छी तरह रगडा और उसके सिर पर लात मारी । दर्द के मारे वह चिल्लाने लगा, फिर कोहनी और छाती पर घुटने मारकर भीमसेन ने उसे अधमरा कर डाला ॥४८।४९॥

भीमसेन के प्रबल प्रहार से पीड़ित सुशर्मा बेहोश

ततः शंखाश्च भेर्यश्च गोमुखाडंबरास्तथा ।
पार्थैः संयुज्यमानस्य नेदुर्मत्स्यस्य वेश्मनि ॥ २७ ॥
उच्चावचान्मृगाञ्जघ्नुर्मेध्यांश्च शतशःपशून् ।
सुरामैरेयपानानि प्रभूतान्यभ्यहारयन् ॥ २८ ॥
गायनाख्यानशीलाश्च नटवैतालिकास्तथा ।
स्तुवंतस्तानुपातिष्ठन्सूताश्च सह मागधैः ॥ २९ ॥
सुदेष्णां च पुरस्कृत्य मत्स्यानां च वरस्त्रियः ।
आजग्मुश्चारुसर्वांग्यः सुमृष्टमणिकुंडलाः ॥ ३० ॥
वर्णोपपन्नास्ता नार्यो रूपवत्यः स्वलंकृताः ।
सर्वाश्चाऽभ्यभवन्कृष्णा रूपेण यशसा श्रिया ॥ ३१ ॥
परिवार्योत्तरां तास्तु राजपुत्रीमलंकृताम् ।
सुतामिव महेंद्रस्य पुरस्कृत्योपतस्थिरे ॥ ३२ ॥
तां प्रत्यगृह्णात्कौंतेयः सुतस्याऽर्थे धनंजयः ।
सौभद्रस्याऽनवद्यांगीं विराटतनयां तदा ॥ ३३ ॥
तत्राऽतिष्ठन्महाराजो रूपमिंद्रस्य धारयन् ।
स्नुषां तां प्रतिजग्राह कुंतीपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ ३४ ॥
प्रतिगृह्य च तां पार्थः पुरस्कृत्य जनार्दनम् ।
विवाहं कारयामास सौभद्रस्य महात्मनः ॥ ३५ ॥

गये । अनेक प्रकार की मदिराएं और पीने की वस्तुएं लाई गईं । गानेवाले, प्राचीन आख्यान सुनानेवाले, नट, वैतालिक, सूत-मागध-बन्दीजन आदि आकर अपनी-अपनी कलाएं दिखाने लगे । सब मिलकर पाण्डवों की, श्रीकृष्ण की और राजा विराट की प्रशंसा और स्तुति करने लगे ॥२५।२९॥

मणि-कुण्डल आदि अनेक आभूषणों से सजी हुई मत्स्य-नरेश के परिवार की स्त्रियां इन्द्रकन्या के समान आभूषणों और वस्त्रों से शोभित उत्तरा कुमारी को साथ लेकर वहां पर आईं । उन स्त्रियों के आगे मूल्यवान् वस्त्र-आभूषणों से शोभित रानी सुदेष्णा थीं; किन्तु यशस्विनी द्रौपदी के रूप के आगे सबकी शोभा फीकी जँचती थी । अभिमन्यु की स्त्री के रूप में राजकुमारी उत्तरा को ग्रहण करके महावीर अर्जुन प्रतापी इन्द्र के समान शोभित हुए । उत्तरा को पुत्र-वधू बनाकर महाराज युधिष्ठिर परम प्रसन्न हुए । जनार्दन कृष्णचन्द्र ही सब कामों में अगुआ थे । बहुत अच्छी तरह प्रसन्नतापूर्वक अभिमन्यु का विवाह हुआ ॥३०।३५॥

राजा विराट ने प्रज्वलित अग्नि में पहले हवन

युधिष्ठिर उवाच—मुंच मुंचाऽधमाचारं प्रमाणं यदि ते वयम् ।
दासभावं गतो ह्येष विराटस्य महीपतेः ।
अदासो गच्छ मुक्तोऽसि मैवं कार्षीः कदाचन॥ ६१ ॥

इति श्रीमन्महाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि दक्षिणगोग्रहे सुशर्मनिग्रहे त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३३ ॥

अब युधिष्ठिर ने स्नेह के साथ भीमसेन से कहा—हे भाई ! इस पापी को छोड़ दो । इसके दासत्व स्वीकार करने का प्रमाण तो हमी लोग हैं । फिर उन्होंने सुशर्मा से कहा—तुमको दासभाव से छुटकारा दिया जाता है । फिर कभी ऐसा कार्य करने का साहस न करना ॥६०।६१॥

विराटपर्व का तेतीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ३३ ॥

अथ चतुस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३४ ॥

वैशम्पायन उवाच—एवमुक्ते तु सव्रीडः सुशर्माऽऽसीदधोमुखः ।
समुक्तोऽभ्येत्य राजानमभिवाद्य प्रतस्थिवान् ॥ १ ॥
विसृज्य तुं सुशर्माणं पांडवास्ते हतद्विषः ।
स्वबाहुबलसंपन्ना ह्रीनिषेवा यतव्रताः ।
संग्रामशिरसो मध्ये तां रात्रिं सुखिनोऽवसन् ॥ २ ॥
ततो विराटः कौंतेयानतिमानुषविक्रमान् ।
अर्चयामास वित्तेन मानेन च महारथान् ॥ ३ ॥
विराट उवाच—यथैव मम रत्नानि युष्माकं तानि वै तथा ।
कार्यं कुरुत वै सर्वे यथाकामं यथासुखम् ॥ ४ ॥
ददाम्यलंकृताः कन्या वसूनि विविधानि च ।
मनसश्चाप्यभिप्रेतं युद्धे शत्रुनिवर्हणाः ॥ ५ ॥
युष्माकं विक्रमादद्य मुक्तोऽहं स्वस्तिमानिह ।
तस्माद्भवंतो मत्स्यानामीश्वराः सर्व एव हि ॥ ६ ॥

चौंतीसवा अध्याय ॥ ३४ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! युधिष्ठिर के यों कहने पर सुशर्मा ने लज्जा से सिर झुका लिया । उसने विराट के पास जाकर उनको प्रणाम किया । फिर वहां से वह उसी समय भाग गया । सुशर्मा को छोड़कर राजा विराट और पाण्डवों ने वहीं, समरभूमि में, सुखपूर्वक वह रात्रि व्यतीत की । फिर राजा विराट ने अलौकिक पराक्रमी पाण्डवों को बहुत सा धन देकर सम्मानित किया और कहा—आज तुम्हीं लोगों के पराक्रम से मैं जीता-जागता बच गया हूं । मेरे यहां जितने रत्न हैं वे और सारा

प्रादाय चाऽर्धं धृतराष्ट्रपुत्रः सुखी सहाऽस्माभिरतीव मोदेत् ॥ २ ॥
लब्ध्वा हि राज्यं पुरुषप्रवीराः सम्यक्प्रवृत्तेषु परेषु चैव ।
ध्रुवं प्रशांताः सुखमाविशेयुस्तेषां प्रशांतिश्च हितं प्रजानाम् ॥ ३ ॥
दुर्योधनस्यापि मतं च वेत्तुं वक्तुं च वाक्यानि युधिष्ठिरस्य ।
प्रिये च मे स्याद्यदि तत्र कश्चिद्व्रजेच्छमार्थं कुरुपांडवानाम् ॥ ४ ॥
स भीष्ममामंत्र्य कुरुप्रवीरं वैचित्रवीर्यं च महानुभावम् ।
द्रोणं सपुत्रं विदुरं कृपं च गांधारराजं च ससूतपुत्रम् ॥ ५ ॥
सर्वे च येऽन्ये धृतराष्ट्रपुत्रा बलप्रधाना निगमप्रधानाः ।
स्थिताश्च धर्मेषु तथा स्वकेषु लोकप्रवीराः श्रुतकालवृद्धाः ॥ ६ ॥
एतेषु सर्वेषु समागतेषु पौरेषु वृद्धेषु च संगतेषु ।
ब्रवीतु वाक्यं प्रणिपातयुक्तं कुन्तीसुतस्याऽर्थकरं यथा स्यात् ॥ ७ ॥
सर्वास्ववस्थासु च ते न कोप्या ग्रस्तो हि सोऽर्थो बलमाश्रितैस्तैः ।
प्रियाभ्युपेतस्य युधिष्ठिरस्य द्यूतं प्रसक्तस्य हृतं च राज्यम् ॥ ८ ॥
निवार्यमाणश्च कुरुप्रवीरः सर्वैः सुहृद्भिर्ह्ययमप्यतज्ज्ञः ।
स दीव्यमानः प्रतिदीव्य चैनं गांधारराजस्य सुतं मताक्षम् ॥ ९ ॥

लिए यत्न कर रहे हैं। इन्हें आधा राज्य दे देने से दुर्योधन, हम लोगों के साथ, सुखी होकर अत्यन्त आनन्द प्राप्त करेंगे। सद्व्यवहार के साथ कौरवों से आधा राज्य पाने पर पाण्डव लोग शांत हो जायेंगे और सुख से रहेंगे। दुर्योधन आदि को भी इसी में शान्ति मिलेगी और इसी में प्रजा का हित होगा ॥२।३॥

मैं चाहता हूं कि कोई पुरुष दोनों पक्षों में मेल कराने के लिए जाकर दुर्योधन के मन की बात मालूम करे और कौरवों से युधिष्ठिर का अभिप्राय कहे। वह पुरुष कौरवों की सभा में जाकर कुरुवीर भीष्म, महानुभाव धृतराष्ट्र, द्रोण, अश्वत्थामा, विदुर, कृपाचार्य, गान्धारराज शकुनि, कर्ण तथा और भी बल एवं शास्त्र के ज्ञान में बढ़े, अपने-अपने धर्म में स्थित, लोकवीर, अनुभवी, सब कुरुवंशी और धृतराष्ट्र के सब पुत्र, पुरवासी तथा वृद्ध पुरुष जब एकत्र हों तब उनसे मिले। फिर उन सबके आगे नम्रता के साथ युधिष्ठिर का संदेसा कहे और ऐसा यत्न करे कि जिसमें धर्मराज का प्रयोजन सिद्ध हो जाय। मेरी सम्मति में, किसी अवस्था में, कौरवों को क्रुद्ध करना अच्छा न होगा; क्योंकि उन्होंने बलपूर्वक युधिष्ठिर के राज्य को छीन लिया है और वे इस समय प्रबल हो रहे हैं। युधिष्ठिर को जुए का बड़ा शौक था। इन्हें द्यूत में फंसाकर इनका राज्य उन्होंने छीन लिया है। युधिष्ठिर द्यूतक्रीड़ा में निपुण नहीं हैं; इस समय इनके इष्ट-मित्रों ने इन्हें मना भी किया; किन्तु इन्होंने नहीं माना और पासे के खेल में निपुण शकुनि के कहने पर उसके साथ खेलना स्वीकार करके उसे खेलने के लिए ललकारा ॥४।९॥

सुहृदां प्रियमाख्यातुं घोषयंतु च ते जयम् ।
ततस्तद्वचनान्मत्स्यो दूतान्राजा समादिशत् ॥ १६ ॥
आचक्षध्वं पुरं गत्वा संग्रामेविजयं मम ।
कुमार्यः समलंकृत्य पर्यागच्छंतु मे पुरात् ॥ १७ ॥
वादित्राणि च सर्वाणि गणिकाश्च स्वलंकृताः ।
एतां चाऽऽज्ञां ततः श्रुत्वा राज्ञा मत्स्येन नोदिताः।
तामाज्ञां शिरसा कृत्वा प्रस्थिता हृष्टमानसाः ॥ १८ ॥
ते गत्वा तत्र तां रात्रिमथ सूर्योदयं प्रति ।
विराटस्य पुराभ्याशे दूता जयमघोषयन् ॥ १९ ॥

इति श्रीमन्महाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि दक्षिणगोग्रहे विराटजयघोषे चतुस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३४ ॥

सबके साथ ऐसा ही सरल व्यवहार करके सदा अनुपम सुख भोगते रहिए। हे राजेन्द्र ! मैं चाहता हूं कि अब आपके दूत शीघ्र नगर में जाकर इष्ट मित्रों को यह प्रिय समाचार सुनावें और सर्वत्र आपकी जय-घोषणा कर दें ॥१४।१६॥

युधिष्ठिर की इच्छा से विराट ने दूतों को आज्ञा दी कि तुम लोग नगर में जाकर मेरी जीत का हाल सुना दो। गहने पहने हुए कुमारियां, वेश्याएँ और बाजे बजानेवाले लोग आगे से लेने के लिए यहां आवें। रात्रि को ही वे दूत विराट की आज्ञा से प्रसन्नतापूर्वक राजधानी को चल दिये। सूर्योदय के समय नगर में पहुँचकर उन्होंने विराट के जीतने की घोषणा कर दी ॥१७।१९॥

—०—

विराटपर्व का चौंतीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥३४॥

अथ पंचत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३५ ॥

वैशम्पायन उवाच—याते त्रिगर्त्तान्मत्स्ये तु पशूंस्तान्वै परीप्सति ।
दुर्योधनः सहामात्यो विराटमुपयादथ ॥ १ ॥
भीष्मो द्रोणश्च कर्णश्च कृपश्च परमास्त्रवित् ।
द्रौणिश्च सौवलश्चैव तथा दुःशासनः प्रभो ॥ २ ॥
विविंशतिर्विकर्णश्च चित्रसेनश्च वीर्यवान् ।

पैंतीसवां अध्याय ॥ ३५ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! जिस समय राजा विराट ने अपनी गायों को छुड़ाने के लिए सुशर्मा का पीछा किया उसी समय इधर दुर्योधन, भीष्म, द्रोण, कर्ण, कृपाचार्य, अश्वत्थामा,

को जिजीविषुरासादेद्धृष्टद्युम्नं च पार्षतम् ।
पंचैतान्पांडवेयांस्तु द्रौपद्याः कीर्तिवर्धनान् ॥ १७ ॥
समप्रमाणान्पांडूनां समवीर्यान्मदोत्कटान् ।
सौभद्रं च महेष्वासममरैरपि दुःसहम् ॥ १८ ॥
गदप्रद्युम्नसांबांश्च कालसूर्यानलोपमान् ।
ते वयं धृतराष्ट्रस्य पुत्रं शकुनिना सह ॥ १९ ॥
कर्णं चैव निहत्याऽऽजावभिषेक्ष्याम पांडवम् ।
नाऽधर्मो विद्यते कश्चिच्छत्रून्हत्वाऽऽततायिनः ॥ २० ॥
अधर्म्यमयशस्यं च शात्रवाणां प्रयाचनम् ।
हृद्गतस्तस्य यः कामस्तं कुरुध्वमतंद्रिताः ॥ २१ ॥
निसृष्टं धृतराष्ट्रेण राज्यं प्राप्नोतु पांडवः ।
अद्य पांडुसुतो राज्यं लभतां वा युधिष्ठिरः ॥ २२ ॥
निहता वा रणे सर्वे स्वप्स्यंति वसुधातले ॥ २३ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि सात्यकिक्रोधवाक्ये तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

के और मेरे पराक्रम को सह सकता है ! जीवन की इच्छा रखनेवाला कौन योद्धा यमराज और मृत्यु के सदृश नकुल और सहदेव, धृष्टद्युम्न, पिताओं के समान पराक्रमी द्रौपदी के पांचों पुत्रों, महाबली अभिमन्यु, उत्कट कालानलतुल्य वीर गद, प्रद्युम्न और साम्ब का सामना कर सकता है ! इसलिए हम सब मिलकर, शकुनि और कर्ण सहित दुर्योधन को युद्धमें मारकर, युधिष्ठिर को राजसिंहासन पर बिठावेंगे ॥१४।२०॥

आततायी अधर्मी शत्रुओं को मारने में अधर्म नहीं होता। शत्रुओं से याचना करना ही अधर्म और अयश का काम है। इसलिए दुर्योधन के मन में जो बात है उसे ही आप लोग सावधान होकर करें। दुर्योधन युद्ध के बिना राज्य देना नहीं चाहता। यह निश्चय है कि इस समय या तो राजा युधिष्ठिर को आधा राज्य मिले, और या कौरव लोग युद्ध में मारे जायँ ॥२१।२३॥

उद्योगपर्व का तीसरा अध्याय समाप्त हुआ ॥ ३ ॥

अथ चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

द्रुपद उवाच—एवमेतन्महाबाहो भविष्यति न संशयः ।
न हि दुर्योधनो राज्यं मधुरेण प्रदास्यति ॥ १ ॥
अनुवर्त्स्यति तं चापि धृतराष्ट्रः सुतप्रियः ।

इष्वस्त्रे निपुणो योधः सदा वीरश्च मे सुतः ।
तस्य तत्सत्यमेवाऽस्तु मनुष्येंद्रस्य भाषितम् ॥ १३ ॥
आवर्त्तय कुरूञ्जित्वा पशून्पशुमतां वर ।
निर्दहैषामनीकानि भीमेन शरतेजसा ॥ १४ ॥
धनुश्च्युतै रुक्मपुंखैः शरैः सन्नतपर्वभिः ।
द्विषतां भिंध्यनीकानि गजानामिव यूथपः ॥ १५ ॥
पाशोपधानां ज्यातंत्रीं चापदंडां महास्वनाम् ।
शरवर्णां धनुर्वीणां शत्रुमध्ये प्रवादय ॥ १६ ॥
श्वेता रजतसंकाशा रथे युज्यन्तु ते हयाः ।
ध्वजं च सिंहं सौवर्णमुच्छ्रयन्तु तव प्रभो ॥ १७ ॥
रुक्मपुंखाः प्रसन्नाग्रा मुक्ता हस्तवता त्वया ।
छादयन्तु शराः सूर्यं राज्ञां मार्गनिरोधकाः ॥ १८ ॥
रणे जित्वा कुरून्सर्वान्वज्रपाणिरिवाऽसुरान् ।
यशो महदवाप्य त्वं प्रविशेदं पुरं पुनः ॥ १९ ॥
त्वं हि राष्ट्रस्य परमा गतिर्मत्स्यपतेः सुतः ।
यथा हि पाण्डुपुत्राणामर्जुनो जयतां वरः ॥ २० ॥
एवमेव गतिर्नूनं भवान्विषयवासिनाम् ।
गतिमन्तो वयं त्वद्य सर्वे विषयवासिनः ॥ २१ ॥

लिए आप स्वयं उठिए । महाराज आपको ही राज्य और राजधानी की रक्षा तथा देख-रेख का भार सौंप गये हैं ॥८।१२॥

सभा में महाराज आपके विषय में कहा करते हैं कि मेरा पुत्र मेरे ही समान शूर, वश की बात रखनेवाला, शस्त्रविद्या में निपुण, युद्धचतुर और महा-पराक्रमी है । हे राजकुमार ! इस समय महाराज का आपके बारे में यह कहना सत्य होना चाहिए। आप अपने विचित्र धनुष से छूटे हुए, सुवर्णपुङ्ख, तीक्ष्ण बाणों से शत्रुओंको मारकर सब गायें छीन लाइए॥१३।१६॥

शीघ्र ही आपके रथ में चांदी के रङ्ग के श्वेत घोड़े जोते जाय और सिंह के चिह्न से युक्त ऊँची ध्वजा फहराने लगे । आप युद्धभूमि में पहुँचकर बाणों की ऐसी वर्षा कीजिए कि शत्रुओं की राह रुक जाय और आकाश में सूर्य का मण्डल छिप जाय । इन्द्र जैसे असुरों को परास्त करते हैं वैसे ही आप कौरवों को परास्त करके यश प्राप्त कीजिए और सफल-मनोरथ होकर राजधानी को लौटिए । हे राजपुत्र ! महाराज अर्जुन जैसे पाण्डवों के आश्रयस्थल हैं वैसे ही आप भी सब मत्स्यदेश की प्रजा के आश्रयस्थल

अथ पंचमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

वासुदेव उवाच—उपपन्नमिदं वाक्यं सोमकानां धुरंधरे ।
अर्थसिद्धिकरं राज्ञः पांडवस्याऽमितौजसः ॥ १ ॥
एतच्च पूर्वं कार्यं नः सुनीतमभिकांक्षताम् ।
अन्यथा ह्याचरन्कर्म पुरुषः स्यात्सुबालिशः ॥ २ ॥
किं तु संबंधकं तुल्यमस्माकं कुरुपाण्डुषु ।
यथेष्टं वर्त्तमानेषु पाण्डवेषु च तेषु च ॥ ३ ॥
ते विवाहार्थमानीता वयं सर्वे तथा भवान् ।
कृते विवाहे मुदिता गमिष्यामो गृहान्प्रति ॥ ४ ॥
भवान्वृद्धतमो राज्ञां वयसा च श्रुतेन च ।
शिष्यवत्ते वयं सर्वे भवामेह न संशयः ॥ ५ ॥
भवंतं धृतराष्ट्रश्च सततं बहु मन्यते ।
आचार्ययोः सखा चाऽसि द्रोणस्य च कृपस्य च ॥ ६ ॥
स भवान्प्रेषयत्वद्य पाण्डवार्थकरं वचः ।
सर्वेषां निश्चितं तन्नः प्रेषयिष्यति यद्भवान् ॥ ७ ॥
यदि तावच्छमं कुर्यान्न्यायेन कुरुपुंगवः ।
न भवेत्कुरुपाण्डूनां सौभ्रात्रेण महान्क्षयः ॥ ८ ॥

पांचवां अध्याय ॥ ५ ॥

[वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! द्रुपद के यों कह चुकने पर अब वृष्णिकुलावतंस] श्रीकृष्ण ने कहा—महाराज युधिष्ठिर का प्रयोजन सिद्ध होने के बारे में महाराज द्रुपद ने जो कुछ कहा—सो सोमकवंश के योग्य और युक्तिसङ्गत है। हम लोग यदि श्रेष्ठ नीति को मानकर चलना और कल्याण प्राप्त करना चाहते हैं तो हमें इसी के अनुसार कार्य करना चाहिए। अपनी भलाई के लिए हमें सबसे पहले राजाओं के पास अवश्य अपने दूत भेजने चाहिएं। जो हम ऐसा न करेंगे तो बड़ी मूर्खता होगी। किन्तु कौरव और पाण्डव दोनों ही हमारे समान सम्बन्धी हैं। दोनों का व्यवहार हमारे साथ एक सा है। [किसी ने यादवों का अपमान या यादवों से अशिष्ट व्यवहार कभी नहीं किया।] ॥१।३॥

हम और आप सब लोग यहां, इस समय, अभिमन्यु के विवाह के निमन्त्रण में आये हैं। इस समय विवाह हो गया है, हम लोग प्रसन्नतापूर्वक अपने-अपने घर को लौट जायंगे। अवस्था और ज्ञान में आप हमसे और सब राजाओं से बड़े हैं। हम सब शिष्य की तरह आपके उपदेश के अनुसार ही काम

विन्त्रासयित्वा संग्रामे दानवानिव वज्रभृत् ।
अनेनैव मुहूर्तेन पुनः प्रत्यानये पशून् ॥ ७ ॥
शून्यमासाद्य कुरवः प्रयांत्यादाय गोधनम् ।
किंतु शक्यं मया कर्तुं यदहं तत्र नाऽभवम् ॥ ८ ॥
पश्येयुरद्य मे वीर्यं कुरवस्ते समागताः ।
किं नु पार्थोऽर्जुनः साक्षादयमस्मान्प्रबाधते ॥ ९ ॥
वैशम्पायन उवाच—श्रुत्वा तदर्जुनो वाक्यं राज्ञः पुत्रस्य भाषतः ।
अतीतसमये काले प्रियां भार्यामनिंदिताम् ॥ १० ॥
द्रुपदस्य सुतां तन्वीं पांचालीं पावकात्मजाम् ।
सत्यार्जवगुणोपेतां भर्तुः प्रियहिते रताम् ॥ ११ ॥
उवाच रहसि प्रीतः कृष्णां सर्वार्थकोविदः ।
उत्तरं ब्रूहि कल्याणि क्षिप्रं मद्वचनादिदम् ॥ १२ ॥
अयं वै पाण्डवस्याऽऽसीत्सारथिः संमतो दृढः ।
महायुद्धेषु संसिद्धः स ते यन्ता भविस्यति ॥ १३ ॥
वैशम्पायन उवाच—तस्य तद्वचनं स्त्रीषु भाषतश्च पुनः पुनः ।
न साऽमर्षत पांचाली बीभत्सोः परिकीर्त्तनम् ॥ १४ ॥
अथैनमुपसंगम्य स्त्रीमध्यात्सा तपस्विनी ।
व्रीडमानेव शनकैरिदं वचनमब्रवीत् ॥ १५ ॥

जा रहे हैं। मैं यदि वहां उपस्थित होता तो क्या वे ऐसा कार्य कर सकते थे ? खैर, अब सही। कौरव लोग आज मेरे पराक्रम को देखें। मेरा युद्ध देखकर वे सोचने लगेंगे कि स्वयं अर्जुन ही क्या क्रुद्ध होकर युद्ध करने आये हैं। ॥४।९॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! राजपुत्र उत्तर की बातें सुनकर अर्जुन ने एकान्त में अपनी प्यारी द्रौपदी से कहा—हे कल्याणी! तुम मेरे कहने से शीघ्र जाकर राजकुमार उत्तर से कहो कि बृहन्नला जब पाण्डवों के यहां था तब वह पाण्डवों के सारथी का कार्य करके बड़ी प्रशंसा पा चुका है। घोर संग्राम में उसने बड़ी चतुराई से अपना कार्य किया था। इसलिए तुम बृहन्नला को इस समय अपना सारथी बना लो ॥१०।१३॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! विराट का कुंअर उत्तर, स्त्रियों के बीच में अर्जुन का नाम ले-लेकर बार-बार अपनी प्रशंसा कर रहा था; यह द्रौपदी से नहीं सहा गया। स्त्रियों के बीच में बैठे हुए राजकुमार उत्तर के पास जाकर, कुछ लज्जा के भाव से, द्रौपदी ने धीरे-धीरे कहा—हे राजपुत्र!

सुप्तं ददृशतुः कृष्णं शयानं चाऽभिजग्मतुः ॥ ७ ॥
ततः शयाने गोविंदे प्रविवेश सुयोधनः ।
उच्छीर्षतश्च कृष्णस्य निषसाद वरासने ॥ ८ ॥
ततः किरीटी तस्याऽनु प्रविवेश महामनाः ।
पश्चाच्चैव स कृष्णस्य प्रह्वोऽतिष्टत्कृतांजलिः ॥ ९ ॥
प्रतिबुद्धः स वार्ष्णेयो ददर्शाऽग्रे किरीटिनम् ।
स तयो स्वागतं कृत्वा यथावत्प्रतिपूज्य तौ ॥ १० ॥
तदागमनजं हेतुं पप्रच्छ मधुसूदनः ।
ततो दुर्योधनः कृष्णमुवाच प्रहसन्निव ॥ ११ ॥
विग्रहेऽस्मिन्भवान्साह्यं मम दातुमिहाऽर्हति ।
समं हि भवतः सख्यं मम चैवाऽर्जुनेऽपि च ॥ १२ ॥
तथा संबंधकं तुल्यमस्माकं त्वयि माधव ।
अहं चाऽभिगतः पूर्वं त्वामद्य मधुसूदनः ॥ १३ ॥
पूर्वं चाऽभिगतं संतो भजंते पूर्वसारिणः ।
त्वं च श्रेष्ठतमो लोके सतामद्य जनार्दन ॥ १४ ॥
सततं संमतश्चैव सद्वृत्तमनुपालय ।
कृष्ण उवाच—भवानभिगतः पूर्वमत्र मे नाऽस्ति संशयः ।
दृष्टस्तु प्रथमं राजन्मया पार्थो धनंजयः ॥ १५ ॥

पुरुषश्रेष्ठ अर्जुन और दुर्योधन ने एक साथ द्वारका में पहुंचकर, श्रीकृष्ण के भवन में जाकर, देखा कि वे पलंग पर पड़े सो रहे हैं। दुर्योधन पहले पहुंचा। श्रीकृष्ण को सोते देखकर वह उनके सिरहाने एक मूल्यवान् आसन पर जा बैठा। इसके पश्चात् महावीर अर्जुन भी पहुंचे और श्रीकृष्ण को सोते देख वे उनके पांवों के पास हाथ जोड़कर नम्रभाव से बैठ गये ॥७।९॥

जागते ही श्रीकृष्ण ने आंखें खोलकर अपने सामने बैठे हुए अर्जुन को देखा। [फिर देखने पर उन्हें अपने सिरहाने श्रेष्ठ आसन पर बैठा हुआ गर्वित दुर्योधन देख पड़ा।] श्रीकृष्ण ने दोनों का सत्कार और स्वागत किया। इसके पश्चात् उनसे आने का कारण पूछा। तब मुसकराकर दुर्योधन ने श्रीकृष्ण से कहा—हम भाइयों के इस युद्ध में आप मुझे सहायता दीजिए। यद्यपि मैं और अर्जुन दोनों ही आपके समान मित्र और समान सम्बन्धी हैं तथापि मैं आपके पास पहले आया हूं। सज्जनों का नियम है कि वे पहले आये हुए का पक्ष लिया करते हैं। आप इस समय पृथ्वी पर सब सज्जनों में श्रेष्ठ और

पृथिवीमजयत्कृत्स्नां कुंतीपुत्रो धनंजयः ।
सैरंध्री त्वां समाचष्टे सा हि जानाति पांडवान् ॥ १७ ॥
संयच्छ मामकानश्वांस्तथैव त्वं बृहन्नले ।
कुरुभिर्योत्स्यमानस्य गोधनानि परीप्सतः ॥ १८ ॥
अर्जुनस्य किलाऽऽसीस्त्वं सारथिर्दयितः पुरा ।
त्वयाऽजयत्सहायेन पृथिवीं पांडवर्षभः ॥ १९ ॥
एवमुक्ता प्रत्युवाच राजपुत्रं बृहन्नला ।
का शक्तिर्मम सारथ्यं कर्तुं संग्राममूर्धनि ॥ २० ॥
गीतं वा यदि वा नृत्यं वादित्रं वा पृथग्विधम्।
तत्करिष्यामि भद्रं ते सारथ्यं तु कुतो मम ॥ २१ ॥
उत्तर उवाच—बृहन्नले गायनो वा नर्तनो वा पुनर्भव ।
क्षिप्रं मे रथमास्थाय निगृह्णीष्व हयोत्तमान् ॥ २२ ॥
वैशम्पायन उवाच—स तत्र नर्मसंयुक्तमकरोत्पांडवो बहु ।
उत्तरायाः प्रमुखतः सर्वं जानन्नरिंदमः ॥ २३ ॥
ऊर्ध्वमुत्क्षिप्य कवचं शरीरे प्रत्यमुंचत ।
कुमार्यस्तत्र तं दृष्ट्वा प्राहसन्पृथुलोचनाः ॥ २४ ॥
स तु दृष्ट्वा विमुह्यंतं स्वयमेवोत्तरस्ततः ।
कवचेन महार्हेण समनह्यद् बृहन्नलाम् ॥ २५ ॥

सुना है कि पहले तुम अर्जुन के प्रिय सारथी थे। उन्होंने तुम्हारी सहायता से ही खाण्डव वन देकर अग्नि को तृप्त किया था—सारी पृथ्वी को जीत लिया था ॥१४।१७॥

इस समय तुम वैसे ही मेरे सारथी बनो। मैं हरी गई गायें छीनने के लिए कौरवों से युद्ध करूंगा। अर्जुन ने कहा—हे राजपुत्र! युद्ध के बीच सारथी का कार्य भला मैं कैसे कर सकता हूं! हां, यदि गाने-बजाने अथवा नाचने के लिए कहो तो वह सब मैं कर सकता हूं। मुझमें सारथी का कार्य करने की शक्ति नहीं है ॥१८।२१॥

उत्तर ने कहा—हे बृहन्नला! तुम फिर आकर गवैये-नचैये का कार्य कर लेना। इस समय मेरे रथ में उत्तम घोड़े जोतकर चतुराई से सारथी का कार्य करो ॥२२॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! शत्रु-दमन अर्जुन यद्यपि उत्तरा के मुख से सब हाल सुन चुके थे तो भी, राजपुत्र के साथ, बार-बार अपने को नपुंसक और युद्ध में सारथी का कार्य करने में असमर्थ बताकर, दिल्लगी करने लगे। अन्त में सारथी का कार्य करने के लिए प्रसन्न होकर अर्जुन कवच पहनने

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! इसके पश्चात् श्रीकृष्ण को साथ लेकर प्रसन्न अर्जुन अनेक श्रेष्ठ यादवों के साथ युधिष्ठिर के पास हस्तिनापुर को लौट आये ॥२९॥

उद्योगपर्व का सातवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ७ ॥

अथ अष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

वैशम्पायन उवाच—शल्यः श्रुत्वा तु दूतानां सैन्येन महता वृतः ।
अभ्ययात्पांडवान्राजन्सह पुत्रैर्महारथैः ॥ १ ॥
तस्य सेनानिवेशोऽभूदध्यर्द्धमिव योजनम् ।
तथा हि विपुलां सेनां बिभर्ति स नरर्षभः ॥ २ ॥
अक्षौहिणीपती राजन्महावीर्यपराक्रमः ।
विचित्रकवचाः शूरा विचित्रध्वजकार्मुकाः ॥ ३ ॥
विचित्राभरणाः सर्वे विचित्ररथवाहनाः ।
विचित्रस्रग्धराः सर्वे विचित्रांबरभूषणाः ॥ ४ ॥
स्वदेशवेषाभरणा वीराः शतसहस्रशः ।
तस्य सेनाप्रणेतारो बभूवुः क्षत्रियर्षभाः ॥ ५ ॥
व्यथयन्निव भूतानि कंपयन्निव मेदिनीम् ।
शनैर्विश्रामयन्सेनां स ययौ येन पांडवः ॥ ६ ॥
ततो दुर्योधनः श्रुत्वा महात्मानं महारथम् ।
उपायांतमभिद्रुत्य स्वयमानर्च भारत ॥ ७ ॥
कारयामास पूजार्थं तस्य दुर्योधनः सभाः ।

आठवां अध्याय ॥ ८ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! महाबली शल्य को जब दूतों के द्वारा इस युद्ध का समाचार मिला तब वे अपने महारथी पुत्रों को साथ लेकर पाण्डवों के पास चले। दो-दो कोस पर उनकी सेना का पड़ाव पड़ता था। महापराक्रमी शल्य के साथ भी एक अक्षौहिणी सेना थी। विचित्र कवच, ध्वजा और धनुष, विचित्र आभूषण, रथ और वाहन तथा विचित्र माला और वस्त्र आदि से शोभित एवं अपने देश का पहनावा पहने सैकड़ों-हजारों वीरश्रेष्ठ क्षत्रिय महाराज शल्य के सेनापति थे ॥१-५॥

अपनी विशाल सेना से सबको भयभीत करते और पृथ्वी को कम्पायमान करते हुए शल्य उस सेना को, धीरे-धीरे विश्राम कराते हुए, युधिष्ठिर के पास ले चले। दुर्योधन ने जब शल्य के रवाना होने का समाचार सुना तब उसने मार्ग में उनके ठहराने के लिए स्थान-स्थान पर सुन्दर स्थान बनवा दिये।

प्रसन्नतापूर्वक प्रदक्षिणा करके, उन्हें जय प्राप्त करने के आशीर्वाद देने लगे। स्त्रियां और कन्याएँ मङ्गलाचरण करके उन्हें कहने लगीं—हे बृहन्नला ! पहले खांडव-दहन के समय महाबली अर्जुन को जैसे यश, विजय और मङ्गल प्राप्त हुआ था वैसे ही तुम लोगों को भी कल्याण प्राप्त हो ॥२७।३४॥

विराटपर्व का सैंतीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ३७ ॥

अथ अष्टत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३८ ॥

वैशम्पायन उवाच—स राजधान्या निर्याय वैराटिरकुतोभयः ।
प्रत्याहीत्यब्रवीत्सूतं यत्र ते कुरवो गताः ॥ १ ॥
समवेतान्कुरून्सर्वाञ्जिगीषूनवजित्य वै ।
गास्तेषां क्षिप्रमादाय पुनरेष्याम्यहं पुरम् ॥ २ ॥
ततस्तांश्चोदयामास सदश्वान्पांडुनंदनः ।
ते हया नरसिंहेन नोदिता वातरंहसः ।
आलिखन्त इवाऽऽकाशमूहुः कांचनमालिनः ॥ ३ ॥
नाऽतिदूरमथो गत्वा मत्स्यपुत्रधनंजयौ ।
अवेक्षेताममित्रघ्नौ कुरूणां बलिनां बलम् ॥ ४ ॥
श्मशानमभितो गत्वा आससाद कुरूनथ ।
तां शमीमन्ववीक्षेतां व्यूढानीकांश्च सर्वशः ॥ ५ ॥
तदनीकं महत्तेषां विबभौ सागरोपमम् ।
सर्पमाणमिवाऽऽकाशे वनं बहुलपादपम् ॥ ६ ॥
ददृशे पार्थिवो रेणुर्जनितस्तेन सर्पता ।
दृष्टिप्रणाशो भूतानां दिवस्पृक्कुरुसत्तम ॥ ७ ॥

अड़तीसवां अध्याय ॥ ३८ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! निर्भय राजकुमार उत्तर राजधानी से निकलकर सारथी (अर्जुन) से कहने लगा—हे बृहन्नला ! शीघ्र कौरवों के पास मेरा रथ ले चलो। मैं सब कौरवों को जीतकर, गायें फेरकर, अभी अपनी नगरी को लौट आता हूं। यह सुनकर अर्जुन शीघ्रता के साथ घोड़ों को चलाने लगे। घोड़ों के गले में सुवर्ण की मालाएं पड़ी हुई थीं। वायुकी तरह शीघ्र चलनेवाले घोड़े ऐसी शीघ्रता से जाने लगे, कि मानों आकाश में उड़ते चले जा रहे हों॥१।३॥

कुछ दूर जाकर उत्तर और बृहन्नला दोनों उसी मसान के पासवाले शमीके वृक्ष के पास पहुचे। वहां से उन्हें उमड़े हुए समुद्र के समान कौरवों की असंख्य सेना देख पड़ने लगी। उन सैनिकों के पांओं से उड़ी हुई धूल ऐसी छाई हुई थी कि किसी को कुछ नहीं

दुःखस्यैतस्य महतो धार्त्तराष्ट्रकृतस्य वै ।
अवाप्स्यसि सुखं राजन्हत्वा शत्रून्परंतप ॥ ३२ ॥
विदितं ते महाराज लोकतंत्रं नराधिप ।
तस्माल्लोभकृतं किंचित्तव तात न विद्यते ॥ ३३ ॥
राजर्षीणां पुराणानां मार्गमन्विच्छ भारत ।
दाने तपसि सत्ये च भव तात युधिष्ठिर ॥ ३४ ॥
क्षमा दमश्च सत्यं च अहिंसा च युधिष्ठिर ।
अद्भुतश्च पुनर्लोकस्त्वयि राजन्प्रतिष्ठितः ॥ ३५ ॥
मृदुर्वदान्यो ब्रह्मण्यो दाता धर्मपरायणः ।
धर्मास्ते विदिता राजन्बहवो लोकसाक्षिकाः ॥ ३६ ॥
सर्वं जगदिदं तात विदितं ते परंतप ।
दिष्ट्या कृच्छ्रमिदं राजन्पारितं भरतर्षभ ॥ ३७ ॥
दिष्ट्या पश्यामि राजेंद्र धर्मात्मानं सहानुगम् ।
निस्तीर्णं दुष्करं राजंस्त्वां धर्मनिचयं प्रभो ॥ ३८ ॥
वैशम्पायन उवाच—ततोऽस्याऽकथयद्राजा दुर्योधनसमागमम् ।
तच्च शुश्रूषितं सर्वं वरदानं च भारत ॥ ३९ ॥

पर अब दुर्योधन के दिये हुए तुम्हारे दुःखों का अन्त हो गया। अब तुम शत्रुओं को शीघ्र मारकर अपनी सहनशीलता का फल सुख भोगोगे। हे महाराज! तुम संसार की गति को अच्छी तरह से जानते ही हो। इसी कारण संसार से मिलनेवाले दुःखों से तुम्हारे चित्त में कुछ भी विकार नहीं उत्पन्न होता। अब तुम पूर्वज राजर्षियों के अनुयायी बनकर दान, सत्य और तप में विशेष रूप से अपनी बुद्धि को लगाओ। लोगों को आश्चर्य में डालनेवाले, क्षमा, दमन, सत्य और अहिंसा आदि सद्गुण तुममें सदा स्थिर रूप से हैं ॥३२।३५॥

तुम कोमल-प्रकृति, उदार, ब्राह्मणभक्त, जितेन्द्रिय और धर्मात्मा हो। संसार जिनका साक्षी है, ऐसे अनेक प्रकार के धर्मों को तुम अच्छी तरह जानते हो। सांसारिक विषयों को भी तुम बहुत अच्छी तरह जानते हो। तुम्हारे राजा होने पर सब प्रजा फिर आनन्दित होगी। बड़े भाग्य की बात है कि तुमने इस वनवास के कष्टदायक व्रत को पूर्ण कर लिया। बड़े सौभाग्य की बात है कि मैं इस समय भाइयों सहित तुम धर्मात्मा को सब कष्टों से मुक्त और धर्म में दृढ़ देख रहा हूं ॥३६।३८॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! अब महाराज शल्य ने दुर्योधन से मिलने का, उसकी की हुई अपनी सेवा और सत्कार का और अपने-

वैशम्पायन उवाच—अविज्ञातो त्रिजातस्य मौर्ख्याद्धूर्त्तस्य पश्यतः ।
परिदेवयते मंदः सकाशे सव्यसाचिनः ॥ १६ ॥
त्रिगर्त्तान्मे पिता यातः शून्ये संप्रणिधाय माम्।
सर्वां सेनामुपादाय न मे संतीह सैनिकाः ॥ १७ ॥
सोऽहमेको बहून्बालः कृतास्त्रानकृतश्रमः ।
प्रतियोद्धुं न शक्ष्यामि निवर्त्तस्व बृहन्नले ॥ १८ ॥
बृहन्नलोवाच—भयेन दीनरूपोऽसि द्विषतां हर्षवर्द्धनः ।
न च तावत्कृतं कर्म परैः किंचिद्रणाजिरे ॥ १९ ॥
स्वयमेव च मामात्थ वह मां कौरवान्प्रति ।
सोऽहं त्वां तत्र नेष्यामि यत्रैते बहुला ध्वजाः ॥ २० ॥
मध्यमामिषगृध्राणां कुरूणामाततायिनाम् ।
नेष्यामि त्वां महाबाहो पृथिव्यामपि युध्यताम् ॥ २१ ॥
तथा स्त्रीषु प्रतिश्रुत्य पौरुषं पुरुषेषु च ।
कत्थमानोऽभिनिर्याय किमर्थं न युयुत्ससे ॥ २२ ॥
न चेद्विजित्य गास्तास्त्वं गृहान्वै प्रतियास्यसि ।
प्रहसिष्यंति वीरास्त्वां नरा नार्यश्च संगताः ॥ २३ ॥
अहमप्यत्र सैरंध्र्या ख्याता सारथ्यकर्मणि ।
न च शक्ष्याम्यनिर्जित्य गाः प्रयातुं पुरं प्रति ॥ २४ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! अपने सारथी बुद्धिमान् अर्जुन के आगे [उनके पौरुष और पराक्रम का हाल कुछ न जानने के कारण] मूर्खतावश यों खेद और व्याकुलता प्रकट करके राजकुमार उत्तर ने कहा—हे बृहन्नला ! पिताजी मुझे सूने घर में अकेला छोड़, सब सेना, सामन्तों और सहायकों का साथ लेकर, त्रिगर्त्तराज सुशर्मा से युद्ध करने चले गये हैं । ऐसा कोई वीर योद्धा नहीं जो यहां पर इस समय मेरी सहायता करे । विशेषकर मैं अभी बालक ही हूं; मुझे तो परिश्रम करने का अभ्यास ही नहीं है । इस कारण अस्त्र-शस्त्र की विद्या को अच्छी तरह जाननेवाले इन अगणित कौरव वीरों से मेरा अकेले युद्ध करना किसी तरह उचित नहीं है । इसलिए तुम अभी मेरा रथ नगर को लौटा ले चलो।१६।१८।

बृहन्नला ने कहा—हे महाबाहु ! शत्रुओं ने अभी आपको कुछ हानि या कष्ट नहीं पहुंचाया; फिर आप अभी से क्यों इस तरह व्याकुल होकर—कायरता प्रकट कर—शत्रुओं के हर्ष को बढ़ा रहे हैं ! युद्ध से पहले ही हिम्मत क्यों हारते हैं ? कौरवों ने अभी ऐसा कौन सा कार्य किया है जिससे आप इतने

यथा स सज्जेत्त्रिशिराः कामभोगेषु वै भृशम् ।
क्षिप्रं कुरुत गच्छध्वं प्रलोभयत मा चिरम् ॥ १० ॥
शृंगारवेषाः सुश्रोण्यो हारैर्युक्ता मनोहरैः ।
हावभावसमायुक्ताः सर्वाः सौंदर्यशोभिताः ॥ ११ ॥
प्रलोभयत भद्रं वः शमयध्वं भयं मम ।
अस्वस्थं ह्यात्मनाऽऽत्मानं लक्षयामि वरांगनाः ।
भयं तन्मे महाघोरं क्षिप्रं नाशयताऽबलाः ॥ १२ ॥
अप्सरस ऊचु.—तथा यत्नं करिष्यामः शक्र तस्य प्रलोभने ।
यथा नाऽवाप्स्यसि भयं तस्माद्बलनिषूदन ॥ १३ ॥
निर्दहन्निव चक्षुर्भ्यां योऽसावास्ते तपोनिधिः ।
तं प्रलोभयितुं देव गच्छामः सहिता वयम् ॥ १४ ॥
यतिष्यामो वशे कर्तुं व्यपनेतुं च ते भयम् ।
शल्य उवाच—इंद्रेण तास्त्वनुज्ञाता जग्मुस्त्रिशिरसोऽन्तिकम् ।
तत्र ता विविधैर्भावैर्लोभयंत्यो वरांगनाः ॥ १५ ॥
नित्यं संदर्शयामासुस्तथैवांऽगेषु सौष्ठवम् ।
नाऽभ्यगच्छत्प्रहर्षं ताः स पश्यन्सुमहातपाः ॥ १६ ॥
इंद्रियाणि वशे कृत्वा पूर्वसागरसन्निभः ।
तास्तु यत्नं परं कृत्वा पुनः शक्रमुपस्थिताः ॥ १७ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! बुद्धिमान् इन्द्र ने बहुत सोचकर त्वष्टा के पुत्र त्रिशिरा को लुभाने और तप से भ्रष्ट करने के लिए अप्सराओं को आज्ञा दी। इन्द्र ने उनसे कहा—तुम इसी समय मनोहर हार आदि आभूषण पहनकर, अच्छी तरह बन-ठनकर, त्रिशिरा के पास जाओ और अपने हाव-भाव, सौन्दर्य आदि से उसे ऐसा लुभाओ कि वह तप छोड़कर भोग में लग जाय। हे अप्सराओ ! त्रिशिरा के भय से मैं व्याकुल हो गया हूं। तुम मेरा भय और व्याकुलता को दूर कर दो ॥८।१२॥

अप्सराओं ने कहा—हे देवराज ! हम त्रिशिरा को लुभाने का ऐसा उपाय करेंगी कि आपको उससे किंचिन्मात्र भी भय नहीं रह जायगा। अपनी दृष्टि से सब लोकों को मानों भस्म कर देंगे, इस तरह तप में लगे हुए तपोनिधि त्रिशिरा को लुभाने के लिए हम सब जाती हैं। हम उन्हें अपने वश में करके आपका भय दूर कर देंगी ॥१३।१५॥

हे महाराज ! इसके पश्चात् सब अप्सराएं इन्द्र की आज्ञा से त्रिशिरा के पास गईं और उन्हें लुभाने के लिए मनोहर नाच, हाव-भाव, सुन्दरता दिखाने

क एष वेषसंच्छन्नो भस्मन्येव हुताशनः ।
किंचिदस्य यथा पुंसः किंचिदस्य यथा स्त्रियः ॥ ३३ ॥
सारूप्यमर्जुनस्येव क्लीबरूपं बिभर्ति च ।
तदेवैतच्छिरोग्रीवं तौ बाहू परिघोपमौ ।
तद्वदेवाऽस्य विक्रांते नाऽयमन्यो धनंजयात् ॥ ३४ ॥
अमरेष्विव देवेंद्रो मानुषेषु धनंजयः ।
एकः कोऽस्मानुपायायादन्योलोके धनञ्जयात् ॥ ३५ ॥
एकः पुत्रो विराटस्य शून्ये सन्निहितः पुरे ।
स एष किल निर्यातो बालभावान्न पौरुषात् ॥ ३६ ॥
सत्रेण नूनं छन्नं हि चरंतं पार्थमर्जुनम् ।
उत्तरः सारथिं कृत्वा निर्यातो नगराद्बहिः ॥ ३७ ॥
स नो मन्यामहे दृष्ट्वा भीत एष पलायते ।
तं नूनमेष धावंतं जिघृक्षति धनंजयः ॥ ३८ ॥
वैशम्पायन उवाच—इति स्म कुरवः सर्वे विमृशंतः पृथक्पृथक् ।
न च व्यवसितुं किंचिदुत्तरं शक्नुवंति ते ॥ ३९ ॥

छोड़कर उत्तर कुमार रथ से कूदकर भाग खड़ा हुआ। उसने अपने मान-अपमान की कुछ परवा नहीं की। तब अर्जुन ने कहा—हे राजपुत्र! युद्ध से भयभीत होकर भागना क्षत्रिय का धर्म नहीं है। यों भयभीत होकर भागने की अपेक्षा युद्ध में मर जाना ही क्षत्रिय के लिए श्रेष्ठ है ॥२६।२८॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! अब अर्जुन तुरन्त ही रथ से उतर पड़े। वे शीघ्रता के साथ उत्तर कुँअर को पकड़ लाने के लिए उसके पीछे दौड़े। उस समय उनकी लम्बी वेणी हिलने लगी और लाल वस्त्र उड़ने लगे। यह दृश्य देखकर कौरव-पक्ष के कुछ लोग हँसने लगे। इस तरह उत्तर के पीछे शीघ्रता के साथ अर्जुन को दौड़ते देखकर कौरव लोग परस्पर कहने लगे कि राख में छिपी हुई अग्नि के समान अपने को छिपाये हुए यह पुरुष कौन है। इसके शरीर का कुछ हिस्सा पुरुष का सा और कुछ स्त्री का सा देख पड़ता है ॥२९।३३॥

इसका वेष तो हीजड़ों का सा है; पर इसकी [बहुत सी] बातें अर्जुन से मिलती-जुलती हैं। इसका मस्तक ऊँचा है, गरदन मोटी है, भुजाएँ बेलन के समान दृढ़ और मोटी हैं। इसकी चाल और पराक्रम अर्जुन के समान जँचता है। इसलिए ये अवश्य अर्जुन होंगे। जैसे देवताओं में इन्द्र श्रेष्ठ हैं वैसे ही मनुष्यों में वीर अर्जुन श्रेष्ठ हैं। अर्जुन के सिवा और कौन मनुष्य हम लोगों के सामने अकेले आने की हिम्मत कर सकता है! ऐसा जान पड़ता है कि मानों

ततस्तेषु निक्रान्तेषु विज्वरो मघवानथ ।
जगाम त्रिदिवं हृष्टस्तक्षापि स्वगृहान्ययौ ॥ ४३ ॥
मेने कृतार्थमात्मानं हत्वा शत्रुं सुरारिहा ।
त्वष्टा प्रजापतिः श्रुत्वा शक्रेणाऽथ हतं सुतम् ॥ ४४ ॥
क्रोधसंरक्तनयन इदं वचनमब्रवीत् ।
त्वष्टोवाच–तप्यमानं तपो नित्यं क्षान्तं दान्तं जितेन्द्रियम् ।
विनाऽपराधेन यतः पुत्रं हिंसितवान्मम ॥ ४५ ॥
तस्माच्छक्रविनाशाय वृत्रमुत्पादयाम्यहम् ।
लोकाः पश्यंतु मे वीर्यं तपसश्च बलं महत् ॥ ४६ ॥
स च पश्यतु देवेंद्रो दुरात्मा पापचेतनः ।
उपस्पृश्य ततः क्रुद्धस्तपस्वी सुमहायशाः ॥ ४७ ॥
अग्नौ हुत्वा समुत्पाद्य घोरं वृत्रमुवाच ह ।
इंद्रशत्रो विवर्धस्व प्रभावात्तपसो मम ॥ ४८ ॥
सोऽवर्द्धत दिवं स्तब्ध्वा सूर्यवैश्वानरोपमः ।
किं करोमीति चोवाच कालसूर्य इवोदितः ॥ ४९ ॥
शक्रं जहीति चाऽप्युक्तो जगाम त्रिदिवं ततः ।
ततो युद्धं समभवद्वृत्रवासवयोर्महत् ॥ ५० ॥

तीतर निकले । मदिरा पीने के मुंह से कलविङ्क और श्येन पक्षी प्रकट हुए ॥३८।४२॥

यों त्रिशिरा के सिर कट जाने पर निश्चिन्त और निर्भय होकर, अपने को कृतार्थ मानकर, इन्द्र अपने लोक को चले गये । बढ़ई भी अपने स्थान को चला गया । उधर प्रजापति त्वष्टा को जब इन्द्र के हाथ से अपने पुत्र के मारे जाने का समाचार मालूम हुआ तब क्रोध के मारे उनके नेत्र लाल हो गए । उन्होंने कहा—मेरा पुत्र क्षमा, दम और जितेन्द्रियता के साथ तपस्या कर रहा था ॥४३।४५॥

उसे बिना अपराध के इन्द्र ने मार डाला है, इसलिए अब मैं इन्द्र को मारने के लिए वृत्रासुर को उत्पन्न करता हूं । इस समय सब लोक और दुरात्मा, पापबुद्धि इन्द्र भी मेरे तपोबल को देखें । क्रुद्ध होकर तपस्वी, यशस्वी त्वष्टा ने आचमन करके अग्नि में आहुति छोड़ी, उसी से भयङ्कर वृत्रासुर उत्पन्न हुआ । त्वष्टा ने उससे कहा—हे इन्द्रशत्रु ! मेरे तप के प्रभाव से तुम बढ़ो । वृत्रासुर का तेज सूर्य और अग्नि के समान था; वह उसी समय बढ़कर आकाश को छूने लगा । वृत्रासुर ने त्वष्टा से कहा—आज्ञा दीजिए, मैं क्या करूं ? ॥४६।४९॥

त्वष्टा ने कहा कि तुम इन्द्र को मार डालो ।

प्रयाह्येतद्रथानीकं मद्बाहुबलरक्षितः ।
अप्रधृष्यतमं घोरं गुप्तं वीरैर्महारथैः ॥ ४७ ॥
मा भैस्त्वं राजपुत्राग्र्य क्षत्रियोऽसि परंतप ।
कथं पुरुषशार्दूल शत्रुमध्ये विषीदसि ॥ ४८ ॥
अहं वै कुरुभिर्योत्स्ये विजेष्यामि च ते पशून् ।
प्रविश्यैतद्रथानीकमप्रधृष्यं दुरासदम् ॥ ४९ ॥
यंता भव नरश्रेष्ठ योत्स्येऽहं कुरुभिः सह ।
एवं ब्रुवाणो बीभत्सुर्वैराटिमपराजितः ।
समाश्वास्य मुहूर्तं तमुत्तरं भरतर्षभ ॥ ५० ॥
तत एनं विचेष्टंतमकामं भयपीडितम् ।
रथमारोपयामास पार्थः प्रहरतां वरः ॥ ५१ ॥

इति श्रीमन्महाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोग्रहे उत्तराश्वासने अष्टात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३८ ॥

से अर्जुन ने कहा—हे शत्रुओं का नाश करनेवाले वीर कुमार ! यदि शत्रुओं से युद्ध करने की हिम्मत तुममें नहीं है तो तुम मेरे सारथी बनकर रथ हांको। मैं अपने बाहुबल से तुम्हारी रक्षा और शत्रुओं से युद्ध करूंगा । तुम व्याकुल मत होओ । हे पुरुष-सिंह ! तुम क्षत्रिय हो, फिर भी शत्रुओं के बीच खड़े होकर क्यों खेद कर रहे हो ? मैं कौरवों से युद्ध करूंगा और उन्हें हराकर उनसे तुम्हारी गायें छीन लाऊंगा । तुम मेरे सारथी बनो । कभी किसी से न हारनेवाले अर्जुन ने विराट के पुत्र उत्तर को, यों सान्त्वना देकर, रथ पर बिठाया । फिर वे भी रथ पर सवार होकर आगे बढ़े ॥४५।५१॥

विराटपर्व का अड़तीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ३८ ॥

अथ एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ३९ ॥

वैशम्पायन उवाच—तं दृष्ट्वा क्लीबवेषेण रथस्थं नरपुंगवम् ।
शमीमभिमुखं यांतं रथमारोप्य चोत्तरम् ॥ १ ॥
भीष्मद्रोणमुखास्तत्र कुरवो रथिसत्तमाः ।
वित्रस्तमनसः सर्वे धनंजयकृताद्भयात् ॥ २ ॥

उनतालीसवां अध्याय ॥ ३९ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! नपुं-सक-वेषधारी पुरुषश्रेष्ठ अर्जुन को उत्तर के साथ रथ पर चढ़कर उस मसानवाले शमीवृक्ष की ओर जाते देख—उनके कारण—भीष्म, द्रोण आदि महारथी

ग्रसन्तमिव लोकांस्त्रीन्सूर्याचंद्रमसौ यथा ।
ददृशुस्ते ततो वृत्रं शक्रेण सह देवताः ॥ १६ ॥
ऋषयोऽथ ततोऽभ्येत्य वृत्रमूचुः प्रियं वचः ।
व्याप्तं जगदिदं सर्वं तेजसा तव दुर्जय ॥ १७ ॥
न च शक्नोपि निर्जेतुं वासवं बलिनां वर ।
युध्यतोश्चापि वा कालो व्यतीतः सुमहानिह ॥ १८ ॥
पीड्यंते च प्रजाः सर्वाः सदेवासुरमानुषाः ।
सख्यं भवतु ते वृत्र शक्रेण सह नित्यदा ॥ १९ ॥
अवाप्स्यसि सुखं त्वं च शक्र लोकांश्च शाश्वतान् ।
ऋषिवाक्यं निशम्याऽथ वृत्रः स तु महाबलः ॥ २० ॥
उवाच तानृषीन्सर्वान्प्रणम्य शिरसाऽसुरः ।
सर्वे यूयं महाभागा गंधर्वाश्चैव सर्वशः ॥ २१ ॥
यद्‌ ब्रूथ तच्छ्रुतं सर्वं ममाऽपि शृणुताऽनघाः ।
संधिः कथं वै भविता मम शक्रस्य चोभयोः ।
तेजसोर्हि द्वयोर्देवाः सख्यं वै भविता कथम् ॥ २२ ॥

ऋषय ऊचुः–सकृत्सतां संगतं लिप्सितव्यं ततः परं भविता भव्यमेव ।
नाऽतिक्रामेत्सत्पुरुषेण संगतं तस्मात्सतां संगतं लिप्सितव्यम् ॥२३॥

की आज्ञा से ऋषिगण और इन्द्र आदि सब देवता वृत्रासुर के निवासस्थान पर गये। वहां पहुँचकर पराक्रमी देवताओं ने देखा कि वृत्रासुर अपने तेज से प्रज्वलित होकर दसों दिशाओं को सन्ताप पहुंचा रहा है। जान पड़ता है कि मानों सूर्य और चन्द्रमा सहित तीनों लोकों को खा जायगा ॥१४।१६॥

तब ऋषियों ने, इन्द्र और देवताओं के साथ, वहां जाकर वृत्रासुर से कहा—हे दुर्जय! इस जगत् में तुम्हारा तेज व्याप्त हो गया है। उधर बहुत दिनों से युद्ध करने पर भी तुम अभी तक इन्द्र को जीत नहीं सके हो। देवता, दैत्य और मनुष्य आदि सब प्रजा को तुम्हारे इस व्यर्थ के युद्ध से बड़ी व्याकुलता हो रही है। इस कारण अब तुम सदा के लिए इन्द्र से सन्धि करलो। इससे तुम सुखपूर्वक स्वर्गलोक के भोग प्राप्त कर सकोगे ॥१७।२०॥

तब महातेजस्वी वृत्र ने ऋषियों को प्रणाम करके कहा—हे तपस्वियो! हे गन्धर्वो! तुम सबने जो कहा सो मैंने सुन लिया। अब मैं जो कहता हूं, सो सुनो। हे देवताओ! दो तेजस्वी पुरुषों में मित्रता कैसे हो सकती है? इसी कारण इन्द्र से मेरी मित्रता होना सम्भव नहीं। ऋषियों ने कहा—एक बार सज्जनों का सङ्ग कर ही लेना चाहिए; इसके

क्लेशितश्च वने शूरो वामत्रेनाऽपि शिक्षितः ।
अमर्षवशमापन्नो वासवप्रतिमो युधि ।
नेहाऽस्य प्रतियोद्धारमहं पश्यामि कौरवाः ॥ १२ ॥
महादेवोऽपि पार्थेन श्रूयते युधि तोषितः ।
किरातवेषप्रच्छन्नो गिरौ हिमवति प्रभुः ॥ १३ ॥
कर्ण उवाच—सदा भवान्फाल्गुनस्य गुणैरस्मान्विकत्थसे ।
न चाऽर्जुनः कलापूर्णो मम दुर्योधनस्य च ॥ १४ ॥
दुर्योधन उवाच—यद्येष पार्थो राधेय कृतं कार्यं भवेन्मम ।
ज्ञाताः पुनश्चरिष्यंति द्वादशाऽब्दान्विशांपते ॥ १५ ॥
अथैष कश्चिदेवाऽन्यः क्लीबवेषेण मानवः ।
शरैरेनं सुनिशितैः पातयिष्यामि भूतले ॥ १६ ॥
वैशम्पायन उवाच—तस्मिन्ब्रुवति तद्वाक्यं धार्त्तराष्ट्रे परंतप ।
भीष्मो द्रोणःकृपो द्रौणिः पौरुषं तदपूजयन् ॥ १७ ॥

इति श्रीमन्महाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोग्रहे अर्जुनप्रशंसायां एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः ॥३९॥

की ध्वजा में हनुमान् हैं, वृक्ष-विशेष जिनका नाम है, वे इन्द्र-सुत—अङ्गना-वेषधारी—किरीटी आज दुर्योधन को जीतकर गायें ले जायंगे। इस (राजा) की रक्षा करो। ये वीरश्रेष्ठ अर्जुन देवताओं और दैत्यों से भी युद्ध करने से मुँह मोड़नेवाले नहीं ॥११॥

इन्द्र से इन्होंने अच्छी तरह अस्त्र-शस्त्र की विद्या सीख ली है। विशेषकर वनवास में इनको जो दुःख सहने पड़े हैं उनसे ये अत्यन्त कुपित हो रहे हैं। इससे इस समय युद्ध किये बिना ये कभी न मानेंगे। इधर हम लोगों में ऐसा कोई वीर योद्धा नहीं जो इनका सामना कर सके। सुना है कि अर्जुन हिमालय पर्वत पर अपनी युद्धचातुरी से किरातवेष-धारी भगवान् शङ्कर को सन्तुष्ट कर चुके हैं ॥१२।१३॥

कर्ण ने कहा—हे आचार्य! आप सदा अर्जुन के गुणों का बखान और हम लोगों की निन्दा किया करते हैं। किन्तु वास्तव में अर्जुन का पौरुष और युद्धकौशल मेरे तथा महाराज दुर्योधन के पौरुष और युद्धकौशल के सोलहवें हिस्से के समान भी नहीं है॥१४॥

दुर्योधन ने कहा—हे अङ्गराज कर्ण! यह नपुंसक-वेष-धारी मनुष्य यदि सचमुच अर्जुन है तो अवश्य हम लोगों का मनोरथ पूरा होगा; क्योंकि पाण्डव बारह वर्ष वनवास के पश्चात् एक वर्ष तक अज्ञातवास करने की प्रतिज्ञा कर चुके हैं। अभी वह अज्ञातवास का वर्ष पूरा नहीं हुआ। इसी बीच में यदि अर्जुन प्रकट हो गये तो फिर पाण्डवों को, प्रतिज्ञा के अनुसार, बारह वर्ष तक वन में रहना पड़ेगा। और, यदि और कोई नपुंसक के वेष से युद्ध करने आया है तो अवश्य अभी हम तीक्ष्ण

अराजकं जगत्सर्वमभिभूतमुपद्रवैः ।
ततो भीताऽभवन्देवाः को नो राजा भवेदिति ॥ ४९ ॥
दिवि देवर्षयश्चापि देवराजविनाकृताः ।
न स्म कश्चन देवानां राज्ये वै कुरुते मतिम् ॥ ५० ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि वृत्रवधे इन्द्रविजयोनाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

ऋषि भयभीत हो गये। चारों ओर अराजकता छा गई, घोर उपद्रव होने लगे। तब देवता लोग भयभीत होकर सोचने लगे कि इस समय हमारा राजा कौन हो। स्वर्ग में देवता और ऋषि राजा के बिना पीड़ित थे; परन्तु कोई उनका राजा बनने के लिए उद्यत न होता था ॥४७।५०॥

उद्योगपर्व का दसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ १० ॥

अथ एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

शल्य उवाच—ऋषयोऽथाब्रुवन्सर्वे देवाश्च त्रिदिवेश्वराः ।
अयं वै नहुषः श्रीमान्देवराज्येऽभिषिच्यताम् ॥ १ ॥
तेजस्वी च यशस्वी च धार्मिकश्चैव नित्यदा ।
ते गत्वा त्वब्रुवन्सर्वे राजा नो भव पार्थिव ॥ २ ॥
स तानुवाच नहुषो देवानृषिगणांस्तथा ।
पितृभिः सहितान्राजन्परीप्सन्हितमात्मनः ॥ ३ ॥
दुर्बलोऽहं न मे शक्तिर्भवतां परिपालने ।
बलवाञ्जायते राजा बलं शक्रे हि नित्यदा ॥ ४ ॥
तमब्रुवन्पुनः सर्वे देवा ऋषिपुरोगमाः ।
अस्माकं तपसा युक्तः पाहि राज्यं त्रिविष्टपे ॥ ५ ॥

ग्यारहवां अध्याय ॥ ११ ॥

शल्य ने कहा—हे राजा युधिष्ठिर! इसके पश्चात् देवताओं ने निश्चय किया कि श्रीमान् नहुष को अपना राजा बनाना चाहिए; क्योंकि वे तेजस्वी, यशस्वी और धार्मिक भी हैं। यह निश्चय करके देवता लोग राजा नहुष के पास गये। उनसे उन्होंने अपना राजा बनने के लिए प्रार्थना की। नहुष ने देवताओं, ऋषियों और पितरों से अपने भले की इच्छा से कहा—मैं दुर्बल हूं, मुझमें आप लोगों का पालन करने की शक्ति नहीं है। इसलिए आप लोग किसी और इन्द्र के समान बली पुरुष को खोज लीजिए ॥१।४॥

देवताओं और ऋषियों ने कहा—हे महाराज! हम तुम्हें अपने तप का बल देते हैं, उससे तुम स्वर्ग-

सर्वायुधमहामात्रं शत्रुसंबाधकारकम् ।
सुवर्णविकृतं दिव्यं श्लक्ष्णमायतमव्रणम् ॥ ७ ॥
अलं भारं गुरुं वोढुं दारुणं चारुदर्शनम् ।
तादृशान्येव सर्वाणि बलवंति दृढानि च ।
युधिष्ठिरस्य भीमस्य बीभत्सोर्यमयोस्तथा ॥ ८ ॥

इति श्रीमन्महाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोग्रहे अर्जुनास्त्रकथने चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४० ॥

और लम्बा-चौड़ा है। न उसमें कोई गांठ है, न कोई व्रण (कहीं से कटा-फटा)। उसका बोझ बहुत अधिक है। वह देखने में बहुत ही मनोहर प्रतीत होता है। महाराज युधिष्ठिर, भीमसेन, नकुल और सहदेव के धनुष भी ऐसे ही दिव्य, दृढ़ और इन्हीं श्रेष्ठ गुणों से युक्त है ॥४।८॥

विराटपर्व का चालीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ४० ॥

अथ एकचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४१ ॥

उत्तर उवाच—अस्मिन्वृक्षे किलोद्बद्धं शरीरमिति नः श्रुतम् ।
तदहं राजपुत्रः सन्स्पृशेयं पाणिना कथम् ॥ १ ॥
नैवंविधं मया युक्तमालब्धुं क्षत्रयोनिना ।
महता राजपुत्रेण मंत्रयज्ञविदा सता ॥ २ ॥
स्पृष्टवंतं शरीरं मां शववाहमिवाऽशुचिम् ।
कथं वा व्यवहार्यं वै कुर्वीथास्त्वं बृहन्नले ॥ ३ ॥
बृहन्नलोवाच—व्यवहार्यश्च राजेंद्र शुचिश्चैव भविष्यसि ।
धनूंष्येतानि मा भैस्त्वं शरीरं नाऽत्र विद्यते ॥ ४ ॥
दायादं मत्स्यराजस्य कुले जातं मनस्विनाम् ।
त्वां कथं निंदितं कर्म कारयेयं नृपात्मज ॥ ५ ॥

इकतालीसवां अध्याय ॥ ४१ ॥

उत्तर ने कहा—हे बृहन्नला ! मैंने सुना है कि इस पेड़ पर एक मुर्दा बंधा हुआ है। मैं राजकुमार होकर उसे कैसे छू सकता हूं ! मन्त्र और व्रत के जाननेवाले क्षत्रिय के बालक को ऐसी अशुद्ध वस्तु न छूनी चाहिए। मैं इस मुर्दे को छूकर मुर्दा ढोने-वाले के समान अपवित्र हो जाऊंगा, फिर तुम मुझे कैसे छुओगे ? ॥१।३॥

अर्जुन ने कहा—हे उत्तर ! तुम शङ्का न करो। इसे छूने से तुम अपवित्र नहीं हो सकते। यह मुर्दा नहीं, धनुष है। हे राजकुमार ! तुम अखंड वंश में

एवमुक्तो न जग्राह तद्वचः काममोहितः ।
अथ देवानुवाचेदमिंद्रं प्रति सुराधिपः ॥ ५ ॥
अहल्या धर्षिता पूर्वमृषिपत्नी यशस्विनी ।
जीवतो भर्तुरिंद्रेण स वः किं न निवारितः ॥ ६ ॥
बहूनि च नृशंसानि कृतानींद्रेण वै पुरा ।
वैधर्म्याण्युपधाश्चैव स वः किं न निवारितः ॥ ७ ॥
उपतिष्ठतु देवी मामेतदस्याऽहितं परम् ।
युष्माकं च सदा देवाः शिवमेवं भविष्यति ॥ ८ ॥
देवा ऊचुः—इंद्राणीमानयिष्यामो यथेच्छसि दिवस्पते ।
जहि क्रोधमिमं वीर प्रीतो भव सुरेश्वर ॥ ९ ॥
शल्य उवाच—इत्युक्त्वा तं तदा देवा ऋषिभिः सह भारत ।
जग्मुर्बृहस्पतिं वक्तुमिंद्राणीं चाऽशुभं वचः ॥ १० ॥
जानीमः शरणं प्राप्तामिंद्राणीं तव वेश्मनि ।
दत्ताभयां च विप्रेन्द्र त्वया देवर्षिसत्तम ॥ ११ ॥
ते त्वां देवाः सगंधर्वा ऋषयश्च महाद्युते ।
प्रसादयंति चेंद्राणी नहुषाय प्रदीयताम् ॥ १२ ॥
इंद्राद्विशिष्टो नहुषो देवराजो महाद्युतिः ।
वृणोत्विमं वरारोहा भर्तृत्वे वरवर्णिनी ॥ १३ ॥

नहुष कामान्ध हो रहे थे; उन्होंने देवताओं के समझाने पर ध्यान ही न दिया। उन्होंने देवताओं से कहा—इन्द्र ने जब यशस्विनी ऋषि-पत्नी अहल्या को, उनके पति के जीते जी, दूषित किया था तब तुमने उन्हें क्यों नहीं रोका? इन्द्र पहले बहुत से निन्दित कार्य कर चुके हैं। उन्होंने जब विश्वरूप-वध आदि अधर्म और वृत्र-वध आदि छल के कार्य किये, तब तुमने उन्हें क्यों नहीं रोका? इसलिए देवी इन्द्राणी मेरे पास आवें। इसी में उनका परम हित और तुम्हारा कल्याण होगा ॥५-८॥

देवताओं ने कहा—हे देवराज! प्रसन्न होकर क्रोध को रोकिए। प्रसन्न हूजिए। हम आपकी इच्छा के अनुसार इन्द्राणी को आपके पास ले आवेंगे। शल्य कहते हैं कि नहुष से यों कहकर सब ऋषि और देवता लोग बृहस्पति के पास, इन्द्राणी से नहुष का अशुभ आज्ञा का हाल कहने के लिए, गये। वहां जाकर उन्होंने बृहस्पति से कहा—हे गुरुजी! हम जानते हैं कि इन्द्राणी ने आकर आपका आश्रय लिया है और आप भी उन्हें अभयदान कर चुके हैं। इस समय हम सब देवता, गन्धर्व और ऋषि आपसे प्रार्थना करते हैं कि आप नहुष को इन्द्राणी दे दीजिए। महातेजस्वी देवराज नहुष इन्द्र से भी

अथ द्विचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४२ ॥

उत्तर उवाच—बिंदवो जातरूपस्य शतं यस्मिन्निपातिताः ।
सहस्रकोटिसौवर्णाः कस्यैतद्धनुरुत्तमम् ॥ १ ॥
वारणा यत्र सौवर्णाः पृष्ठे भासंति दंशिताः ।
सुपार्श्वं सुग्रहं चैव कस्यैतद्धनुरुत्तमम् ॥ २ ॥
तपनीयस्य शुद्धस्य पृष्ठे यस्येंद्रगोपकाः ।
पृष्ठे विभक्ताः शोभंते कस्यैतद्धनुरुत्तमम् ॥ ३ ॥
सूर्या यत्र च सौवर्णास्त्रयो भासंति दंशिताः ।
तेजसा प्रज्वलंतो हि कस्यैतद्धनुरुत्तमम् ॥ ४ ॥
शलभा यत्र सौवर्णास्तपनीयविभूपिताः ।
सुवर्णमणिचित्रं च कस्यैतद्धनुरुत्तमम् ॥ ५ ॥
इमे च कस्य नाराचाः सहस्रा लोमवाहिनः ।
समंतात्कलधौताग्रा उपासंगे हिरण्मये ॥ ६ ॥
विपाठाः पृथवः कस्य गार्ध्रपत्राः शिलाशिताः ।
हारिद्रवर्णाः सुमुखाः पीताः सर्वायसाः शराः ॥ ७ ॥
कस्याऽयमसितश्चापः पंचशार्दूललक्षणः ।
वराहकर्णव्यामिश्राञ्शरान्धारयते दश ॥ ८ ॥

बयालीसवा अध्याय ॥ ४२ ॥

उत्तर ने पूछा—यह सैंकड़ों-हज़ारों-करोड़ों सुवर्ण-बिन्दुओं से शोभित धनुष किसका है ? सुवर्ण के पत्तरों से मढ़ा हुआ, आसपास जड़े हुए रत्नों से मनोहर और अत्यन्त सुखदायक 'पकड़'-वाला यह धनुष किसका है ? यह धनुष किसका है, जिसकी पीठ पर सुवर्ण के बने इन्द्रगोप कीट (बीरबहूटी) अत्यन्त शोभा बढ़ा रहे हैं ? यह धनुष किसका है, जिस पर अनेक पक्षियों की मूर्त्तियां अङ्कित हैं ? और यह धनुष किसका है, जिसकी पीठ पर उज्ज्वल प्रभावाले तीन सूर्य चमक रहे हैं ? देखिए, इस सुवर्णमय तरकस में ये एक हज़ार नाराच बाण किसके हैं ? ।१।५।

इन विचित्र बाणों की नोकें चांदी से मढ़ी हुई चमक रही हैं, और ये बाण रोमयुक्त हैं । ये गिद्ध के परों से शोभित, लोहे के बने, हल्दी के रङ्ग से रंगे, चिकने और चौड़े बाण किसके धनुष को शोभित करते थे ? यह काला सा धनुष किसका है जिसमें पांच शेरों के चिह्न बने हुए हैं और सुअर के कान के आकार के दस अद्भुत बाण जिसके द्वारा चलाये जाते हैं ? ये चौड़े, लम्बे, अर्धचन्द्राकार सात सौ नाराच बाण किसके हैं ? जिनका आगे का हिस्सा

अकंपन्नहुषं स्थानाद् दृष्ट्वा बलनिषूदनः ।
तेजोघ्नं सर्वभूतानां वरदानाच्च दुःसहम् ॥ २१ ॥
ततः शचीपतिर्देवः पुनरेव व्यनश्यत ।
अदृश्यः सर्वभूतानां कालाकांक्षी चचार ह ॥ २२ ॥
प्रनष्टे तु ततः शक्रे शची शोकसमन्विता ।
हा शक्रेति तदा देवी विललाप सुदुःखिता ॥ २३ ॥
यदि दत्तं यदि हुतं गुरवस्तोपिता यदि ।
एक भर्तृत्वमेवाऽस्तु सत्यं यद्यस्ति वा मयि ॥ २४ ॥
पुण्यां चेमामहं दिव्यां प्रवृत्तामुत्तरायणे ।
देवीं रात्रिं नमस्यामि सिध्यतां मे मनोरथः ॥ २५ ॥
प्रयता च निशां देवीमुपातिष्ठत तत्र सा ।
पतिव्रतात्वात्सत्येन सोपश्रुतिमथाऽकरोत् ॥ २६ ॥
यत्राऽऽस्ते देवराजोऽसौ तं देशं दर्शयस्व मे ।
इत्याहोपश्रुतिं देवी सत्यं सत्येन दृश्यताम् ॥ २७ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि उपश्रुतियाचने त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

पाकर अपने पहले रूप को प्राप्त हुए ॥१४।२०॥

राजा नहुष देवताओं के वरदान से दुःसह हो रहे थे; उनमें यह शक्ति भी थी कि देखते ही हर एक प्राणी के तेज और बल को हर लेते थे। इन्द्र ने देखा कि इन कारणों से नहुष को इन्द्र-पद से हटाना कठिन ही नहीं बल्कि असम्भव है। तब शची के स्वामी इन्द्र फिर वहां से चल दिये और सब प्राणियों से अदृश्य रहकर अपने अनुकूल और नहुष के प्रतिकूल समय की बाट देखते हुए इधर-उधर विचरने लगे इधर इन्द्र को फिर भागा हुआ देखकर इन्द्राणी शोक से विह्वल हो उठीं और हाय नाथ! हाय इन्द्र! कहकर विलाप करने लगीं। वे कहने लगीं—जो मैंने दान और हवन किया है, गुरुजनों को सेवा से संतुष्ट रक्खा है, जो मैं सत्यनिरत और पतिव्रता हूं, तो एक इन्द्र ही मेरे पति रहें; दूसरे पुरुष का मुख मुझे न देखना पड़े। मैं उत्तरायण की इस दिव्य पवित्र रात्रि देवी को प्रणाम करती हूँ। हे देवी! मेरा मनोरथ पूर्ण करो। हे राजा युधिष्ठिर! शची देवी पवित्रतापूर्वक पातिव्रत्य और सत्य का आश्रय लेकर रात्रि देवी के शरणागत हुईं। फिर वे उपश्रुति देवी को बुलाकर उनसे कहने लगीं—हे भगवती! कृपा करके सत्य के निहोरे मुझे सत्य-रूप प्रिय इन्द्र के पास ले चलो ॥२१।२७॥

—०—

उद्योगपर्व का तेरहवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ १३ ॥

की है ? यह अग्नि की ज्वाला के समान, तपे हुए कुन्दन की सी चमकीली, चिकनी, भारी तलवार किस की है ? और यह सुवर्ण की बूँदों से शोभित, छूने में सांप की खाल के समान चिकनी और ठण्डी, शत्रुओं के शरीर को काट डालनेवाली तलवार किसकी है ? हे बृहन्नला ! इस सामग्री को देखकर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ है ।मुझे इन शस्त्रों का सब हाल बतलाओ। ॥११।१८॥

विराटपर्व का बयालीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ४२ ॥

अथ त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४३ ॥

बृहन्नलोवाच—यन्मां पूर्वमिहाऽपृच्छः शत्रुसेनापहारिणम् ।
गांडीवमेतत्पार्थस्य लोकेषु विदितं धनुः ॥ १ ॥
सर्वायुधमहामात्रं शातकुंभपरिष्कृतम् ।
एतत्तदर्जुनस्याऽऽसीद्गांडीवं परमायुधम् ॥ २ ॥
यत्तच्छतसहस्रेण संमितं राष्ट्रवर्द्धनम् ।
येन देवान्मनुष्यांश्च पार्थो विजयते मृधे ॥ ३ ॥
चित्रमुच्चावचैर्वर्णैः श्लक्ष्णमायतमव्रणम् ।
देवदानवगंधर्वैः पूजितं शाश्वतीः समाः ॥ ४ ॥
एतद्वर्षसहस्रं तु ब्रह्मा पूर्वमधारयत् ।
ततोऽनंतरमेवाऽथ प्रजापतिरधारयत् ॥ ५ ॥
त्रीणि पंचशतं चैव शक्रोऽशीतिं च पंच च ।
सोमः पंचशतं राजा तथैव वरुणः शतम् ।
पार्थः पंच च षष्टिं च वर्षाणि श्वेतवाहनः ॥ ६ ॥

तेंतालीसवां अध्याय ॥ ४३ ॥

बृहन्नला (अर्जुन) ने कहा—हे राजकुमार ! तुमने पहले जिस शत्रुसेना को चौपट करनेवाले धनुष के बारे में पूछा है वही सब धनुषों में श्रेष्ठ जगत्प्रसिद्ध अर्जुन का गाण्डीव धनुष है । अर्जुन ने इसी धनुष की सहायता से अकेले ही सब देवताओं, दैत्यों और मनुष्यों को हराया है । देवताओं, दैत्यों और गन्धर्वों ने इस परम श्रेष्ठ धनुष की सैकड़ों-हजारों वर्ष तक आराधना की है ॥१।४॥

इस धनुष को पहले ब्रह्मा ने एक हजार वर्ष तक धारण किया है । उनके पश्चात् प्रजापति ने डेढ़ हजार वर्ष तक, फिर इन्द्र ने पचासी हजार वर्ष तक फिर चन्द्रमा ने पाच सौ वर्ष तक इसे धारण किया है । चन्द्रमा से यह धनुष वरुणदेव को मिला। उन्होंने अपने पास सौ वर्ष तक रखकर यह दिव्य धनुष अर्जुन को दिया । अर्जुन के पास यह धनुष पैंसठ वर्ष से है । यह दिव्य धनुष अर्जुन के पास आकर, देवलोक

नहुषस्तां ततो दृष्ट्वा सस्मितो वाक्यमब्रवीत् ।
स्वागतं ते वरारोहे किं करोमि शुचिस्मिते ॥ ६ ॥
भक्तं मां भज कल्याणि किमिच्छसि मनस्विनि ।
तव कल्याणि यत्कार्यं तत्करिष्ये सुमध्यमे ॥ ७ ॥
न च व्रीडा त्वया कार्या सुश्रोणि मयि विश्वसेः ।
सत्येन वै शपे देवि करिष्ये वचनं तव ॥ ८ ॥
इंद्राण्युवाच—यो मे कृतस्त्वया कालस्तमाकांक्षे जगत्पते ।
ततस्त्वमेव भर्ता मे भविष्यसि सुराधिप ॥ ९ ॥
कार्यं च हृदि मे यत्तद्देवराजाऽवधारय ।
वक्ष्यामि यदि मे राजन्प्रियमेतत्करिष्यसि ॥ १० ॥
वाक्यं प्रणयसंयुक्तं ततः स्यां वशगा तव ।
इंद्रस्य वाजिनो वाहा हस्तिनोऽथ रथास्तथा ॥ ११ ॥
इच्छाम्यहमथाऽपूर्वं वाहनं ते सुराधिप ।
यन्न विष्णोर्न रुद्रस्य नाऽसुराणां न रक्षसाम् ॥ १२ ॥
वहंतु त्वां महाभागा ऋषयः संगता विभो ।
सर्वे शिबिकया राजन्नेतद्धि मम रोचते ॥ १३ ॥
नाऽऽसुरेषु न देवेषु तुल्यो भवितुमर्हसि ।

ने मुसकराकर कहा—हे सुन्दरी ! मैं तुम्हारा स्वागत करता हूं, आओ । कहो, मैं तुम्हारा क्या प्रिय करूँ ? हे कल्याणी ! मैं तुम्हारा भक्त हूं, मुझे स्वीकार करो । बताओ, मैं तुम्हारी क्या सेवा करूं ? तुम लज्जा न करो । मेरा विश्वास करो । तुम्हारा जो कार्य हो, उसे करने के लिए मैं तैयार हूं । मैं सत्य की सौगन्द खाकर यह बात कहता हूं ॥५।८॥

इन्द्राणी ने कहा—हे महाराज ! पहले तुमसे जो निश्चय कर चुकी हूं उसी को मैं पूर्ण करना चाहती हूं । इसलिए अब तुम्हीं मेरे स्वामी होगे; किन्तु हे देवराज ! जो मुझे पसन्द है और जो करने के लिए मैं तुमसे कहने आई हूं, सो सुनो । प्रेम के मारे जो कहती हूं वह मेरा प्रिय तुमको करना होगा । इन्द्र हाथी, घोड़े, रथ आदि तरह-तरह के वाहनों पर चढ़कर मेरे पास आते थे । मैं चाहती हूं कि तुम भी ऐसे ही अपूर्व वाहन पर बैठकर मेरे पास आओ जिस पर इन्द्र तो क्या, विष्णु और महादेव भी न सवार हुए हों । सब देवताओं और दानवों से अनोखे वाहन पर बैठकर आना स्वीकार करो तो मैं तुम्हें अंगीकार करने को तैयार हूं ॥९।१२॥

हे राजेन्द्र ! मेरी इच्छा यह है कि ऋषि लोग मिलकर अपने कन्धे पर तुम्हारी पालकी ले

येनाऽसौ व्यजयत्कृत्स्नां प्रतीचीं दिशमाहवे ।
कलापो ह्येष तस्याऽऽसीन्माद्रीपुत्रस्य धीमतः॥ १६ ॥
ये त्विमे भास्कराकाराः सर्वपारसवाः शराः ।
एते चित्रक्रियोपेताः सहदेवस्य धीमतः ॥ १७ ॥
ये त्विमे निशिताः पीताः पृथवो दीर्घवाससः ।
हेमपुंखास्त्रिपर्वाणो राज्ञ एते महाशराः ॥ १८ ॥
यस्त्वयं सायको दीर्घः शिलीपृष्ठः शिलीमुखः ।
अर्जुनस्यैष संग्रामे गुरुभारसहो दृढः ॥ १९ ॥
वैयाघ्रकोशः सुमहान्भीमसेनस्य सायकः ।
गुरुभारसहो दिव्यः शात्रवाणां भयंकरः ॥ २० ॥
सुफलश्चित्रकोशश्च हेमत्सरुरनुत्तमः ।
निस्त्रिंशः कौरवस्यैष धर्मराजस्य धीमतः ॥ २१ ॥
यस्तु पांचनखे कोशे निहितश्चित्रयोधने ।
नकुलस्यैष निस्त्रिंशो गुरुभारसहो दृढः ॥ २२ ॥
यस्त्वयं विपुलः खड्गो गव्ये कोशे समर्पितः ।
सहदेवस्य विद्धयेनं सर्वभारसहं दृढम् ॥ २३ ॥

इति श्रीमन्महाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोग्रहे आयुधवर्णन नाम त्रिचत्वारिंशोऽध्याय ॥ ४३ ॥

अर्धचन्द्राकार वाण भीमसेन के हैं । ये पीले रङ्ग के पाच सिंहों के चिह्न से युक्त वाण नकुल के है । बुद्धिमान् नकुल ने इन सुवर्णपुङ्ख वाणों से पश्चिम दिशा के राजाओं को जीता है ॥१२।१६॥

ये सूर्य के समान चमकीले, परशु के आकार के, वाण वीर सहदेव के है । ये तीक्ष्ण, पीले रङ्ग के, सुवर्णपुङ्खशोभित, तीन गाठोंवाले, दिव्य वाण महाराज युधिष्ठिर के हैं। और, ये बहुत लम्बे और दृढ शिलीमुख वाण महावीर अर्जुन के हैं। राजकुमार, इस बाघ की खाल की म्यान में शत्रुओं को डरवानेवाला भीमसेन का दिव्य खङ्ग है ॥१७।२०॥

वह सुवर्ण की मूठवाली, पैनी, बढ़िया म्यानवाली तलवार महाराज युधिष्ठिर की है । बकरे के चमड़े की म्यान में रखी बहुत दृढ और तीक्ष्ण तलवार नकुल की है । गोचर्म की म्यान में रक्खी हुई दिव्य तलवार सहदेव की है और वह शत्रुओं के सिर काटनेवाला खड्ग अर्जुन का है ॥२१।२३॥

—०—

विराटपर्व का तेंतालीसवा अध्याय समाप्त हुआ ॥ ४३ ॥

त्वया त्यक्तं जगच्चेदं सद्यो नश्येद्धुताशन ॥ २ ॥
कृत्वा तुभ्यं नमो विप्राःस्वकर्मविजितां गतिम्।
गच्छंति सह पत्नीभिः सुतैरपि च शाश्वतीम् ॥ ३ ॥
त्वमेवाऽग्ने हव्यवाहस्त्वमेव परमं हविः ।
यजंति सत्रैस्त्वामेव यज्ञैश्च परमाध्वरे ॥ ४ ॥
सृष्ट्वा लोकांस्त्रीनिमान्हव्यवाह प्राप्ते काले पचसि पुनः समिद्धः।
त्वं सर्वस्य भुवनस्य प्रसूतिस्त्वमेवाऽग्ने भवसि पुनः प्रतिष्ठा॥ ५ ॥
त्वामग्ने जलदानाहुर्विद्युतश्च मनीषिणः ।
दहंति सर्वभूतानि त्वत्तो निष्क्रम्य हेतयः ॥ ६ ॥
त्वय्यापो निहिताः सर्वास्त्वयि सर्वमिदं जगत्।
न तेऽस्त्यविदितं किंचित्त्रिषु लोकेषु पावक ॥ ७ ॥
त्वयोनिं भजते सर्वो विशस्वाऽपोऽविशंकितः ।
अहं त्वां वर्धयिष्यामि ब्राह्मैर्मंत्रैः सनातनैः ॥ ८ ॥
एवं स्तुतो हव्यवाट् स भगवान्कविरुत्तमः ।
बृहस्पतिमथोवाच प्रीतिमान्वाक्यमुत्तमम् ॥ ९ ॥

सोलहवां अध्याय ॥ १६ ॥

बृहस्पति ने कहा—हे अग्नि ! तुम हव्य पहुंचानेवाले और सब देवताओं के मुख हो । तुम साक्षी की तरह गूढ़ रूप से सब प्राणियों के शरीर के भीतर रहते हो । कवियों ने तुम्हें एकरूप बताया है और तुम्हारे तीन रूप भी कहे हैं । हे हुताशन ! तुम न रहो तो यह जगत् बात की बात में नष्ट हो जाए । ब्राह्मण लोग तुम्हारी वन्दना और आराधना करके, अपने पुत्रों और स्त्रियों के साथ, अपने कर्मों से प्राप्त अक्षय गति प्राप्त करते हैं । हे अग्नि ! तुम्हीं हव्यवाह और प्रधान हवि हो । ऋषि लोग छोटे और बड़े यज्ञों से तुम्हारी ही पूजा किया करते हैं ॥१-४॥

हे हव्यवाह ! सृष्टि के आदिकाल में तुम्हीं तीनों लोकों को उत्पन्न करते हो और फिर प्रलयकाल में तुम्हीं बढ़कर संहार करते हो । इस जगत् की उत्पत्ति, पालन और संहार तुम्हीं से होता है । हे अग्नि ! पण्डित लोग बादल और बिजलियों को तुम्हारा ही रूप समझते हैं । ज्वालाएं तुमसे निकलकर सब प्राणियों का पालन करती हैं । सब जगत् और जल तुम्हीं में स्थित है । हे पावक ! तीनों लोकों में ऐसा कुछ नहीं है जिसे तुम न जानते हो । सभी लोग अपनी योनि (उत्पत्तिस्थान) को भजते हैं; इसलिए तुम भी बेखटके जल के भीतर चले जाओ । मैं सनातन वेद के मन्त्रों से तुम्हारे तेज को बढ़ाऊंगा । इस प्रकार स्तुति करने पर देवताओं में श्रेष्ठ भगवान् अग्नि

एकाग्रमनसो भूत्वा शृणु सर्वं समाहितः ।
अर्जुनः फाल्गुनो जिष्णुः किरीटी श्वेतवाहनः।
बीभत्सुर्विजयः कृष्णोः सव्यसाची धनंजयः ॥ ९ ॥
उत्तर उवाच—केनाऽसि विजयो नाम केनाऽसि श्वेतवाहनः।
किरीटी नाम केनाऽसि सव्यसाची कथं भवान्॥ १० ॥
अर्जुनः फाल्गुनो जिष्णुः कृष्णो बीभत्सुरेव च।
धनंजयश्च केनाऽसि ब्रूहि तन्मम तत्त्वतः ॥ ११ ॥
श्रुता मे तस्य वीरस्य केवला नामहेतवः ।
तत्सर्वं यदि मे ब्रूयाः श्रद्दध्यां सर्वमेव ते ॥ १२ ॥
अर्जुन उवाच—सर्वाञ्जनपदाञ्जित्वा वित्तमादाय केवलम् ।
मध्ये धनस्य तिष्ठामि तेनाऽऽहुर्मां धनंजयम् ॥ १३ ॥
अभिप्रयामि संग्रामे यदहं युद्धदुर्मदान् ।
नाऽजित्वा विनिवर्त्तामि तेन मां विजयं विदुः ॥ १४ ॥
श्वेताः काञ्चनसन्नाहा रथे युज्यंति मे हयाः ।
संग्रामे युद्धयमानस्य तेनाऽहं श्वेतवाहनः ॥ १५ ॥
उत्तराभ्यां फल्गुनीभ्यां नक्षत्राभ्यामहं दिवा ।
जातो हिमवतः पृष्ठे तेन मां फाल्गुनं विदुः ॥ १६ ॥

तुम्हारे यहां रहनेवाली स्त्री द्रौपदी हैं ॥५।६॥

यह सुनकर उत्तर ने कहा—मैंने पहले अर्जुन के दस नाम सुने हैं। आप यदि वे दसों नाम बता सकें तो मुझे आपकी बातों पर विश्वास हो ॥७॥

अर्जुन ने कहा—हे राजकुमार! तुमने पहले मेरे जो दस नाम सुने हैं उन्हें मैं कहता हूँ, मन लगाकर सुनो। अर्जुन, फाल्गुन, जिष्णु, किरीटी, श्वेतवाहन, बीभत्सु, विजय, कृष्ण, सव्यसाची और धनञ्जय, यही मेरे दस नाम हैं ॥८।९॥

उत्तर ने कहा—हे अर्जुन! बताइए, आपने ये विजय आदि दस नाम क्यों धारण किये हैं? मैंने सुना है कि अर्जुन के ये दस नाम सार्थक हैं। इसलिए यदि आप इन नामों के पड़ने का कारण बतला सकें तो मैं आपकी बातों पर विश्वास करूँगा ॥१०।१२॥

अर्जुन ने कहा—मैं सब जनपदों (नगरों और देशों) को जीतकर, धन लेकर उसी के बीच रहता हूं—सम्पत्तिमान् हूं—इसी से लोग मुझे धनञ्जय कहते हैं। मैं संग्राम में जाता हूं तो युद्ध करनेवाले वीरों को हराकर विजय प्राप्त किये बिना नहीं लौटता, इसी से मेरा नाम विजय है। युद्ध के समय मेरे रथ में श्वेत रङ्ग के बढ़िया घोड़े जोते जाते हैं, इसी से मैं श्वेतवाहन नाम से प्रसिद्ध हूं। हिमालय पर्वत पर

ततः शक्रं ज्वलनोऽप्याह भागं प्रयच्छ मह्यं तव साह्यं करिष्ये ।
तमाह शक्रो भविताऽग्ने तवापि चेंद्राग्न्योर्वै भाग एको महाक्रतौ॥ ३२ ॥

शल्य उवाच—एवं संचिंत्य भगवान्महेंद्रः पाकशासनः ।
कुबेरं सर्वयक्षाणां धनानां च प्रभुं तथा ॥ ३३ ॥
वैवस्वतं पितृणां च वरुणं चाप्यपां तथा ।
आधिपत्यं ददौ शक्रः संचिंत्य वरदस्तथा ॥ ३४ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि इन्द्रवरुणादिसंवादे षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

इन्द्र ने कहा—मैं वरुण, यम, कुबेर आदि तुम सब लोकपालों को तुम्हारे पदों पर स्थापित करता हूं। सब देवताओं सहित तुम लोग अपने पदों को और यज्ञ-भाग को पाकर अपना-अपना कार्य करो। हम सब मिलकर घोर दृष्टिवाले अपने शत्रु नहुष को जीत लेंगे। तब अग्नि ने इन्द्र से कहा—हे इन्द्र! मैं भी तुम्हारी सहायता करूंगा; मुझे भी यज्ञ में भाग दिलाओ। इन्द्र ने कहा—हे पावक! महायज्ञ में इन्द्राग्नि के नाम से एक भाग तुम्हारा भी होगा। शल्य कहते हैं—इसके पश्चात् इन्द्र ने सत्कार-पूर्वक कुबेर को सब सम्पत्तियों और यक्षों का, यमराज को पितरों का और वरुण को जल का स्वामी बना दिया। ॥३२।३४॥

—०—

उद्योगपर्व का सोलहवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ १६ ॥

अथ सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

शल्य उवाच—अथ संचिंतयानस्य देवराजस्य धीमतः ।
नहुषस्य वधोपायं लोकपालैः सदैवतैः ॥ १ ॥
तपस्वी तत्र भगवानगस्त्यः प्रत्यदृश्यत ।
सोऽब्रवीदर्च्य देवेन्द्रं दिष्ट्या वै वर्धते भवान् ॥ २ ॥
विश्वरूपविनाशेन वृत्रासुरवधेन च ।
दिष्ट्याऽद्य नहुषो भ्रष्टो देवराज्यात्पुरंदर ॥ ३ ॥
दिष्ट्या हतारिं पश्यामि भवंतं बलसूदन ।

इंद्र उवाच—स्वागतं ते महर्षेऽस्तु प्रीतोऽहं दर्शनात्तव ।

सत्रहवां अध्याय ॥ १७ ॥

शल्य ने कहा—हे राजा युधिष्ठिर! लोकपाल देवताओं के साथ इन्द्र इस प्रकार नहुष के वध का उपाय सोच ही रहे थे, कि इसी समय महर्षि अगस्त्य ने वहां पहुंचकर इन्द्र की प्रशंसा करके कहा—बड़ी

यदज्ञानादवोचं त्वां क्षन्तुमर्हसि तन्मम ।
यतस्त्वया कृतं पूर्वं चित्रं कर्म सुदुष्करम् ।
अतो भयं व्यतीतं मे प्रीतिश्च परमा त्वयि ॥ २५ ॥

इति श्रीमन्महाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोग्रहे अर्जुनपरिचये चतुश्चत्वारिंशोऽध्याय ॥ ४४ ॥

मेरा एक नाम भूमिञ्जय भी है। मैंने अब तक बिना जाने जो कुछ अनुचित बात आपको कही हो उस अपराध को क्षमा कीजिएगा। आप पहले जिन दुष्कर कामों को कर चुके हैं उन्हें स्मरण करके इस समय मुझे बड़ा उत्साह हो रहा है। अब मुझे किंचित्मात्र भी भय नहीं है। मैं आपको देखकर और आपका परिचय पाकर बहुत प्रसन्न हो रहा हूं ॥२३।२५॥

—०—

विराटपर्व का चवालीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ४४ ॥

अथ पञ्चचत्वारिंशोऽध्याय ॥ ४५ ॥

उत्तर उवाच—आस्थाय रुचिरं वीर रथं सारथिना मया ।
कतमं यास्यसेऽनीकमुक्तो यास्याम्यहं त्वया ॥ १ ॥

अर्जुन उवाच—प्रीतोऽस्मि पुरुषव्याघ्र न भयं विद्यते तव ।
सर्वान्नुदामि ते शत्रून्रणे रणविशारद ॥ २ ॥
स्वस्थो भव महाबाहो पश्य मां शत्रुभिः सह ।
युध्यमानं विमर्देऽस्मिन्कुर्वाणं भैरवं महत् ॥ ३ ॥
एतान्सर्वानुपासंगान्क्षिप्रं बध्नीहि मे रथे ।
एकं चाऽऽहर निस्त्रिंशं जातरूपपरिष्कृतम् ॥ ४ ॥

वैशम्पायन उवाच—अर्जुनस्य वचः श्रुत्वा त्वरावानुत्तरस्तदा ।
अर्जुनस्याऽऽयुधान्गृह्य शीघ्रेणाऽवातरत्ततः ॥ ५ ॥

पैंतालीसवां अध्याय ॥ ४५ ॥

उत्तर ने कहा—हे वीर ! मैं आपका सारथी बनता हूं। आप रथ पर विराजिए। आज्ञा दीजिए, आपका रथ किधर ले चलूँ। मैं बिना सेना के भी आपके साथ समरभूमि में चलूँगा ॥१॥

अर्जुन ने कहा—हे पुरुषसिंह ! मैं तुम पर बहुत प्रसन्न हूं। अब तुम भयभीत मत होओ। मैं अकेला ही तुम्हारे शत्रुओं का नाश करूंगा। तुम धीरज के साथ देखो, मैं युद्ध के मैदान में कैसा पराक्रम दिखाता हूं। इस समय तुम शीघ्र मेरे रथ पर ये तरकस रख दो और यह निर्मल दिव्य खड्ग ले लो ॥२।४॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजेन्द्र ! अर्जुन के वाक्य सुनकर सब काम करके [अन्य चारों पाण्डवों के शस्त्र उसी वृक्ष पर रखकर] उत्तर नीचे उतर आया ॥५॥

अब अर्जुन ने कहा—हे उत्तर ! मैं युद्ध में

अथ मामस्पृशन्मूर्ध्नि पादेनाऽधर्मपीडितः ॥ १२ ॥
तेनाऽभूद्धततेजाश्च निःश्रीकश्च महीपतिः ।
ततस्तं तमसाऽऽविग्नमवोचं भृशपीडितम् ॥ १३ ॥
यस्मात्पूर्वैः कृतं राजन्ब्रह्मर्षिभिरनुष्ठितम् ।
अदुष्टं दूषयसि मे यच्च मूर्ध्न्यस्पृशः पदा ॥ १४ ॥
यच्चापि त्वमृषीन्मूढ ब्रह्मकल्पान्दुरासदान् ॥ १५ ॥
वाहान्कृत्वा वाहयसि तेन स्वर्गाद्धतप्रभः ।
ध्वंस पापपरिभ्रष्टः क्षीणपुण्यो महीतले ॥ १६ ॥
दशवर्षसहस्राणि सर्परूपधरो महान् ।
विचरिष्यसि पूर्णेषु पुनः स्वर्गमवाप्स्यसि ॥ १७ ॥
एवं भ्रष्टो दुरात्मा स देवराज्यादरिंदम ।
दिष्ट्या वर्धामहे शक्र हतो ब्राह्मणकंटकः ॥ १८ ॥
त्रिविष्टपं प्रपद्यस्व पाहि लोकाञ्शचीपते ।
जितेंद्रियो जितामित्रः स्तूयमानो महर्षिभिः ॥ १९ ॥
शल्य उवाच—ततो देवा भृशं तुष्टा महर्षिगणसंवृताः ।
पितरश्चैव यक्षाश्च भुजगा राक्षसास्तथा ॥ २० ॥

अगस्त्य मुनि कहते हैं कि हे इन्द्र ! इसी बात पर बहस करते-करते नहुष ने, क्रोधान्ध होकर, मेरे सिर में लात मार दी । इस अधर्म के कारण वह तत्काल तेज से हीन और श्रीभ्रष्ट हो गया । तब तमोगुण से व्याकुल नहुष को अत्यन्त पीड़ित देखकर मैंने कहा—रे दुष्ट ! तू पहले के ब्रह्मा आदि के द्वारा कहे और ब्रह्मर्षियों के द्वारा माने गये प्रमाण-वाक्यों को दोष लगाता है, अप्रमाण ठहराता है । मेरे सिर पर तूने लात मारी है और सदा ब्रह्मतुल्य दुर्द्धर्ष ऋषियों को अपनी सवारी ले चलनेवाला वाहन बनाये हुए है । इन कारणों से हे पापी ! तू तेज से हीन होकर स्वर्ग से पृथ्वी पर गिर । तेरा पुण्य क्षीण हो गया है । पृथ्वी पर तू दस हज़ार वर्ष तक अजगर के रूप से रहकर फिर स्वर्ग को आवेगा ॥१२।१७॥

हे शत्रुदमन इन्द्र ! इस तरह दुरात्मा नहुष देव-राज्य से भ्रष्ट हो गया है । बड़े ही भाग्य की बात है कि देवताओं और ऋषियों का कण्टक मारा गया । अब हम लोगों का अभ्युदय होगा । तुम स्वर्ग में चलो । इन्द्रियों और शत्रुओं को तुम जीत ही चुके हो, अब महर्षियों के मुँह से अपनी स्तुति सुनते हुए सब लोकों की रक्षा करो ॥१८।१९॥

शल्य ने कहा—हे राजा युधिष्ठिर ! तब देवता, महर्षि, पितृगण, यक्ष, नाग, राक्षस, गन्धर्व, देवकन्या, अप्सरा, सरोवर, नदी, पर्वत, समुद्र आदि सबने

पपात महती चोल्का दिशो न प्रचकाशिरे ।
भ्रांतध्वजं खं तदाऽऽसीत्प्रकंपितमहाद्रुमम् ॥ ३१ ॥
तं शब्दं कुरवोऽजानन्विस्फोटमशनेरिव ।
यदर्जुनो धनुःश्रेष्ठं बाहुभ्यामाक्षिपद्रथे ॥ ३२ ॥
उत्तर उवाच—एकस्त्वं पांडवश्रेष्ठ बहूनतान्महारथान् ।
कथं जेष्यासि संग्रामे सर्वशस्त्रास्त्रपारगान् ॥ ३३ ॥
असहायोऽसि कौन्तेय ससहायाश्च कौरवाः ।
अत एव महाबाहो भीतस्तिष्ठामि तेऽग्रतः ॥ ३४ ॥
उवाच पार्थो मा भैषीः प्रहस्य स्वनवत्तदा ॥ ३५ ॥
युध्यमानस्य मे वीर गंधर्वैः सुमहाबलैः ।
सहायो घोषयात्रायां कस्तदाऽऽसीत्सखा मम ॥ ३६ ॥
तथा प्रतिभये तस्मिन्देवदानवसंकुले ।
खांडवे युध्यमानस्य कस्तदाऽऽसीत्सखा मम ॥ ३७ ॥
निवातकवचैः सार्धं पौलोमैश्च महाबलैः ।
युध्यतो देवराजार्थे कः सहायस्तदाऽभवत् ॥ ३८ ॥
स्वयंवरं तु पांचाल्या राजभिः सह संयुगे ।
युध्यतो बहुभिस्तात कः सहायस्तदाऽभवत् ॥ ३९ ॥

तेज वायु चलने लगी । चारों दिशाओं में घना अंधेरा छा गया । बार-बार वेग से घोर शब्द के साथ उल्कापात होने लगे । रथों के झण्डे हिलने और वृक्ष उखड़-उखड़कर गिरने लगे । वज्रपात के समान वह, गाण्डीव धनुष का, महाभयङ्कर शब्द सुनकर कौरवों ने समझ लिया कि यह अर्जुन के गाण्डीव धनुष का ही शब्द है । ॥२९।३२॥

उत्तर कुमार ने अर्जुन से कहा—हे पाण्डवश्रेष्ठ ! आप तो असहाय अकेले हैं और महारथी महाकाय कौरव बहुत से हैं । उनके सहायक भी बहुत से हैं । मुझे चिन्ता हो रही है कि ऐसी दशा में आप किस तरह इन अस्त्र शस्त्रज्ञ वीरों को परास्त कर सकेंगे । इसी से भय के मारे मैं आपके आगे खड़ा हूं ॥३३।३४॥

यह सुनकर हँसते हुए अर्जुन कहने लगे—हे उत्तर ! तुम तनिक भी न भयभीत होओ । देखो, "घोषयात्रा" के समय दुर्योधन को छुड़ाने के लिए जब मैंने महाबली गन्धर्वों से युद्ध किया था तब कौन मेरी सहायता करनेवाला था ? जब खाण्डव वन में मैंने देव-सेना के साथ घोर युद्ध किया था तब कौन मेरा सहायक था ? ॥३५।३७॥

जब इन्द्र का कार्य सिद्ध करने के लिए पराक्रमी

भवान्कर्णस्य सारथ्यं करिष्यति न संशयः ।
तत्र तेजोवधः कार्यः कर्णस्याऽर्जुनसंस्तवः ॥ २३ ॥

शल्य उवाच—एवमेतत्करिष्यामि यथा मां संप्रभाषसे ।
यच्चाऽन्यदपि शक्ष्यामि तत्करिष्याम्यहं तव ॥ २४ ॥

वैशम्पायन उवाच—ततस्त्वामंत्र्य कौन्तेयाञ्छल्यो मद्राधिपस्तदा ।
जगाम सबलः श्रीमान्दुर्योधनमरिंदम ॥ २५ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि शल्यगमने अष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

कहा—आपको कर्ण का सारथी बनना पड़ेगा। उस समय आप अर्जुन की प्रशंसा करके कर्ण का उत्साह घटाते रहिएगा। शल्य ने कहा—मैं यह काम अवश्य कर दूंगा। साथ ही और भी जो कुछ तुम्हारी भलाई मुझसे हो सकेगी वह मैं करूंगा। हे राजा जनमेजय! इसके पश्चात् पाण्डवों से बिदा होकर मद्रराज शल्य राजा दुर्योधन के पास गये ॥२३।२५॥

—०—

उद्योगपर्व का अठारहवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ १८ ॥

अथ एकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

वैशम्पायन उवाच—युयुधानस्ततो वीरः सात्वतानां महारथः ।
महता चतुरंगेण बलेनाऽगाद्युधिष्ठिरम् ॥ १ ॥

तस्य योधा महावीर्या नानादेशसमागताः ।
नानाप्रहरणा वीराः शोभयांचक्रिरे बलम् ॥ २ ॥

परश्वधैर्भिन्दिपालैः शूलतोमरमुद्गरैः ।
परिघैर्यष्टिभिः पाशैः करवालैश्च निर्मलैः ॥ ३ ॥

खड्गकार्मुकनिर्व्यूहैः शरैश्च विविधैरपि ।
तैलधौतैः प्रकाशद्भिः सदाऽशोभत वै बलम् ॥ ४ ॥

तस्य मेघप्रकाशस्य सौवर्णैः शोभितस्य च ।
बभूव रूपं सैन्यस्य मेघस्येव सविद्युतः ॥ ५ ॥

उन्नीसवां अध्याय ॥ १९ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! महारथी यादववीर सात्यकि बहुत सी चतुरङ्गिणी सेना साथ लेकर राजा युधिष्ठिर के पास आये। अनेक देशों से आये हुए वीर योद्धा तरह-तरह के शस्त्र लिये उस सेना की शोभा बढ़ा रहे थे। तेल से धोये चमकीले परश्वध, भिन्दिपाल, शूल, तोमर, मुद्गर, परिघ, लकड़ी, पाश, निर्मल करवाल, खड्ग, धनुष और विविध बाण उस सेना को सुशोभित कर रहे

रथं तमागतं दृष्ट्वा दक्षिणं प्राकरोत्तदा ।
रथमास्थाय बीभत्सुः कौंतेयः श्वेतवाहनः ॥ ६ ॥
बद्धगोधांगुलित्राणः प्रगृहीतशरासनः ।
ततः प्रायादुदीचीं च कपिप्रवरकेतनः ॥ ७ ॥
स्वनवंतं महाशंखं बलवानरिमर्दनः ।
प्राधमद्बलमास्थाय द्विषतां लोमहर्षणम् ॥ ८ ॥
ततस्ते जवना धुर्या जानुभ्यामगमन्महीम् ।
उत्तरश्चापि संत्रस्तो रथोपस्थ उपाविशत् ॥ ९ ॥
संस्थाप्य चाऽश्वान्कौंतेयः समुद्यम्य च रश्मिभिः।
उत्तरं च परिष्वज्य समाश्वासयदर्जुनः ॥ १० ॥

अर्जुन उवाच—मा भैस्त्वं राजपुत्राग्र्य क्षत्रियोऽसि परंतप ।
कथं तु पुरुषव्याघ्र शत्रुमध्ये विषीदसि ॥ ११ ॥
श्रुतास्ते शंखशब्दाश्च भेरीशब्दाश्च पुष्कलाः ।
कुंजराणां च नदतां व्यूढानीकेषु तिष्ठताम् ॥ १२ ॥
स त्वं कथमिहाऽनेन शंखशब्देन भीषितः ।
विवर्णरूपो वित्रस्तः पुरुषः प्राकृतो यथा ॥ १३ ॥

उत्तर उवाच—श्रुता मे शंखशब्दाश्च भेरीशब्दाश्च पुष्कलाः ।
कुंजराणां निनदतां व्यूढानीकेषु तिष्ठताम् ॥ १४ ॥

वह विचित्र ध्वजा, और सब युद्ध-सामग्री के साथ, आकाश से अर्जुन के रथ पर गिरी। अर्जुन ने उस ध्वजा समेत रथ की प्रदक्षिणा की। अब वे वानर-चिह्न-युक्त ध्वजा से शोभित रथ पर सवार हुए। उंगलियों में गोह के चमड़े के अंगुलित्राण पहने, गाण्डीव धनुष लिये हुए अर्जुन युद्ध करने के लिए तैयार हुए ॥५।७॥

शत्रुनाशन अर्जुन शत्रुओं के रोंगटे खड़े कर देनेवाला शङ्ख बजाने लगे। अर्जुन का दारुण शङ्ख-नाद सुनकर वेगशाली घोड़े ऐसे डरे कि मुंह के बल पृथ्वी पर गिर पड़े और उत्तर बेहोश सा होकर रथ के ऊपर बैठ गया। अर्जुन ने स्वयं घोड़ों को, रास अपने हाथ में लेकर, उठाया ॥८।१०॥

फिर उत्तर को गले से लगाकर दिलासा देते हुए अर्जुन कहने लगे—हे राजकुमार! डरो नहीं। हे पुरुषसिंह, तुम क्षत्रिय होकर किसलिए शत्रुओं के बीच में यों खेद कर रहे हो? तुम बहुत से शङ्खों का शब्द, युद्ध के नगाड़ों का शब्द और युद्ध के हाथियों का चिग्घाड़ना सुन चुके हो; फिर क्यों इस समय साधारण मनुष्य की तरह घबरा रहे हो? तुम्हारा मुख क्यों मलिन देख पड़ रहा है ॥११।१३॥

यः स पांचालराजेन प्रेषितः कौरवान्प्रति ॥ ३३ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि पुरोहितसैन्यदर्शने एकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥
समाप्तञ्च सेनोद्योगपर्व ।

वारण, वाटधान, यामुन पर्वत आदि धनधान्यपूर्ण प्रदेशों में फैलकर टिक रहीं । हे राजा जनमेजय ! इसी बीच में राजा द्रुपद का भेजा हुआ दूत, वह पुरोहित, हस्तिनापुर में आया । राह में उसने उस विशाल सेना के पड़ाव देखे ॥३०।३३॥

—०—

उद्योगपर्व का उन्नीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ १९ ॥

अथ संजययानपर्व ।

अथ विंशोऽध्यायः ॥ २० ॥

वैशम्पायन उवाच—स च कौरव्यमासाद्य द्रुपदस्य पुरोहितः ।
सत्कृतो धृतराष्ट्रेण भीष्मेण विदुरेण च ॥ १ ॥
सर्वंकौशल्यमुक्त्वाऽऽदौ पृष्ट्वा चैवमनामयम् ।
सर्वसेनाप्रणेतॄणां मध्ये वाक्यमुवाच ह ॥ २ ॥
सर्वैर्भवद्भिर्विदितो राजधर्मः सनातनः ।
वाक्योपादानहेतोस्तु वक्ष्यामि विदिते सति ॥ ३ ॥
धृतराष्ट्रश्च पांडुश्च सुतावेकस्य विश्रुतौ ।
तयोः समानं द्रविणं पैतृकं नाऽत्र संशयः ॥ ४ ॥
धृतराष्ट्रस्य ये पुत्राः प्राप्तं तैः पैतृकं वसु ।
पांडुपुत्राः कथं नाम न प्राप्ताः पैतृकं वसु ॥ ५ ॥
एवं गते पांडवेयैर्विदितं वः पुरा यथा ।
न प्राप्तं पैतृकं द्रव्यं धृतराष्ट्रेण संवृतम् ॥ ६ ॥

बीसवां अध्याय ॥ २० ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! द्रुपद का पुरोहित जब कौरवों की सभा में पहुंचा तब धृतराष्ट्र, भीष्म और विदुर ने उसका यथोचित सत्कार किया । पाण्डवों के कुशल-समाचार कहकर और कौरवों की कुशल पूछकर सब सेना-नायकों के सामने पुरोहित ने कहा—आप लोग सनातन राजनीति को अच्छी तरह से जानते हैं । परन्तु आपके जानने पर भी प्रसङ्गवश मैं कुछ कहता हूं ॥१।३॥

धृतराष्ट्र और पाण्डु दोनों एक ही पिता की सन्तान हैं । पिता की सम्पत्ति में दोनों का ही समान भाग है । । धृतराष्ट्र के पुत्रों ने पिता की सम्पत्ति पाई है, तो फिर पाण्डवों को अपने पिता की सम्पत्ति क्यों नहीं मिली ? यह बात आप लोगों से छिपी हुई नहीं है कि पहले जब पाण्डव वन में थे तब धृतराष्ट्र

अज्ञातवासो वीभत्सुरथाऽस्माभिः समागतः ॥ ४ ॥
अनिवृत्ते तु निर्वासे यदि वीभत्सुरागतः ।
पुनर्द्वादश वर्षाणि वने वत्स्यंति पाण्डवाः ॥ ५ ॥
लोभाद्वा ते न जानीयुरस्मान्वा मोह आविशत् ।
हीनातिरिक्तमेतेषां भीष्मो वेदितुमर्हति ॥ ६ ॥
अर्थानां च पुनर्द्वैधे नित्यं भवति संशयः ।
अन्यथा चिंतितो ह्यर्थः पुनर्भवति सोऽन्यथा ॥ ७ ॥
उत्तरं मार्गमाणानां मत्स्यानां च युयुत्सताम् ।
यदि वीभत्सुरायातस्तदा कस्याऽपराध्नुमः ॥ ८ ॥
त्रिगर्त्तानां वयं हेतोर्मत्स्यान्योद्धुमिहाऽऽगताः ।
मत्स्यानां विप्रकारांस्ते वहूनस्मानकीर्त्तयन् ॥ ९ ॥
तेषां भयाभिभूतानां तदस्माभिः प्रतिश्रुतम् ।
प्रथमं तैर्ग्रहीतव्यं मत्स्यानां गोधनं महत् ।
सप्तम्यामपराह्णे वै तथा तैस्तु समाहितम् ॥ १० ॥
अष्टम्यां पुनरस्माभिरादित्यस्योदयं प्रति ।
इमा गावो ग्रहीतव्या गते मत्स्ये गवां पदम् ॥ ११ ॥

करना पड़ेगा। अभी पाण्डवों का वह समय पूरा नहीं हुआ। अज्ञातवास के तेरहवें वर्ष में अभी कुछ दिन शेष हैं। इसलिए अज्ञातवास का समय पूरा होने के पहले ही यदि अर्जुन आये हैं तो पाण्डवों को फिर बारह वर्ष वन में व्यतीत करने पड़ेंगे ॥१।५॥

उन्होंने लोभ के मारे प्रतिज्ञा को तोड़ा है, या हमीं भूलते हैं। ठीक-ठीक क्या बात है, सो पितामह भीष्म को मालूम होगी। किसी विषय में दुविधा होने पर सदैव संशय हुआ करता है। कोई विषय अपनी समझ से निश्चित होने पर भी और का और प्रमाणित हो जाता है। धर्मात्मा लोग भी स्वार्थ सोचने के समय भ्रम में पड़ सकते हैं। तात्पर्य यह है कि पाण्डवों के अज्ञातवास का समय समाप्त हो चुका है या नहीं, इस बारे में मुझे बहुत सन्देह हो रहा है। इस विषय में पितामह भीष्म ही ठीक बता सकते हैं। हम लोग यहां मत्स्यदेश की सेना से युद्ध करने के लिए आये हैं। यदि मत्स्यदेश की सेना के साथ हमसे युद्ध करने अर्जुन आये हैं तो इसमें हमारा कोई अपराध नहीं। मत्स्यदेश के राजा ने त्रिगर्तदेश को बहुत हानि पहुंचाई है। त्रिगर्तराज ने, डर के मारे व्याकुल होकर हमसे सहायता मांगी। हमने उनको सहायता देना स्वीकार करके उनसे वादा किया कि पहले वे लोग जाकर सप्तमी को तीसरे पहर राजा विराट की [दक्षिण ओर की] गोशाला पर आक्रमण

दुर्योधनं समालोक्य कर्णो वचनमब्रवीत् ॥ ८ ॥
न तत्राऽविदितं ब्रह्मँल्लोके भूतेन केनचित् ।
पुनरुक्तेन किं तेन भाषितेन पुनः पुनः ॥ ९ ॥
दुर्योधनार्थे शकुनिर्द्यूते निर्जितवान्पुरा ।
समयेन गतोऽरण्यं पाण्डुपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ १० ॥
स तं समयमाश्रित्य राज्यं नेच्छति पैतृकम् ।
बलमाश्रित्य मत्स्यानां पांचालानां च मूर्खवत् ॥ ११ ॥
दुर्योधनो भयाद्विद्वन्न दद्यात्पादमंततः ।
धर्मतस्तु महीं कृत्स्नां प्रदद्याच्छत्रवेऽपि च ॥ १२ ॥
यदि कांक्षन्ति ते राज्यं पितृपैतामहं पुनः ।
यथाप्रतिज्ञं कालं तं चरंतु वनमाश्रिताः ॥ १३ ॥
ततो दुर्योधनस्यांऽके वर्ततामकुतोभयाः ।
अधार्मिकीं तु मा बुद्धिं मौर्ख्यात्कुर्वंतु केवलात् ॥ १४ ॥
अथ ते धर्ममुत्सृज्य युद्धमिच्छंति पांडवाः ।
आसाद्येमान्कुरुश्रेष्ठान्स्मरिष्यंति वचो मम ॥ १५ ॥
भीष्म उवाच—किं नु राधेय वाचा ते कर्म तत्स्मर्त्तुमर्हसि ।

दुर्योधन की ओर देखा और कहा—हे ब्रह्मन्! आपने जिस बारे में ये वचन कहे उसे, ऐसा कोई नहीं है, जो जानता न हो। जानी हुई बात को बार-बार कहने से कोई लाभ नहीं है। सभी जानते हैं कि शकुनि ने दुर्योधन की ओर से चौसर खेलकर युधिष्ठिर का राज्य जीत लिया था और अन्त को युधिष्ठिर वनवास की प्रतिज्ञा करके वन को गये थे ॥८।१०॥

युधिष्ठिर इस प्रतिज्ञा को पूर्ण किये बिना ही, मूर्खों की तरह, विराट और द्रुपद के बल पर भूलकर अपने पिता का राज्य लेना चाहते हैं। राजा दुर्योधन धर्म के अनुसार अपने शत्रु को भी सारी पृथ्वी का राज्य दे डालने को तैयार हैं; किन्तु किसी के दबाव से भयभीत होकर पग भर भी पृथ्वी नहीं दे सकते। जो पाण्डव लोग अपने पिता का राज्य लेना चाहते हैं तो प्रतिज्ञा के अनुसार बारह वर्ष वन में फिर रहें और अज्ञातवास करें; [क्योंकि हमने समय पूर्ण होने के पहले ही इन्हें विराट की नगरी में देख लिया है।] जब वे फिर वनवास करके प्रतिज्ञा पूरी करेंगे तब दुर्योधन की शरण में निर्भय होकर रहेंगे। [illegible] प्रतिज्ञा पूरी किये बिना राज्य प्राप्त करने की [illegible] बुद्धि करना उनके लिए सर्वथा अनुचित है। यदि पाण्डव लोग धर्म को छोड़कर युद्ध की इच्छा करें तो तब कौरवों का [illegible] बातें [illegible] ॥[illegible]॥

दुर्योधनवचः श्रुत्वा राधेयस्त्वब्रवीद्वचः ।
आचार्यं पृष्ठतः कृत्वा तथा नीतिर्विधीयताम् ॥ २० ॥
जानाति हि मतं तेषामतस्त्रासयतीह नः ।
अर्जुने चाऽस्य संप्रीतिमधिकामुपलक्षये ॥ २१ ॥
तथा हि दृष्ट्वा बीभत्सुमुपायांतं प्रशंसति ।
यथा सेना न भज्येत तथा नीतिर्विधीयताम् ॥ २२ ॥
हेषितं ह्युपशृण्वाने द्रोणे सर्वं विघट्टितम् ।
अदेशिका महारण्ये ग्रीष्मे शत्रुवशंगताः ।
यथा न विभ्रमेत्सेना तथा नीतिर्विधीयताम् ॥ २३ ॥
इष्टा हि पांडवा नित्यमाचार्यस्य विशेषतः ।
आसयन्नपरार्थांश्च कथ्यते स्म स्वयं तथा ॥ २४ ॥
अश्वानां हेषितं श्रुत्वा कः प्रशंसापरो भवेत् ।
स्थाने वाऽपि व्रजंतो वा सह हेषंति वाजिनः॥ २५ ॥
सदा च वायवो वांति नित्यं वर्षति वासवः ।
स्तनयित्नोश्च निर्घोषः श्रूयते बहुशस्तदा ॥ २६ ॥

हो जायँ। चाहे इन्द्र-सहित देवता हों और चाहे स्वयं यमराज, उनसे युद्ध अवश्य किया जायगा। कोई हमसे गायें छीनने आवेंगे तो हम उससे युद्ध करेंगे। बिना युद्ध किये हुए कौन हस्तिनापुर जा सकता है ! [विपक्षी] पैदल हो चाहे घोड़े का सवार, युद्ध-क्षेत्र में सामना होने पर, कोई मेरे बाणों से नहीं बचेगा ॥१५।१९॥

दुर्योधन की सम्मति सुनकर कर्ण ने कहा—इस समय द्रोणाचार्य की बातों पर ध्यान न देकर युद्ध की नीति का विधान करना चाहिए। आचार्य पाण्डवों के मत को जानते हैं, इसी से इस तरह की बातें कहकर डरवा रहे हैं। आचार्य को अर्जुन बहुत प्यारे हैं। मुझे तो ऐसा ही जान पड़ता है। इसी से अर्जुन को आते देखकर ही वे उनकी प्रशंसा कर रहे हैं। अर्जुन के घोड़ों का हिनहिनाना सुनकर ही आचार्य के भयभीत हो जाने से सब गड़बड़ हो जायगा। इससे ऐसा प्रबन्ध करना चाहिए जिसमें इस विदेश में, वन के बीच, विपत्ति में पड़ी हमारी सेना (वसन्त में) भ्रान्त या विपथगामिनी न हो जाय। आचार्य स्वीकार करते हैं कि पाण्डवों पर उन्हें विशेष प्रीति है ॥२०।२४॥

[सम्भव है, अपना तात्पर्य सिद्ध करने के लिए पाण्डव लोग द्रोणाचार्य को तुम्हारे यहां छोड़ गये हों;] नहीं तो केवल घोड़ों का हिनहिनाना सुनकर कौन मनुष्य शत्रु की प्रशंसा करने लगेगा ! अपने स्थान में रहते समय या रवाना होते समय हिनहिनाना

श्येनौ यथा पक्षिपूगान्रुजंतौ माद्रीपुत्रौ शेषयेतां न शत्रून् ॥ १६ ॥
एतद्बलं पूर्वमस्माकमेवं यत्सत्यं तान्प्राप्य नास्तीति मन्ये ।
तेषां मध्ये वर्तमानस्तरस्वी धृष्टद्युम्नः पांडवानामिहैकः ॥ १७ ॥
सहामात्यः सोमकानां प्रवर्हः संत्यक्तात्मा पांडवार्थे श्रुतो मे ।
अजातशत्रुं प्रसहेत कोऽन्यो येषां स स्यादग्रणीर्वृष्णिसिंहः ॥ १८ ॥
सहोषितश्चरितार्थो वयस्थो मात्स्येयानामधिपो वै विराटः ।
स वै सपुत्रः पांडवार्थे च शश्वद्युधिष्ठिरे भक्त इति श्रुतं मे ॥ १९ ॥
अवरुद्धा रथिनः केकयेभ्यो महेष्वासा भ्रातरः पंच संति ।
केकयेभ्यो राज्यमाकांक्षमाणा युद्धार्थिनश्चाऽनुवसंति पार्थान् ॥ २० ॥
सर्वांश्च वीरान्पृथिवीपतीनां समागतान्पांडवार्थे निविष्टान् ।
शूरानहं भक्तिमतः शृणोमि प्रीत्या युक्तान्संश्रितान्धर्मराजम् ॥ २१ ॥
गिर्याश्रया दुर्गनिवासिनश्च योधाः पृथिव्यां कुलजातिशुद्धाः ।
म्लेच्छाश्च नानायुधवीर्यवंतः समागताः पांडवार्थे निविष्टाः ॥ २२ ॥
पांड्यश्च राजा समितींद्रकल्पो योधप्रवीरैर्बहुभिः समेतः ।
समागतः पांडवार्थे महात्मा लोकप्रवीरोऽप्रतिवीर्यतेजाः ॥ २३ ॥

तेजस्वी, बली, फुरतीले, अर्जुन के सिखाये, सुशिक्षित नकुल और सहदेव युद्ध में एक भी शत्रु को जीता नहीं छोड़ेंगे और दो बाज़ जैसे पक्षियों पर आक्रमण करते हों वैसे ही शत्रुसेना पर आक्रमण करेंगे। यह सत्य है कि हमारी ओर से युद्ध करने के लिए अपार सेना एकत्र हुई है, परन्तु पाण्डवों के मुकाबले में वह मुझे कुछ नहीं जचती। तेजस्वी पराक्रमी धृष्टद्युम्न और मन्त्रियों-सहित सोमकश्रेष्ठ राजा द्रुपद पाण्डवों के पक्ष में हैं। मैंने सुना है कि वे पाण्डवों के लिए अपने प्राण तक दे देने को तैयार हैं। वृष्णिसिंह श्रीकृष्ण जिनके नेता और मददगार हैं उन युधिष्ठिर का सामना कौन कर सकता है? ॥१६।१८॥

राजा विराट के यहां पाण्डव लोग एक वर्ष तक रहे हैं और उन्होंने विराट का उपकार भी किया है। वृद्ध मत्स्यराज विराट और उनके पुत्र युधिष्ठिर के बड़े भक्त हैं [वे भी पाण्डवों की ओर से युद्ध करेंगे,] यह मैं सुन चुका हूं। केकयदेश के महायोद्धा पांच राजकुमार पहले हमारे पक्ष में थे। हम लोगों ने जब से उन्हें केकयदेश से बाहर निकाल दिया और उनका राज्य छीन लिया, तब से वे हमारे शत्रु हो गये हैं। इस समय वे भी अपना राज्य लेने की इच्छा से पाण्डवों के सहायक हो गये हैं और हमसे युद्ध करने के लिए उस ओर जा मिले हैं ॥१९।२०॥

मैंने सुना है कि इसी तरह सब प्रधान शूरवीर राजा लोग पाण्डवों पर भक्ति रखते हैं और प्रसन्नता-पूर्वक उनकी सहायता करने के लिए युधिष्ठिर के पास पहुंच गये हैं। पर्वतों और दुर्गों में रहनेवाले,

शत्रुओं के गुणों का बखान करनेवाले आचार्यों और पण्डितों की बात पर ध्यान न देकर इस समय उसी नीति को ग्रहण करना चाहिए जिससे शत्रु का नाश हो। सेना की नाकेबन्दी करके बीच में सब गायें कर लो। सुरक्षित व्यूह-रचना के बीच में डटकर हम शत्रुओं से युद्ध करेंगे ॥३३।३४॥

विराटपर्व का सैंतालीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ४७ ॥

अथ अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४८ ॥

कर्ण उवाच—सर्वानायुष्मतो भीतान्संत्रस्तानिव लक्षये ।
अयुद्धमनसश्चैव सर्वांश्चैवाऽनवस्थितान् ॥ १ ॥
यद्येष राजा मत्स्यानां यदि बीभत्सुरागतः ।
अहमावारयिष्यामि वेलेव मकरालयम् ॥ २ ॥
मम चापप्रयुक्तानां शराणां नतपर्वणाम् ।
नाऽवृत्तिर्गच्छतां तेषां सर्पाणामिव सर्पताम् ॥ ३ ॥
रुक्मपुंखाः सुतीक्ष्णाग्रा मुक्ता हस्तवता मया ।
छादयंतु शराः पार्थं शलभा इव पादपम् ॥ ४ ॥
शराणां पुंखसक्तानां मौर्व्याऽभिहतया दृढम् ।
श्रूयतां तलयोः शब्दो भेर्योराहतयोरिव ॥ ५ ॥
समाहितो हि बीभत्सुर्वर्षाण्यष्टौ च पंच च ।
जातस्नेहश्च युद्धेऽस्मिन्मयि संप्रहरिष्यति ॥ ६ ॥
पात्रीभूतश्च कौंतेयो ब्राह्मणो गुणवानिव ।
शरौघान्प्रतिगृह्णातु मया मुक्तान्सहस्रशः ॥ ७ ॥

अड़तालीसवां अध्याय ॥ ४८ ॥

कर्ण ने कहा—मुझे सभी वीर योद्धा भयभीत हुए घबराये और युद्ध से विमुख हुए देख पड रहे हैं। यह आनेवाला पुरुष विराट हो चाहे अर्जुन [भयभीत होने की क्या बात है ?] मैं इसे वैसे ही रोक लूंगा जैसे तटभूमि समुद्र को रोक रखती है। मेरे धनुष से छूटे हुए, विषैले साप-सदृश, तीक्ष्ण बाण खाली नहीं लौटते। चिड़ियां जैसे वृक्ष पर जगह जगह बैठ जाती हैं, वैसे ही मेरे सुवर्ण-मण्डित बाण अर्जुन के शरीर में भर जायँगे ॥१-४॥

शत्रु लोग इसी घड़ी धनुष से छूटे हुए मेरे बाणों का और ताल ठोंकने का, डंके के शब्द के समान, गम्भीर शब्द सुनेंगे। तेरह वर्ष व्यतीत होने पर युद्ध में मुझे परास्त करने के लिए अर्जुन अत्यन्त उत्सुक है। इसलिए इस युद्ध में वह बड़ी उमङ्ग के

अनामयं पृच्छति त्वाऽम्बिकेयो वृद्धो राजा धृतराष्ट्रो मनीषी ।
कच्चिद्भीमः कुशली पांडवाग्र्यो धनंजयस्तौ च माद्रीतनूजौ ॥ ४ ॥
कच्चित्कृष्णा द्रौपदी राजपुत्री सत्यव्रता वीरपत्नी सपुत्रा ।
मनस्विनी यत्र च वांछसि त्वमिष्टान्कामान्भारत स्वस्तिकामः ॥ ५ ॥
युधिष्ठिर उवाच–गावल्गणे संजय स्वागतं ते प्रीयामहे ते वयं दर्शनेन ।
अनामयं प्रतिजाने तवाऽहं सहानुजैः कुशली चाऽस्मि विद्वन् ॥ ६ ॥
चिरादिदं कुशलं भारतस्य श्रुत्वा राज्ञः कुरुवृद्धस्य सूत ।
मन्ये साक्षाद् दृष्टमहं नरेंद्रं दृष्ट्वैव त्वां संजय प्रीतियोगात् ॥ ७ ॥
पितामहो नः स्थविरो मनस्वी महाप्राज्ञः सर्वधर्मोपपन्नः ।
स कौरव्यः कुशली तात भीष्मो यथापूर्वं वृत्तिरस्त्यस्य कच्चित् ॥ ८ ॥
कच्चिद्राजा धृतराष्ट्रः सपुत्रो वैचित्रवीर्यः कुशली महात्मा ।
महाराजो बाह्लिकः प्रातिपेयः कच्चिद्विद्वान्कुशली सूतपुत्र ॥ ९ ॥
स सोमदत्तः कुशली तात कच्चिद्भूरिश्रवाः सत्यसंधः शलश्च ।
द्रोणः सपुत्रश्च कृपश्च विप्रो महेष्वासाः कच्चिदेतेऽप्यरोगाः ॥ १० ॥
सर्वे कुरुभ्यः स्पृहयंति संजय धनुर्धरा ये पृथिव्यां प्रधानाः ।
महाप्रज्ञाः सर्वशास्त्रावदाता धनुर्भृतां मुख्यतमाः पृथिव्याम् ॥ ११ ॥

हैं न ? सत्यवादिनी, वीरपत्नी, श्रेष्ठ पुत्रोंवाली, मनस्विनी द्रौपदी तो अच्छी तरह हैं न ? जिनका आप सदा भला चेतते रहते हैं और जिन हाथी-घोड़े आदि की आपका इच्छा रहती है वे सब अच्छी दशा में हैं न ? ॥१।५॥

युधिष्ठिर ने कहा–हे सञ्जय ! आओ, मैं प्रसन्न होकर तुम्हारा स्वागत करता हूं । मुझे आशा है कि तुम सब प्रकार से सकुशल होओगे । हे सूत ! मैं भाइयों के साथ सब प्रकार से सकुशल हूं । बहुत दिनों के पश्चात् कुरु वृद्ध राजा धृतराष्ट्र के कुशल-समाचार पाकर और तुमको देखकर मुझे महाराज को साक्षात् देखने की सी प्रसन्नता हुई है । हमारे वृद्ध पितामह, मनस्वी, प्राज्ञ, सब धर्मों के ज्ञाता और प्रतिपालक, कुरु-कुल-तिलक भीष्म तो सकुशल हैं न ? हमारे ऊपर उनका जो स्नेह पहले था उसमें कुछ कमी तो नहीं हुई ? हे सूत ! महात्मा राजा धृतराष्ट्र और विद्वान् महात्मा बाह्लीक तो कुशल से हैं ? सोमदत्त, भूरिश्रवा, सत्यप्रतिज्ञ शल, द्रोणाचार्य अश्वत्थामा, कृपाचार्य आदि सब महारथी तो नीरोग और सकुशल हैं न ? ॥६।१०॥

बुद्धिमान्, सब शास्त्रों के प्रसिद्ध ज्ञाता, प्रधान योद्धा क्षत्रिय लोग तो कौरवों के अनुकूल और अनुगामी हैं ? जिनके राज्य में दर्शनीय, सच्चरित्र, महाधनुर्द्धर द्रोणपुत्र अश्वत्थामा रहते हैं वे योद्धा कौरव तो नीरोग

सुतेजनै रुक्मपुंखैः सुधौतैर्नतपर्वभिः ।
आचितं पश्य कौंतेयं कर्णिकारैरिवाऽचलम् ॥ १७ ॥
जामदग्न्यान्मया ह्यस्त्रं यत्प्राप्तमृषिसत्तमात् ।
तदुपाश्रित्य वीर्यं च युद्धेयमपि वासवम् ॥ १८ ॥
ध्वजाग्रे वानरस्तिष्ठन्भल्लेन निहतो मया ।
अद्यैव पततां भूमौ विनदन्भैरवान्रवान् ॥ १९ ॥
शत्रोर्मया विपन्नानां भूतानां ध्वजवासिनाम् ।
दिशः प्रतिष्ठमानानामस्तु शब्दो दिवंगमः ॥ २० ॥
अद्य दुर्योधनस्याऽहं शल्यं हृदि चिरस्थितम् ।
समूलमुद्धरिष्यामि बीभत्सुं पातयन्रथात् ॥ २१ ॥
हताश्वं विरथं पार्थं पौरुषे पर्यवस्थितम् ।
निःश्वसंतं यथा नागमद्य पश्यंतु कौरवाः ॥ २२ ॥
कामं गच्छंतु कुरवो धनमादाय केवलम् ।
रथेषु वापि तिष्ठंतो युद्धं पश्यंतु मामकम् ॥ २३ ॥

इति श्रीमन्महाभारते विराटपर्वणि उत्तरगोग्रहे कर्णविकत्थने अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४८ ॥

सर्प बांबी में घुस जाते हैं वैसे ही आज मेरे बाण अर्जुन के शरीर में घुसेंगे ॥१३।१६॥

पर्वत जैसे कनेर के फूलों से शोभित हो वैसे ही आज अर्जुन का शरीर मेरे तीक्ष्ण सुवर्णपुङ्ख बाणों से शोभित होगा। मैंने महर्षिश्रेष्ठ परशुराम से अस्त्र-शस्त्र चलाने की विद्या सीखी है। उन अस्त्रों के बल से और अपने पौरुष के प्रभाव से मैं इन्द्र से भी भिड़ सकता हूं। आज अर्जुन की ध्वजा के ऊपर स्थित वानर मेरे भल्ल नामक बाण की चोट से अत्यन्त व्यथित होकर भयानक शब्द करता हुआ पृथ्वी पर गिर पड़ेगा। अर्जुन के साथी लोग भी मेरे बाणों से पीड़ित होंगे और आकाश को गूँजा देनेवाला घोर शब्द करते हुए इधर-उधर भाग जायँगे। अर्जुन को रथ से नीचे गिराकर आज मैं दुर्योधन के हृदय में बहुत दिनों से चुभे हुए कांटे को जड़ से उखाड़कर फेंक दूंगा। घोड़ों के मरने और रथ के टूटने से पुरुषार्थी अर्जुन को कौरव आज क्रोधित सर्प की तरह लम्बी सांसें छोड़ते देखेंगे। कौरव लोग चाहे गायें लेकर चले जायँ और चाहे अपने रथों पर बैठकर मेरे और अर्जुन के इस घोर युद्ध को देखें॥१७।२३॥

विराटपर्व का अड़तालीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ४८ ॥

शृणोति हि ब्राह्मणानां समेत्य मित्रद्रोहः पातकेभ्यो गरीयान् ॥ ४ ॥
स्मरंति तुभ्यं नरदेव संयुगे युद्धे च जिष्णोश्च युधां प्रणेतुः ।
समुत्क्रुष्टे दुंदुभिशंखशब्दे गदापाणिं भीमसेनं स्मरंति ॥ ५ ॥
माद्रीसुतौ चापि रणाजिमध्ये सर्वा दिशः संपतंतौ स्मरंति ।
सेनां वर्षंतौ शरवर्षैरजस्रं महारथौ समरे दुष्प्रकंपौ ॥ ६ ॥
न त्वेवमन्ये पुरुषस्य राजन्ननागतं ज्ञायते यद्भविष्यम् ।
त्वं चेत्तथा सर्वधर्मोपपन्नः प्राप्तः क्लेशं पाण्डव कृच्छ्ररूपम् ।
त्वमेवैतत्कृच्छ्रगतश्च भूयः समीकुर्याः प्रज्ञयाऽजातशत्रो ॥ ७ ॥
न कामार्थं संत्यजेयुर्हि धर्मं पांडोः सुताः सर्व एवेंद्रकल्पाः ।
त्वमेवैतत्प्रज्ञयाऽजातशत्रो समीकुर्या येन शर्माऽऽप्नुयुस्ते ॥ ८ ॥
धार्त्तराष्ट्राः पांडवाः सृंजयाश्च ये चाऽप्यन्ये संनिविष्टा नरेंद्राः ।
यन्मां ब्रवीद्धृतराष्ट्रो निशायामजातशत्रो वचनं पिता ते ॥ ९ ॥
सहामात्यः सहपुत्रश्च राजन्समेत्य तां वाचमिमां निबोध ॥ १० ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि संजययानपर्वणि संजयवाक्ये चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ २४ ॥

भागी होगा ॥१।३॥

हे अजातशत्रु ! वृद्ध राजा धृतराष्ट्र भी इस बात को जानते हैं और भीतर ही भीतर शोक से व्याकुल रहते हैं । ब्राह्मणों के मुंह से वे यह बात सुनते रहते हैं कि मित्रद्रोह सबसे बड़ा पाप है । हे नरदेव ! बैठक के समय दुर्योधन और उसके साथी भी सदा महायोद्धा अर्जुन और गदा हाथ में लिये बली भीमसेन को स्मरण करते हैं । वे शङ्ख-दुन्दुभि आदि बजने पर युद्धस्थल में सब ओर शत्रु-सेना पर लगातार बाण-वर्षा करनेवाले महारथी और युद्ध में पीठ न दिखानेवाले नकुल और सहदेव को भी स्मरण किया करते हैं ॥४।६॥

हे राजेन्द्र ! मैं तो यह समझता हूं कि मनुष्य के भविष्य को कोई नहीं जान सकता; पहले से कोई नहीं बता सकता कि आगे क्या होगा । जो यह बात न होती तो परम धर्मात्मा आप क्यों ऐसे घोर क्लेश पाते ? हे युधिष्ठिर ! अपनी बुद्धि और समझदारी से कष्ट को सहना और दुःख-सुख को समान समझना आप ऐसे महात्मा पुरुषों का ही काम है । इसलिए अब आप कौरवोंसे युद्ध न करके सन्धिही कर लीजिए । इन्द्रतुल्य पांचों पाण्डव किसी इच्छा के वश होकर कभी धर्म को नहीं छोड़ सकते । इसलिए हे युधिष्ठिर ! आप इस युद्ध की सम्भावना को मिटाकर सन्धि का यत्न कीजिए जिसमें कौरवों का भला हो । पाण्डव, सृञ्जयगण, धृतराष्ट्र के पुत्र कौरव और अन्य जो राजा यहां और वहां युद्ध के लिए एकत्र हुए हैं, सबका भला जिसमें हो, वही इस समय आपका कर्तव्य है । हे युधिष्ठिर ! आपके चाचा धृतराष्ट्र ने आपसे कहने के लिए जो मुझसे कहा है, सो मैं कहता हूं । आप मन्त्रियों, पुत्रों और इष्ट-मित्रों के साथ सुनिए ।७।१०।

उद्योगपर्व का चौबीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ २४ ॥

सुतेजनै रुक्मपुंखैः सुधौतैर्नतपर्वभिः ।
आचितं पश्य कौंतेयं कर्णिकारैरिवाऽचलम् ॥ १७ ॥
जामदग्न्यान्मया ह्यस्त्रं यत्प्राप्तमृषिसत्तमात् ।
तदुपाश्रित्य वीर्यं च युद्धेयमपि वासवम् ॥ १८ ॥
ध्वजाग्रे वानरस्तिष्ठन्भल्लेन निहतो मया ।
अद्यैव पततां भूमौ विनदन्भैरवान्रवान् ॥ १९ ॥
शत्रोर्मया विपन्नानां भूतानां ध्वजवासिनाम् ।
दिशः प्रतिष्ठमानानामस्तु शब्दो दिवंगमः ॥ २० ॥
अद्य दुर्योधनस्याऽहं शल्यं हृदि चिरस्थितम् ।
समूलमुद्धरिष्यामि बीभत्सुं पातयन्रथात् ॥ २१ ॥
हताश्वं विरथं पार्थं पौरुषे पर्यवस्थितम् ।
निःश्वसंतं यथा नागमद्य पश्यंतु कौरवाः ॥ २२ ॥
कामं गच्छंतु कुरवो धनमादाय केवलम् ।
रथेषु वापि तिष्ठंतो युद्धं पश्यंतु मामकम् ॥ २३ ॥

इति श्रीमन्महाभारते विराटपर्वणि उत्तरगोग्रहे कर्णविकत्थने अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४८ ॥

सर्प बाबी में घुस जाते हैं वैसे ही आज मेरे बाण अर्जुन के शरीर में घुसेंगे ॥१३।१६॥

पर्वत जैसे कनैर के फूलों से शोभित हो वैसे ही आज अर्जुन का शरीर मेरे तीक्ष्ण सुवर्णपुङ्ख बाणों से शोभित होगा। मैंने महर्षिश्रेष्ठ परशुराम से अस्त्र-शस्त्र चलाने की विद्या सीखी है। उन अस्त्रों के बल से और अपने पौरुष के प्रभाव से मैं इन्द्र से भी भिड़ सकता हूं। आज अर्जुन की ध्वजा के ऊपर स्थित वानर मेरे भल्ल नामक बाण की चोट से अत्यन्त व्यथित होकर भयानक शब्द करता हुआ पृथ्वी पर गिर पड़ेगा। अर्जुन के साथी लोग भी मेरे बाणों से पीड़ित होंगे और आकाश को गूँजा देनेवाला घोर शब्द करते हुए इधर-उधर भाग जायँगे। अर्जुन को रथ से नीचे गिराकर आज मैं दुर्योधन के हृदय में बहुत दिनों से चुभे हुए काटे को जड़ से उखाड़कर फेंक दूँगा। घोड़ों के मरने और रथ के टूटने से पुरुषार्थी अर्जुन को कौरव आज क्रोधित सर्प की तरह लम्बी सासें छोड़ते देखेंगे। कौरव लोग चाहे गायें लेकर चले जायँ और चाहे अपने रथों पर बैठकर मेरे और अर्जुन के इस घोर युद्ध को देखें ॥२१।२३॥

विराटपर्व का अडतालीसवा अध्याय समाप्त हुआ ॥ ४८ ॥

एकश्च पंच वर्षाणि शक्रादस्त्राण्यशिक्षत ।
एकः सोऽयमरिं जित्वा कुरूणामकरोद्यशः ॥ ८ ॥
एको गंधर्वराजानं चित्रसेनमरिंदमः ।
विजिग्ये तरसा संख्ये सेनां प्राप्य सुदुर्जयाम् ॥ ९ ॥
तथा निवातकवचाः कालखंजाश्च दानवाः ।
दैवतैरप्यवध्यास्ते एकेन युधि पातिताः ॥ १० ॥
एकेन हि त्वया कर्ण किं नामेह कृतं पुरा ।
एकैकेन यथा तेषां भूमिपाला वशे कृताः ॥ ११ ॥
इन्द्रोऽपि हि न पार्थेन संयुगे योद्धुमर्हति ।
यस्तेनाऽऽशंसते योद्धुं कर्तव्यं तस्य भेषजम् ॥ १२ ॥
आशीविषस्य क्रुद्धस्य पाणिमुद्यम्य दक्षिणम् ।
अवमुच्य प्रदेशिन्या दंष्ट्रामादातुमिच्छसि ॥ १३ ॥
अथवा कुंजरं मत्तमेक एव चरन्वने ।
अनंकुशं समारुह्य नगरं गंतुमिच्छसि ॥ १४ ॥
समिद्धं पावकं चैव घृतमेदोवसाहुतम् ।
घृताक्तश्चीरवासास्त्वं मध्येनोत्सर्तुमिच्छसि ॥ १५ ॥

नीचा दिखा सकते हैं। उन्होंने अकेले ही उत्तर-कुरुदेश पर विजय प्राप्त की है, अकेले ही खाण्डव वन देकर अग्नि को तृप्त किया है और अकेले ही पांच वर्ष तक ब्रह्मचर्य-पालन करते हुए उग्र तप किया है। अर्जुन ने अकेले ही सुभद्रा को हर लाकर द्वन्द्व-युद्ध के लिए बलराम को ललकारा है। महावीर अर्जुन ने अकेले ही किरात-रूप-धारी भगवान् शङ्कर से युद्ध किया है। वन में जब जयद्रथ द्रौपदी को हर ले चला था तब अर्जुन ने अकेले ही उसको हराया और द्रौपदी को उसके हाथ से छुड़ाया है। अर्जुन ने अकेले ही स्वर्ग में पांच वर्ष तक रहकर इन्द्र से सब अस्त्र सीखे हैं। उन्होंने अकेले ही सब शत्रुओं को जीतकर कुरुवंश का यश बढ़ाया है ॥५।८॥

उन महावीर ने अकेले ही संग्राम में अजेय सेना-सहित गन्धर्वराज चित्ररथ को हराया है। स्वयंवर में अर्जुन ने अकेले ही सब वीर क्षत्रियों को जीतकर द्रौपदी को प्राप्त किया, [उस समय तुम कहा चले गये थे ?] अर्जुन ने अकेले ही उन निवातकवच और कालकेय नाम के राक्षसों को मारा है, जिन्हें देवता भी नहीं मार सकते थे। महावीर अर्जुन ने अकेले ही अपने पौरुष से ऐसे बड़े-बड़े अलौकिक कार्य किये हैं। किन्तु कर्ण ! तुमने अकेले कब कौन सा ऐसा बड़ा और अलौकिक कार्य है ? श्रेष्ठ वीर अर्जुन ने सब राजाओं को जिस चतुराई से हराया

न चेद्भागं कुरवोऽन्यत्र युद्धात्प्रयच्छेरंस्तुभ्यमजातशत्रो ।
भैक्षचर्यमंधकवृष्णिराज्ये श्रेयो मन्ये न तु युद्धेन राज्यम् ॥ २ ॥
अल्पकालं जीवितं यन्मनुष्ये महास्रावं नित्यदुःखं चलं च ।
भूयश्च तद्यशसो नाऽनुरूपं तस्मात्पापं पांडव मा कृथास्त्वम् ॥ ३ ॥
कामा मनुष्यं प्रसजंत एते धर्मस्य ये विघ्नमूलं नरेंद्र ।
पूर्वं नरस्तान्मतिमान्प्रणिघ्नँल्लोके प्रशंसां लभतेऽनवद्याम् ॥ ४ ॥
निबंधनी ह्यर्थतृष्णेह पार्थ तामिच्छतां बाध्यते धर्म एव ।
धर्मं तु यः प्रवृणीते स बुद्धः कामे गृध्नो हीयतेऽर्थानुरोधात् ॥ ५ ॥
धर्मं कृत्वा कर्मणां तात मुख्यं महाप्रतापः सवितेव भाति ।
हीनो हि धर्मेण महीमपीमां लब्ध्वा नरः सीदति पापबुद्धिः ॥ ६ ॥
वेदोऽधीतश्चरितं ब्रह्मचर्यं यज्ञैरिष्टं ब्राह्मणेभ्यश्च दत्तम् ।
परं स्थानं मन्यमानेन भूय आत्मा दत्तो वर्षपूगं सुखेभ्यः ॥ ७ ॥
सुखप्रिये सेवमानोऽतिवेलं योगाभ्यासे यो न करोति कर्म ।
वित्तक्षये हीनसुखोऽतिवेलं दुःखं शेते कामवेगप्रणुन्नः ॥ ८ ॥

अपने भाई कौरवों का नाश न कीजिए। हे अजातशत्रु! यदि कौरव लोग युद्ध के बिना आपका राज्य आपको न देना चाहें तो मैं समझता हूं कि युद्ध के द्वारा राज्य पाने की अपेक्षा आपका अन्धक और वृष्णिवंश के राज्य में भिक्षा मांगकर निर्वाह करना भी श्रेष्ठ है; किन्तु युद्ध करना श्रेष्ठ नहीं। हे पाण्डव! मनुष्य का जीवन थोड़े दिन का, सदा क्षीण होनेवाला, चञ्चल और दुःखमय है। इसके सिवा यश के मुकाबले में जीवन एक तुच्छ पदार्थ है। इसलिए आप अपने यश का विचार करके भाइयों की हत्या का पाप अपने सिर न लीजिए ॥१।३॥

हे नरेन्द्र! ये धर्म के आचरण में विघ्न डालनेवाली इच्छाएं मनुष्य को अपनी ओर खींचा करती हैं। जो बुद्धिमान् पुरुष उनके द्वारा अनर्थ होने के पहले ही उन्हें दबा देता है उसी की लोक में प्रशंसा होती है। हे पार्थ! धन की तृष्णा ही इस संसार का बड़ा भारी बन्धन है। उसके फेर में पड़ने से मनुष्य का धर्म नष्ट हो जाता है। जो मनुष्य धर्म के अनुसार चलता है वही यथार्थ बुद्धिमान् है। लालची पुरुष अपने प्रयोजन के अनुरोध से नीच कर्म भी करने लग जाता है। धर्म, अर्थ, काम आदि में धर्म ही मुख्य है ॥४।५॥

धर्मात्मा पुरुष सूर्य के समान तेजस्वी होता है। धर्म से हीन पुरुष धर्म-विरुद्ध कार्य करके, यदि सारी पृथ्वी का राज्य पा जाय तो भी, सदा कष्ट पाता है। आपने परलोक पर विश्वास करके [वहां के सुख के लिए] वेद पढ़े हैं, ब्रह्मचर्य का पालन किया है, यज्ञ किये हैं, ब्राह्मणों को दान दिये हैं, यहां तक कि अपने आत्मा को भी उसी के लिए लगा दिया है। जो मनुष्य भोग-विलास आदि सुख और पुत्र आदि

हुई अग्नि के समान यहा एकान्त में ठहरे हुए महावीर अर्जुन के पास आकर हम बड़े भारी भय और सङ्कट में पड़ गये हैं ॥१७।१९॥

इसलिए हम लोग मिलकर अर्जुन से युद्ध करें। हम लोग अस्त्र शस्त्र धारी सैनिकों की व्यूहरचना करके युद्ध करें। द्रोण, दुर्योधन, भीष्म, अश्वत्थामा, तुम और मैं, ये छहों महारथी मिलकर यदि इन्द्र-सदृश पराक्रमी अर्जुन के साथ युद्ध करेंगे तभी सामना कर सकेंगे। हे कर्ण! तुम अकेले अर्जुन के साथ भिड़ने का साहस भूलकर भी न करना। पहले देवताओं और असुरों का जैसा समर हुआ था वैसा ही घोर युद्ध इस समय अर्जुन के साथ हम लोगों का होगा ॥२०।२३॥

—०—

विराटपर्व का उनचासवा अध्याय समाप्त हुआ ॥ ४९ ॥

अथ पचाशत्तमोऽध्याय ॥ ५० ॥

अश्वत्थामोवाच—न च तावज्जिता गावो न च सीमांतरं गताः ।
न हास्तिनपुरं प्राप्तास्त्वं च कर्ण विकत्थसे ॥ १ ॥
संग्रामांश्च बहूञ्जित्वा लब्ध्वा च विपुलं धनम् ।
विजित्य च परां सेनां नाऽऽहुः किंचन पौरुषम् ॥ २ ॥
दहत्यग्निरवाक्यस्तु तूर्ष्णीं भाति दिवाकरः ।
तूर्ष्णीं धारयते लोकान्वसुधा सचराचरान् ॥ ३ ॥
चातुर्वर्ण्यस्य कर्माणि विहितानि स्वयंभुवा ।
धनं यैरधिगंतव्यं यच्च कुर्वन्न दुष्यति ॥ ४ ॥
अधीत्य ब्राह्मणो वेदान्याजयेत यजेत वा ।
क्षत्रियो धनुराश्रित्य यजेच्चैव न याजयेत् ॥ ५ ॥

पचासवा अध्याय ॥ ५० ॥

अब अश्वत्थामा ने [दुर्योधन की ओर, देखकर कहा—हे कर्ण! न तो अभी गायों पर हमारा अधिकार हुआ है और न हम लोग मत्स्यदेश की सीमा के बाहर जा सके है, हस्तिनापुर जाना तो दूर की बात है। फिर तुम क्यों इस प्रकार अपनी प्रशसा कर रहे हो? जो पण्डित, महाबली और पराक्रमी पुरुष हैं वे अनेक युद्धों में जय और बहुत सा धन पाकर तथा प्रबल सेना को जीतकर भी इस तरह डींग नहीं मारते। अग्नि शात रहकर ही सब वस्तुओं को भस्म कर देती है, सूर्यदेव शाति से रहकर ही सब लोकों में उजाला पहुचाते है और पृथ्वी भी शाति से सब लोकों को धारण किये हुए हैं। विधाता ने चारों वर्णों की वृत्ति निश्चित कर दी है। उन्हीं वृत्तियों से उन्हें धनोपार्जन करना चाहिए। उन्हें करने से वे दोषी नहीं होते ॥१।४॥

ब्राह्मणों को स्वाध्यायपाठ में लगे रहकर यज्ञ करना कराना चाहिए। क्षत्रियों को धनुष-बाण धारण करके यज्ञ करना चाहिए, उन्हें यज्ञ कराने का अधिकार नहीं। वैश्यों को महाजनी, गोपालन और खेती

यथाशक्ति मनुष्याणां शममालक्षयामहे ।
अन्येषामपि सत्वानामपि कीटपिपीलिकैः ।
द्रौपद्याः संपरिक्लेशं न क्षंतुं पांडवोऽर्हति ॥ १४ ॥
क्षयाय धार्तराष्ट्राणां प्रादुर्भूतो धनंजयः ।
त्वं पुनः पंडितो भूत्वा वाचं वक्तुमिहेच्छसि ॥ १५ ॥
वैरांतकरणो जिष्णुर्न नः शेषं करिष्यति ॥ १६ ॥
नैष देवान्न गंधर्वान्न सुरान्न च राक्षसान् ।
भयादिह न युध्येत कुंतीपुत्रो धनंजयः ॥ १७ ॥
यं यमेषोऽतिसंक्रुद्धः संग्रामे निपातिष्यति ।
वृक्षं गरुत्मान्वेगेन विनिहत्य तमेष्यति ॥ १८ ॥
त्वत्तो विशिष्टं वीर्येण धनुष्यमरराट्समम् ।
वासुदेवसमं युद्धे तं पार्थं को न पूजयेत् ॥ १९ ॥
दैवं दैवेन युध्येत मानुषेण च मानुषम् ।
अस्त्रं ह्यस्त्रेण यो हन्यात्कोऽर्जुनेन समः पुमान् ॥ २० ॥
पुत्रादनंतरं शिष्य इति धर्मविदो विदुः ।
एतेनापि निमित्तेन प्रियो द्रोणस्य पांडवः ॥ २१ ॥
यथा त्वमकरोर्द्यूतमिंद्रप्रस्थं यथाऽहरः ।
यथाऽऽनैषीः सभां कृष्णां तथा युध्यस्व पांडवम् ॥ २२ ॥

विनाश की जड़ है। इस बात को स्मरण करो। ११०।१३॥

मनुष्यों की कौन कहे, यथाशक्ति कीड़े-मकोड़े और चींटियों तक को क्रोध होता है। मनुष्य के भी सहने की एक सीमा होती है। द्रौपदी के उन क्लेशों को अर्जुन कभी नहीं सह सकते। कौरवों के नाश के लिए ही अर्जुन ने जन्म लिया है। तुम ऐसे ज्ञानी और बुद्धिमान् होकर आचार्य (द्रोण) को ऐसी बातें कह रहे हो। अर्जुन हम लोगों का नाश करके अपने वैर का बदला अवश्य चुकावेंगे। देवता, गन्धर्व, असुर, राक्षस आदि किसी के साथ युद्ध करने से अर्जुन पीछे नहीं हट सकते ॥१४।१७॥

समरभूमि में क्रुद्ध होकर अर्जुन जिस पर आक्रमण करेंगे वह, गरुड के वेग से टूटे हुए वृक्ष की तरह मरकर गिर पड़ेगा। हे कर्ण! बल और पराक्रम में अर्जुन तुमसे कई बातों में श्रेष्ठ हैं। वे धनुर्विद्या में इन्द्र के समान और युद्ध में श्रीकृष्ण के बराबर हैं। उनकी प्रशंसा कौन नहीं करेगा? ऐसा अर्जुन के समान दूसरा वीर पुरुष कौन है जो दैवबल के द्वारा देवताओं से और बाहुबल के द्वारा मनुष्यों से युद्ध कर सके और अस्त्रों के द्वारा अस्त्रों को नष्ट कर सके?

कर्मणाऽमी भांति देवाः परत्र कर्मणैवेह प्लवते मातरिश्वा ।
अहोरात्रे विदधत्कर्मणैव अतंद्रितो नित्यमुदेति सूर्यः ॥ ९ ॥
मासार्धमासानथ नक्षत्रयोगानतंद्रितश्चंद्रमाश्चाऽभ्युपैति ।
अतंद्रितो दहते जातवेदाः समिद्ध्यमानः कर्म कुर्वन्प्रजाभ्यः ॥ १० ॥
अतंद्रिता भारमिमं महांतं बिभर्ति देवी पृथिवी बलेन ।
अतंद्रिताः शीघ्रमपो वहंति संतर्पयंत्यः सर्वभूतानि नद्यः ॥ ११ ॥
अतंद्रितो वर्षति भूरितेजाः सन्नादयन्नंतरिक्षं दिशश्च ।
अतंद्रितो ब्रह्मचर्यं चचार श्रेष्ठत्वमिच्छन्बलभिद्देवतानाम् ॥ १२ ॥
हित्वा सुखं मनसश्च प्रियाणि तेन शक्रः कर्मणा श्रैष्ठ्यमाप ।
सत्यं धर्मं पालयन्न प्रमत्तो दमं तितिक्षां समतां प्रियं च ॥ १३ ॥
एतानि सर्वाण्युपसेवमानः स देवराज्यं मघवान्प्राप मुख्यम् ।
बृहस्पतिर्ब्रह्मचर्यं चचार समाहितः संशितात्मा यथावत् ॥ १४ ॥
हित्वा सुखं प्रतिरुद्ध्येंद्रियाणि तेन देवानामगमद्गौरवं सः ।
तथा नक्षत्राणि कर्मणाऽमुत्र भांति रुद्रादित्या वसवोऽथापि विश्वे ॥ १५ ॥
यमो राजा वैश्रवणः कुबेरो गंधर्वयक्षाप्सरसश्च सूत ।

है उसका यह कथन व्यर्थ है ॥७।८॥

कर्म के प्रभाव से ही इस लोक और स्वर्गलोक में देवगण प्रकाशमान होते हैं। कर्म के बल से ही वायु सदा चलती है। कर्म से ही सूर्यदेव आलस्यहीन होकर, आकाशमण्डल में फिरकर, दिन-रात का विधान करते हैं। चन्द्रमा आलस्य छोड़कर कर्म करते हुए नक्षत्रों के साथ मास-पक्ष आदि का विभाग करते रहते हैं। अग्निदेव को देखो, वे आलस्य छोड़कर कर्म करते हुए प्रज्वलित होकर प्रजा की सहायता करते हैं—उत्ताप पहुंचाते हैं ॥९।१०॥

पृथ्वी देवी कर्म के बल से संसार के भारी बोझ को लादे हुए हैं। नदियां कर्म-बल से ही शीघ्रता के साथ बहती हैं और अपने काम में आलस्य न करके सब प्राणियों को तृप्त करती हैं। इन्द्र कर्म के बल से आकाश और दिशाओं को प्रतिध्वनित करते हुए आलस्य छोड़कर जल बरसाते हैं। इन्द्र ने देवताओं की मण्डली में प्रधान पद पाने के लिए आलस्य छोड़कर बहुत समय तक ब्रह्मचर्य व्रत धारण किया है। भोग-सुख और प्रिय पदार्थों को त्यागकर कर्म करने से ही इन्द्र को देवराज का पद मिला है। इन्द्रिय-दमन, सहनशीलता, समदृष्टि, सबका प्रिय करना, सत्य और धर्म का पालन, इन्हीं कर्मों के करने से इन्द्र को ऐसा श्रेष्ठ पद मिला है ॥११।१४॥

भगवान् बृहस्पति ने भी एकामना और नियम-पालन के साथ ब्रह्मचर्य-व्रत धारण किया है और भोग-सुख छोड़कर, इन्द्रियों को दबाकर, कर्म करने से ही गौरवसूचक देव-गुरु का पद पाया है। ऐसे ही नक्षत्रगण भी कर्म के बल से आकाश में प्रकाश-

देशकालौ तु संप्रेक्ष्य योद्धव्यमिति मे मतिः ॥ २ ॥
यस्य सूर्यसमाः पंच सपत्नाः स्युः प्रहारिणः ।
कथमभ्युदये तेषां न प्रमुह्येत पंडितः ॥ ३ ॥
स्वार्थे सर्वे विमुह्यंति येऽपि धर्मविदो जनाः ।
तस्माद्राजन्ब्रवीम्येष द्ववयं ते यदि रोचते ॥ ४ ॥
कर्णो हि यदवोचत्त्वां तेजःसंजननाय तत् ।
आचार्यपुत्रः क्षमतां महत्कार्यमुपस्थितम् ॥ ५ ॥
नाऽयं कालो विरोधस्य कौंतेये समुपस्थिते ।
क्षंतव्यं भवता सर्वमाचार्येण कृपेण च ॥ ६ ॥
भवतां हि कृतास्त्रत्वं यथाऽऽदित्ये प्रभा तथा ।
यथा चन्द्रमसो लक्ष्मीः सर्वथा नाऽपकृष्यते ॥ ७ ॥
एवं भवत्सु ब्राह्मण्यं ब्रह्मास्त्रं च प्रतिष्ठितम् ।
चत्वार एकतो वेदाः क्षात्रमेकत्र दृश्यते ॥ ८ ॥
नैतत्समस्तमुभयं कस्मिंश्चिदनुशुश्रुम ।
अन्यत्र भारताचार्यात्सपुत्रादिति मे मतिः ॥ ९ ॥

इक्यावनवां अध्याय ॥ ५१ ॥

भीष्म ने कहा—हे दुर्योधन ! अश्वत्थामा और कृपाचार्य ठीक कह रहे हैं । और कर्ण केवल क्षत्रिय-धर्म का खयाल करके युद्ध करना चाहते हैं । बुद्धिमान् को अपने आचार्य का अपमान न करना चाहिए । मेरी सम्मति यह है कि देश और काल दोनों को देखकर युद्ध करना चाहिए । जिसके पांच-पांच शत्रु सूर्य के समान तेजस्वी वीर हों और फिर उनका अभ्युदय हो रहा हो तो इस दशा में भला किस बुद्धिमान् की बुद्धि ठिकाने रह सकती है ? धर्मात्मा पुरुष भी स्वार्थ के कारण व्याकुल हो जाते हैं । हे दुर्योधन ! तुम ठीक समझो तो मैं इस बारे में अपनी सम्मति देता हूं, सुनो ॥१।४॥

उत्साहित करने के लिए ही कर्ण ने युद्ध की इच्छा प्रकट की है । इसलिए द्रोणाचार्य, कृपाचार्य और अश्वत्थामा आदि को क्षमा करना चाहिए । इस समय बड़ा भारी कार्य करना है । अर्जुन के आ जाने से इस समय आपस में विरोध करना ठीक नहीं । जैसे सूर्य में प्रभा नित्य है वैसे ही आप लोग अस्त्रविद्या में कुशल हैं । और जैसे चन्द्रमा में चांदनी सदा बनी रहती है इसी तरह आप जैसे आचार्यों में ब्राह्मणत्व और ब्रह्मास्त्र दोनों स्थित हैं । भरतकुल के आचार्य द्रोण, कृपाचार्य और अश्वत्थामा के सिवा और कहीं चारों वेदों तथा क्षत्रिय-तेज का एकत्र समावेश नहीं देख पड़ता ॥५।९॥

तं चेत्तदा ते सकुमारवृद्धा अवारयिष्यन्कुरवः समेताः ।
मम प्रियं धृतराष्ट्रोऽकरिष्यत्पुत्राणां च कृतमस्याऽभविष्यत् ॥ ३८ ॥
दुःशासनः प्रातिलोम्यान्निनाय सभामध्ये श्वशुराणां च कृष्णाम्।
सा तत्र नीता करुणं व्यपेक्ष्य नाऽयं क्षत्तुर्नाथमवाप किंचित् ॥ ३९ ॥
कार्पण्यादेव सहितास्तत्र भूपा नाऽशक्नुवन्प्रतिवक्तुं सभायाम् ।
एकः क्षत्ता धर्म्यमर्थं ब्रुवाणो धर्मबुद्ध्या प्रत्युवाचाऽल्पबुद्धिम् ॥ ४० ॥
अबुध्वा त्वं धर्ममेतं सभायामथेच्छसे पांडवस्योपदेष्टुम् ।
कृष्णा त्वेतत्कर्म चकार शुद्धं सुदुष्करं तत्र सभां समेत्य ॥ ४१ ॥
येन कृच्छ्रात्पांडवानुज्जहार तथाऽऽत्मानं नौरिव सागरौघात् ।
यत्राऽब्रवीत्सूतपुत्रः सभायां कृष्णां स्थितां श्वशुराणां समीपे ॥ ४२ ॥
न ते गतिर्विद्यते याज्ञसेनि प्रपद्य दासी धार्तराष्ट्रस्य वेश्म ।
पराजितास्ते पतयो न संति पतिं चाऽन्यं भाविनि त्वं वृणीष्व ॥ ४३ ॥

तुम कुरुराज की सभा में जाकर कुरुवंश के ये प्राचीन धर्म सबको सुनाना। दुर्योधन के बुलाने से आकर जो राजा लोग युद्ध करने के लिए एकत्र हुए हैं वे मदोन्मत्त होने के कारण कुछ नहीं देख पाते, उनके सिर पर मृत्यु सवार है ॥३१।३८॥

हे सञ्जय ! सभा में जुए के समय कौरवों ने जो पाप किया उसे देखो। पाण्डवों की प्यारी पत्नी, पतिव्रता, यशस्विनी, अच्छे स्वभाववाली द्रौपदी उस समय रजस्वला थीं। सभा में वे लाई गई, पर भीष्म आदि बड़े बूढ़ों ने कुछ नहीं कहा, चुपके बैठे देखते रहे। उस समय यदि धृतराष्ट्र आदि सब कुरुवंश के वृद्ध और बालक मिलकर द्रौपदी का सभा में लाया जाना रोक देते, तो अवश्य धृतराष्ट्र मेरा प्रिय करते और पुत्रों के प्रति उनके कर्तव्य का पालन भी उचित रीतिसे हो जाता। दुःशासन जिससमय अन्याय से सभा में ससुरों के आगे द्रौपदी को ले आया था, उस समय द्रौपदी ने करुण स्वर से विलाप करके सबसे प्रार्थना की, किन्तु विदुर के सिवा और किसी ने द्रौपदी को सहारा नहीं दिया—उस अन्याय को नहीं रोका। उस सभा में अनेक राजा और राजकुमार बैठे हुए थे, पर कोई उस अत्याचार का प्रतिवाद नहीं कर सका। सब लोग अपने हृदय की निर्बलता के कारण शांत हो रहे, एक विदुर ने ही धर्मबुद्धि की प्रेरणा से मूर्ख दुःशासन से धर्म-सङ्गत और अर्थ-साधक वचन कहे थे। उस समय सभा में तुम भी बैठे थे। वहां तुमने किसी को धर्म का उपदेश नहीं किया, अब यहां युधिष्ठिर को धर्म का उपदेश करना चाहते हो ॥३९।४१॥

उस सभा में द्रौपदी ने सतीत्व धर्म के अनुकूल विशुद्ध और दुष्कर काम किया कि—समुद्र से जहाज की तरह—पाण्डवों को और अपने को दास-भाव के अपार सङ्कट सागर से उबार लिया। उस सभा में ससुरों के पास खड़ी हुई द्रौपदी से सूतपुत्र कर्ण ने कहा था कि "हे द्रौपदी ! इस समय तुम्हारे लिए दूसरा उपाय नहीं है। दुर्योधन के घर दासी होकर रहो। तुमको हार जाने के कारण ये पाण्डव अब

यथा दुर्योधनं पार्थो नोपसर्पति संगरे ।
साहसाद्यदि वा मोहात्तथा नीतिर्विधीयताम् ॥ १९ ॥
वनवासे ह्यनिर्वृत्ते दर्शयेन्न धनंजयः ।
धनं चाऽऽलभमानोऽत्र नाऽद्य तत्क्षंतुमर्हति ॥ २० ॥
यथा नाऽयं समायुंज्याद्धार्तराष्ट्रान्कथंचन ।
न च सेनाः पराजय्यात्तथा नीतिर्विधीयताम् ॥ २१ ॥
उक्तं दुर्योधनेनापि पुरस्ताद्वाक्यमीदृशम् ।
तदनुस्मृत्य गांगेय यथावद्वक्तुमर्हसि ॥ २२ ॥

इति श्रीमन्महाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोग्रहे द्रोणवाक्ये एकपंचाशततमोऽध्यायः ॥ ५१ ॥

चाहिए जिससे अर्जुन दुर्योधन पर आक्रमण न कर सकें [और महाराज दुर्योधन शत्रु के हाथ में न पड़ जायं]। प्रतिज्ञा के अनुसार तेरहवां वर्ष व्यतीत हुए बिना कभी अर्जुन प्रकट नहीं हो सकते। महावीर अर्जुन आज गायें लौटाये बिना कभी न मानेंगे। इस-लिए ऐसा कोई उपाय करो कि जिसमें अर्जुन महाराज दुर्योधन को और उनकी सेना को नष्ट न कर सकें। पहले दुर्योधन ने प्रतिज्ञापालन के विषय में जो कुछ कहा था उसे स्मरण करके, आप अपना मत प्रकट कीजिए ॥१८।२२॥

विराटपर्व का इक्यावनवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ५१ ॥

अथ द्विपंचाशततमोऽध्यायः ॥ ५२ ॥

भीष्म उवाच—कला काष्ठाश्च युज्यंते मुहूर्ताश्च दिनानि च ।
अर्धमासाश्च मासाश्च नक्षत्राणि ग्रहास्तथा ॥ १ ॥
ऋतवश्चापि युज्यंते तथा संवत्सरा अपि ।
एवं कालविभागेन कालचक्रं प्रवर्तते ॥ २ ॥
तेषां कालातिरेकेण ज्योतिषां च व्यतिक्रमात् ।
पंचमे पंचमे वर्षे द्वौ मासावुपजायत ॥ ३ ॥
एषामभ्याधिका मासाः पंच च द्वादश क्षपाः ।
त्रयोदशानां वर्षाणामिति मे वर्त्तते मतिः ॥ ४ ॥

बावनवां अध्याय ॥ ५२ ॥

भीष्म ने कहा—काष्ठा, कला, मुहूर्त, दिन, पक्ष, मास, ग्रह, नक्षत्र, ऋतु और वर्ष, ये सब कालचक्र (वर्ष) के छोटे और बड़े अंश हैं। समय के बढ़ने घटने से और नक्षत्र मण्डल की गति के कुछ व्यतिक्रम से हर पांचवें वर्ष दो महीने अधिमास (मलमास) के बढ़ते हैं। उन्हीं मलमासों को जोड़कर आज तेरह

इतो गत्वा संजय क्षिप्रमेव उपातिष्ठेथा ब्राह्मणान्ये तदर्हाः ।
विशुद्धवीर्याश्चरणोपपन्नाः कुले जाताः सर्वधर्मोपपन्नाः ॥ ७ ॥
स्वाध्यायिनो ब्राह्मणा भिक्षवश्च तपस्विनो ये च नित्या वनेषु ।
अभिवाद्या वै मद्वचनेन वृद्धास्तथेतरेषां कुशलं वदेथाः ॥ ८ ॥
पुरोहितं धृतराष्ट्रस्य राज्ञस्तथा चाऽऽचार्यानृत्विजो ये च तस्य ।
तैश्च त्वं तात सहितैर्यथार्हं संगच्छेथाः कुशलेनैव सूत ॥ ९ ॥
अश्रोत्रिया ये च वसंति वृद्धा मनस्विनः शीलबलोपपन्नाः ।
आशंसन्तोऽस्माकमनुस्मरंतो यथाशक्ति धर्ममात्रां चरंतः ॥ १० ॥
श्लाघिस्व मां कुशलिनं स्म तेभ्यो ह्यनामयं तात पृच्छेर्जघन्यम् ।
ये जीवंति व्यवहारेण राष्ट्रे ये पालयंतो निवसंति राष्ट्रे ॥ ११ ॥
आचार्य इष्टो नयगो विधेयो वेदानभीप्सन्ब्रह्मचर्यं चचार ।
योऽस्त्रं चतुष्पात्पुनरेव चक्रे द्रोणः प्रसन्नोऽभिवाद्यस्त्वयाऽसौ ॥ १२ ॥
अधीतविद्यश्चरणोपपन्नो योऽस्त्रं चतुष्पात्पुनरेव चक्रे ।

हम धर्मार्थ-सङ्गत, और अहिंसा का उद्देश्य रखनेवाली बातें समझते हैं । हमारे अत्यन्त प्रिय दूत एक तुम्हीं हो, या दूसरे विदुरजी हैं, जो हमें समझाने के लिए यहां आ सकते हैं और नीतियुक्त वचन सुना सकते हैं । तुम पुराने नौकर और अर्जुन के, आत्मा के समान, प्रिय मित्र हो । हम तुम पूर्वपरिचित हैं । हे सञ्जय ! यहां से शीघ्र जाकर तुम पूजा के योग्य विशुद्धवीर्य, कठ-कौथुमी आदि वेद की शाखाओं को पढ़नेवाले, सत्कुल में उत्पन्न, सब धर्मों का पालन करनेवाले, स्वाध्यायपाठी, भिक्षा से अपनी जीविका चलानेवाले, नित्य तपोवन में रहनेवाले, तपस्वी, वृद्ध ब्राह्मणों से मिलना । उन्हें मेरी ओर से प्रणाम करके उनसे उनकी कुशल पूछना । तुम राजा धृतराष्ट्र के पुरोहित, आचार्य, ऋत्विक् आदि से मिलकर उनकी कुशल पूछना ॥६।९॥

हस्तिनापुर में जो शूद्र जाति के सुशील, सबल, वृद्ध, उदारहृदय पुरुष रहते हैं और यथाशक्ति अपने अधिकार के अनुसार धर्म का आचरण करते हुए हमें स्मरण करके हमारी कुशल सदा चाहते हैं उनसे मेरे कुशल-समाचार कहना । इसके पश्चात् मेरी ओर से उनकी प्रशंसा करते हुए उनकी क्षेम-कुशल पूछना । हे सञ्जय ! कौरवों के राज्य में जो लोग व्यापार, पशु-पालन आदि से अपनी जीविका चलाते हैं और जो लोग भिन्न-भिन्न पदों पर रहकर राज्य की रक्षा और पालन का प्रबन्ध करते हैं, उन व्यापारी वैश्यों और राज कर्मचारियों की भी मेरी ओर से कुशल पूछना । उनसे मेरे कुशल-समाचार कह देना । हमारे आचार्य, प्रिय, नीतिज्ञ, वेद-प्राप्ति के लिए विधिपूर्वक ब्रह्मचर्य-पालन करनेवाले, अस्त्र-विद्या के मन्त्र-उपचार-प्रयोग-संहार इन चारों विभागों के पूर्ण ज्ञाता, प्रसन्नमुख द्रोणाचार्य से हमारा प्रणाम कहना । उनके पुत्र अश्वत्थामा भी विद्वान्, वेदशास्त्रपाठी,

संप्रवृत्ते तु संग्रामे भावाभावौ जयाजयौ ।
अवश्यमेकं स्पृशतो दृष्टमेतदसंशयम् ॥ १३ ॥
तस्माद्युद्धोचितं कर्म कर्म वा धर्मसंहितम् ।
क्रियतामाशु राजेंद्र संप्राप्तश्च धनंजयः ॥ १४ ॥
दुर्योधन उवाच—नाऽहं राज्यं प्रदास्यामि पांडवानां पितामह ।
युद्धोपचारिकं यत्तु तच्छीघ्रं प्रविधीयताम् ॥ १५ ॥
भीष्म उवाच—अत्र या मामिका बुद्धिः श्रूयतां यदि रोचते ।
सर्वथा हि मया श्रेयो वक्तव्यं कुरुनंदन ॥ १६ ॥
क्षिप्रं बलचतुर्भागं गृह्य गच्छ पुरं प्रति ।
ततोऽपरश्चतुर्भागो गाः समादाय गच्छतु ॥ १७ ॥
वयं चाऽर्धेन सैन्यस्य प्रतियोत्स्याम पांडवम् ।
अहं द्रोणश्च कर्णश्च अश्वत्थामा कृपस्तथा ।
प्रतियोत्स्याम बीभत्सुमागतं कृतनिश्चयम् ॥ १८ ॥
मत्स्यं वा पुनरायातमागतं वा शतक्रतुम् ।
अहमावारयिष्यामि वेलेव मकरालयम् ॥ १९ ॥
वैशम्पायन उवाच—तद्वाक्यं रुरुचे तेषां भीष्मेणोक्तं महात्मना ।
तथा हि कृतवान्राजा कौरवाणामनंतरम् ॥ २० ॥

दूसरा हारता है। इसमें चिन्ता की बात ही क्या है ? अर्जुन सिर पर आ गये हैं, इसलिए इस समय जी चाहे तो युद्ध करो, नहीं तो धर्म के अनुसार राज्य देकर सन्धि कर लो ॥१०।१४॥

दुर्योधन ने कहा—हे पितामह ! मैं पाण्डवों को राज्य कभी न दूँगा। आप तुरन्त युद्ध की तैयारी कीजिए ॥१५॥

भीष्म ने कहा—हे दुर्योधन ! मैं जो कहता हूँ उसे सुनो और जी चाहे तो उस पर ध्यान दो। तुम इस सारी सेना के शीघ्र चार विभाग कर डालो। एक दल के साथ तुम अपनी राजधानी को चले जाओ। सेना का दूसरा दल सब गायों को लेकर जाय। उसके पश्चात् बची हुई आधी सेना साथ लेकर कृपाचार्य, कर्ण, द्रोण, अश्वत्थामा और मैं, हम सब—अपनी प्रतिज्ञा पर स्थिर—अर्जुन के साथ युद्ध करेंगे। राजा विराट या स्वयं इन्द्र भी आ जायँ तो मैं [अर्जुन को] वैसे ही रोक रक्खूँगा जैसे तटभूमि समुद्र के वेग को रोके रहती है ॥१६।१९॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! सब लोगों ने महात्मा भीष्म की इस सम्मति का अनुमोदन किया। कुरुपति दुर्योधन ने भीष्म की आज्ञा से ही सब काम किया। पितामह ने पहले दुर्योधन को

या नः स्नुषाः संजय वेत्थ तत्र प्राप्ताः कुलेभ्यश्च गुणोपपन्नाः।
प्रजावत्यो ब्रूहि समेत्य ताश्च युधिष्ठिरो वोऽभ्यवदत्प्रसन्नः ॥ ३६ ॥
कन्याः स्वजेथाः सदनेषु संजय अनामयं मद्वचनेन पृष्ट्वा ।
कल्याणा वः संतु पतयोऽनुकूला यूयं पतीनां भवताऽनुकूलाः ॥ ३७ ॥
अलंकृता वस्त्रवत्यः सुगंधा अबीभत्साः सुखिता भोगवत्यः ।
लघु यासां दर्शनं वाक् च लघ्वी वेशस्त्रियः कुशलं तात पृच्छेः ॥ ३८ ॥
दास्यः स्युर्या ये च दासाः कुरूणां तदाश्रया बहवः कुब्जखंजाः ।
आख्याय मां कुशलिनं स्म तेभ्योऽप्यनामयं परिपृच्छेर्जघन्यम् ॥ ३९ ॥
कच्चिद्वृत्तिं वर्तते वै पुराणीं कच्चिद्भोगान्धार्तराष्ट्रो ददाति ।
अंगहीनान्कृपणान्वामनान्वा यानानृशंस्यो धृतराष्ट्रो बिभर्ति ॥ ४० ॥
अंधांश्च सर्वान्स्थविरांस्तथैव हस्त्याजीवा बहवो येऽत्र संति ।
आख्याय मां कुशलिनं स्म तेभ्योऽप्यनामयं परिपृच्छेर्जघन्यम् ॥ ४१ ॥
मा भैष्ट दुःखेन कुजीवितेन नूनं कृतं परलोकेषु पापम् ।
निगृह्य शत्रून्सुहृदोऽनुगृह्य वासोभिरन्नेन च वो भरिष्ये ॥ ४२ ॥
संत्येव मे ब्राह्मणेभ्यः कृतानि भावीन्यथो नो बत वर्तयंति ।
तान्पश्यामि युक्तरूपांस्तथैव तामेव सिद्धिं श्रावयेथा नृपं तम् ॥ ४३ ॥

व्यवहार करती हैं या नहीं ? उनसे मेरी ओर से कह देना कि जिस तरह उनके पति उनके अनुकूल और प्रसन्न रहें, वैसे ही काम वे करती रहें ॥३२।३५॥

हे सूत ! सत्कुल में उत्पन्न, गुणों से अलंकृत, बाल-बच्चोंवाली जो स्त्रियाँ मेरी बहू लगती हैं उनसे कहना कि युधिष्ठिर सकुशल और प्रसन्न हैं, और उन्होंने तुम्हारी कुशल के समाचार पूछे हैं। हे सञ्जय ! तुम घर में जाकर उन बालिकाओं को जो मेरी कन्या लगती हैं, छाती से लगाकर स्नेह के साथ कुशल पूछना और कहना कि तुम्हें कल्याणरूप अनुकूल पति मिलें और तुम सदा उनके अनुकूल रहो। हे सूत ! आभूषण और मूल्यवान् वस्त्र पहने, सुगन्ध लगाये, सुन्दरी सुख और भोगविलास के साथ रहनेवाली, मनोहर रूप और मधुर वाणी से मनोरञ्जन करनेवाली, नगरनिवासिनी वेश्याओं से भी कुशल पूछना ॥३६।३८॥

कौरवों के दास, दासी उनके आश्रय में रहनेवाले कुबड़े-लूले-लँगड़े-अपाहिजों से भी पहले मेरे सकुशल होने का हाल कहकर उनसे उनकी कुशल पूछना। उन अङ्गहीन, दीन, बौने, अन्धे और बूढ़े लोगों को, जिन्हें दुर्योधन दया के कारण आश्रय दिये हुए हैं, आश्वासन देना और उनसे मेरी ओर से पूछना कि दुर्योधन ने उनको सदा से मिलनेवाली वृत्ति तो नहीं बन्द कर दी ? उन्हें भोजन-वस्त्र आदि

संप्रवृत्ते तु संग्रामे भावाभावौ जयाजयौ ।
अवश्यमेकं स्पृशतो दृष्टमेतदसंशयम् ॥ १३ ॥
तस्माद्युद्धोचितं कर्म कर्म वा धर्मसंहितम् ।
क्रियतामाशु राजेंद्र संप्राप्तश्च धनंजयः ॥ १४ ॥
दुर्योधन उवाच—नाऽहं राज्यं प्रदास्यामि पांडवानां पितामह ।
युद्धोपचारिकं यत्तु तच्छीघ्रं प्रविधीयताम् ॥ १५ ॥
भीष्म उवाच—अत्र या मामिका बुद्धिः श्रूयतां यदि रोचते ।
सर्वथा हि मया श्रेयो वक्तव्यं कुरुनंदन ॥ १६ ॥
क्षिप्रं बलचतुर्भागं गृह्य गच्छ पुरं प्रति ।
ततोऽपरश्चतुर्भागो गाः समादाय गच्छतु ॥ १७ ॥
वयं चाऽर्धेन सैन्यस्य प्रतियोत्स्याम पांडवम् ।
अहं द्रोणश्च कर्णश्च अश्वत्थामा कृपस्तथा ।
प्रतियोत्स्याम बीभत्सुमागतं कृतनिश्चयम् ॥ १८ ॥
मत्स्यं वा पुनरायातमागतं वा शतक्रतुम् ।
अहमावारयिष्यामि वेलेव मकरालयम् ॥ १९ ॥
वैशम्पायन उवाच—तद्वाक्यं रुरुचे तेषां भीष्मेणोक्तं महात्मना ।
तथा हि कृतवान्राजा कौरवाणामनंतरम् ॥ २० ॥

दूसरा हारता है। इसमें चिन्ता की बात ही क्या है ? अर्जुन सिर पर आ गये हैं, इसलिए इस समय जी चाहे तो युद्ध करो, नहीं तो धर्म के अनुसार राज्य देकर सन्धि कर लो ॥१०।१४॥

दुर्योधन ने कहा—हे पितामह ! मैं पाण्डवों को राज्य कभी न दूँगा। आप तुरन्त युद्ध की तैयारी कीजिए ॥१५॥

भीष्म ने कहा—हे दुर्योधन ! मैं जो कहता हूँ उसे सुनो और जी चाहे तो उस पर ध्यान दो। तुम इस सारी सेना के शीघ्र चार विभाग कर डालो। एक दल के साथ तुम अपनी राजधानी को चले जाओ। सेना का दूसरा दल सब गायों को लेकर जाय। उसके पश्चात् बची हुई आधी सेना साथ लेकर कृपाचार्य, कर्ण, द्रोण, अश्वत्थामा और मैं, हम सब—अपनी प्रतिज्ञा पर स्थिर—अर्जुन के साथ युद्ध करेंगे। राजा विराट या स्वयं इन्द्र भी आ जायें तो मैं [अर्जुन को] वैसे ही रोक रक्खूँगा जैसे तटभूमि समुद्र के वेग को रोके रहती है ॥१६।१९॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! सब लोगों ने महात्मा भीष्म की इस सम्मति का अनुमोदन किया। कुरुपति दुर्योधन ने भीष्म की आज्ञा से ही सब काम किया। पितामह ने पहले दुर्योधन को

यत्कुंतीं समतिक्रम्य कृष्णां केशेष्वधर्षयत् ।
दुःशासनस्तेऽनुमते तच्चाऽस्माभिरुपेक्षितम् ॥ १६ ॥
अथोचितं स्वकं भागं लभेमहि परंतप ।
निवर्तय परद्रव्याद् बुद्धिं गृद्धां नरर्षभ ॥ १७ ॥
शांतिरेवं भवेद्राजन्प्रीतिश्चैव परस्परम् ।
राज्यैकदेशमपि नः प्रयच्छ शममिच्छताम् ॥ १८ ॥
अविस्थलं वृकस्थलं माकंदीं वारणावतम् ।
अवसानं भवत्वत्र किंचिदेकं च पंचमम् ॥ १९ ॥
भ्रातॄणां देहि पंचानां पंच ग्रामान्सुयोधन ।
शांतिर्नोऽस्तु महाप्राज्ञ ज्ञातिभिः सह संजय ॥ २० ॥
भ्राता भ्रातरमन्वेतु पिता पुत्रेण युज्यताम् ।
स्मयमानाः समायांतु पांचालाः कुरुभिः सह ॥ २१ ॥
अक्षतान्कुरुपांचालान्पश्येयमिति कामये ।
सर्वे सुमनसस्तात शाम्याम भरतर्षभ ॥ २२ ॥
अलमेव शमायाऽस्मि यथा युद्धाय संजय ।
धर्मार्थयोरलं चाऽहं मृदवे दारुणाय च ॥ २३ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि संजययानपर्वणि युधिष्ठिरसंदेशे एकत्रिंशोऽध्याय. ॥ ३१ ॥

बलवान् और समर्थ होकर भी पाण्डवों ने इसी घोर कर्म से बचने के लिए पहले के और पश्चात् के सब क्लेशों को सह लिया है। हे सौम्य! तुमने मृग-छाला पहनाकर हमें वनवासी कर दिया और देश से निकाल दिया, उसे भी हमने इसी से सह लिया कि हमें कौरवों की हत्या न करनी पड़े ॥१२।१५॥

तुम्हारी अनुमति से दुःशासन ने कुन्ती माता का कहा न मानकर द्रौपदी के बाल पकड़ लिये, उसे भी हमने इसी विचार से भुला दिया और उस समय भी हम शांति से बैठे देखते रहे। हे शत्रुदमन! इसलिए अब हमें हमारा न्याय से प्राप्य भाग तुमसे मिलना चाहिए। हे नरश्रेष्ठ! पराये द्रव्य को लेने की बुरी बुद्धि छोड़ दो। हे राजेन्द्र! इसी तरह शान्ति और परस्पर प्रीति हो सकती है। हम शांति और सन्धि ही चाहते हैं, इसलिए जो तुम हमें राज्य का एक छोटा सा अंश ही दे दोगे तो हम प्रसन्न हो जायँगे। तुम हमें अविस्थल, वृकस्थल, माकन्दी, वारणावत और एक कोई और गाव, केवल ये पाच गाव दे दो। बस, हमारा-तुम्हारा झगड़ा मिट जायगा ॥१६।१९॥

हे सुयोधन! हम पाच भाइयों के लिए केवल पाच गाव दे दो, जिसमें हम सब भाइयों में सन्धि और शांति हो जाय। भाई भाइयों से मिलें, बाप-बेटों में मेल बना रहे—और प्रसन्नचित पाञ्चाल लोग

एष तिष्ठन्रथश्रेष्ठे रथे च रथिनां वरः ।
उत्कर्षति धनुःश्रेष्ठं गाण्डीवमशनिस्वनम् ॥ ५ ॥
इमौ च बाणौ सहितौ पादयोर्मे व्यवस्थितौ ।
अपरौ चाप्यतिक्रांतौ कर्णौ संस्पृश्य मे शरौ ॥ ६ ॥
निरुष्य हि वने वासं कृत्वा कर्माऽतिमानुषम् ।
अभिवादयते पार्थः श्रोत्रे च परिपृच्छति ॥ ७ ॥
चिरदृष्टोऽयमस्माभिः प्रज्ञावान्बान्धवप्रियः ।
अतीव ज्वलितो लक्ष्म्या पाण्डुपुत्रो धनंजयः ॥ ८ ॥
रथी शरी चारुतली निषंगी शंखी पताकी कवची किरीटी ।
खड्गी च धन्वी च विभाति पार्थः शिखी वृतः स्रुग्भिरिवाऽऽज्यसिक्तः॥ ९ ॥
अर्जुन उवाच—इषुपाते च सेनाया हयान्संयच्छ सारथे ।
यावत्समीक्षे सैन्येऽस्मिन्काऽसौ कुरुकुलाधमः॥ १० ॥
सर्वानेताननादृत्य दृष्ट्वा तमतिमानिनम् ।
तस्य मूर्ध्नि पतिष्यामि तत एते पराजिताः ॥ ११ ॥
एष व्यवस्थितो द्रोणो द्रौणिश्च तदनंतरम् ।
भीष्मः कृपश्च कर्णश्च महेष्वासाः समागताः ॥ १२ ॥
राजानं नाऽत्र पश्यामि गाः समादाय गच्छति।
दक्षिणं मार्गमास्थाय शंके जीवपरायणः ॥ १३ ॥

डोरी बजा रहे हैं । देखो, ये दो बाण एक साथ आकर मेरे पांवों के पास गिरे, और दो बाण मेरे कान के पास से होकर चले गये । पहले दो बाणों से अर्जुन ने मुझे प्रणाम किया है । दुबारा के दोनों बाणों द्वारा उन्होंने मुझसे युद्ध के लिए अनुमति मांगी है ॥३।६॥

उन्होंने वनवास के समय कठिन साधना की है; जो हो, बहुत दिनों के पश्चात् [प्रिय शिष्य] अर्जुन को आज देखा है । बाण, मनोहर तल-त्राण, तरकस, शङ्ख, कवच, किरीट, खड्ग और धनुष धारण किये रथ पर स्थित अर्जुन इस समय प्रज्वलित अग्नि के समान जान पड़ते हैं ॥७।९॥

अर्जुन ने [कौरवों को युद्धभूमि में स्थित देखकर उत्तर से] कहा—हे कुमार ! जितनी दूरी पर बाण जाकर गिरता है उतनी ही दूरी पर ले चलकर मेरा रथ खड़ा कर दो । मैं देखना चाहता हूं कि इस सेना में कुरुकुलाधम दुर्योधन कहां है । इस समय अन्य योद्धाओं के साथ युद्ध करने की आवश्यकता नहीं । एक उस अभिमानी दुर्योधन के हारने से ही सब हार जायेंगे । वह देखो आचार्य द्रोण हैं, उनके

कथं हि मंत्राग्र्यधरो मनीषी धर्मार्थयोरापदि संप्रणेता ।
एवमुक्तः सर्वमंत्रैरहीनो नरो नृशंसं कर्म कुर्यादमूढः ॥ २० ॥
तव ह्यमी मंत्रविदः समेत्य समासते कर्मसु नित्ययुक्ताः ।
तेषामयं बलवान्निश्चयश्च कुरुक्षये नियमेनोदपादि ॥ २१ ॥
अकालिकं कुरवो नाऽभविष्यन्पापे न चेत्पापमजातशत्रुः ।
इच्छेज्जातु त्वयि पापं विसृज्य निंदा चेयं तव लोकेऽभविष्यत् ॥ २२ ॥
किमन्यत्र विषयादीश्वराणां यत्र पार्थः परलोकं स्म द्रष्टुम् ।
अत्यक्रामत्स तथा संमतः स्यान्न संशयो नास्ति मनुष्यकारः ॥ २३ ॥
एतान्गुणान्कर्मकृतानवेक्ष्य भावाभावौ वर्तमानावनित्यौ ।
बलिर्हि राजा पारमविंदमानो नाऽन्यत्कालात्कारणं तत्र मेने ॥ २४ ॥
चक्षुः श्रोत्रे नासिका त्वक् च जिह्वा ज्ञानस्यैतान्यायतनानि जंतोः ।
तानि प्रीतान्येव तृष्णाक्षयांते तान्यव्यथो दुःखहीनः प्रणुद्यात् ॥ २५ ॥
न त्वेव मन्ये पुरुषस्य कर्म संवर्तते सुप्रयुक्तं यथावत् ।
मातुः पितुः कर्मणाऽभिप्रसूतः संवर्धते विधिवद्भोजनेन ॥ २६ ॥

वैसे दुःख नहीं भोगने पड़ते—वह सहज में आपत्ति से छुटकारा पा जाता है। आप सत्कुल में तो उत्पन्न हैं किन्तु सन्तोष आदि अन्य गुण आपमें नहीं हैं। मन्त्रणा-चतुर भीष्म आदि आपके पास रहते हैं; उन्होंने उस समय मना भी किया था कि पाण्डवों से अनुचित व्यवहार न किया जाय। आप स्वयं भी भलाई-बुराई को अच्छी तरह समझते थे। आपत्ति के समय धर्म और अर्थ के अगुआ होने का गौरव भी आप को प्राप्त है। यदि आप पुत्र के मोह में मूढ़ न होते तो ऐसे ओछे काम का अनुमोदन कभी न करते। हे राजेन्द्र! ये कर्ण आदि सब आपके मन्त्री, जो सदा आपके कामों में लगे रहते हैं, मिल-कर यह दृढ़ निश्चय कर चुके हैं कि पाण्डवों को आधा राज्य कभी न देना चाहिए। इसका अवश्य होने-वाला फल कुरु-कुल का नाश ही है॥१८-२१॥

जो महाराज युधिष्ठिर आपके पाप-कर्म का बदला पाप-पूर्ण उपाय से चुकाना चाहते तो अब तक कब का कौरवों का नाश हो चुका होता। इसमें उन्हें गोत्र-वध का पाप भी न लगता; क्योंकि गोत्र-वध का मूल कारण आपका ही कर्म है। इस प्रकार युधिष्ठिर तो, चोर को दण्ड देनेवाले राजा के समान अधर्म करनेवाले आप पर पाप का भार छोड़कर उससे बच जाते; और संसार में आपकी ही निन्दा होती। हे राजेन्द्र! सब जीव दैव के ही अधीन हैं। जो यह बात न होती तो इसी शरीर से स्वर्ग को जा सकनेवाले प्रतापी अर्जुन को ऐसे (बृहन्नला बनने आदि के) कष्ट न भोगने पड़ते। दैव के आगे पौरुष कुछ नहीं है। राजा बलि ने भी जब देखा कि शूरता आदि गुण कर्मानुसार घटते-बढ़ते रहते हैं, और इसी से भाव (ऐश्वर्य) और अभाव (कमी) सदा स्थिर नहीं रहते

कीर्यमाणाः शरौघैस्तु योधास्ते पार्थचोदितैः ।
नाऽपश्यन्नावृतां भूमिं नांऽतरिक्षं च पत्रिभिः॥ २१ ॥
तेषामापततां युद्धे नाऽपयानेऽभवन्मतिः ।
शीघ्रत्वमेव पार्थस्य पूजयंति स्म चेतसा ॥ २२ ॥
ततः शंखं प्रदध्मौ स द्विषतां लोमहर्षणम् ।
विस्फार्य च धनुः श्रेष्ठं ध्वजे भूतान्यचोदयत् ॥ २३ ॥
तस्य शंखस्य शब्देन रथनेमिस्वनेन च ।
गांडीवस्य च घोषेण पृथिवी समकंपत ॥ २४ ॥
अमानुषाणां भूतानां तेषां च ध्वजवासिनाम् ।
ऊर्ध्वं पुच्छान्विधुन्वाना रेभमाणाः समंततः ।
गावः प्रतिन्यवर्तंत दिशमास्थाय दक्षिणाम् ॥ २५ ॥

इति श्रीमन्महाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोग्रहे गोनिवर्तने त्रिपंचाशततमोऽध्यायः ॥ ५३ ॥

इधर अर्जुन ने वहां पहुंचकर ज़ोर से सबको अपना नाम सुना दिया। इसके पश्चात् वे कौरव-सेना पर टीड़ीदल के समान असंख्य तीक्ष्ण बाणों की वर्षा करने लगे। अर्जुन के बाणों से सारी पृथ्वी और आकाशमण्डल छा गया। कौरवों की सेना अत्यन्त व्याकुल हो गई; किन्तु कोई भागा नहीं, बल्कि वे सब मन ही मन अर्जुन के लगातार बाण बरसाने की प्रशंसा करने लगे ॥२०।२२॥

इसी अवसर पर अर्जुन ने शत्रुओं के रोंगटे खड़े कर देनेवाला शङ्ख बजाया और गाण्डीव धनुष की डोरी का शब्द किया। ध्वजा के ऊपर स्थित भूतगण भी भयङ्कर शब्द करने लगे। शङ्खनाद, रथ के पहियों की घरघराहट, गाण्डीव धनुष की टङ्कार और ध्वजा पर स्थित अलौकिक भूतों की कराल किलकारियों से पृथ्वीमण्डल कांप उठा। गायें डरकर पूँछ उठाकर दक्षिण दिशा [अपने नगर] की ओर लौट पड़ीं। [अर्जुन ने गोपालों से कहा—गायें लेकर तुम नगर को जाओ। तब वे लोग गायें लेकर नगर की ओर लौट पड़े।] ॥२३।२५॥

—o—

विराटपर्व का तिरपनवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ५३ ॥

अथ चतुःपचाशततमोऽध्यायः ॥ ५४ ॥

वैशम्पायन उवाच—स शत्रुसेनां तरसा प्रणुद्य गास्ता विजित्याऽथ धनुर्धराग्र्यः।
दुर्योधनायाऽभिमुखं प्रयातो भूयो रणं सोऽभिचिकीर्षमाणः॥ १ ॥

चौवनवां अध्याय ॥ ५४ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! धनुष धारण करनेवाले वीरों में प्रधान अर्जुन शत्रुओं को हराकर, गायों को छुड़ाकर, युद्ध करने के लिए फिर दुर्योधन की ओर बढ़े। कौरवों की सेना के लोगों

प्रेष्यस्ते प्रेषितश्चैव धृतराष्ट्र युधिष्ठिरः ॥ १६ ॥
विपरीततरश्च त्वं भागधेये न संमतः ।
अर्चिषां प्रक्षयाच्चैव धर्मात्मा धर्मकोविदः ॥ १७ ॥
आनृशंस्यादनुक्रोशाद्धर्मात्सत्यात्पराक्रमात् ।
गुरुत्वात्त्वयि संप्रेक्ष्य बहून् क्लेशांस्तितिक्षते ॥ १८ ॥
दुर्योधने सौबले च कर्णे दुःशासने तथा ।
एतेष्वैश्वर्यमाधाय कथं त्वं भूतिमिच्छसि ॥ १९ ॥
आत्मज्ञानं समारंभस्तितिक्षा धर्मनित्यता ।
यमर्थान्नापकर्षंति स वै पंडित उच्यते ॥ २० ॥
निषेवते प्रशस्तानि निंदितानि न सेवते ।
अनास्तिकः श्रद्दधान एतत्पंडितलक्षणम् ॥ २१ ॥
क्रोधो हर्षश्च दर्पश्च ह्रीस्तंभो मान्यमानिता ।
यमर्थान्नापकर्षंति स वै पंडित उच्यते ॥ २२ ॥
यस्य कृत्यं न जानंति मंत्रं वा मंत्रितं परे ।
कृतमेवास्य जानंति स वै पंडित उच्यते ॥ २३ ॥

के वंश में एक तुम्हीं को विद्वान् और बुद्धिमान् लोग मान देते हैं ॥१५॥

विदुर ने कहा–हे महाराज ! धर्मात्मा युधिष्ठिर में राजा के सब लक्षण हैं और उनमें त्रिभुवन के स्वामी होने की योग्यता है । इसके विपरीत आपमें राजा के लक्षण नहीं हैं और धर्मात्मा धर्मज्ञ होने पर भी आप अन्धे होने के कारण राज्य पाने के उपयुक्त भी नहीं हैं । तो भी आपने राज्यलोभ से स्नेह के योग्य धर्मराज को वन में रहने के लिए भेज दिया । राजा युधिष्ठिर उदार, दयालु, धर्मात्मा, शान्त, सत्यवादी और पराक्रमी होने पर भी आपको अपना बड़ा और बूढ़ा समझकर अनेक क्लेश सह रहे हैं । हे राजेन्द्र ! आप दुर्योधन, कर्ण, दुःशासन और शकुनि के ऊपर राज्य के काम छोड़कर कैसे अपने भले या अभ्युदय की इच्छा करते हैं ? जो मनुष्य शास्त्र के द्वारा आत्मज्ञान प्राप्त करता है, शक्ति देखकर कार्य का आरम्भ करता है, वैराग्य का आश्रय ले करके सहनशील बनता है और श्रद्धा के साथ सदा धर्म करता है वही पण्डित है । इस प्रकार उक्त गुणों की सहायता से जो पुरुष पुरुषार्थ से भ्रष्ट नहीं होता, वही पण्डित है । जो परलोक आदि पर विश्वास रखनेवाला आस्तिक है, गुरु और वेद आदि के वचनों पर श्रद्धा रखनेवाला है, प्रशंसनीय काम करता और निन्दित कामों से बचता है, वही पण्डित है ॥१६।२१॥

क्रोध, हर्ष, दर्प (दूसरों का अपमान करना), लज्जा, नम्रता का अभाव और अपने को मान के योग्य मानना, ये भाव जिसके कार्यों को नष्ट नहीं

ततो विकर्णस्य धनुर्विकृष्य जांबूनदाग्र्योपचितं दृढज्यम् ।
आपातयत्तं ध्वजमस्य मथ्यच्छिन्नध्वजः सोऽत्यपयाज्जवेन ॥ १० ॥
तं शात्रवाणां गणबाधितारं कर्माणि कुर्वंतममानुषाणि ।
शत्रुंतपः पार्थममृष्यमाणः समार्दयच्छरवर्षेण पार्थं ॥ ११ ॥
स तेन राज्ञाऽतिरथेन विद्धो विगाहमानो ध्वजिनीं कुरूणाम् ।
शत्रुंतपं पंचभिराशु विध्वा ततोऽस्य सूतं दशभिर्जघान ॥ १२ ॥
ततः स विद्धो भरतर्षभेण बाणेन गात्रावरणातिगेन ।
गतासुराजौ निपपात भूमौ नगो नगाग्रादिव वातरुग्णः ॥ १३ ॥
नरर्षभास्तेन नरर्षभेण वीरा रणे वीरतरेण भग्नाः ।
चकंपिरे वातवशेन काले प्रकंपितानीव महावनानि ॥ १४ ॥
हतास्तु पार्थेन नरप्रवीरा गतासवोर्व्यां सुषुपुः सुवेषाः ।
वसुप्रदा वासवतुल्यवीर्याः पराजिता वासवजेन संख्ये ॥ १५ ॥
सुवर्णकार्ष्णायसवर्मनद्धा नागा यथा हैमवताः प्रवृद्धाः ।
तथा स शत्रून्समरे विनिघ्नन्गांडीवधन्वा पुरुषप्रवीरः ॥ १६ ॥
चचार संख्ये विदिशो दिशश्च दहन्निवाऽग्निर्वनमातपांते ।
प्रकीर्णपर्णानि यथा वसंते विशातयित्वा पवनोऽम्बुदांश्च ॥ १७ ॥

बाण चलाने लगा । तब शत्रुनाशन अर्जुन ने भी दृढ डोरीवाले सुनहरे धनुष को चढ़ाकर ऐसे बाण मारे कि विकर्ण बेहोश होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा; उसके रथ की ध्वजा भी कटकर गिर पड़ी। होश आने पर विकर्ण प्राण लेकर फुर्ती के साथ युद्ध-भूमि से भाग गया । [विकर्ण के भाग जाने पर महावीर अर्जुन के इस अलौकिक काम को देखकर] अत्यन्त क्रोधित हो शत्रुन्तप नाम का वीर सामने आया, और अर्जुन पर बाणों की वर्षा करने लगा ॥९।११॥

इसके बाणों के प्रहार से अर्जुन को बड़ा क्रोध चढ़ आया । उन्होंने उसी समय उसको पांच और सारथी को दस बाण मारे । अर्जुन के बाणों से घायल शत्रुन्तप, पर्वत के शिखर पर से आंधी से टूटकर गिरे हुए वृक्ष की तरह, युद्धभूमि में गिर पड़ा । महावीर अर्जुन के बाणों से पीड़ित और वीर भी, आंधी से कांपते हुए महावन की तरह, कांपने लगे ।१२।१४।

जो वीर इन्द्र के समान पराक्रमी, लोह-कवच-धारी हिमालय पर उत्पन्न गजराजों के समान डील-डौलवाले थे वे अर्जुन के बाणों से मरकर पृथ्वी पर गिरने लगे । गर्मियों में धूप के समय प्रचण्ड अग्नि जैसे इधर-उधर वन को जलाती फिरती है वैसे ही पुरुषश्रेष्ठ अर्जुन शत्रुओं को चौपट करते हुए इधर-उधर विचरने लगे । वसन्त ऋतु में वायु जैसे वृक्षों के पत्तों को गिराती है और बादलों को इधर-उधर

एकः पापानि कुरुते फलं भुंक्ते महाजनः ।
भोक्तारो विप्रमुच्यंते कर्ता दोषेण लिप्यते ॥ ४७ ॥
एकं हन्यान्न वा हन्यादिषुर्मुक्तो धनुष्मता ।
बुद्धिर्बुद्धिमतोत्सृष्टा हन्याद्राष्ट्रं सराजकम् ॥ ४८ ॥
एकया द्वे विनिश्चित्य त्रींश्चतुर्भिर्वशे कुरु ।
पंच जित्वा विदित्वा षट् सप्त हित्वा सुखी भव ॥ ४९ ॥
एकं विषरसो हन्ति शस्त्रेणैकश्च वध्यते ।
सराष्ट्रं सप्रजं हंति राजानं मंत्रविप्लवः ॥ ५० ॥
एकः स्वादु न भुंजीत एकश्चार्थान्न चिन्तयेत् ।
एको न गच्छेदध्वानं नैकः सुप्तेषु जागृयात् ॥ ५१ ॥
एकमेवाद्वितीयं तद्यद्राजन्नावबुध्यसे ।
सत्यं स्वर्गस्य सोपानं पारावारस्य नौरिव ॥ ५२ ॥
एकः क्षमावतां दोषो द्वितियो नोपपद्यते ।
यदेनं क्षमया युक्तमशक्तं मन्यते जनः ॥ ५३ ॥
सोऽस्य दोषो न मंतव्यः क्षमा हि परमं बलम् ।
क्षमा गुणो ह्यशक्तानां शक्तानां भूषणं क्षमा ॥ ५४ ॥

एक मनुष्य पाप करता है, उसका फल [सब लोगों को और] श्रेष्ठ पुरुषों को भी भोगना पड़ता है । भोग करनेवाले छूट जाते हैं, पाप करनेवाला दोष से लिप्त होता है । अर्थात् तुमने अन्याय किया, उससे होनेवाले युद्ध का फल सबको भोगना पड़ेगा । ऐश्वर्य का भोग सब करेंगे, पाप के भागी तुम्हीं होगे । धनुषधारी के बाण का निशाना लग भी जाता है, और कभी खाली भी जाता है; किन्तु बुद्धिमान् की चतुराई से राजा और राज्य दोनों का नाश होता है । एक बुद्धि से दो (कार्य और अकार्य) का निश्चय करके तीन (मित्र, शत्रु, उदासीन) को चार (साम, दान, भेद, दण्ड) से वश में कीजिए । फिर पांच (इन्द्रियों) को जीतकर, छः (सन्धि, विग्रह, यान आदि) को जानकर और सात (वेश्या, जुआ, शिकार, शराब, कठोर वचन, दण्ड की कठोरता, अन्याय से धनोपार्जन) छोड़कर सुखी हूजिए ॥४७॥४९॥

विष से एक मरता है, शस्त्र से एक की हत्या होती है, किन्तु सम्मति की गड़बड़ से राजा, राज्य और प्रजा, सबका नाश होता है । हे राजेन्द्र ! अकेले स्वादिष्ट वस्तु न खानी चाहिए; अकेले किसी कार्य के चोर में न सोचना चाहिए; अकेले राह न चलना चाहिए और सोने हुए लोगों में अकेले न जागना चाहिए । हे महाराज ! जैसे समुद्र के पार जाने का उपाय एक मात्र नाव (जहाज) है, वैसे ही सत्य

ततस्त्वभूद्वै तलतालशब्दः सशंखभेरीपणवप्रणादः ।
प्रक्ष्वेडितज्यातलनिः स्वनं तं वैकर्तनं पूजयतां कुरूणाम् ॥ २६ ॥
उद्धूतलांगूलमहापताकध्वजोत्तमांसाकुलभीषणांतम् ।
गांडीवनिर्ह्रादकृतप्रणादं किरीटिनं प्रेक्ष्य ननाद कर्णः ॥ २७ ॥
स चापि वैकर्त्तनमर्दयित्वा साश्वं ससूतं सरथं पृषत्कैः ।
तमाववर्ष प्रसभं किरीटी पितामहं द्रोणकृपौ च दृष्ट्वा ॥ २८ ॥
स चापि पार्थं बहुभिः पृषत्कैर्वैकर्त्तनो मेघ इवाऽभ्यवर्षत् ।
तथैव कर्णं च किरीटमाली संछादयामास शितैः पृषत्कैः ॥ २९ ॥
तयोः सुतीक्ष्णान्सृजतोः शरौघान्महाशरौघास्त्रविवर्द्धने रणे ।
रथे विलग्नाविव चंद्रसूर्यौ घनांतरेणाऽनुददर्श लोकः ॥ ३० ॥
अथाऽऽशुकारी चतुरो हयांश्च विव्याध कर्णो निशितैः किरीटिनः ।
त्रिभिश्च यंतारममृष्यमाणो विव्याध तूर्णं त्रिभिरस्य केतुम् ॥ ३१ ॥
ततोऽभिविद्धःसमरावमर्दी प्रबोधितः सिंह इव प्रसुप्तः ।
गांडीवधन्वा ऋषभः कुरुणामजिह्मगैः कर्णमियाय जिष्णुः ॥ ३२ ॥
शरास्त्रवृष्ट्या निहतो महात्मा प्रादुश्चकाराऽतिमनुष्यकर्म ।
प्राच्छादयत्कर्णरथं पृषत्कैर्लोकानिमान्सूर्य इवांऽशुजालैः ॥ ३३ ॥
स हस्तिनेवाऽभिहतो गजेंद्रः प्रगृह्य भल्लान्निशितान्निषंगात् ।
आकर्णपूर्णं च धनुर्विकृष्य विव्याध गात्रेष्वथ सूतपुत्रम् ॥ ३४ ॥

किये हुए कर्ण प्रज्वलित अग्नि के समान शोभित हुआ। उसको इस प्रकार अद्भुत कर्म करके निर्भय खड़े देखकर कौरव लोग अत्यंत आनन्द के मारे तालियां पीटकर, शङ्ख-नगाड़े आदि बाजे बजाकर, प्रशंसा करने लगे। फिर कर्ण ने गाण्डीव धनुष धारण करनेवाले अर्जुन की ओर देखकर सिंहनाद किया। तब अर्जुन ने कर्ण को उसके रथ, सारथी और घोड़ों समेत वाणों से पीड़ित किया। इसके सिवा भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य और अश्वत्थामा पर भी अर्जुन वाणों की विकट वर्षा करने लगे। कर्ण ने भी वाणों की वर्षा करके अर्जुन को छा लिया। किन्तु अर्जुन ने शीघ्र ही उन वाणों को काट डाला। तब रथ पर सवार वे दोनों वीर मेघ के भीतर से निकले हुए चन्द्रमा और सूर्य के समान जान पड़ने लगे ॥२५।३०॥

अब कर्ण ने फुर्ती के साथ अर्जुन के घोड़ों को वाणों से घायल करके उनके सारथी पर और ध्वजा पर तीन-तीन वाण मारे। सूर्यनारायण जैसे एकदम अपनी किरणें जगत् में फैला देते हैं वैसे ही युद्धवीर अर्जुन ने, सोकर उठे सिंह की तरह गरजकर, वाणों की वर्षा से कर्ण के रथ को छिपा दिया। फिर

चत्वारि कर्माण्यभयंकराणि भयं प्रयच्छंत्ययथाकृतानि ।
मानाग्निहोत्रमुतमानमौनं मानेनाधीतमुत मानयज्ञः ॥ ७८ ॥
पंचाग्नयो मनुष्येण परिचर्याः प्रयत्नतः ।
पिता माताऽग्निरात्मा च गुरुश्च भरतर्षभ ॥ ७९ ॥
पंचैव पूजयन्लोके यशः प्राप्नोति केवलम् ।
देवान्पितृन्मनुष्यांश्च भिक्षूनतिथिपंचमान् ॥ ८० ॥
पंच त्वानुगमिष्यंति यत्र यत्र गमिष्यसि ।
मित्राण्यमित्रा मध्यस्था उपजीव्योपजीविनः ॥ ८१ ॥
पंचेंद्रियस्य मर्त्यस्य छिद्रं चेदेकछिद्रियम् ।
ततोऽस्य स्रवति प्रज्ञा दृतेः पात्रादिवोदकम् ॥ ८२ ॥
षड् दोषाः पुरुषेणेह हातव्या भूतिमिच्छता ।
निद्रा तंद्री भयं क्रोध आलस्यं दीर्घसूत्रता ॥ ८३ ॥
षडिमान्पुरुषो जह्याद्भिन्नां नावमिवार्णवे ।
अप्रवक्तारमाचार्यमनधीयानमृत्विजम् ॥ ८४ ॥
अरक्षितारं राजानं भार्यां चाप्रियवादिनीम् ।
ग्रामकामं च गोपालं वनकामं च नापितम् ॥ ८५ ॥

अग्निहोत्र, मौनव्रत, पढ़ना और यज्ञ करना, ये चारबातें अभय देती हैं; किन्तु यथाविधि न करने से ये ही भय *का कारण बन जाती हैं । हे महाराज ! पिता, माता,* अग्नि, आत्मा और गुरु, ये पाँच अग्नि हैं । यत्न के साथ इनकी सेवा करनी चाहिए । देवता, पितर (स्वर्गीय अग्निष्वात्ता आदि), मनुष्य (जीवित पिता-माता आदि), भिक्षुक और अतिथि, इन पाँच की पूजा करने से मनुष्य यशस्वी होता है ॥७९।८०॥

हे महाराज ! आप जहाँ-जहाँ जायँगे वहाँ-वहाँ मित्र, शत्रु, उदासीन, उपजीव्य (गुरुजन) और उपजीवी (आश्रित अनुचर) ये पाँच आपके साथ जायँगे । हे राजेन्द्र ! मनुष्य के पाँच इन्द्रियाँ हैं; उनमें यदि एक भी इन्द्रिय कुपथगामिनी होकर दोषों को अवसर दे देती है तो उस मनुष्य की *प्रज्ञा (समझदारी), फटी हुई मशक से जल की तरह* निकलकर, नष्ट हो जाती है । हे राजेन्द्र ! ऐश्वर्य की इच्छा रखनेवाले पुरुष को निद्रा, तन्द्रा, भय, क्रोध, आलस्य और दीर्घ-सूत्रता अर्थात् शीघ्र के कार्य में देर लगाने का स्वभाव, ये छः दोष छोड़ देने चाहिएँ । ज्ञान और हित का उपदेश न करनेवाले आचार्य को, अपढ़ पुरोहित को, रक्षा न करनेवाले राजा को, अप्रिय वचन बोलनेवाली भार्या को, गोपालन के लिए वन में न रहकर बस्ती में रहनेवाले अहीर को और बस्ती में अपना कार्य न करके वन में

दिव्ययोगाच्च पार्थस्य हयानामुत्तरस्य च ।
शिक्षाशिल्पोपपन्नत्वादस्त्राणां च परिक्रमात् ।
वीर्यवत्त्वं द्रुतं चाग्र्यं दृष्ट्वा जिष्णोरपूजयन् ॥ ६ ॥
कालाग्निमिव बीभत्सुं निर्दहंतमिव प्रजाः ।
नाऽरयः प्रेक्षितुं शेकुर्ज्वलंतमिव पावकम् ॥ ७ ॥
तानि ग्रस्तान्यनीकानि रेजुरर्जुनमार्गणैः ।
शैलं प्रतिबलाभ्राणि व्यासानीवाऽर्करश्मिभिः ॥ ८ ॥
अशोकानां वनानीव च्छन्नानि बहुशः शुभैः ।
रेजुः पार्थशरैस्तत्र तदा सैन्यानि भारत ॥ ९ ॥
स्रजोऽर्जुनशरैः शीर्णं शुष्यत्पुष्पं हिरण्मयम् ।
छत्राणि च पताकाश्च खे दधार सदागतिः ॥ १० ॥
स्वबलत्रासनात्त्रस्ताः परिपेतुर्दिशो दश ।
रथांगदेशानादाय पार्थच्छिन्नयुगा हयाः ॥ ११ ॥
कर्णकक्षविषाणेषु अंतरोष्ठेषु चैव ह ।
मर्मस्वंगेषु चाऽऽहत्य पातयत्समरे गजान् ॥ १२ ॥
कौरवाग्रगजानां तु शरीरैर्गतचेतसाम् ।
क्षणेन संवृता भूमिर्मेघैरिव नभस्तलम् ॥ १३ ॥

करने लगे। रथ चलाने की विद्या में उत्तर की निपुणता, घोड़ों की चाल, अस्त्र-शस्त्रों के प्रयोग का कौशल और अर्जुन की अत्यन्त विचित्र शक्ति देखकर कौरव उनकी बहुत-बहुत प्रशंसा करने लगे। उस समय उन्हें जान पड़ने लगा कि प्रलयकाल की भयानक अग्नि सारी प्रजा को भस्म कर रही है। कहने का तात्पर्य यह है कि उस समय अर्जुन का रूप ऐसा था कि शत्रु लोग उन्हें आंख भरकर देख भी नहीं सकते थे ॥५।८॥

हे राजा जनमेजय! पर्वत पर ठहरे हुए बादलों पर सूर्य की किरणें पड़ने से जैसी शोभा होती है, फूले हुए अशोक के फूलों से वनभूमि जैसी मनोहर शोभा धारण करती है, वैसे ही अर्जुन के बाणों से घायल कौरवों की सेना शोभा दे रही थी। अर्जुन के बाण शत्रुओं की सोन-चम्पे की माला, छत्र, पताका आदि को काटकर आकाश में ले जाते थे और वे वायु के कारण आकाश-मार्ग में कुछ देर तक ठहरे रहते थे। अर्जुन के बाणों से 'जोत' कट जाने पर, 'जोड़ी' से अलग होकर, भय से बिचककर, घोड़े रथों को इधर-उधर घसीटते फिरते थे। अर्जुन ने हाथियों को, बाणों से अङ्ग-प्रत्यङ्ग छिन्न-भिन्न करके, युद्ध-भूमि में गिरा दिया था। उन हाथियों की लोथों से

यः काममन्यू प्रजहाति राजा पात्रे प्रतिष्ठापयते धनं च ।
विशेषविच्छ्रुतवान्क्षिप्रकारी तं सर्वलोकः कुरुते प्रमाणम् ॥१०९॥
जानाति विश्वासयितुं मनुष्यान्विज्ञातदोषेषु दधाति दंडम् ।
जानाति मात्रां च तथा क्षमां च तं तादृशं श्रीर्जुषते समग्रा ॥११०॥
सुदुर्बलं नावजानाति कंचिद्युक्तो रिपुं सेवते बुद्धिपूर्वम् ।
न विग्रहं रोचयते बलस्थैः काले च यो विक्रमते स धीरः ॥१११॥
प्राप्यापदं न व्यथते कदाचिदुद्योगमन्विच्छति चाप्रमत्तः ।
दुःखं च काले सहते महात्मा धुरंधरस्तस्य जिताः सपत्नाः ॥११२॥
अनर्थकं विप्रवासं गृहेभ्यः पापैः संधिं परदाराभिमर्शम् ।
दंभं स्तैन्यं पैशुनं मद्यपानं न सेवते यश्च सुखी सदैव ॥११३॥
न संरंभेणारभते त्रिवर्गमाकारितः शंसति तत्त्वमेव ।
न मित्रार्थे रोचयते विवादं नापूजितः कुप्यति चाप्यमूढः ॥११४॥
न योऽभ्यसूयत्यनुकंपते च न दुर्बलः प्रातिभाव्यं करोति ।
नात्याह किंचित्क्षमते विवादं सर्वत्र तादृग्लभते प्रशंसाम् ॥११५॥
यो नोद्धतं कुरुते जातु वेषं न पौरुषेणापि विकत्थतेऽन्यान् ।

डालता है, उसे सब लोग अपने लिए प्रमाण मानते हैं। जो राजा दण्ड की मात्रा को जानता है, अवसर पर क्षमा भी करता है, जिनका दोष प्रतीत हो गया है उन्हें दण्ड देता है और मनुष्यों के मन में अपना विश्वास जमाना जानता है, उसे सब प्रकार से सम्पन्न राजलक्ष्मी भजती है ॥१०९।११०॥

जो राजा किसी दुर्बल की उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देखता, बुद्धि रखकर शत्रु के दोष देखता हुआ अवसर की खोज में रहता है, सहायसम्पन्न प्रबल पुरुषों से नहीं भिड़ता है और समय पर पराक्रम प्रकट करता है वही धीर है। जो राजा आपत्ति आ पड़ने पर व्यथित नहीं होता, सावधान होकर उद्योग के साथ उसका सामना करने को खड़ा हो जाता है और समय पर दुःख को सहता है, वह कार्य के बोझ को उठाने की शक्ति रखनेवाले महात्मा शत्रुओं को अवश्य जीत सकता है। जो राजा व्यर्थ विदेश नहीं जाता, पापियों से मेल नहीं रखता, पराई स्त्री को नहीं छीनता और दम्भ, मिथ्या व्यवहार, दुष्टता, मद्यपान आदि दुर्गुणों से बचा रहता है वह सदा सुखी है। जो क्रोध से बचकर धर्म अर्थ-काम का आरम्भ करता है, पूछने पर तत्त्व की सत्य बात कहता है, मित्रों से और स्वजनों से झगड़ा करना पसन्द नहीं करता तथा किसी के अपनी पूजा न करने पर अप्रसन्न नहीं होता, वही पण्डित है। जो ईर्ष्या नहीं करता बल्कि दया करता है, दुर्बल होकर प्रबल से विरोध नहीं करता, बढ़कर कोई बात नहीं

अनंतभोगो भुजगः क्रीडन्निवे महार्णवे ॥ २२ ॥
अस्यतो नित्यमत्यर्थं सर्वमेवाऽतिगस्तथा ।
अश्रुतः श्रूयते भूतैर्धनुर्घोषः किरीटिनः ॥ २३ ॥
संततास्तत्र मातंगा बाणैरल्पांतरान्तरे ।
संवृतास्तेन दृश्यंते मेघा इव गभस्तिभिः ॥ २४ ॥
दिशोऽनुभ्रमतः सर्वाः सव्यदक्षिणमस्यतः ।
सततं दृश्यते युद्धे सायकासनमंडलम् ॥ २५ ॥
पतंत्यरूपेषु यथा चक्षूंषि न कदाचन ।
नाऽलक्ष्येषु शराः पेतुस्तथा गाण्डीवधन्वनः ॥ २६ ॥
मार्गो गजसहस्रस्य युगपद्गच्छतो वने ।
यथा भवेत्तथा जज्ञे रथमार्गः किरीटिनः ॥ २७ ॥
नूनं पार्थजयैषित्वाच्छक्रः सर्वामरैः सह ।
हंत्यस्मानित्यमन्यंत पार्थेन निहताः परे ॥ २८ ॥
घ्नंतमत्यर्थमहितान्विजयं तत्र मेनिरे ।
कालमर्जुनरूपेण संहरंतमिव प्रजाः ॥ २९ ॥
कुरुसेनाशरीराणि पार्थेनैवाऽहतान्यपि ।

जैसे अनन्त फनोंवाला नागराज महासमुद्र के भीतर क्रीड़ा करे वैसे ही महावीर अर्जुन शत्रु-सेना को विचलित कर रहे थे। [उन्होंने इतने बाणों की वर्षा की कि बाणों से शत्रुओं के अङ्ग भर गये—शून्य जगह नहीं रही, और मुर्दों तथा घायलों के ढेर से युद्धभूमि में रथ का आगे बढ़ना कठिन हो गया।] सब लोग गाण्डीव धनुष का अद्भुत शब्द सुनकर बहुत ही विस्मित हुए। बाणों से ढके हुए हाथी ऐसे देख पड़ते थे जैसे किरणों के पड़ने से काले-काले बादल देख पड़ें। चारों ओर फिरकर दाहने, बायें और बीच में लगातार अर्जुन के बाणों की वर्षा करते रहने से उनके धनुष का एक मण्डल सा देख पड़ रहा था। आँखें जैसे रूपहीन पदार्थ पर कभी नहीं पड़तीं वैसे ही अर्जुन के बाण निशाने को छोड़कर अन्यत्र नहीं गिरते थे ॥२२।२६॥

जैसे हजार हाथी एक साथ चलें और चौड़ी राह साफ होती जाय वैसी ही युद्धभूमि में अर्जुन के रथ का मार्ग भी, उनकी बाण वर्षा से, साफ होता जाता था। घायल शत्रुओं ने समझा कि अर्जुन को जय दिलाने के लिए सब देवताओं सहित साक्षात् इन्द्र आकर यह युद्ध कर रहे हैं। कोई कहने लगा, साक्षात् यमराज ही अर्जुन का रूप रखकर प्रजा का नाश कर रहे हैं। जो कौरव सेना अर्जुन के बाणों से घायल नहीं हुई थी वह भी, अर्जुन का अलौकिक

यः प्रमाणं न जानाति स्थाने वृद्धौ तथा क्षये।
कोशे जनपदे दंडे न स राज्येऽवतिष्ठते ॥ १० ॥
यस्त्वेवतानि प्रमाणानि यथोक्तान्यनुपश्यति ।
युक्तो धर्मार्थयोर्ज्ञाने स राज्यमधिगच्छति ॥ ११ ॥
न राज्यं प्राप्तमित्येव वर्तितव्यमसांप्रतम् ।
श्रियं ह्यविनयो हंति जरा रूपमिवोत्तमम् ॥ १२ ॥
भक्ष्योत्तमप्रतिच्छन्नं मत्स्यो वडिशमायसम् ।
लोभाभिपाती ग्रसते नानुबंधमवेक्षते ॥ १३ ॥
यच्छक्यं ग्रसितुं ग्रस्यं ग्रस्तं परिणमेच्च यत् ।
हितं च परिणामे यत्तदाद्यं भूतिमिच्छता ॥ १४ ॥
वनस्पतेरपक्वानि फलानि प्रचिनोति यः ।
स नाप्नोति रसं तेभ्यो बीजं चास्य विनश्यति ॥ १५ ॥
यस्तु पक्वमुपादत्ते काले परिणतं फलम् ।
फलाद्रसं स लभते बीजाच्चैव फलं पुनः ॥ १६ ॥
यथा मधुसमादत्ते रक्षन् पुष्पाणि षट्पदः ।
तद्वदर्थान्मनुष्येभ्य आदद्यादविहिंसया ॥ १७ ॥

है। प्रत्येक कार्य के प्रयोजन और फल को विचार कर, फिर अपने उद्योग को देखकर धैर्य के साथ चाहे उसे करे और चाहे न करे। जो राजा स्थान, वृद्धि, क्षय, कोष, जनपद और दण्ड के प्रमाण को नहीं जानता, वह राज्यासन पर नहीं ठहर सकता॥९।१०॥

जो राजा इन बातों के शास्त्रोक्त प्रमाण को जानता और धर्म-अर्थ का ज्ञान रखता है, वह [बहुत दिन तक स्थिर भाव से] राज्य करता है। राज्य पा जाने पर उसे स्थिर जानकर स्वेच्छाचार का बरताव न करना चाहिए। रूप को जैसे बुढ़ापा बिगाड़ देता है वैसे ही राजलक्ष्मी को अविनय मिटा देता है। खाने की अच्छी सामग्री में छिपे हुए लोहे के काँटे को मछली, अन्न की इच्छा से, निगल जाती है, पीछे से अपने फँस जाने को नहीं देखती। इसलिए जो खाने के अनुकूल हो और खा लेने पर जो पच सके तथा जो अन्त को हितकारी हो वही खाना चाहिए; कल्याण और ऐश्वर्य चाहनेवाले को सदा इस बात पर ध्यान रखना चाहिए। जो कोई वृक्ष के कच्चे फल तोड़ लेता है उसे रस तो मिलता ही नहीं, वह बीज से भी हाथ धो बैठता है; वैसे ही जो कोई समय पर पके हुए फल को लेता है वह रस भी पाता है और बीज भी बने रहते हैं, जिनसे फिर फल की आशा होती है॥११।१६॥

जैसे भौंरा फूलों को बनाये रखकर उनसे रस

तत्प्रभग्नं बलं दृष्ट्वा पार्थमाजिस्थितं पुनः ।
अभिप्रायं समाज्ञाय वैराटिरिदमब्रवीत् ॥ ३९ ॥
आस्थाय रुचिरं जिष्णो रथं सारथिना मया ।
कतमं यास्यसेऽनीकमुक्तो यास्याम्यहं त्वया ॥ ४० ॥
अर्जुन उवाच—लोहिताश्वमरिष्टं यं वैयाघ्रमनुपश्यसि ।
नीलां पताकामाश्रित्य रथे तिष्ठंतमुत्तर ॥ ४१ ॥
कृपस्यैतदनीकाग्र्यं प्रापयस्वैतदेव माम् ।
एतस्य दर्शयिष्यामि शीघ्रास्त्वं दृढधन्विनः ॥ ४२ ॥
ध्वजे कमंडलुर्यस्य शातकौंभमयः शुभः ।
आचार्य एष हि द्रोणः सर्वशस्त्रभृतां वरः ॥ ४३ ॥
सदा ममैष मान्यस्तु सर्वशस्त्रभृतामपि ।
सुप्रसन्नं महावीरं कुरुष्वैनं प्रदक्षिणम् ॥ ४४ ॥
अत्रैवाऽवाऽवरोहेनमेष धर्मः सनातनः ।
यदि मे प्रथमं द्रोणः शरीरे प्रहरिष्यति ।
ततोऽस्य प्रहरिष्यामि नाऽस्य कोपो भवेदिति॥ ४५ ॥
अस्याऽविदूरे हि धनुर्ध्वजाग्रे यस्य दृश्यते ।
आचार्यस्यैष पुत्रो वै अश्वत्थामा महारथः ॥ ४६ ॥

रथ काट डाला। कर्ण के घोड़ों को और सारथी को नष्ट होते देखकर सैनिक लोग भयभीत होकर चारों ओर भागने लगे ॥३५।३८॥

इसी समय अर्जुन के अभिप्राय को जानकर विराट के पुत्र उत्तर ने कहा—हे पाण्डव! आप किस सेना की ओर जाना चाहते हैं? आज्ञा दीजिए, मैं उधर ही रथ ले चलूँ ॥३९।४०॥

अर्जुन ने कहा—वह जो लाल घोड़ों और नीली पताकावाले रथ पर सवार हैं उनका नाम कृपाचार्य है। मैं उनके पास चलकर अपना युद्ध-कौशल और फुर्ती दिखाना चाहता हूँ ॥४१।४२॥

और, जिनकी ध्वजा के दण्ड में सुवर्ण का कमण्डलु शोभा पा रहा है वही धनुर्द्धर पुरुषों में श्रेष्ठ द्रोणाचार्य हैं। वे मेरे और अन्य सब योद्धाओं के मान्य तथा पूजनीय हैं। मैं इस समय विधिपूर्वक उनकी प्रदक्षिणा करूँगा, दाहनी ओर से उनके चारों ओर रथ घुमा दो। आचार्य पहले प्रहार करेंगे तभी मैं उन पर चोट करूँगा। ऐसा करने से वे मुझ पर कुपित नहीं होंगे ॥४३।४५॥

और, वह जो धनुष के चिह्न से युक्त ध्वजावाले रथ पर आचार्य के पास ही उपस्थित हैं, वही महारथी अश्वत्थामा हैं। वे भी हम सबके पूज्य हैं।

न कुलं वृत्तहीनस्य प्रमाणमिति मे मतिः ।
अंतेष्वपि हि जातानां वृत्तमेव विशिष्यते ॥ ४१ ॥
य ईर्षुः परवित्तेषु रूपे वीर्ये कुलान्वये ।
सुखसौभाग्यसत्कारे तस्य व्याधिरनंतकः ॥ ४२ ॥
अकार्यकरणाद्भीतः कार्याणां च विवर्जनात् ।
अकाले मंत्रभेदाच्च येन माद्येन्न तत्पिबेत् ॥ ४३ ॥
विद्यामदो धनमदस्तृतीयोऽभिजनो मदः ।
मदा एतेऽवलिप्तानामेत एव सतां दमाः ॥ ४४ ॥
असंतोऽभ्यर्थिताः सद्भिः क्वचित्कार्ये कदाचन ।
तावन्न तस्य सुकृतं किंचित्कार्यं कदाचन ।
मन्यंते संतमात्मानमसंतमपि विश्रुतम् ॥ ४५ ॥
गतिरात्मवतां संतः संत एव सतां गतिः ।
असतां च गतिः संतो न त्वसंतः सतां गतिः ॥ ४६ ॥
जिता सभा वस्त्रवतामिष्टाशा गोमता जिता ।
अध्वा जितो यानवता सर्वं शीलवता जितम् ॥ ४७ ॥

मेरी समझ में जो आचार से हीन हैं उनकी श्रेष्ठता का कारण कुल नहीं माना जा सकता। नीच कुल में उत्पन्न पुरुष भी अच्छे चरित्र के कारण प्रशंसा पा सकते हैं। तात्पर्य यह है कि सदाचार से हीन पुरुष अच्छे कुल में उत्पन्न होने पर भी निन्दनीय है, और सदाचारी पुरुष नीच कुल में उत्पन्न होने पर भी प्रशंसनीय है। जो पुरुष पराये धन, रूप, पराक्रम, कुल, सुख, सौभाग्य और सत्कार-प्रतिष्ठा को देखकर ईर्ष्या करता है उसे चिन्ता की अनन्त व्याधि सदा सताया करती है। अकार्य करने से, कार्य न करने से और इष्टसिद्धि से पहले सम्मति के फूट जाने से जो डरता है उसे चाहिए कि मतवाला सा बना देनेवाले—हृदय से कर्तव्याकर्तव्य का विचार हटा देनेवाले—लोभ आदि को आश्रय न दे। जो लोग घमंडी हैं उन्हें विद्या, धन और सहायक परिवार का मद होता है। किन्तु साधु पुरुष इन्हीं तीनों को पाकर नम्रतापूर्वक शान्त भाव से रहते हैं। यदि सज्जन लोग कभी किसी कार्य के लिए दुर्जनों से प्रार्थना करते हैं तो वे सर्वत्र असाधु कहलाने पर भी अपने को साधु मानते हैं ॥४१।४५॥

आत्मज्ञानियों की, सज्जनों की और दुर्जनों की भी गति सज्जन ही हैं। दुर्जन कभी सज्जनों की गति नहीं हैं। सुन्दर वस्त्रवाला पुरुष सभा को, गाय पालनेवाला पुरुष मीठे [और गोरस] की इच्छा को और सवारी जिसके पास है वह राह को जीत लेता है, किन्तु जो अच्छे चरित्रवाला है वह सर्वत्र जय पाता है—सबको जीत लेता है। बात यह है कि शील ही पुरुष का प्रधान गुण है। जिसका शील

बलाहकाग्रे सूर्यो वा य एष प्रमुखे स्थितः ॥ ५६ ॥
हैमं चंद्रार्कसंकाशं कवचं यस्य दृश्यते ।
जातरूपशिरस्त्राणं मनस्तापयतीव मे ॥ ५७ ॥
एष शांतनवो भीष्मः सर्वेषां नः पितामहः ।
राजश्रियाऽभिवृद्धश्च सुयोधनवशानुगः ॥ ५८ ॥
पश्चादेष प्रयातव्यो न मे विघ्नकरो भवेत् ।
एतेन युध्यमानस्य यत्तः संयच्छ मे हयान् ॥ ५९ ॥
ततोऽभ्यवहदव्यग्रो वैराटिः सव्यसाचिनम् ।
यत्राऽतिष्ठत्कृपो राजन्योत्स्यमानो धनंजयम् ॥ ६० ॥

इति श्रीमन्महाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोग्रहे अर्जुनकृपसंग्रामे पंचपंचाशततमोऽध्यायः॥५५॥

दुर्योधन के वश में हैं, यह देखकर हमारा जी कुढ़ता है। सबसे पीछे हम उनके पास चलेंगे। पितामह भीष्म हमारे काम में विघ्न नहीं डालेंगे। मैं जब पितामह से युद्ध करूंगा तब तुम सावधान होकर घोड़ों की रास संभाले रहना। अर्जुन के ये वाक्य सुनकर उत्तर कुमार उनके रथ को उस जगह पर ले गया जहां पर कृपाचार्यजी, अर्जुन से युद्ध करने के लिए, खड़े थे। ॥५२।६०॥

विराटपर्व का पचपनवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ५५ ॥

अथ षट्पंचाशततमोऽध्यायः ॥ ५६ ॥

वैशम्पायन उवाच—तान्यनीकान्यदृश्यंत कुरूणामग्रधान्विनाम् ।
संसर्पंते यथा मेघा घर्मांते मंदमारुताः ॥ १ ॥
अभ्याशे वाजिनस्तस्थुः समारूढाः प्रहारिणः ।
भीमरूपाश्च मातंगास्तोमरांकुशनोदिताः ।
महामात्रैः समारूढा विचित्रकवचोज्ज्वलाः ॥ २ ॥
ततः शक्रः सुरगणैः समारुह्य सुदर्शनम् ।

छप्पनवां अध्याय ॥ ५६ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे महाराज जनमेजय ! धनुर्द्धर पुरुषों में श्रेष्ठ कौरव-सेना के वीर, आगे बढ़ने से, उस समय मन्द वायु के द्वारा सञ्चालित वर्षाकाल की मेघमाला के समान देख पड़ने लगे। उनके समीप उत्तम घोड़ों पर सवार योद्धा लोग आगे बढ़ने लगे। कतार की कतार हाथियों पर विचित्र कवच पहने हुए वीर बैठे थे। उन हाथियों पर सुन्दर मूल्यवान् झूलें और रक्षा के लिए सुवर्ण के जाल पड़े थे। महावत लोग तोमर और अंकुश आदि के प्रहार से उन हाथियों को आगे बढ़ा रहे थे। इसी समय कृपाचार्य

यो मोहान्न निगृह्णाति तमापद्ग्रसते नरम् ॥ ७१ ॥
अनसूयाऽऽर्जवं शौचं संतोषः प्रियवादिता ।
दमः सत्यमनायासो न भवंति दुरात्मनाम् ॥ ७२ ॥
आत्मज्ञानमनायासस्तितिक्षा धर्मनित्यता ।
वाक्चैव गुप्ता दानं च नैतान्यंत्येषु भारत ॥ ७३ ॥
आक्रोशपरिवादाभ्यां विहिंसंत्यबुधा बुधान् ।
वक्ता पापमुपादत्ते क्षममाणो विमुच्यते । ॥ ७४ ॥
हिंसा बलमसाधूनां राज्ञां दंडविधिर्बलम् ।
शुश्रूषा तु बलं स्त्रीणां क्षमा गुणवतां बलम् ॥ ७५ ॥
वाक्संयमो हि नृपते सुदुष्करतमो मतः ।
अर्थवच्च विचित्रं च न शक्यं बहुभाषितुम् ॥ ७६ ॥
अभ्यावहति कल्याणं विविधं वाक्सुभाषिता ।
सैव दुर्भाषिता राजन्ननर्थायोपपद्यते ॥ ७७ ॥
रोहते सायकैर्विद्धं वनं परशुनाहतम् ।
वाचा दुरुक्तं बीभत्सं न संरोहति वाक्क्षतम् ॥ ७८ ॥
कर्णिनालीकनाराचान्निर्हरंति शरीरतः ।

दण्ड भोगना पड़ता है। इसलिए पाप करनेवालों का साथ छोड़ देना चाहिए ॥६९।७०॥

जो मनुष्य मोह में पड़कर शरीर में रहनेवाले पांच इन्द्रियरूपी शत्रुओं को कुमार्ग में जाने से नहीं रोकता, उसे चारों ओर से विपत्तियां घेर लेती हैं। दुरात्मा पुरुष ईर्ष्याहीनता, सरलता, पवित्रता, सन्तोष प्रिय वचन बोलना, जितेन्द्रियता, सत्य और शान्ति से सदा दूर रहते हैं। नीच पुरुषों में आत्मज्ञान, शान्तप्रकृति, सहनशीलता, धर्मनिष्ठा, ठीक और थोड़ी बात कहना और दान की प्रवृत्ति, ये उत्तम गुण नहीं होते। मूर्ख दुराचारी लोग, निन्दा और रूखे वचनों से, पण्डितों को हानि पहुंचाते हैं। निन्दा और तिरस्कार के वचन कहनेवाला पापभागी होता है और क्षमा करनेवाला पाप से छूट जाता है। दुष्टों का बल हिंसा है, राजाओं का बल दण्ड का विधान है, स्त्रियों का बल सेवा करना है और गुणवानों का बल क्षमा है ॥७१।७५॥

हे राजेन्द्र ! वाणी का संयम बहुत ही कठिन है। अर्थयुक्त, चमत्कारयुक्त बहुत बोलना भी सहज नहीं है। हे राजेन्द्र ! मधुर और अच्छे वचन बोलने से कल्याण प्राप्त होता है। वही कठिन और कड़वी हो तो घोर अनर्थ हो जाते हैं। बाणों का घाव भर जाता और कुल्हाड़ी का काटा हुआ फिर पनप आता है, किन्तु निन्दित दुर्वचन-बाणों का घाव नहीं भरता।

यथामानं यथोद्देशं विमानानि चकाशिरे ॥ १२ ॥
सर्वदेवनिकायाश्च सिद्धाश्च परमर्षयः ।
अर्जुनस्य कुरूणां च द्रष्टुं युद्धमुपागताः ॥ १३ ॥
दिव्यानां सर्वमाल्यानां गंधः पुण्योऽथ सर्वशः ।
प्रससार वसंताग्रे वनानामिव भारत ॥ १४ ॥
तत्र रत्नानि देवानां समदृश्यंत तिष्ठताम् ।
आतपत्राणि वासांसि स्रजश्च व्यजनानि च ॥ १५ ॥
उपाशाम्यद्रजो भौमं सर्वं व्याप्तं मरीचिभिः ।
दिव्यगंधानुपादाय वायुर्योधानसेवत ॥ १६ ॥
प्रभासितमिवाऽऽकाशं चित्ररूपमलंकृतम् ।
संपतद्भिः स्थितैश्चापि नानारत्नावभासितैः ॥ १७ ॥
विमानैर्विविधैश्चित्रैरुपानीतैः सुरोत्तमैः ।
वज्रभृच्छुशुभे तत्र विमानस्थैः सुरैर्वृतः ॥ १८ ॥
बिभ्रन्मालां महातेजाः पद्मोत्पलसमायुताम् ।
विप्रेक्ष्यमाणो बहुभिर्नाऽतृप्यत्सुमहाहवम् ॥ १९ ॥

इति श्रीमन्महाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोग्रहे देवागमने षट्पंचाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५६ ॥

आदि दिक्पालों तथा गन्धर्वों के विमान भी आकाश में अपनी-अपनी जगह पर स्थित हुए। तात्पर्य यह है कि उस समय कौरवों के साथ अर्जुन का युद्ध-कौशल देखने के लिए देवता, सिद्ध और महर्षि, सभी आ गये। वसन्त के प्रारम्भ में फूले हुए वृक्षों की सुगन्धि से जैसे दिशाएं महक उठती हैं वैसे ही देवताओं की दिव्य मालाओं की बढ़िया सुगन्ध चारों ओर फैल गई ॥११।१४॥

आकाश में देवताओं के वस्त्र, ध्वजा, छत्र, चँवर और जड़ाऊ गहने इधर-उधर शोभा देने लगे। उस समय पृथ्वी पर की सब धूल बैठ गई; चारों ओर तेज और प्रकाश की किरणें फैल गईं। मनोहर सुगन्धयुक्त पवन चलकर योद्धाओं की सेवा करने लगा। देवताओं के उज्ज्वल रत्नों और विमानों से विभूषित आकाशमण्डल की बड़ी शोभा हुई। देवगणयुक्त, विमान पर बैठे, कमलों की माला पहने, इन्द्र युद्धभूमि में बारम्बार अपने पुत्र अर्जुन को स्नेह की दृष्टि से देखने लगे। बार-बार देखकर भी मानों उनका जी नहीं भरता था ॥१५।१९॥

—०—

विराटपर्व का छप्पनवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ५६ ॥

पिता हि ते समासीनमुपासीतैव मामधः ।
बालः सुखैधितो गेहे न त्वं किंचन बुध्यसे ॥ १७ ॥

विरोचन उवाच—हिरण्यं च गवाश्वं च यद्वित्तमसुरेषु नः ।
सुधन्वन्विपणे तेन प्रश्नं पृच्छाव ये विदुः ॥ १८ ॥

सुधन्वोवाच—हिरण्यं च गवाश्वं च तवैवास्तु विरोचन ।
प्राणयोस्तु पणं कृत्वा प्रश्नं पृच्छाव ये विदुः ॥ १९ ॥

विरोचन उवाच—आवां कुत्र गमिष्यावःप्राणयोर्विपणे कृते ।
न तु देवेष्वहं स्थाता न मनुष्येषु कर्हिचित् ॥ २० ॥

सुधन्वोवाच—पितरं ते गमिष्यावः प्राणयोर्विपणे कृते ।
पुत्रस्यापि स हेतोर्हि प्रह्लादो नानृतं वदेत् ॥ २१ ॥

विदुर उवाच—एवं कृतपणौ क्रुद्धौ तत्राभिजग्मतुस्तदा ।
विरोचनसुधन्वानौ प्रह्लादो यत्र तिष्ठति ॥ २२ ॥

प्रह्लाद उवाच—इमौ तौ संप्रदृश्येते याभ्यां न चरितं सह ।
आशीविषाविव क्रुद्धावेकमार्गाविहागतौ ॥ २३ ॥
किं वै सहैवं चरथो न पुरा चरथः सह ।
विरोचनैतत् पृच्छामि किं ते सख्यं सुधन्वना ॥ २४ ॥

पुत्र एक साथ बैठ सकते हैं। दो ब्राह्मण, दो क्षत्रिय, दो वैश्य, दो शूद्र, और दो वृद्ध बराबर एक साथ बैठ सकते हैं, अन्य अर्थात् उच्च नीच नहीं बैठ सकते। तुम्हारे पिता प्रह्लाद मुझसे नीचे आसन पर बैठते हैं। तुम अभी बालक हो और घर में सुख से पले हो, इसी से इन बातों के बारे में कुछ नहीं समझते ॥१६।१७॥

विरोचन ने कहा—हे सुधन्वा! मैं दैत्यों के सब सुवर्ण, गोधन, घोड़े आदि संपत्ति का दांव लगाता हूं। हम-तुम दोनों चलकर इस बारे में जानकारों से पूछें ॥१८॥

सुधन्वा ने कहा—सुवर्ण, गाय, घोड़े आदि सब संपत्ति तुम्हारी ही बनी रहे, मुझे न चाहिए। आओ, हम तुम प्राणों का दांव लगाकर जानकारों से इस बारे में पूछें ॥१९॥

विरोचन ने कहा—हे ब्रह्मन्! प्राण-पण करके हम दोनों किससे यह प्रश्न पूछेंगे? मुझे देवताओं और मनुष्यों पर विश्वास या श्रद्धा नहीं है ॥२०॥

सुधन्वा ने कहा—हम तुम दोनों ही, प्राणों का दांव लगाकर, तुम्हारे पिता प्रह्लाद के पास चलेंगे। मुझे विश्वास है, धर्मात्मा प्रह्लाद पुत्र के लिए भी असत्य न बोलेंगे ॥२१॥

विदुर कहते हैं—इस प्रकार क्रोधपरिपूर्ण ब्राह्मण और दैत्य दोनों, प्राणों का दांव लगाकर, प्रह्लाद के पास गये। उन्हें देखकर प्रह्लाद ने सोचा

तथा वीर्यवता संख्ये पर्वतस्येव दीर्यतः ॥ ९ ॥
पूजयांचक्रिरे शंखं कुरवः सहसैनिकाः ।
अर्जुनेन तथा ध्मातः शतधा यन्न दीर्यते ॥ १० ॥
दिवमावृत्य शब्दस्तु निवृत्तः शुश्रुवे पुनः ।
सृष्टो मघवता वज्रः प्रपतन्निव पर्वते ॥ ११ ॥
एतस्मिन्नंतरे वीरो बलवीर्यसमन्वितः ।
अर्जुनं प्रति संरब्धः कृपः परमदुर्जयः ।
अमृष्यमाणस्तं शब्दं कृपः शारद्वतस्तदा ॥ १२ ॥
अर्जुनं प्रति संरब्धो युद्धार्थी स महारथः ।
महोदधिजमादाय दध्मौ वेगेन वीर्यवान् ॥ १३ ॥
स तु शब्देन लोकांस्त्रीनावृत्य रथिनां वरः ।
धनुरादाय सुमहज्ज्याशब्दमकरोत्तदा ॥ १४ ॥
तौ रथौ सूर्यसंकाशौ योत्स्यमानौ महाबलौ ।
शारदाविव जीमूतौ व्यरोचेतां व्यवस्थितौ ॥ १५ ॥
ततः शारद्वतस्तूर्णं पार्थं दशभिराशुगैः ।
विव्याध परवीरघ्नं निशितैर्मर्मभेदिभिः ॥ १६ ॥
पार्थोऽपि विश्रुतं लोके गांडीवं परमायुधम् ।
विकृष्य चिक्षेप बहून्नाराचान्मर्मभेदिनः ॥ १७ ॥
तानप्राप्ताञ्शितैर्बाणैर्नाराचान्रक्तभोजनान् ।
कृपश्चिच्छेद पार्थस्य शतशोऽथ सहस्रशः ॥ १८ ॥

शङ्खनाद मानों आकाश में भर गया और वहां से लौटकर शत्रुओं के कानों में गूँज उठा। सब कौरव और उनके सैनिक यह कहकर शङ्ख की प्रशंसा करने लगे कि अहो! बड़ा आश्चर्य है! यह शङ्ख अर्जुन के ज़ोर से बजाने पर भी फट नहीं गया! अर्जुन का शङ्खनाद सुनकर कृपाचार्य कुपित हो उठे ॥७।१०॥

अर्जुन से युद्ध करने का विचार करके उन्होंने भी अपना शङ्ख बड़े ज़ोर से बजाया। फिर वे धनुष-बाण लेकर भयानक सिंहनाद करने लगे। सूर्य के समान तेजस्वी दोनों वीर शरद् ऋतु की घनघटा के समान शोभित हुए। अब महाबली कृपाचार्य ने शत्रु-दमन अर्जुन को मर्मभेदी पैने दस बाण मारे।११।१६।

महावीर अर्जुन भी जगत्प्रसिद्ध गाण्डीव धनुष खींचकर कृपाचार्य के ऊपर मर्मभेदी नाराच बाण

पापं प्रज्ञां नाशयति क्रियमाणं पुनः पुनः ॥ ६१ ॥
नष्टप्रज्ञः पापमेव नित्यमारभते नरः ।
पुण्यं प्रज्ञां वर्धयति क्रियमाणं पुनः पुनः ॥ ६२ ॥
वृद्धप्रज्ञः पुण्यमेव नित्यमारभते नरः ।
पुण्यं कुर्वन्पुण्यकीर्तिः पुण्यं स्थानं स्म गच्छति ।
तस्मात्पुण्यं निषेवेत पुरुषः सुसमाहितः ॥ ६३ ॥
असूयको दंदशूको निष्ठुरो वैरकृच्छठः ।
स कृच्छ्रं महदाप्नोति न चिरात्पापमाचरन् ॥ ६४ ॥
अनसूयुः कृतप्रज्ञः शोभनान्याचरन्सदा ।
न कृच्छ्रं महदाप्नोति सर्वत्र च विरोचते ॥ ६५ ॥
प्रज्ञामेवागमयति यः प्राज्ञेभ्यः स पंडितः ।
प्राज्ञो ह्यवाप्य धर्मार्थौ शक्नोति सुखमेधितुम् ॥ ६६ ॥
दिवसेनैव तत्कुर्याद्येन रात्रौ सुखं वसेत् ।
अष्टमासेन तत्कुर्याद्येन वर्षाः सुखं वसेत् ॥ ६७ ॥
पूर्वे वयसि तत्कुर्याद्येन वृद्धः सुखं वसेत् ।
यावज्जीवेन तत्कुर्याद्येन प्रेत्य सुखं वसेत् ॥ ६८ ॥

अनिष्ट फल भोगता है। ऐसे ही पुण्य करनेवाला प्रशंसा का पात्र बनकर शुभ फल प्राप्त करता है ॥५९।६०॥

बार-बार पाप करने से बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है, इसलिए पाप नहीं करना चाहिए। जिसकी बुद्धि भ्रष्ट हो गई है वह एक के पश्चात् दूसरा पापकर्म ही करता है। ऐसे ही पुण्यकर्म बार-बार करने से बुद्धि निर्मल होती है। बुद्धि तीक्ष्ण होने से मनुष्य एक के पश्चात् दूसरा पुण्यकर्म ही करता है। पुण्यात्मा पुरुष पवित्र कीर्ति का भागी होकर पवित्र लोक को जाता है। इसलिए एकाग्र होकर पुण्यकार्य करना चाहिए। ईर्ष्या करनेवाला, मर्मस्थल पर चोट पहुँचानेवाला, अप्रिय वचन बोलनेवाला, वैर करनेवाला और शठ पुरुष पाप करने के कारण शीघ्र ही किसी घोर संकट में पड़ जाता है। जो ईर्ष्या नहीं करता, बुद्धिमान् है, वह सदा अच्छे कर्म करने के कारण संकट और कष्ट से बचा रहता है, सुखी रहता है, और सब उसे प्यार करते हैं ॥६१।६५॥

जो पुरुष बुद्धिमानों से समझदारी की बातें सीखता है वही पण्डित है। प्राज्ञ पुरुष धर्म और अर्थ पाकर अपने सुख को बढ़ा सकता है। दिन को वह काम करना चाहिए जिससे रात्रि को सुख से सोवे और वर्ष के आठ महीने में वह काम करना चाहिए जिससे वर्षा के चार महीने अच्छी तरह

व्यधमन्न च पार्थोऽस्य शरीरमवपीडयत् ॥ २७ ॥
तस्य निर्मुच्यमानस्य कवचात्काय आवभौ ।
समये मुच्यमानस्य सर्पस्येव तनुर्यथा ॥ २८ ॥
छिन्ने धनुषि पार्थेन सोऽन्यदादाय कार्मुकम् ।
चकार गौतमः सज्यं तदद्‌भुतमिवाऽभवत् ॥ २९ ॥
स तदप्यस्य कौंतेयश्चिच्छेद नतपर्वणा ।
एवमन्यानि चापानि बहूनि कृतहस्तवत् ।
शारद्वतस्य चिच्छेद पांडवः परवीरहा ॥ ३० ॥
स छिन्नधनुरादाय रथशक्तिं प्रतापवान् ।
प्राहिणोत्पांडुपुत्राय प्रदीप्तामशनीमिव ॥ ३१ ॥
तामर्जुनस्तदाऽऽयांतीं शक्तिं हेमविभूषिताम् ।
वियद्गतां महोल्काभां चिच्छेद दशभिः शरैः ॥ ३२ ॥
साऽपतद्दशधा छिन्ना भूमौ पार्थेन धीमता ॥ ३३ ॥
युगपच्चैव भल्लैस्तु ततः सज्यधनुः कृपः ।
तमाशु निशितैः पार्थं विभेद दशभिः शरैः ॥ ३४ ॥
ततः पार्थो महातेजा विशिखानग्नितेजसः ।
चिक्षेप समरे क्रुद्धस्त्रयोदश शिलाशितान् ॥ ३५ ॥
अथाऽस्य युगमेकेन चतुर्भिश्चतुरो हयान् ।
षष्ठेन च शिरः कायाच्छरेण रथसारथेः ॥ ३६ ॥

कृपाचार्य का धनुष काट डाला और दूसरा तीक्ष्ण बाण मारकर उनके कवच को काट डाला, पर शरीर में कोई घाव नहीं किया। अर्जुन के बाण से कवच कटकर पृथ्वी पर गिर पड़ा। तब कृपाचार्य की शोभा केंचुल छोड़नेवाले नागराज की तरह हुई ॥२७।२८॥

उन्होंने दूसरा धनुष लेकर उस पर डोरी चढ़ाई; अर्जुन ने और एक तीक्ष्ण बाण से उसे भी काट डाला। इसी तरह अर्जुन ने कृपाचार्य के कई धनुष फुर्ती के साथ काट डाले। बार-बार धनुष कट जाने से कुपित कृपाचार्य ने अर्जुन के ऊपर एक वज्र-सदृश सुवर्ण-भूषित शक्ति चलाई। आकाशमार्ग में आती हुई, सुवर्ण-भूषित, महा उल्का ऐसी चमकदार उस शक्ति को अपनी ओर आते देख अर्जुन ने दस बाण मारकर उसके दस टुकड़े कर डाले। वह शक्ति टुकड़े-टुकड़े होकर पृथ्वी पर गिर पड़ी ॥२९।३३॥

तब कृपाचार्य ने फिर और धनुष लेकर अर्जुन को तीक्ष्ण दस बाण मारे। महातेजस्वी अर्जुन ने बहुत ही कुपित होकर कृपाचार्य को अग्नि के समान

यतो यतो निवर्तते ततस्ततो विमुच्यते ।
निवर्तनाद्धि सर्वतो न वेत्ति दुःखमण्वपि ॥ १४ ॥
न जीयते चानुजिगीषतेऽन्यान्न वैरकृच्चाप्रतिघातकश्च ।
निंदा प्रशंसा सुसमस्वभावो न शोचते हृष्यति नैव चायम् ॥ १५ ॥
भावमिच्छति सर्वस्य नाभावे कुरुते मनः ।
सत्यवादी मृदुर्दांतो यः स उत्तमपुरुषः ॥ १६ ॥
नानर्थकं सांत्वयति प्रतिज्ञाय ददाति च ।
रंध्रं परस्य जानाति यः स मध्यमपुरुषः ॥ १७ ॥
दुःशासनस्तूपहतोऽभिशस्तो नावर्तते मन्युवशात्कृतघ्नः ।
न कस्यचिन्मित्रमथो दुरात्मा कलाश्चैता अधमस्येह पुंसः ॥ १८ ॥
न श्रद्दधाति कल्याणं परेभ्योऽप्यात्मशंकितः ।
निराकरोति मित्राणि यो वै सोऽधमपुरुषः ॥ १९ ॥
उत्तमानेव सेवेत प्राप्तकाले तु मध्यमान् ।
अधमांस्तु न सेवेत य इच्छेच्छ्रेयमात्मनः ॥ २० ॥

चलता है, उसी का सङ्ग करता है और जैसा होना चाहता है वैसा ही होता है। मनुष्य जिस-जिस विषय से बचता जाता है उस-उससे होनेवाले दुःख से भी छुटकारा पा जाता है। इस प्रकार सबसे निवृत्त अर्थात् विरक्त होने पर किञ्चित् मात्र भी दुःख नहीं रह जाता ॥११।१४॥

इस अवस्था में न कोई उसे जीत सकता है और न वह किसी को जीतना चाहता है। न वह किसी से वैर करता है और न किसी को मारना चाहता है। वह निन्दा और प्रशंसा को समान समझता है। न प्रसन्न होता है और न शोक करता है। जो सबका कल्याण चाहता है, किसी का बुरा नहीं चेतता, सत्य बोलता है, कोमलहृदय है और जितेन्द्रिय है, उसे उत्तम पुरुष मानना चाहिये। जो स्वयं किसी को झूठा दिलासा नहीं देता, वह वस्तु दे देता है जिसके देने का वचन करता है और शत्रु के ऊपर चोट करने के अवसरों को जानता है, वह मध्यम पुरुष है ॥१५।१७॥

दुःशासन घोषयात्रा में गन्धर्वों की गदा से मारा भी गया, वे शस्त्रों से विदीर्ण भी हुआ तथापि क्रोधवश होनेसे कभी सीधा नहीं हुआ, वह कृतघ्न भी है उपकार किसी का मानता ही नहीं पाण्डवों ने उसे गन्धर्वों से छुड़ाया भी परन्तु उनके उपकार का नाश ही करता है वह उनका ही क्या किसी का भी मित्र वह दुष्टात्मा नहीं है, बस ये सब लक्षण उसमें अधम पुरुष की हैं ॥१८॥

जो पुरुष कल्याणमय पदार्थ में श्रद्धा और गुरुजन पर विश्वास नहीं रखता; जो मित्रों को दूर कर देता है; जिसको वश में रखना कठिन है; मार खाकर भी जो क्रोध के मारे सीधा नहीं होता; जो

ततोऽस्मै प्राहिणोद् द्रोणः शरानधिकविंशतिम् ।
अप्राप्तांश्चैव तान्पार्थश्चिच्छेद कृतहस्तवत् ॥ २० ॥
ततः शरसहस्रेण रथं पार्थस्य वीर्यवान् ।
अवाकिरत्ततो द्रोणः शीघ्रमस्त्रं विदर्शयन् ॥ २१ ॥
हयांश्च रजतप्रख्यान्कंकपत्रैः शिलाशितैः ।
अवाकिरदमेयात्मा पार्थं संकोपयन्निव ॥ २२ ॥
एवं प्रववृते युद्धं भारद्वाजकिरीटिनोः ।
समं विमुंचतोः संख्ये विशिखान्दीप्ततेजसः ॥ २३ ॥
तावुभौ ख्यातकर्माणावुभौ वायुसमौ जवे ।
उभौ दिव्यास्त्रविदुषावुभावुत्तमतेजसौ ।
क्षिपन्तौ शरजालानि मोहयामासतुर्नृपान् ॥ २४ ॥
व्यस्मयंत ततो योधा ये तत्राऽऽसन्समागताः ।
शरान्विसृजतोस्तूर्णं साधु साध्वित्यपूजयन् ॥ २५ ॥
द्रोणं हि समरे कोऽन्यो योद्धुमर्हति फाल्गुनात् ।
रौद्रः क्षत्रियधर्मोऽयं गुरुणा यद्युध्यत ।
इत्यब्रुवञ्जनास्तत्र संग्रामशिरसि स्थिताः ॥ २६ ॥
वीरौ तावभिसंरब्धौ संनिकृष्टौ महाभुजौ ।
छादयेतां शरव्रातैरन्योन्यमपराजितौ ॥ २७ ॥

आप पहले प्रहार न करेंगे तब तक मैं आप पर वार नहीं करूंगा। इसलिए आप पहले प्रहार कीजिए ॥१८।१९॥

तब द्रोणाचार्य ने अर्जुन के ऊपर बहुत से बाण चलाये। अर्जुन ने फुर्ती के साथ बीच में ही उन बाणों को काट डाला। फिर द्रोणाचार्य ने मानों वीरवर अर्जुन के क्रोध को प्रज्वलित करने के लिए ही हज़ारों बाणों से उनके घोड़ों को और रथ को ढक दिया। इस प्रकार महावीर द्रोणाचार्य और अर्जुन का संग्राम होने लगा। दोनों वीर प्रसिद्ध कर्म करनेवाले, वायु के समान वेगवाले, युद्धचतुर और महातेजस्वी थे। दोनों के ही बाणों की वर्षा से अन्यान्य नरपति और योद्धा मोहित से हो गये। सब लोग महावीर अर्जुन को शाबाश देने लगे। वे कहने लगे—अर्जुन के सिवा द्रोणाचार्य से और कौन युद्ध कर सकता है! हाय, क्षत्रिय-धर्म कैसा भयानक है! अर्जुन अपनेही गुरु द्रोणाचार्यसे युद्ध कर रहे हैं! ॥२०।२६॥

उधर महावीर द्रोण और अर्जुन दोनों परस्पर पास जाकर, कुपित होकर, तीक्ष्ण बाणों की वर्षा से एक दूसरे को ढक देने की चेष्टा करने लगे। क्रोधित द्रोणाचार्य अपना विकट धनुष चढ़ाकर बाणों से

सन्तापाद्भ्रश्यते रूपं सन्तापाद् भ्रश्यते बलम् ।
सन्तापाद् भ्रश्यते ज्ञानं संतापाद्व्याधिमृच्छति ॥ ४४ ॥
अनवाप्यं च शोकेन शरीरं चोपतप्यते ।
अमित्राश्च प्रहृष्यन्ति मा स्म शोके मनः कृथाः ॥ ४५ ॥
पुनर्नरो म्रियते जायते च पुनर्नरो हीयते वर्द्धते च ।
पुनर्नरो याचति याच्यते च पुनर्नरः शोचति शोच्यते च ॥ ४६ ॥
सुखं च दुःखं च भवाभवौ च लाभालाभौ मरणं जीवितं च ।
पर्यायशः सर्वमेते स्पृशंति तस्माद्धीरो न च हृष्येन्न शोचेत् ॥ ४७ ॥
चलानि हीमानि षडिंद्रियाणि तेषां यद्यद्वर्द्धते यत्र यत्र ।
ततस्ततः स्रवते बुद्धिरस्य च्छिद्रोदकं भादिव नित्यमंभः ॥ ४८ ॥
धृतराष्ट्र उवाच—ननुरुद्धः शिखी राजा मिथ्योपचरितो मया ।
मंदानां मम पुत्राणां युद्धेनांतं करिष्यति ॥ ४९ ॥
नित्योद्विग्नमिदं सर्वं नित्योद्विग्नमिदं मनः ।
यत्तत्पदमनुद्विग्नं तन्मे वद महामते ॥ ५० ॥
विदुर उवाच—नान्यत्र विद्यातपसोर्नान्यत्रेंद्रियनिग्रहात् ।
नान्यत्र लोभसंत्यागाच्छांतिं पश्यामि तेऽनघ ॥ ५१ ॥

जाता है। चिन्ता से रूप, बल और ज्ञान नष्ट होता है; व्याधि उत्पन्न होती है। जो नहीं मिल सकता वह केवल उसके लिए शोक करने से नहीं पाया जा सकता; व्यर्थ ही शोक से शरीर सूखता है और शत्रुओं को प्रसन्नता होती है। इसलिए आप शोक न कीजिए ॥४१।४५॥

हे राजेन्द्र! मनुष्य जन्म लेते हैं और फिर मरते भी हैं, घटते हैं और फिर बढ़ते भी हैं, आप दूसरों से माँगते हैं और फिर दूसरे भी उनसे माँगते हैं, स्वयं शोक करते हैं और फिर दूसरे भी उनके आगे शोक करते हैं। सुख और दुःख, क्षय और वृद्धि, लाभ और हानि, जीवन और मरण, ये आते-जाते रहते हैं। इसलिए धीर पुरुष को इनके लिए हर्ष या शोक न करना चाहिए। मन सहित चक्षु आदि छः ज्ञानेन्द्रियाँ चञ्चल हैं। इनमें से जो प्रबल होती है उसी के द्वारा मनुष्य-बुद्धि वैसे ही नष्ट होती है जैसे फूटे घड़े से जल बहता है। धृतराष्ट्र ने कहा—हे विदुर! शरीर में रुंधी हुई अग्नि के समान धर्म से विवश राजा युधिष्ठिर के साथ मैंने मिथ्याव्यवहार किया है। मुझे ऐसा जान पड़ता है कि वे युद्ध ठानकर मेरे मन्दबुद्धि पुत्रों का नाश कर डालेंगे। सभी बातें व्याकुलता उत्पन्न करनेवाली हैं। मेरा मन भी सदा व्याकुल हुआ करता है। इसलिए तुम मुझे वह उपदेश करो, जिससे यह

ततोऽस्मै प्राहिणोद् द्रोणः शरानधिकविंशतिम्।
अप्राप्तांश्चैव तान्पार्थश्चिच्छेद कृतहस्तवत् ॥ २० ॥
ततः शरसहस्रेण रथं पार्थस्य वीर्यवान् ।
अवाकिरत्ततो द्रोणः शीघ्रमस्त्रं विदर्शयन् ॥ २१ ॥
हयांश्च रजतप्रख्यान्कंकपत्रैः शिलाशितैः ।
अवाकिरदमेयात्मा पार्थं संकोपयन्निव ॥ २२ ॥
एवं प्रववृते युद्धं भारद्वाजकिरीटिनोः ।
समं विमुंचतोः संख्ये विशिखान्दीप्ततेजसः ॥ २३ ॥
तावुभौ ख्यातकर्माणावुभौ वायुसमौ जवे ।
उभौ दिव्यास्त्रविदुषावुभावुत्तमतेजसौ ।
क्षिपन्तौ शरजालानि मोहयामासतुर्नृपान् ॥ २४ ॥
व्यस्मयंत ततो योधा ये तत्राऽऽसन्समागताः ।
शरान्विसृजतोस्तूर्णं साधु साध्वित्यपूजयन् ॥ २५ ॥
द्रोणं हि समरे कोऽन्यो योद्धुमर्हति फाल्गुनात्।
रौद्रः क्षत्रियधर्मोऽयं गुरुणा यदयुध्यत ।
इत्यब्रुवञ्जनास्तत्र संग्रामशिरसि स्थिताः ॥ २६ ॥
वीरौ तावभिसंरब्धौ संनिकृष्टौ महाभुजौ ।
छादयेतां शरव्रातैरन्योन्यमपराजितौ ॥ २७ ॥

आप पहले प्रहार न करेंगे तब तक मैं आप पर वार नहीं करूंगा। इसलिए आप पहले प्रहार कीजिए ॥१८।१९॥

तब द्रोणाचार्य ने अर्जुन के ऊपर बहुत से बाण चलाये। अर्जुन ने फुर्ती के साथ बीच में ही उन बाणों को काट डाला। फिर द्रोणाचार्य ने मानों वीरवर अर्जुन के क्रोध को प्रज्वलित करने के लिए ही हजारों बाणों से उनके घोड़ों को और रथ को ढक दिया। इस प्रकार महावीर द्रोणाचार्य और अर्जुन का संग्राम होने लगा। दोनों वीर प्रसिद्ध कर्म करने-वाले, वायु के समान वेगवाले, युद्धचतुर और महा-तेजस्वी थे। दोनों के ही बाणों की वर्षा से अन्यान्य नरपति और योद्धा मोहित से हो गये। सब लोग महावीर अर्जुन को शाबाश देने लगे। वे कहने लगे—अर्जुन के सिवा द्रोणाचार्य से और कौन युद्ध कर सकता है। हाय, क्षत्रिय-धर्म कैसा भयानक है! अर्जुन अपनेही गुरु द्रोणाचार्यसे युद्ध कर रहे हैं। ॥२०।२६॥

उधर महावीर द्रोण और अर्जुन दोनों परस्पर पास आकर, कुपित होकर, तीक्ष्ण बाणों की वर्षा से एक दूसरे को ढक देने की चेष्टा करने लगे। क्रोधित द्रोणाचार्य अपना विकट धनुष चढ़ाकर बाणों से

संधत्स्व त्वं कौरव पांडुपुत्रैर्मा तेऽन्तरं रिपवः प्रार्थयंतु ।
सत्ये स्थितास्ते नरदेव सर्वे दुर्योधनं स्थापय त्वं नरेंद्र ॥ ७४ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि प्रजागरपर्वणि विदुरहितवाक्ये षट्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३६ ॥

दूसरे के शत्रु और मित्र को अपना शत्रु और मित्र समझें और हिलमिलकर सब काम करें। इस ढङ्ग पर चलकर, सुखी और समृद्धिशाली होकर, आपके पुत्र जीवित रहें। हे महाराज! आप कौरवों के मुखिया हैं। कुरुवंश के सब लोग आपके अधीन हैं। इसलिए आप वनवास के कष्टों से पीड़ित बालक पाण्डवों को आश्रय देकर अपने यश की रक्षा कीजिए। हे कौरव! आप पाण्डवों से सन्धि कर लीजिए, शत्रुओं को अवसर न दीजिए। हे नरदेव! पाण्डव सत्य का आश्रय लिये हुए हैं। अब आप दुर्योधन को भी युद्ध से रोक करके शान्ति के मार्ग में लगाइए ॥७१।७४॥

—०—

उद्योगपर्व का छत्तीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ३६ ॥

अथ सप्तत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३७ ॥

विदुर उवाच—सप्तदशेमान् राजेन्द्र मनुः स्वायंभुवोऽब्रवीत् ।
वैचित्रवीर्य पुरुषानाकाशं मुष्टिभिर्घ्नतः ॥ १ ॥
दानवेंद्रस्य च धनुरनाम्यं नमतोऽब्रवीत् ।
अथो मरीचिनः पादानग्राह्यान् गृह्णतस्तथा ॥ २ ॥
यश्चाशिष्यं शास्ति वै यश्च तुष्येद्यश्चातिवेलं भजते द्विषंतम् ।
स्त्रियश्च यो रक्षति भद्रमश्नुते यश्चायाच्यं याचते कत्थते वा ॥ ३ ॥
यश्चाभिजातः प्रकरोत्यकार्यं यश्चाबलो बलिना नित्यवैरी ।
अश्रद्दधानाय च यो ब्रवीति यश्चाकाम्यं कामयते नरेंद्र ॥ ४ ॥
वध्वाऽवहासं श्वशुरो मन्यते यो वध्वाऽवसन्नभयो मानकामः ।
परक्षेत्रे निर्वपति यश्च बीजं स्त्रियं च यः परिवदतेऽतिवेलम् ॥ ५ ॥

सैंतीसवा अध्याय ॥ ३७ ॥

विदुर ने कहा—हे राजेन्द्र! स्वायंभुव मनु ने नीचे लिखे सत्रह मूर्खों को नरकगामी कहा है; जो शासन न माननेवाले को या शासन के अयोग्य को उपदेश करता है, जो थोड़े लाभ में सन्तुष्ट हो जाता है, जो अपनी कल्याण-कामना में मर्यादा का उल्लंघन करनेवाले शत्रु को भजता है, जो स्त्रियों की रक्षा करता है (अर्थात् जो अपने सुख के लिए शत्रु की सेवा करता है), जो अच्छे कुल में उत्पन्न होकर अनुचित कार्य करता है, जो अयाच्य (जिससे याचना न करनी चाहिए उस) से याचना करता है, जो अपनी प्रशंसा आप करता है, जो अश्रद्धा रखनेवाले से अपना हाल कहता है, जो दुर्बल होकर बलवान् से वैर करता है, जो ससुर होकर बहू से दिल्लगी करता है, जो बहू और समधी आदि की सहायता से संकट से छूटकर फिर उन्हीं से अपना मान चाहता है, जो न चाहने

ततो नागा रथाश्चैव वाजिनश्च विशांपते ।
शोणिताक्ता व्यदृश्यंत पुष्पिता इव किंशुकाः ॥ ५५ ॥
वाहुभिश्च सकेयूरैर्विचित्रैश्च महारथैः ।
सुवर्णचित्रैः कवचैर्ध्वजैश्च विनिपातितैः ॥ ५६ ॥
योधैश्च निहतैस्तत्र पार्थबाणप्रपीडितैः ।
बलमासीत्ससुद्भ्रांतं द्रोणार्जुनसमागमे ॥ ५७ ॥
विधुन्वानौ तु तौ तत्र धनुषी भारसाधने ।
आच्छादयेतामन्योन्यं ततक्षुरथेपुभिः ॥ ५८ ॥
तयोः समभवद्युद्धं तुमुलं भरतर्षभ ।
द्रोणकौंतेययोस्तत्र बलिवासवयोरिव ॥ ५९ ॥
अथ पूर्णायतोत्सृष्टैः शरैः सन्नतपर्वभिः ।
व्यदारयेतामन्योन्यं प्राणद्यूते प्रवर्तते ॥ ६० ॥
अथांऽतरिक्षे नादोऽभूद् द्रोणं तत्र प्रशंसताम् ।
दुष्करं कृतवान्द्रोणो यदर्जुनमयोधयत् ॥ ६१ ॥
प्रमाथिनं महावीर्यं दृढमुष्टिं दुरासदम् ।
जेतारं देवदैत्यानां सर्वेषां च महारथम् ॥ ६२ ॥
अविभ्रमं च शिक्षां च लाघवं दूरपातिताम् ।
पार्थस्य समरे दृष्ट्वा द्रोणस्याऽभूच्च विस्मयः ॥ ६३ ॥

लहू से तर होकर फूले हुए ढाक के पेड़ों के समान देख पड़े । द्रोण और अर्जुन के उस युद्ध में वीरों के बिजायठ आदि गहनों से युक्त हाथ और अन्य अङ्ग, विचित्र रथ, सुवर्णमय कवच तथा ध्वजाएं कट-कटकर गिर रही थीं । अर्जुन के वाणों से पीड़ित योद्धा लोग प्राणहीन होकर गिर रहे थे । यह देखकर सब सेना के लोग घबराकर व्याकुल हो उठे ॥५३।५७॥

उस समय दोनों महावीर अपने-अपने धनुष को मण्डलाकार खींचकर वाणों के द्वारा प्राणपण से एक दूसरे को घायल करने की, छा देने की, चेष्टा कर रहे थे । हे भारतश्रेष्ठ ! इस प्रकार राजा बलि और इन्द्र का सा वह द्रोण और अर्जुन का भयानक युद्ध हो रहा था । तब आकाशमार्ग में स्थित देवता द्रोण और अर्जुन की प्रशंसा करते हुए कहने लगे— देवताओं और दानवों को परास्त करनेवाले, महावीर, दृढ़मुष्टि, दुर्द्धर्ष अर्जुन से युद्ध करके महावीर द्रोणाचार्य बड़ा दुष्कर कर्म कर रहे हैं । वीरवर द्रोणाचार्य भी अर्जुन की सावधानी, अस्त्रविद्या की जानकारी,

वाक्यं तु यो नाद्रियतेऽनुशिष्टः प्रत्याह यश्चापि नियुज्यमानः ।
प्रज्ञाभिमानी प्रतिकूलवादी त्याज्यः स तादृक् त्वरयैव भृत्यः ॥ २६ ॥
अस्तब्धमक्लीबमदीर्घसूत्रं सानुक्रोशं श्लक्ष्णमहार्यमन्यैः ।
अरोगजातीयमुदारवाक्यं दूतं वदंत्यष्टगुणोपपन्नम् ॥ २७ ॥
न विश्वासाज्जातु परस्य गेहे गच्छेन्नरश्चेतयानो विकाले ।
न चत्वरे निशि तिष्ठेन्निगूढो न राजकाम्यां योषितं प्रार्थयीत ॥ २८ ॥
न निह्नवं मंत्रगतस्य गच्छेत्संसृष्टमंत्रस्य कुसंगतस्य ।
न च ब्रूयान्नाश्वसिमि त्वयीति सकारणं व्यपदेशं तु कुर्यात् ॥ २९ ॥
घृणी राजा पुंश्चली राजभृत्यः पुत्रो भ्राता विधवा बालपुत्रा ।
सेनाजीवी चोद्धृतभूतिरेव व्यवहारेषु वर्जनीयाः स्युरेते ॥ ३० ॥
अष्टौ गुणाः पुरुषं दीपयंति प्रज्ञा च कौल्यं च श्रुतं दमश्च ।
पराक्रमश्चाबहुभाषिता च दानं यथा शक्तिकृतज्ञता च ॥ ३१ ॥
एतान्गुणांस्तात महानुभावानेको गुणः संश्रयते प्रसह्य ।
राजा यदा सत्कुरुते मनुष्यं सर्वान्गुणानेष गुणो बिभर्ति ॥ ३२ ॥
गुणा दश स्नानशीलं भजंते बलं रूपं स्वरवर्णप्रशुद्धिः ।
स्पर्शश्च गंधश्च विशुद्धता च श्रीः सौकुमार्यं प्रवराश्च नार्यः ॥ ३३ ॥

सेवक आज्ञा देने पर उस प्रभु की बात पर निरादर का भाव दिखाता है, या उत्तर देता है, अपने बुद्धिमान् होने का अभिमान रखता और प्रतिकूल वचन कहता है, ऐसे कर्मचारी को बहुत शीघ्र अलग कर देना चाहिए ॥२५।२६॥

अभिमान-शून्य, मर्दाना, शीघ्र काम करनेवाला, दयालु, दर्शनीय आकारवाला, औरों के उभारने से न फूटनेवाला, आरोग्य और उदार प्रिय वचन बोलनेवाला, इन आठ गुणों से युक्त दूत प्रशंसनीय समझा जाता है। चतुर पुरुष को चाहिए कि विश्वास करके सायङ्काल को अन्य के घर न जाय, रात्रि को छिपकर चबूतरे पर न रहे, राजा की चहेती स्त्री को न चाहे। बुरे मनुष्यों के साथ मिलकर सम्मति करनेवाले की सम्मति में शरीक न हो। ऐसे मनुष्य से यह भी न कहे कि मैं तुम पर विश्वास नहीं करता; बल्कि मुझे कुछ काम है, यों बहाना करके वहाँ से हट जाय। दयाशील, राजा, व्यभिचारिणी, राजभृत्य, पुत्र, भाई, बच्चेवाली विधवा, सैनिक और जिसका ऐश्वर्य नष्ट हो गया है वह मनुष्य, इतनों से धन का व्यवहार न करना चाहिए ॥२७।३०॥

प्रज्ञा, कुलीनता, शास्त्र का ज्ञान, जितेन्द्रियता, पराक्रम, थोड़ा बोलना, यथाशक्ति दान और कृतज्ञता, इन आठ गुणों से मनुष्य का तेज और

स मन्युवशमापन्नः पार्थमभ्यद्रवद्रणे ।
किरञ्छरसहस्राणि पर्जन्य इव वृष्टिमान् ॥ ७४ ॥
आवृत्य तु महाबाहुर्यतो द्रौणिस्ततो हयान् ।
अंतरं प्रददौ-पार्थो द्रोणस्य व्यवसर्पितुम् ॥ ७५ ॥
स तु लब्ध्वांऽतरं तूर्णमपायाज्जवनैर्हयैः ।
छिन्नवर्मध्वजः शूरो निकृत्तः परमेषुभिः ॥ ७६ ॥

इति श्रीमन्महाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोग्रहे द्रोणापयाने अष्टपंचाशततमोऽध्यायः ॥५८॥

बहुत प्रशंसा करने लगे। रथों के अधिपति आचार्य-पुत्र अश्वत्थामा भी अर्जुन के इस काम की मन ही मन प्रशंसा करने लगे। अब कुपित होकर वे अर्जुन के सामने आ गये। बहुत से रथों से अर्जुन की गति को रोककर वे बरसनेवाले मेघ की तरह अर्जुन पर बाणों की वर्षा करने लगे। तब अर्जुन अश्वत्थामा की ओर फिरे। उनकी गति रोकने में प्रवृत्त होकर अर्जुन ने द्रोणाचार्य को जाने का अवसर दे दिया। ध्वजा और कवच कट जाने पर द्रोणाचार्य बड़े वेग से वहां से हट गये ॥७१।७६॥

विराटपर्व का अट्ठावनवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ५८ ॥

अथ एकोनषष्टितमोऽध्यायः ॥ ५९ ॥

वैशम्पायन उवाच—ततो द्रौणिर्महाराज प्रययावर्जुनं रणे ।
तं पार्थः प्रतिजग्राह वायुवेगमिवोद्धतम् ।
शरजालेन महता वर्षमाणमिवाऽम्बुदम् ॥ १ ॥
तयोर्देवासुरसमः सन्निपातो महानभूत् ।
किरतोः शरजालानि वृत्रवासवयोरिव ॥ २ ॥
न स्म सूर्यस्तदा भाति न च वाति समीरणः ।
शरजालावृते व्योम्नि च्छायाभूते समंततः ॥ ३ ॥
महांश्चटचटाशब्दो योधयोर्हन्यमानयोः ।
दह्यतामिव वेणूनामासीत्परपुरंजय ॥ ४ ॥

उनसठवां अध्याय ॥ ५९ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! इसके पश्चात् महावीर अश्वत्थामा वायु के समान वेग से अर्जुन की ओर चले। उनको प्रबल आंधी की तरह अपनी ओर आते देखकर अर्जुन भी उन पर लगातार बाण चलाने लगे। अब इन्द्र और वृत्रासुर की तरह दोनों वीरों का घोर युद्ध होने लगा। उस समय सूर्य का तेज फीका पड़ गया। वायु का चलना एकदम बन्द हो गया। आकाश में बाण ही बाण व्याप्त

स्त्रीषु राजसु सर्पेषु स्वाध्यायप्रभुशत्रुषु ।
भोगेष्वायुषि विश्वासं कः प्राज्ञः कर्त्तुमर्हति ॥ ५७ ॥
प्रज्ञाशरेणाभिहतस्य जंतोश्चिकित्सकाः संति न चौषधानि ।
न होममंत्रा न च मंगलानि नाथर्वणा नाप्यगदाः सुसिद्धाः ॥ ५८ ॥
सर्पश्चाग्निश्च सिंहश्च कुलपुत्रश्च भारत ।
नावज्ञेया मनुष्येण सर्वे ह्येतेऽतितेजसः ॥ ५९ ॥
अग्निस्तेजो महल्लोके गूढस्तिष्ठति दारुषु ।
न चोपयुंक्ते तद्दारु यावन्नोद्दीप्यते परैः ॥ ६० ॥
स एव खलु दारुभ्यो यदा निर्मथ्य दीप्यते ।
तद्दारु च वनं चान्यान्निर्दहत्याशु तेजसा ॥ ६१ ॥
एवमेव कुले जाताः पावकोपमतेजसः ।
क्षमावंतो निराकाराः काष्टेऽग्निरिव शेरते ॥ ६२ ॥
लताधर्मा त्वं सपुत्रः शालाः पांडुसुता मताः ।
न लता वर्धते जातु महाद्रुममनाश्रिता ॥ ६३ ॥
वनं राजंस्तव पुत्रोऽम्बिकेय सिंहान्वने पांडवांस्तात विद्धि ।
सिंहैर्विहीनं हि वनं विनश्येत् सिंहा विनश्येयुर्ह ऋते वनेन ॥ ६४ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि प्रजागरपर्वणि विदुरवाक्ये सप्तत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३७ ॥

है उसमे वैर करके यह न भूल जाना चाहिए कि हम तो उससे बहुत दूर पर हैं । कौन बुद्धिमान् पुरुष स्त्री, राजा, सर्प, स्वाध्यायपाठ, प्रभु, शत्रु, भोग और जीवन पर विश्वास करेगा ॥५६।५७॥

हे राजेन्द्र ! जिसको बुद्धि के वाणों की चोट लगी है उसे वैद्य, ओषधि, होम, मन्त्र, मङ्गलकार्य अथवा अथर्वणवेद में कही गई रोगनाशक जड़ी-बूटियां या सुसिद्ध प्रयोग, कोई भी अच्छा नहीं कर सकता । मनुष्य को सर्प, अग्नि, सिंह और जाति भाई का अनादर नहीं करना चाहिए । ये बड़े तेजस्वी होते हैं; पल भर में विनाश कर सकते हैं । जगत् में अग्नि महातेजस्वी है और वह काठ के भीतर छिपी रहती है । जब तक कोई रगड़ता नहीं है तब तक वह शान्त रहती है ॥५८।६०॥

किन्तु जब कोई मथकर उस अग्नि को प्रज्वलित करता है तब वह अपने तेज से उस लकड़ी को और साथ ही सारे वन को भस्म कर डालती है । हे राजेन्द्र ! लकड़ी में छिपी हुई अग्नि की तरह सत्कुल में उत्पन्न तेजस्वी पाण्डव भी इस समय शांत भाव से स्थित हैं । उन्हें छेड़कर प्रज्वलित करना ठीक नहीं । आप और आपके पुत्र लता के तुल्य हैं और पाण्डव लोग साखू के पेड़ के समान हैं ।

शैरेराशीविषाकारैर्ज्वलद्भिरिव पन्नगैः ॥ १३ ॥
अक्षयाविषुधी दिव्यौ पांडवस्य महात्मनः ।
तेन पार्थो रणे शूरस्तस्थौ गिरिरिवाऽचलः ॥ १४ ॥
अश्वत्थाम्नः पुनर्बाणाः क्षिप्रमभ्यस्यतो रणे ।
जग्मुः परिक्षयं तूर्णमभूत्तेनाऽधिकोऽर्जुनः ॥ १५ ॥
ततः कर्णो महाचापं विकृष्याऽभ्यधिकं तथा ।
अवाक्षिपत्ततः शब्दो हाहाकारो महानभूत् ॥ १६ ॥
ततश्चक्षुर्दधे पार्थो यत्र विस्फार्यते धनुः ।
ददर्श तत्र राधेयं तस्य कोपो व्यवर्धत ॥ १७ ॥
स रोषवशमापन्नः कर्णमेव जिघांसया ।
तमैक्षत विवृत्ताभ्यां नेत्राभ्यां कुरुपुंगवः ॥ १८ ॥
तथा तु विमुखे पार्थे द्रोणपुत्रस्य सायकात् ।
त्वरिताः पुरुषा राजन्नुपाजह्रुः सहस्रशः ॥ १९ ॥
उत्सृज्य च महाबाहुर्द्रोणपुत्रं धनंजयः ।
अभिदुद्राव सहसा कर्णमेव सपत्नजित् ॥ २० ॥
तमभिद्रुत्य कौंतेयः क्रोधसंरक्तलोचनः ।
कामयन्द्वैरथं तेन युद्धं वचनमब्रवीत् ॥ २१ ॥

इति श्रीमन्महाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोग्रहे अर्जुनाश्वत्थामयुद्धे एकोनषष्टितमोऽध्यायः॥५९॥

को कौरव लोग आश्चर्य के साथ देखने लगे। अश्वत्थामा अर्जुन को ताककर लगातार बाण बरसा रहे थे; इसलिए उनके तरकस शून्य हो गये; परन्तु महावीर अर्जुन के तरकस अक्षय थे, इसलिए वे शून्य नहीं हुए। इसी कारण युद्धचतुर अर्जुन पर्वत की तरह अटल भाव से युद्ध-भूमि में डटे रहे किन्तु अश्वत्थामा को हट जाना पड़ा ॥९।१५॥

अब अपने धनुष को चढ़ाकर वीर कर्ण फिर अर्जुन के सामने आया और लगातार भयङ्कर बाण बरसाने लगा। उस समय युद्ध-भूमि में घोर कोलाहल और हाहाकार सुन पड़ने लगा। वीर अर्जुन अपना गाण्डीव धनुष चढ़ाकर इधर-उधर देख रहे थे; इसी समय कर्ण को युद्ध-भूमि में अपने आगे आते देख उनके हृदय में क्रोध की अग्नि प्रचण्ड रूप से भड़क उठी। क्रोध और बदला लेने की वृत्ति के वशीभूत अर्जुन आँखें तरेरकर कर्ण की ओर देखने लगे। इसी अवसर में कौरव-सेना के बहुत से सिपाही अश्वत्थामा के हजारों बाणों को युद्ध भूमि से उठाकर उनके पास ले गये। इधर शत्रुदमन अर्जुन लाल-लाल आँखें करके द्वन्द्वयुद्ध की इच्छा से कर्ण की ओर बढ़े ॥१६।२१॥

---o---

विराटपर्व का उनसठवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ५९ ॥

स तेषां विपरिभ्रंशाद्भ्रश्यते जीवितादपि ॥ २२ ॥
कर्मणां तु प्रशस्तानामनुष्ठानं सुखावहम् ।
तेषामेवाननुष्ठानं पश्चात्तापकरं मतम् ॥ २३ ॥
अनधीत्य यथा वेदान्न विप्रः श्राद्धमर्हति ।
एवमश्रुतषाड्गुण्यो न मंत्रं श्रोतुमर्हति ॥ २४ ॥
स्थानवृद्धिक्षयज्ञस्य षाड्गुण्यविदितात्मनः ।
अनवज्ञातशीलस्य स्वाधीना पृथिवी नृप ॥ २५ ॥
अमोघक्रोधहर्षस्य स्वयं कृत्वाऽन्ववेक्षिणः ।
आत्मप्रत्ययकोशस्य स्वाधीनेयं वसुंधरा ॥ २६ ॥
नाममात्रेण तुष्येत च्छत्रेण च महीपतिः ।
भृत्येभ्यो विसृजेदर्थानैकः सर्वहरो भवेत् ॥ २७ ॥
ब्राह्मणं ब्राह्मणो वेद भर्ता वेद स्त्रियं तथा ।
अमात्यं नृपतिर्वेद राजा राजानमेव च ॥ २८ ॥
न शत्रुर्वशमापन्नो मोक्तव्यो वध्यतां गतः ।
न्यग्भूत्वा पर्युपासीत वध्यं हन्याद्बले सति ।
अहताद्धि भयं तस्माज्जायते न चिरादिव ॥ २९ ॥

चाहता है। वह उन कामों के बिगड़ने पर अपने जीवन से भी हाथ धो बैठता है। भले काम करने से ही सुख मिलता है। ऐसे काम न करने से मनुष्य को पछताना पड़ता है। जैसे वेद पढ़े बिना ब्राह्मण श्राद्ध का अधिकारी नहीं होता वैसे ही जो राजा सन्धि विग्रह-यान आसन द्वैधीभाव समावस्थान नाम के छ गुणों को नहीं जानता वह मन्त्र सुनने का अधिकारी नहीं होता। समता, बढ़ती और क्षीणता को जाननेवाला, ऊपर लिखे छ गुणों के प्रयोग में प्रवीण, और जिसके शीलस्वभाव का पता शत्रुओं को नहीं लगता वह, राजा स्वाधीन भाव से शासन करता है ॥२२।२५॥

जिसका क्रोध या प्रसन्नता निष्फल नहीं जाती, जो आप सब कामों को जाचता और करता है, जो आत्मविश्वास रखता और कोष को अपने हाथ में लेता है उसे पृथ्वी अपार ऐश्वर्य देती है। राजा को छत्र और कीर्ति से प्रसन्न रहना चाहिए। सेवकों को भोग धन-दान आदि से प्रसन्न करते रहना ही उचित है। अकेले ही सब हड़प करने की प्रवृत्ति अच्छी नहीं ॥२६।२७॥

ब्राह्मण को ब्राह्मण, स्त्री को पति, मन्त्री को राजा और राजा को भी राजा ही जानता है। वश में किये गये वध-योग्य शत्रु को कभी न छोड़ना चाहिए। जब तक आप निर्बल रहें तब तक प्रबल

कर्ण उवाच—ब्रवीषि वाचा यत्पार्थ कर्मणा तत्समाचर ।
अतिशेते हि ते वाक्यं कर्मैतत्प्रथितं भुवि ॥ ९ ॥
यत्त्वया मर्षितं पूर्वं तदशक्तेन मर्षितम् ।
इतो गृह्णीमहे पार्थ तव दृष्ट्वा पराक्रमम् ॥ १० ॥
धर्मपाशनिबद्धेन यत्त्वया मर्षितं पुरा ।
तथैव बद्धमात्मानमबद्धमिव मन्यसे ॥ ११ ॥
यदि तावद्वने वासो यथोक्तश्चरितस्त्वया ।
तत्त्वं धर्मार्थवित्क्लिष्टः स मया योद्धुमिच्छसि ॥ १२ ॥
यदि शक्रः स्वयं पार्थ युध्यते तव कारणात् ।
तथापि न व्यथा काचिन्मम स्याद्विक्रमिष्यतः ॥ १३ ॥
अयं कौंतेय कामस्ते न चिरात्समुपस्थितः ।
योत्स्यसे हि मया सार्द्धमद्य द्रक्ष्यसि मे बलम् ॥ १४ ॥
अर्जुन उवाच—इदानीमेव तावत्त्वमपयातो रणान्मम ।
तेन जीवसि राधेय निहतस्त्वनुजस्तव ॥ १५ ॥
भ्रातरं घातयित्वा कस्त्यक्त्वा रणशिरश्च कः ।
त्वदन्यः कः पुमान्सत्सु ब्रूयादेवं व्यवस्थितः ॥ १६ ॥

बदला तुझे आज मिलेगा । हे दुराचारी ! कौरवपक्ष के योद्धा लोग आज तुम्हारे पराक्रम को देखें । आओ मुझसे युद्ध करो ॥५।८॥

कर्ण ने कहा—हे अर्जुन ! जो तुम मुँह से कह रहे हो उसे कर दिखाओ । तभी तुम्हारी बहादुरी है । सभी जानते हैं कि तुम डींग बहुत मारते हो । तुम्हारे इस जबानी पराक्रम को देखकर जान पड़ता है कि तुम जो पहले बैठे-बैठे द्रौपदी की दुर्दशा देखते रहे थे—कुछ कर नहीं सके थे—उसका कारण तुम्हारी असमर्थता ही थी । धर्मपाश में बंधे रहने के कारण पहले तुम जैसे अपनी शक्ति नहीं दिखा सके थे वैसे ही इस समय भी तुम मेरे सामने बंधे हुए हो; मेरे आगे कुछ शक्ति नहीं प्रकट कर सकते। इस समय जो तुम अपने को बन्धन से मुक्त समझ रहे हो, सो यह तुम्हारी अल्पज्ञता है । प्रतिज्ञा के बन्धन में बन्धे रहने के कारण तुमने वनवास में जो बहुत से क्लेश सहे हैं उन्हीं का स्मरण करके तुम इस समय मुझसे युद्ध करने को तैयार हो । जो हो, हे अर्जुन ! इस समय स्वयं इन्द्र भी आकर तुम्हारी ओर से युद्ध करें तो भी मेरा बाल बांका नहीं कर सकते । हे अर्जुन ! शीघ्र ही तुम्हारी युद्ध की साध मिट जायगी । तुम आज युद्ध में मेरे बल और पराक्रम को देख लोगे॥९।१४॥

अर्जुन ने कहा—हे सूतपुत्र ! तुम अभी-अभी

तस्य त्यागात्पुत्रशतस्य वृद्धिरस्यात्यागात्पुत्रशतस्य नाशः ॥ ५ ॥
न वृद्धिर्बहु मन्तव्या या वृद्धिः क्षयमावहेत् ।
क्षयोऽपि बहु मन्तव्यो यः क्षयो वृद्धिमावहेत् ॥ ६ ॥
न स क्षयो महाराज यः क्षयो वृद्धिमावहेत् ।
क्षयः स त्विह मंतव्यो यं लब्ध्वा बहु नाशयेत् ॥ ७ ॥
समृद्धा गुणतः केचिद्भवन्ति धनतोऽपरे ।
धनवृद्धान्गुणैर्हीनान्धृतराष्ट्र विवर्जय ॥ ८ ॥
धृतराष्ट्र उवाच—सर्वं त्वमायतीयुक्तं भाषसे प्राज्ञसम्मतम् ।
न चोत्सहे सुतं त्यक्तुं यतो धर्मस्ततो जयः ॥ ९ ॥
विदुर उवाच—अतीवगुणसंपन्नो न जातु विनयान्वितः ।
सुसूक्ष्ममपि भूतानामुपमर्दमुपेक्षते ॥ १० ॥
परापवादनिरताः परदुःखोदयेषु च ।
परस्परविरोधे च यतन्ते सततोत्थिताः ॥ ११ ॥
सदोषं दर्शनं येषां संवासे सुमहद्भयम् ।
अर्थादाने महान्दोषः प्रदाने च महद्भयम् ॥ १२ ॥
ये वै भेदनशीलास्तु सकामा निस्त्रपाः शठाः ।

कह दिया था कि आप एक दुर्योधन को त्याग दीजिए। उसके त्याग से अन्य सौ पुत्रों की बढ़ती होगी और उसका त्याग न करने से उन सौ पुत्रों का भी नाश हो जायगा। जिससे नाश की आशङ्का हो उस वृद्धि को अच्छा नहीं समझना चाहिए। जिस क्षय से वृद्धि की सम्भावना हो उस क्षय को अच्छा ही समझना चाहिए ॥५।६॥

क्योंकि जिससे वृद्धि हो वह क्षय नहीं है, बल्कि जिस थोड़ी सी वृद्धि से बहुत का नाश हो वह वृद्धि ही क्षय है। कुछ लोगों में गुणों की अधिकता होती है और कुछ लोग धन से सम्पन्न होते हैं। हे राजेन्द्र! जो धन से सम्पन्न किन्तु गुणों से हीन हैं उन्हें आप छोड़ दीजिए ॥७।८॥

धृतराष्ट्र ने कहा—हे विदुर! तुम ये सब मेरे भले की, युक्तियुक्त बातें कह रहे हो; किन्तु मैं अपने पुत्र दुर्योधन का त्याग नहीं कर सकता। यह तो निश्चय है कि जिस पक्ष में धर्म होगा उसी की जय होगी ॥९॥

विदुर ने कहा—सब गुणों से अलङ्कृत विनयी पुरुष प्राणियों की थोड़ी सी भी हानि या कष्ट को नहीं देख सकता। दूसरों की निन्दा करने की प्रकृतिवाले लोग सदा औरों में विरोध उत्पन्न कराने और दूसरों को दुःख पहुँचाने का उद्योग किया करते हैं। पापियों का मुँह देखना दोष की बात

अथाऽपरेण बाणेन ज्वलितेन महौजसा ।
विव्याध कर्णं कौंतेयस्तीक्ष्णेनोरसि वीर्यवान् ॥ २५ ॥
तस्य भित्वा तनुत्राणं कायमभ्यगमच्छरः ।
ततः स तमसाऽऽविष्टो न स्म किंचित्प्रजज्ञिवान्॥ २६ ॥
स गाढवेदनो हित्वा रणं प्रायादुदङ्मुखः ।
ततोऽर्जुन उदक्रोशदुत्तरश्च महारथः ॥ २७ ॥

इति श्रीमन्महाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोग्रहे कर्णापयाने षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६० ॥

बाणों से बहुतों को मार गिराया ॥२१।२३॥

फिर कान तक धनुष खींचकर बाण चलाकर उन्होंने कर्ण के घोड़ों को घायल कर डाला। घोडे उसी समय मरकर गिर पडे। अब महातेजस्वी अर्जुन ने एक अग्नि के समान प्रज्वलित तीक्ष्ण बाण कर्ण की छाती में ताककर मारा। वह बाण कवच को तोडकर कर्ण के हृदय में छिद गया। इससे मूर्च्छित होकर कर्ण पृथ्वी पर गिर पडा। वह एकदम बेहोश हो गया। कुछ देर के पश्चात् कर्ण को होश आया। बडे दर्द के मारे वह युद्ध-भूमि छोडकर उत्तर की ओर भागा। यह देखकर महावीर अर्जुन और उत्तर, दोनों जोर से हँसने लगे ॥२४।२७॥

विराटपर्व का साठवा अध्याय समाप्त हुआ ॥ ६० ॥

अथ एकषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६१ ॥

वैशम्पायन उवाच—ततो वैकर्तनं जित्वा पार्थो वैराटिमब्रवीत् ।
एतन्मां प्रापयाऽनीकं यत्र तालो हिरण्मयः ॥ १ ॥
अत्र शांतनवो भीष्मो रथेऽस्माकं पितामहः ।
कांक्षमाणो मया युद्धं तिष्ठत्यमरदर्शनः ॥ २ ॥
अथ सैन्यं महद् दृष्ट्वा रथनागहयाकुलम् ।
अब्रवीदुत्तरः पार्थमपविद्धः शरैर्भृशम् ॥ ३ ॥

इकसठवा अध्याय ॥ ६१ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! अब कर्ण को हराकर अर्जुन ने उत्तर से कहा—हे राजकुमार! वह देखो जिस जगह पर सुवर्णमय तालवृक्ष के चिह्न से युक्त ध्वजावाले रथ पर हमारे पितामह, देवतुल्य, भीष्मजी मुझसे युद्ध करने के लिए खडे हैं उस जगह तुम मुझे ले चलो। बाणों की चोट से उत्तर कुमार घायल हो रहा था। हाथी घोडे-रथ आदि से भरी हुई उस सेना को देखकर वह भयभीत होकर कहने लगा—हे वीर! मैं इस समय आपके रथ के घोडों की रास सँभालने में असमर्थ हो रहा हूँ। मेरा शरीर सुस्त और चित्त विह्वलसा हो रहा है। आपके और कौरव पक्ष के वीरों के अस्त्र शस्त्रों के

अर्थसंततिकामश्च रक्षेदेतानि नित्यशः ।
मदं स्वप्नमविज्ञानमाकारं चात्मसंभवम् ॥ ३८ ॥
दुष्टामात्येषु विश्रंभं दूताच्चाकुशलादपि ।
द्वाराण्येतानि यो ज्ञात्वा संवृणोति सदा नृप ॥ ३९ ॥
त्रिवर्गाचरणे युक्तः स शत्रूनधितिष्ठति ।
न वै श्रुतमविज्ञाय वृद्धाननुपसेव्य वा ॥ ४० ॥
धर्मार्थौ वेदितुं शक्यौ बृहस्पतिसमैरपि ।
नष्टं समुद्रे पतितं नष्टं वाक्यमशृण्वति ॥ ४१ ॥
अनात्मनि श्रुतं नष्टं नष्टं हुतमनग्निकम् ।
मत्या परीक्ष्य मेधावी बुद्ध्या संपाद्य चासकृत् ॥ ४२ ॥
श्रुत्वा दृष्ट्वाऽथ विज्ञाय प्राज्ञैर्मैत्रीं समाचरेत् ।
अकीर्तिं विनयो हंति हंत्यनर्थं पराक्रमः ॥ ४३ ॥
हंति नित्यं क्षमा क्रोधमाचारो हंत्यलक्षणम् ।
परिच्छदेन क्षेत्रेण वेश्मना परिचर्यया ॥ ४४ ॥
परीक्षेत कुलं राजन् भोजनाच्छादनेन च ।
उपस्थितस्य कामस्य प्रतिवादो न विद्यते ॥ ४५ ॥
अपि निर्मुक्तदेहस्य कामरक्तस्य किं पुनः ।
प्राज्ञोपसेविनं वैद्यं धार्मिकं प्रियदर्शनम् ॥ ४६ ॥

नरक में गिरता है। चित्त का विकार, शत्रु के गुप्तचर आदि से बेखबरी, सुवर्ण, अपने हृदय के भाव को न छिपा सकना, दुष्ट मंत्रियों पर विश्वास और मूर्ख दूत पर विश्वास, ये छः बातें मंत्र फूटने के द्वार हैं जो पुरुष मन्त्रभेद के इन द्वारों को जानकर और बन्द रखकर धर्म-अर्थ-काम के कर्म करता है, वही शत्रुओं को हरा सकता है। बृहस्पति के समान मनुष्य भी बिना शास्त्र पढ़े और बिना वृद्धों की सेवा किये धर्मार्थ के तत्व को नहीं जान सकता ॥३६।४०॥

समुद्र में गिरी हुई वस्तु, न सुननेवाले से कही गई बात, अजितेन्द्रिय का शास्त्र पढ़ना और राख में डाली गई आहुति व्यर्थ है। बुद्धिमान् पुरुष को चाहिए कि विचार से जाँचकर, बुद्धि से निश्चय कर, देख-सुनकर और जानकर फिर बुद्धिमान् ज्ञानियों से मित्रता करे। विनय से अकीर्ति, पराक्रम से अनर्थ, क्षमा से क्रोध और सदाचार से अलक्षण दूर होते हैं। हे राजेन्द्र! पहनावे और खान-पान से, जन्मस्थान से, निवासगृह से और आचार से मनुष्य का कुल जाना जाता है। कामासक्त पुरुष की कौन कहे, जीवन्मुक्त पुरुष भी कामना को रोकने

अवसीदंति मे प्राणा भूरियं चलतीव च ।
न च प्रतोदं रश्मींश्च संयंतुं शक्तिरस्ति मे ॥ १२ ॥
अर्जुन उवाच—मा भैषीः स्तंभयाऽऽत्मानं त्वयाऽपि नरपुंगव।
अत्यद्भुतानि कर्माणि कृतानि रणमूर्धनि ॥ १३ ॥
राजपुत्रोऽसि भद्रं ते कुले मत्स्यस्य विश्रुते ।
जातस्त्वं शत्रुदमने नाऽवसीदितुमर्हसि ॥ १४ ॥
धृतिं कृत्वा सुविपुलां राजपुत्र रथे मम ।
युध्यमानस्य समरे हयान्संयच्छ शत्रुहन् ॥ १५ ॥
वैशम्पायन उवाच—एवमुक्त्वा महाबाहुर्वैराटिं नरसत्तमः ।
अर्जुनो रथिनां श्रेष्ठ उत्तरं वाक्यमब्रवीत् ॥ १६ ॥
सेनाग्रमाशु भीष्मस्य प्रापयस्वैतदेव माम् ।
आच्छेत्स्याम्यहमेतस्य धनुर्ज्यामपि चाऽऽहवे॥ १७ ॥
अस्यंतं दिव्यमस्त्रं मां चित्रमद्य निशामय ।
शतह्रदामिवाऽऽयांतीं स्तनयित्नोरिवांऽबरे ॥ १८ ॥
सुवर्णपृष्ठं गांडीवं द्रक्ष्यंति कुरवो मम ।
दक्षिणेनाऽथ वामेन कतरेण स्विदस्यति ॥ १९ ॥
इति मां संगताः सर्वे तर्कयिष्यंति शत्रवः ।
शोणितोदां रथावर्तां नागनक्रां दुरत्ययाम् ।

सारी पृथ्वी कांपती सी जान पड़ती है । इस समय मुझमें इतनी शक्ति नहीं कि मैं घोड़ों की रास सँभालूँ, और चाबुक मारकर उन्हें हांकूं ॥११।१२॥

अर्जुन ने कहा—हे नरश्रेष्ठ ! तुम भयभीत होओ नहीं। तुम सुप्रसिद्ध मत्स्यराज के वंश में उत्पन्न हुए हो । तुमने युद्ध-भूमि में बड़े-बड़े अद्भुत कार्य किये हैं । इस समय क्यों तुम इस तरह सुस्त होकर जी छोड़े देते हो ? हिम्मत बांधकर घोड़ों की रास पकड़ो और तुरन्त मेरे रथ को पितामह भीष्म के पास ले चलो । मैं युद्ध में कौशल और फुर्ती के साथ उनके धनुष की डोरी काट डालूंगा । जैसे मेघमण्डल से बिजली निकलती है वैसे ही आज समर में मेरे धनुष से दिव्य अस्त्र प्रकट होंगे। मेरे इस सुवर्णमण्डित गाण्डीव धनुष को देखकर और इसके दक्षिण पार्श्व से बाण बरस रहे हैं या वाम पार्श्व से, यह जानने में असमर्थ होकर आज कौरव लोग मन ही मन अनेक प्रकार के तर्क-वितर्क करेंगे । आज मैं शत्रु-सेना-रूपी भयानक नदी में घुसकर उसे मथ डालूंगा। वह नदी परलोक को जाती है। शत्रुओं के रथ उसमें आवर्त (भवर) के समान हैं । हाथी उसमें ग्राह के

तपोबलं तापसानां ब्रह्म ब्रह्मविदां बलम् ।
हिंसा बलमसाधूनां क्षमा गुणवतां बलम् ॥ ७० ॥
अष्टौ तान्यव्रतघ्नानि अपो मूलं फलं पयः ॥ ७१ ॥
हविर्ब्राह्मणकाम्या च गुरोर्वचनमौषधम् ।
न तत्परस्य संदध्यात् प्रतिकूलं यदात्मनः ॥ ७२ ॥
संग्रहेणैव धर्मः स्यात्कामादन्यः प्रवर्तते ।
अक्रोधेन जयेत्क्रोधमसाधुं साधुना जयेत् ॥ ७३ ॥
जयेत्कदर्यं दानेन जयेत्सत्येन चानृतम् ।
स्त्रीधूर्तकेऽलसे भीरौ चंडे पुरुषमानिनि ॥ ७४ ॥
चौरे कृतघ्ने विश्वासो न कार्यो न च नास्तिके ।
अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः ॥ ७५ ॥
चत्वारि संप्रवर्धते कीर्तिरायुर्यशो बलम् ।
अतिक्लेशेन येऽर्थाः स्युर्धर्मस्यातिक्रमेण वा ॥ ७६ ॥
अरेर्वा प्रणिपातेन मा स्म तेषु मनः कृथाः ।
अविद्यः पुरुषः शोच्यः शोच्यं मैथुनमप्रजम् ॥ ७७ ॥
निराहाराः प्रजाः शोच्याः शोच्यं राज्यमराजकम्।

उन कर्मों का फल नहीं मिलता । धन के अन्याय से उपार्जित होने के कारण वे कर्म निष्फल होते हैं । जो लोग सरलहृदय और धीर हैं उन्हें जङ्गलों में, दुर्गम स्थानों में, कठिन आपत्तियों में, व्याकुलता के अवसरों पर और तने हुए शस्त्रों के बीच, कहीं भी भय नहीं है । उद्योग, संयम, निपुणता, सावधानी, धैर्य, स्मृति और देख-भालकर काम करना, ये बातें अभ्युदय की जड़ हैं ॥६६।७०॥

तपस्वियों का बल तप है, ब्रह्मज्ञानियों का बल ब्रह्मज्ञान है, दुर्जनों का बल हिंसा है और गुणी लोगों का बल क्षमा है । जल, कन्द-मूल, फल, दूध, घी, ब्राह्मण की इच्छा, गुरु के वचन और औषध, इन आठ से व्रतभङ्ग नहीं होता । जो अपने लिए अच्छा न जान पड़े वह दूसरे के साथ भी न करना चाहिए । लोगों के अनुकूल रहना ही परम धर्म है । और धर्म भी प्रयोजन के अनुसार किये जाते हैं पर मुख्य धर्म लोकसंग्रह ही है । शान्ति से क्रोध को, अच्छे व्यवहार से दुष्ट को, दान से कृपण को और सत्य से मिथ्या को जीतना चाहिये । स्त्री, धूर्त, आलसी, कायर, क्रोधी, पुरुषाभिमानी, चोर, कृतघ्न और नास्तिक के ऊपर विश्वास न करना चाहिए ॥७१।७५॥

जो सबको नम्रता के साथ प्रणाम करता है और सदा वृद्धों के पास रहता है उसकी कीर्ति,

वनमादीपयिष्यामि कुरूणामस्त्रतेजसा ॥ २९ ॥
तानहं रथनीडेभ्यः शरैः सन्नतपर्वभिः ।
यत्तान्सर्वानतिबलान्योत्स्यमानानवस्थितान् ।
एकः संकालयिष्यामि वज्रपाणिरिवाऽसुरान् ॥ ३० ॥
रौद्रं रुद्रादहं ह्यस्त्रं वारुणं वरुणादपि ।
अस्त्रमाग्नेयमग्नेश्च वायव्यं मातरिश्वनः ।
वज्रादीनि तथाऽस्त्राणि शक्रादहमवाप्तवान् ॥ ३१ ॥
धार्त्तराष्ट्रवनं घोरं नरसिंहाभिरक्षितम् ।
अहमुत्पाटयिष्यामि वैराटे व्येतु ते भयम् ॥ ३२ ॥
वैशम्पायन उवाच—एवमाश्वासितस्तेन वैराटिः सव्यसाचिना ।
व्यवगाहद्रथानीकं भीमं भीष्माभिरक्षितम् ॥ ३३ ॥
तमायांतं महाबाहुं जिगीषंतं रणे कुरून् ।
अभ्यवारयदव्यग्रः क्रूरकर्माऽऽपगासुतः ॥ ३४ ॥
तस्य जिष्णुरुपावृत्य ध्वजं मूलादपातयत् ।
विकृष्य कलधौताग्रैः स विद्धः प्रापतद्भुवि ॥ ३५ ॥
तं चित्रमाल्याभरणाः कृतविद्या मनस्विनः ।
आगच्छन्भीमधन्वानं चत्वारश्च महाबलाः ॥ ३६ ॥
दुःशासनो विकर्णश्च दुःसहोऽथ विविंशतिः ।
आगत्य भीमधन्वानं बीभत्सुं पर्यवारयन् ॥ ३७ ॥

समुद्र पार के रहनेवाले साठ हजार हिरण्यपुरवासियों को जीतने में समर्थ हूं। आज देख लेना कि मैं कुरुकुल का नाश कर दूंगा। मैं अकेला ही अस्त्ररूप अग्नि से उस कौरव-वन को जला दूंगा जिसमें ध्वजाएं ही वृक्ष हैं, पैदल योद्धा ही घास-फूस है और रथ ही सिंह हैं। हे उत्तर! तुम तनिक भी न भयभीत होओ। आज मैं पुरुषसिंह महारथियों से रक्षित कौरव-वन को जड़ से उखाड़ डालूंगा ॥२५।३२॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! महावीर अर्जुन के यों सान्त्वना देने पर राजकुमार उत्तर, संभलकर, भीष्म पितामह के बाहु-बल से सुरक्षित कौरव-सेना के भीतर अर्जुन के रथ को ले चला। विकट युद्ध करनेवाले भीष्म ने जब देखा कि महाबाहु अर्जुन कौरवों को जीतने के लिए उन्हीं की ओर आ रहे हैं। तब वे उनकी राह रोककर सामने खड़े हो गये। अर्जुन ने उनकी ओर फिरकर उसी समय उनके रथ की ध्वजा का दण्ड काट डाला ॥३३।३५॥

इसी बीच में दुःशासन, विकर्ण, दुःसह और

महाबलान्पश्य महानुभावान् प्रशास्य भूमिं धनधान्यपूर्णाम् ।
राज्यानि हित्वा विपुलांश्च भोगान् गतान्नरेंद्रान् वशमंतकस्य॥ १४ ॥
मृतं पुत्रं दुःखपुष्टं मनुष्या उत्क्षिप्य राजन् स्वगृहान्निर्हरंति ।
तं मुक्तकेशाः करुणं रुदंति चितामध्ये काष्ठमिव क्षिपंति ॥ १५ ॥
अन्यो धनं प्रेतगतस्य भुंक्ते वयांसि चाग्निश्च शरीरधातून् ।
द्वाभ्यामयं सह गच्छत्यमुत्र पुण्येन पापेन च वेष्ट्यमानः ॥ १६ ॥
उत्सृज्य विनिवर्तंते ज्ञातयो सुहृदः सुताः ।
अपुष्पानफलान् वृक्षान् यथा तात पतत्रिणः ॥ १७ ॥
अग्नौ प्रास्तं तु पुरुषं कर्मान्वेति स्वयं कृतम् ।
तस्मात्तु पुरुषो यत्नाद्धर्मं संचिनुयाच्छनैः ॥ १८ ॥
अस्माल्लोकादूर्ध्वममुष्य चाधो महत्तमस्तिष्ठति ह्यंधकारम् ।
तद्वै महामोहनमिंद्रियाणां बुद्ध्यस्व मा त्वां प्रलभेत राजन् ॥ १९ ॥
इदं वचः शक्ष्यसि चेद्यथावन्निशम्य सर्वं प्रतिपत्तुमेव ।
यशः परं प्राप्स्यसि जीवलोके भयं न चामुत्र न चेह तेऽस्ति ॥ २० ॥

यहाँ तक कि प्राण देकर भी धर्म का पालन करना चाहिए। धर्म नित्य है, सुख और दुःख अनित्य हैं। ऐसे ही जीव नित्य है, शरीर अनित्य है। आप अनित्य को छोड़कर नित्य की रक्षा कीजिए। सन्तोष कीजिए; सन्तोष ही सज्जनों का लक्षण है ॥१२।१३॥

देखिए, बड़े-बड़े महानुभाव बली राजा इस पृथ्वी पर हो गये हैं। वे धन-धान्य-पूर्ण पृथ्वी पर राज्य करके अन्त को राज्य और भोग यहीं छोड़ मृत्यु के मुँह में चले गये। हे राजेन्द्र ! बड़े बड़े दुःख सहकर पाला गया पुत्र जब मर जाता है तब मनुष्य उसे घर से बाहर निकालकर श्मशान भूमि में पहुँचा देते हैं, घड़ी भर घर में नहीं रहने देते। उसके पश्चात् बाल बिखेरे, करुण स्वर से विलाप करते हुए लोग चिता के ऊपर उसी प्रिय पुत्र का शरीर लकड़ी की तरह रखकर जला देते हैं। मरे हुए मनुष्य के धन को दूसरा ही भोगता है। उसके शरीर की धातुओं (मांस आदि) को या तो पक्षी खा जाते हैं या अग्नि जला देती है। उसके साथ परलोक तक केवल पाप या पुण्य जाता है। हे महाराज ! बिना फूल-फल के वृक्ष को जैसे पक्षी छोड़ जाते हैं वैसे ही मुर्दे को उसके जातिवाले, पुत्र और मित्र श्मशान भूमि में छोड़कर लौट आते हैं। चिता पर चढ़ाकर अग्नि में जलाये गये पुरुष के साथ उसका किया हुआ कर्म ही जाता है। इसलिए मनुष्य को यत्न के साथ धीरे-धीरे धर्म का उपार्जन करना चाहिए। इस लोक से ऊपर स्वर्ग में और इस लोक के नीचे इन्द्रियों को महामोह में डालनेवाला अँधेरा है। आप उससे बचे रहिए। वह आप को छू न सके। मेरी इस बात को सुनकर यदि आप इसी के अनुसार

उसी समय उन्हें दूसरे रथों पर बिठाकर वहां से हटा ले गये। अब विजयी, अचूक निशानेबाज़ अर्जुन [शत्रुओं के हृदयों में भय का सञ्चार उत्पन्न करते हुए] युद्ध-भूमि में विचरने लगे ॥४१।४६॥

विराटपर्व का इकसठवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ६१ ॥

अथ द्विषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६२ ॥

वैशम्पायन उवाच—अथ संगम्य सर्वे ते कौरवाणां महारथाः ।
अर्जुनं सहिता यत्ताः प्रत्ययुध्यंत भारत ॥ १ ॥
स सायकमयैर्जालैः सर्वतस्तान्महारथान् ।
प्राच्छादयदमेयात्मा नीहारेणेव पर्वतान् ॥ २ ॥
नदद्भिश्च महानागैर्हेषमाणैश्च वाजिभिः ।
भेरीशंखनिनादैश्च स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥ ३ ॥
नराश्वकायान्निर्भिद्य लौहानि कवचानि च ।
पार्थस्य शरजालानि विनिष्पेतुः सहस्रशः ॥ ४ ॥
त्वरमाणः शरानस्यन्पांडवः प्रबभौ रणे ।
मध्यंदिनगतोऽर्चिष्मान्शरदीव दिवाकरः ॥ ५ ॥
उपप्लवंति वित्रस्ता रथेभ्यो रथिनस्तथा ।
सादिनश्चाऽश्वपृष्ठेभ्यो भूमौ चैव पदातयः ॥ ६ ॥
शरैः संछिद्यमानानां कवचानां महात्मनाम् ।
ताम्रराजतलौहानां प्रादुरासीन्महास्वनः ॥ ७ ॥

बासठवां अध्याय ॥ ६२ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! तब कौरवपक्ष के सब महारथी मिलकर अर्जुन पर बाणों की वर्षा करने लगे। महावीर अर्जुन ने भी, कुहरे से ढके हुए पर्वत की तरह, अपने बाणों से उन महारथियों को छा दिया। हाथियों की चिंघाड़, घोड़ों का हिनहिनाना, नगाड़ों और शङ्खों का शब्द, इन सब शब्दों के एकत्र होने से युद्ध-भूमि में विकट कोलाहल होने लगा। अर्जुन के विकट बाण हाथियों, घोड़ों और वीरों के कवचों को काटते हुए नजर आते थे। जैसे शरद् ऋतु के स्वच्छ नीले आकाश में दोपहर के समय सूर्यदेव अपनी तीक्ष्ण किरणें फैलाते देख पड़ते हैं, वैसे ही महातेजस्वी वीर अर्जुन युद्ध-भूमि में लगातार असंख्य बाण बरसा रहे थे। १।५।

तब रथी रथों पर से और सवार घोड़ों पर से कूद-कूदकर भय के मारे जान लेकर भागने लगे। पैदल योद्धा भी भयभीत होकर इधर-उधर भागने लगे। अर्जुन के तीक्ष्ण बाणों से वीरों के तांबे, चांदी और लोहे के कवच कट-कटकर पृथ्वी पर गिर रहे थे।

यं श्रुत्वाऽयं मनुष्येन्द्रः सर्वदुःखातिगो भवेत् ।
लाभालाभौ प्रियद्वेष्यौ यथैनं न जरांतकौ ॥ ११ ॥
विषहेरन्भयामर्षौ क्षुत्पिपासे मदोद्भवौ ।
अरतिश्चैव तंद्री च कामक्रोधौ क्षयोदयौ ॥ १२ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि सनत्सुजातीयपर्वणि विदुरकृतसनत्सुजातप्रार्थने एकचत्वारिंशोऽध्यायः॥४१॥

महाराज धृतराष्ट्र के मन में एक ऐसा संशय है जिसका समाधान मैं नहीं कर सकता। कृपा कर आप उसका समाधान कर दीजिए। जिसे सुनकर ये महाराज लाभ-हानि, प्रिय-अप्रिय, जरा-मृत्यु, भय-असहिष्णुता, भूख-प्यास, मोह-मद से उत्पन्न अरुचि-आलस्य, काम-क्रोध, क्षय-अभ्युदय आदि के हाथ से और सब दुःखों से छुटकारा पा जायँ वही इन्हें सुनाइए ॥८।१२॥

उद्योगपर्व का इकतालीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ४१ ॥

अथ द्विचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४२ ॥

वैशम्पायन उवाच—ततो राजा धृतराष्ट्रो मनीषी संपूज्य वाक्यं विदुरेरितं तत् ।
सनत्सुजातं रहिते महात्मा पप्रच्छ बुद्धिं परमां बुभूषन्॥ १ ॥
धृतराष्ट्र उवाच—सनत्सुजात यदिदं शृणोमि न मृत्युरस्तीति तव प्रवादम्।
देवासुरा ह्याचरन्ब्रह्मचर्यममृत्यवे तत्कतरन्नु सत्यम् ॥ २ ॥
सनत्सुजात उवाच—अपृच्छः कर्मणा यच्च मृत्युर्नास्तीति चापरम् ।
शृणु मे ब्रुवतो राजन्यथैतन्माऽविशंकिथाः ॥ ३ ॥
उभे सत्ये क्षत्रियैतस्य विद्धि मोहान्मृत्युः सम्मतोऽयं कवीनाम्।
प्रमादं वै मृत्युमहं ब्रवीमि तथाऽप्रमादममृतत्वं ब्रवीमि ॥ ४ ॥

बयालीसवाँ अध्याय ॥ ४२ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! तब राजा धृतराष्ट्र ने विदुर के कथन का समर्थन करके, श्रेष्ठ ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा से, एकान्त में सनत्सुजात से, कहा—हे भगवन्! आपका उपदेश है कि मृत्यु तो कोई वस्तु ही नहीं। किन्तु देवताओं और असुरों ने मृत्यु का भय मिटाने के लिए ब्रह्मचर्य व्रत का आश्रय लिया है। इन दोनों बातों में कौन सी बात ठीक है? आप कृपा करके मेरा यह संदेह मिटाइए ॥१।२॥

सनत्सुजात ने कहा—हे राजेन्द्र! कुछ लोग कहते हैं कि मृत्यु तो है, पर कर्म से उसका भय मिटाया जा सकता है। पर कुछ लोग कहते हैं कि मृत्यु है ही नहीं। ये दोनों पक्ष सत्य हैं। इस बारे में आप शङ्का न कीजिए। मैं यह मृत्यु का रहस्य कहता हूं, सुनिए। हे राजेन्द्र! पण्डितों ने मोह को ही मृत्यु माना है। मैं प्रमाद को मृत्यु

अर्जुनो जयतां श्रेष्ठः पर्यवर्त्तत भारत ॥ १६ ॥
प्रावर्त्तयन्नदीं घोरां शोणितोदां तरंगिणीम् ।
अस्थिशैवालसंबाधां युगांते कालनिर्मिताम् ॥ १७ ॥
शरचापप्लवां घोरां केशशैवलशाद्वलाम् ।
तनुत्रोष्णीषसंबाधां नागकूर्ममहाद्विपाम् ॥ १८ ॥
मेदोवसास्रुक्प्रवहां महाभयविवर्धिनीम् ।
रौद्ररूपां महाभीमां श्वापदैरभिनादिताम् ॥ १९ ॥
तीक्ष्णशस्त्रमहाग्राहां क्रव्यादगणसेविताम् ।
मुक्ताहारोर्मिकलिलां चित्रालंकारबुद्बुदाम् ॥ २० ॥
शरसंघमहावर्त्तां नागनक्रां दुरत्ययाम् ।
महारथमहाद्वीपां शंखदुंदुभिनिःस्वनाम् ।
चकार च तदा पार्थो नदीं दुस्तरशोणिताम् ॥ २१ ॥
आददानस्य हि शरान्संधाय च विमुंचतः ।
विकर्षतश्च गांडीवं न कश्चिद्ददृशे जनः ॥ २२ ॥

इति श्रीमन्महाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोग्रहे अर्जुनसंकुलयुद्धे द्विषष्टितमोऽध्यायः ॥६२॥

लगे ॥११।१४॥

अर्जुन के क्रोध की अग्नि शत्रुपक्ष की सेना को भस्म कर रही थी। धनुष धारण करनेवाले योद्धा लोग अर्जुन के बाणों की अग्नि में अपने सिपाहियों को स्वाहा होते देख दुर्योधन के सामने ही सुस्त हो गये। विजयी महावीर अर्जुन ने युद्ध-भूमि में कौरवपक्ष की सेना को व्याकुल करके महारथियों को युद्ध से भगा दिया। शत्रुसेना का संहार करके अर्जुन ने युद्ध-भूमि में रक्त की दुस्तर नदी बहा दी। कवच-पगड़ी आदि सामान उसमें बहा जा रहा था। कुत्ते, गीदड़, गिद्ध, कौए आदि मांसभोजी पशु-पक्षी शब्द करते हुए उस नदी के पास घूम रहे थे। ऐसा जान पड़ता था कि [वह प्रलयकाल की नदी है।] उसमें हड्डियां सेवार की जगह, धनुष डोंगियों की जगह, मोतियों की मालाएँ भयङ्कर लहरों की जगह, केश घास की जगह, गहने बुलबुलों की जगह, हाथी कछुओं तथा घड़ियालों की जगह, तीक्ष्ण धारवाले शस्त्र ग्राहों की जगह, बाण भँवरों की जगह और रथ टापुओं की जगह हैं। शङ्ख और नगाड़ों का शब्द ही इस नदी का शब्द था। उस समय किसी को यह न जान पड़ता था कि महावीर अर्जुन कब बाण निकालते हैं, कब धनुष पर चढ़ाते हैं, कब गाण्डीव धनुष खींचते और कब बाण छोड़ते हैं ॥१५।२२॥

—o—

विराटपर्व का बासठवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ६२ ॥

गत्वोभयं कर्मणा भुज्यते स्थिरं शुभस्य पापस्य स चापि कर्मणः ।
धर्मेण पापं प्रणुदतीह विद्वान् धर्मो बलीयानिति तस्य सिद्धिः ॥ २५ ॥

धृतराष्ट्र उवाच—यानिहाहुः स्वस्य धर्मस्य लोकान्द्विजातीनां पुण्यकृतां सनातनान्।
तेषां क्रमान्कथय ततोऽपि चान्यन्नैतद्विद्वन्वेत्तुमिच्छामि कर्म ॥ २६ ॥

सनत्सुजात उवाच—येषां व्रतेऽथ विस्पर्धा बले बलवतामिव ।
ते ब्राह्मणा इतः प्रेत्य ब्रह्मलोक प्रकाशकाः ॥ २७ ॥
येषां धर्मे च विस्पर्धा तेषां तज्ज्ञानसाधनम् ।
ते ब्राह्मणा इतो मुक्ताः स्वर्गं यांति त्रिविष्टपम् ॥ २८ ॥
तस्य सम्यक् समाचारमाहुर्वेदविदो जनाः ।
नैनं मन्येत भूयिष्ठं बाह्यमाभ्यंतरं जनम् ॥ २९ ॥
यत्र मन्येत भूयिष्ठं प्रावृषीव तृणोलपम् ।
अन्नं पानं ब्राह्मणस्य तज्जीवेन्नानुसंज्वरेत् ॥ ३० ॥
यत्राकथयमानस्य प्रयच्छत्यशिवं भयम् ।
अतिरिक्तमिवाकुर्वन्स श्रेयान्नेतरो जनः ॥ ३१ ॥

दोनों तरह के कर्मों से, मोक्ष प्राप्त होता है। विद्वान् पुरुष सन्यास के द्वारा आत्मज्ञान प्राप्त करता है और देहाभिमानी पुरुष उपासना के प्रभाव से पुण्य को प्राप्त होता है। कर्मासक्त पुरुष कर्म करने के कारण पाप और पुण्य दोनों के अस्थायी फल को पाकर फिर कर्म में ही प्रवृत्त होता है। किन्तु विद्वान् पुरुष धर्म के बल से पाप को परास्त करके सिद्धि प्राप्त कर लेता है ॥२३।२५॥

धृतराष्ट्र ने कहा—हे भगवन्! वेद के कथन के अनुसार द्विज लोग पुण्य करके जिन सनातन लोकों को पाते हैं उनकी उत्तरोत्तर श्रेष्ठता का वर्णन कीजिए। निर्मल आनन्दस्वरूप मोक्ष-सुख का भी ठीक-ठीक रूप बताने की कृपा कीजिए ॥२६॥

सनत्सुजात ने कहा—हे राजेन्द्र! जो लोग यम-नियम आदि को विशेष स्पर्धा के साथ पालते हैं वे निर्गुण ब्रह्मवादी पुरुष शरीर त्यागने पर ब्रह्मलोक में जाते हैं। जो लोग यज्ञ आदि कर्मकाण्ड में लगे रहते हैं वे उसी के द्वारा ज्ञान प्राप्त करके अन्त को देवलोक में विराजमान होते हैं। अपने को वैदिक माननेवाले मनुष्य यद्यपि इस प्रकार के धर्मानुष्ठान से किसी फल की इच्छा नहीं करते तथापि वे उसकी श्रेष्ठता प्रसिद्ध करते हैं। किन्तु वैसे अन्तर्दृष्टि से रहित बहिर्मुख लोगों की बात पर सोलहों आने विश्वास करना ठीक नहीं। जो स्थान, वर्षाकाल में निकले हुए घास-फूस आदि की तरह, सन्यासियों के उपयुक्त खाने पीने की सामग्री से परिपूर्ण हो वहीं रहकर जीवन व्यतीत करना चाहिए। वृत्तिहीन व्यक्ति को सताना या आत्मा को भूख-प्यास का क्लेश देना उचित नहीं ॥२७।३०॥

जहां अपनी महिमा प्रकट न करने से अनिष्ट

यथा वलाहके विद्युत्पावको वा शिलोच्चये ।
तथा गांडीवमभवदिंद्रायुधमिवाऽऽनतम् ॥ १० ॥
यथा वर्षति पर्जन्ये विद्युद्विभ्राजते दिवि ।
द्योतयंती दिशः सर्वाः पृथिवीं च समंततः ॥ ११ ॥
तथा दश दिशः सर्वाः पतद्गांडीवमावृणोत् ।
नागाश्च रथिनः सर्वे मुमुहुस्तत्र भारत ॥ १२ ॥
सर्वे शांतिपरा योधाः स्वचित्तानि न लेभिरे ।
संग्रामे विमुखाः सर्वे योधास्ते हतचेतसः ॥ १३ ॥
एवं सर्वाणि सैन्यानि भग्नानि भरतर्षभ ।
व्यद्रवंति दिशः सर्वा निराशानि स्वजीविते ॥ १४ ॥

इति श्रीमन्महाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोग्रहे अर्जुनसंकुलयुद्धे त्रिपष्टितमोऽध्यायः ॥ ६३ ॥

वैसा ही लगता था जैसे मेघों में बिजली, पर्वत पर अग्नि अथवा आकाश में इन्द्रधनुष हो ॥४।१०॥

वर्षा ऋतु में जैसे मेघों में प्रकट होकर बिजली सब दिशाओं को और पृथ्वी को प्रकाशित कर देती है, वैसे ही अर्जुन के हाथ में शोभित गाण्डीव धनुष ने युद्ध-भूमि को प्रकाशित कर दिया। यह दृश्य देखकर कौरवपक्ष के हाथी-घोड़े आदि वाहन और रथों पर बैठे हुए वीर मोहित से हो गये। योद्धा लोग विह्वल हो उठे। उनके हाथों से धनुष गिर पड़े। अनेक सैनिक किङ्कर्तव्यविमूढ़ से होकर युद्ध से भाग गये। तब जीवन से निराश योद्धा लोग भय के मारे युद्ध-भूमि छोड़कर इधर-उधर भागने लगे ॥११।१४॥

विराटपर्व का त्रेसठवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ६३ ॥

अथ चतुःषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६४ ॥

वैशम्पायन उवाच—ततः शांतनवो भीष्मो भारतानां पितामहः ।
वध्यमानेषु योधेषु धनंजयमुपाद्रवत् ॥ १ ॥
प्रगृह्य कार्मुकश्रेष्ठं जातरूपपरिष्कृतम् ।
शरानादाय तीक्ष्णाग्रान्मर्मभेदान्प्रमाथिनः ॥ २ ॥

चौसठवां अध्याय ॥ ६४ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! अपने पक्ष के वीरों को विनिष्ट और युद्ध से भागते देखकर भरतकुल के पितामह महावीर भीष्म बड़े वेग से अर्जुन का सामना करने को उनके आगे आये। पितामह का धनुष दृढ़ और उज्ज्वल था। उनके बाण भी मर्मस्थल पर चोट पहुंचानेवाले और पैने थे।

धृतराष्ट्र उवाच—न चेद्वेदा विना धर्मं त्रातुं शक्ता विचक्षण ।
अथ कस्मात्प्रलापोऽयं ब्राह्मणानां सनातनः ॥ ६ ॥
सनत्सुजात उवाच–तस्यैव नामादिविशेषरूपैरिदं जगद्भाति महानुभाव ।
निर्दिश्य सम्यक्प्रवदन्ति वेदास्तद्विश्ववैरूप्यमुदाहरन्ति ॥ ७ ॥
तदर्थमुक्तं तप एतदिज्या ताभ्यामसौ पुण्यमुपैति विद्वान् ।
पुण्येन पापं विनिहत्य पश्चात्संजायते ज्ञानविदीपितात्मा ॥ ८ ॥
ज्ञानेन चाऽऽत्मानमुपैति विद्वानथाऽन्यथा वर्गफलानुकांक्षी ।
अस्मिन्कृतं तत्परिगृह्य सर्वममुत्र भुंक्ते पुनरेति मार्गम् ॥ ९ ॥
अस्मिँल्लोके तपस्तप्तं फलमन्यत्र भुज्यते ।
ब्राह्मणानामिमे लोका ऋद्धे तपसि तिष्ठताम् ॥ १० ॥
धृतराष्ट्र उवाच—कथं समृद्धमसमृद्धं तपो भवति केवलम् ।
सनत्सुजात तद् ब्रूहि यथा विद्याम तद्वयम् ॥ ११ ॥
सनत्सुजात उवाच—निष्कल्मषं तपस्त्वेतत्केवलं परिचक्षते ।
एतत्समृद्धमप्यृद्धं तपो भवति केवलम् ॥ १२ ॥

धृतराष्ट्र ने पूछा—हे भगवन् ! यदि स्वामाविक धर्म (शम, दम इत्यादि) का पालन किये बिना वेद [वेदों की सहायता से होनेवाले यज्ञ आदि] मूढ़ पुरुष को पापों से बचा नहीं सकते तो फिर ब्राह्मणों के माहात्म्य को सूचित करनेवाले "सब देवता वेदज्ञ ब्राह्मण के शरीर में रहते हैं; इत्यादि" वाक्य क्या प्रलापमात्र हैं ? ॥६॥

सनत्सुजात ने कहा—हे धृतराष्ट्र ! यह जगत् उसी परमात्मा के नाम आदि विशेष रूपों से प्रकाशमान हो रहा है । वेद में भी कहा गया है कि यह विश्व ब्रह्म से भिन्न है । ब्रह्म की प्राप्ति का साधन तप और यज्ञ का अनुष्ठान कहा गया है । विद्वान् व्यक्ति इन दोनों साधनों की सहायता से पुण्य प्राप्त करते हैं । पीछे उस पुण्य के बल से सब पाप मिट जाने पर विद्वानों का आत्मा ज्ञान के प्रभाव से प्रकाशित हो जाता है । इसके पश्चात् उन्हें ज्ञान के द्वारा परमात्मा का साक्षात्कार हो जाता है । किन्तु ज्ञान की प्राप्ति हुए बिना मनुष्य विषयवासना के वश होकर इस लोक में किये गये पाप-पुण्य का फल परलोक में भोगता है और फिर उसे इसी लोक में आना पड़ता है । इस लोक में जो तप किया जाता है उसका फल परलोक में भोगने को मिलता है । किन्तु अवश्य-कर्तव्य तप करनेवाले ब्राह्मण इसी लोक में उसका फल भोगते हैं ॥७।१०॥

धृतराष्ट्र ने पूछा—हे भगवन् ! एक ही तप 'समृद्ध' और 'असमृद्ध' भेद से दो प्रकार का कैसे होता है ? यह आप मुझसे कहिए, जिससे मुझे इस विषय का ज्ञान प्राप्त हो ॥११॥

सनत्सुजात ने कहा–हे महाराज ! फल-प्राप्ति की इच्छा और अश्रद्धा आदि दोषों से रहित तप

तयोस्तदभवद्युद्धं तुमुलं लोमहर्षणम् ।
भीष्मेण सह पार्थेन बलिवासवयोरिव ॥ १२ ॥
प्रैक्षंत कुरवः सर्वे योधाश्च सहसैनिकाः ।
भल्लैर्भल्लाः समागम्य भीष्मपांडवयोर्युधि ।
अंतरिक्षे व्यराजंत खद्योताः प्रावृषीव हि ॥ १३ ॥
अग्निचक्रमिवाऽविद्धं सव्यदक्षिणमस्यतः ।
गांडीवमभवद्राजन्पार्थस्य सृजतः शरान् ॥ १४ ॥
ततः सञ्छादयामास भीष्मं शरशतैः शितैः ।
पर्वतं वारिधाराभिश्छादयन्निव तोयदः ॥ १५ ॥
तां स वेलामिवोद्धूतां शरवृष्टिं समुत्थिताम् ।
व्यधमत्सायकैर्भीष्मः पांडवं समवारयत् ॥ १६ ॥
ततस्तानि निकृत्तानि शरजालानि भागशः ।
समरे च व्यशीर्यंत फाल्गुनस्य रथं प्रति ॥ १७ ॥
ततः कनकपुंखानां शरवृष्टिं समुत्थिताम् ।
पांडवस्य रथात्तूर्णं शलभानामिवाऽऽयतिम् ।
व्यधमत्तां पुनस्तस्य भीष्मः शरशतैः शितैः ॥ १८ ॥
ततस्ते कुरवः सर्वे साधु साध्विति चाऽब्रुवन् ।
दुष्करं कृतवान्भीष्मो यदर्जुनमयोधयत् ॥ १९ ॥
बलवांस्तरुणो दक्षः क्षिप्रकारी धनंजयः ।

था। वैसा ही घोर युद्ध अर्जुन और भीष्म से होने लगा। कौरवपक्ष के योद्धा और सैनिक, चकित से होकर, दोनों श्रेष्ठ वीरों का संग्राम देखने लगे। दोनों वीरों के चलाये हुए भल्ल बाण आकाश में जाकर, वर्षाकाल में जुगनुओं के समान, मालूम होते थे। महावीर अर्जुन बाण चढ़ाते समय फुर्ती के साथ कभी बायें हाथ में कभी दाहने हाथ में गाण्डीव धनुष ले लेते थे, इससे वह धनुष अग्निचक्र के समान जान पड़ता था। बादल जैसे बूँदों से पर्वत को पाट देते हैं वैसे ही महावीर अर्जुन ने असंख्य बाणों से भीष्म को छिपा दिया। युद्धचतुर भीष्म ने दम भर में अर्जुन के असंख्य बाणों के जाल को काट डाला। ११।१६।

कट जाने से उन बाणों का, उनके रथ के पास, ढेर लग गया। अपने रथ पर बैठे हुए अर्जुन फिर भीष्म पर बाण बरसाने लगे। अर्जुन के सुवर्णपुङ्ख शोभित असंख्य बाण टीड़ीदल की तरह भीष्म पितामह की ओर चल पड़े। महाबाहु भीष्म ने फिर भी अपने पैने बाणों से उन बाणों को व्यर्थ कर दिया।

एवं दोषा मदस्योक्तास्तान्दोषान्परिवर्जयेत् ।
तथा त्यागोऽप्रमादश्च स चाऽप्यष्टगुणो मतः ॥ ३५ ॥
अष्टौ दोषाः प्रमादस्य तान्दोषान्परिवर्जयेत् ।
इंद्रियेभ्यश्च पंचभ्यो मनसश्चैव भारत ।
अतीतानागतेभ्यश्च मुक्त्युपेतः सुखी भवेत् ॥ ३६ ॥
सत्यात्मा भव राजेन्द्र सत्ये लोकाः प्रतिष्ठिताः ।
तांस्तु सत्यमुखानाहुः सत्ये ह्यमृतमाहितम् ॥ ३७ ॥
निवृत्तेनैव दोषेण तपोव्रतमिहाऽऽचरेत् ।
एतद्धातृकृतं वृत्तं सत्यमेव सतां व्रतम् ॥ ३८ ॥
दोषैरेतैर्वियुक्तस्तु गुणैरेतैः समन्वितः ।
एतत्समृद्धमत्यर्थं तपो भवति केवलम् ॥ ३९ ॥
यन्मां पृच्छसि राजेन्द्र संक्षेपात्प्रब्रवीमि ते ।
एतत्पापहरं पुण्यं जन्ममृत्युजरापहम् ॥ ४० ॥
धृतराष्ट्र उवाच—आख्यानपंचमैर्वेदैर्भूयिष्ठं कथ्यते जनः ।
तथा चाऽन्ये चतुर्वेदास्त्रिवेदाश्च तथा परे ॥ ४१ ॥
द्विवेदाश्चैकवेदाश्चाऽप्यनृचश्च तथा परे ।
तेषां तु कतरः स स्याद्यमहं वेद वै द्विजम् ॥ ४२ ॥

सञ्चय न करना ये अप्रमाद के लक्षण हैं ॥३१।३४॥

हे धृतराष्ट्र! ये सब दोष मद से उत्पन्न हैं। इनसे बचना चाहिए। प्रमाद के भी आठ उत्पत्ति-स्थान हैं। उनसे भी बचा रहे। पाँच इन्द्रियाँ, मन और व्यतीत हुए-हुए तथा आनेवाले दुःख, इनसे आठ प्रकार का प्रमाद उत्पन्न होता है। प्रमाद से बचनेवाला सुखी होता है। सदा सत्यनिष्ठ रहना चाहिए। सब लोक और अमृत (ब्रह्म) सत्य में ही स्थित है। इसी से पण्डित लोग सत्य को दम, त्याग और अप्रमाद का मुखिया कहते हैं। विधाता का बनाया नियम यही है कि सब दोषों के मिटने और गुणों के आने पर ही तप और व्रत सम्पन्न होते हैं। इसलिए सत्य ही साधुओं का व्रत है। उक्त दोषों को छोड़कर गुणी बनने से परम समृद्ध तप सिद्ध होता है, जिससे अन्त को मुक्ति मिलती है। हे राजेन्द्र! तुमने जो पूछा था वह सब पापों को मिटानेवाला और जन्म-जरा-मृत्यु से बचानेवाला यह पवित्र प्रसङ्ग मैंने सुना दिया ॥३५।४०॥

धृतराष्ट्र ने कहा—हे भगवन्! सब वेद और इतिहास परमात्मा को चराचर रूप बताते हैं। कोई चार वेद, कोई तीन वेद, कोई दो वेद, कोई एक वेद पढ़नेवाले और कोई एक मात्र ब्रह्मप्रति पादक अद्वैत

शरांश्च सुबहून्क्रुद्धो मुमोचाऽऽशु धनंजये ॥ २८ ॥
अर्जुनोऽपि शरांस्तीक्ष्णान्भीष्माय निशितान्बहून् ।
चिक्षेप सुमहातेजास्तथा भीष्मश्च पांडवे ॥ २९ ॥
तयोर्दिव्यास्त्रविदुषोरस्यतोर्निशिताञ्शरान् ।
न विशेषस्तदा राजंल्लक्ष्यते स्म महात्मनोः ॥ ३० ॥
अथाऽऽवृणोद्दश दिशः शरैरतिरथस्तदा ।
किरीटमाली कौंतेयः शूरः शांतनवस्तथा ॥ ३१ ॥
अतीव पांडवो भीमं भीष्मश्चाऽतीव पांडवम् ।
बभूव तस्मिन्संग्रामे राजँल्लोके तदद्भुतम् ॥ ३२ ॥
पांडवेन हताः शूरा भीष्मस्य रथरक्षिणः ।
शेरते स्म तदा राजन्कौंतेयस्याऽभितो रथम् ॥ ३३ ॥
ततो गांडीवनिर्मुक्ता निरमित्रं चिकीर्षवः ।
आगच्छन्पुंखसंश्लिष्टाः श्वेतवाहनपत्रिणः ॥ ३४ ॥
निष्पतंतो रथात्तस्य धौता हैरण्यवाससः ।
आकाशे समदृश्यंत हंसानामिव पंक्तयः ॥ ३५ ॥
तस्य तद्दिव्यमस्त्रं हि विगाढं चित्रमस्यतः ।
प्रेक्षंते स्माऽतरिक्षस्थाः सर्वे देवाः सवासवाः ॥ ३६ ॥
तं दृष्ट्वा परमप्रीतो गंधर्वश्चित्रमद्भुतम् ।
शशंस देवराजाय चित्रसेनः प्रतापवान् ॥ ३७ ॥

बाण से भीष्म का धनुष काट डाला। भीष्म ने कुपित होकर दूसरा धनुष लिया। उस पर डोरी चढ़ाकर वे अर्जुन के ऊपर असंख्य बाण बरसाने लगे। फिर वे दोनों महाबली वीर ऐसी फुर्ती के साथ बाण बरसाने लगे कि उनमें से कौन अधिक फुर्तीला है—यह जानना कठिन ही नहीं, असम्भव हो गया। एक दूसरे पर लगातार बाण-वर्षा कर उन्होंने दसों दिशाओं को छा दिया। खड़े-खड़े युद्ध देखनेवाले लोग चकित हो उठे। फिर महावीर अर्जुन ने भीष्म के रथ की रक्षा करनेवाले सैनिकों को मारकर गिरा दिया। अर्जुन के गाण्डीव धनुष से छूटे हुए बाण आकाश में पहुंचकर हंसों की कतार के समान देख पड़े ॥२६।३३॥

इन्द्र आदि देवता, आकाशमार्ग में अपने विमानों पर बैठे हुए, अर्जुन के अस्त्र-शस्त्र चलाने के कौशल को देख रहे थे। प्रतापी गन्धर्वराज चित्रसेन अर्जुन के रण-कौशल और फुर्ती को देखकर बहुत प्रसन्न हुआ। उसने इन्द्र से कहा—देखिए, अर्जुन के

सनत्सुजात उवाच–नैतद्ब्रह्म त्वरमाणेन लभ्यं यन्मां पृच्छन्नतिहृष्यस्यतीव।
बुद्धौ विलीने मनसि प्रचिंत्याऽविद्या हि सा ब्रह्मचर्येण लभ्या ॥ २ ॥
धृतराष्ट्र उवाच–अत्यंतविद्यामिति यत्सनातनीं ब्रवीषि त्वं ब्रह्मचर्येण सिद्धाम्।
अनारभ्यां वसतीह कार्यकाले कथं ब्राह्मण्यममृतत्वं लभेत ॥ ३ ॥
सनत्सुजात उवाच–अव्यक्तविद्यामभिधास्ये पुराणीं बुद्ध्या च तेषां ब्रह्मचर्येण सिद्धाम्।
यां प्राप्यैनं मर्त्यलोकं त्यजंति या वै विद्या गुरुवृद्धेषु नित्या ॥ ४ ॥
धृतराष्ट्र उवाच—ब्रह्मचर्येण या विद्या शक्या वेदितुमंजसा।
तत्कथं ब्रह्मचर्यं स्यादेतद्ब्रह्मन्ब्रवीहि मे ॥ ५ ॥
सनत्सुजात उवाच–आचार्ययोनिमिह ये प्रविश्य भूत्वा गर्भे ब्रह्मचर्यं चरंति।
इहैव ते शास्त्रकारा भवंति प्रहाय देहं परमं यांति योगम् ॥ ६ ॥
अस्मिँल्लोके वै जयंतीह कामान्ब्राह्मीं स्थितिं ह्यनुतितिक्षमाणाः।
त आत्मानं निर्हरंतीह देहान्मुंजादिषीकामिव सत्वसंस्थाः ॥ ७ ॥

चवालीसवां अध्याय ॥ ४४ ॥

धृतराष्ट्र ने कहा—हे भगवन्! अब आप उपनिषद् की बातें सुनाइए। उनसे ब्रह्मज्ञान प्राप्त होता है। वे विषय-संसर्ग शून्य और अत्यन्त दुर्लभ हैं ॥१॥

सनत्सुजात ने कहा—हे राजेन्द्र! आप प्रफुल्ल हृदय होकर अधिक आग्रह के साथ मुझसे जो पूछ रहे हैं, वह ब्रह्मज्ञान शीघ्र नहीं प्राप्त होता। निश्चयात्मिका बुद्धि में अन्तःकरण की स्थिति होने पर जिसके द्वारा सब वृत्तियों का निरोध होकर केवल ब्रह्मचिन्तन ही रह जाता है उसी को ब्रह्मविद्या या उपनिषद् कहते हैं। यह अध्यात्म विद्या विधिपूर्वक गुरु के पास रहने से प्राप्त होती है ॥२॥

धृतराष्ट्र ने कहा—हे भगवन्! आप कहते हैं कि ब्रह्मविद्या नित्यसिद्ध है, वह कर्मकाण्ड की तरह चेष्टा की अपेक्षा नहीं रखती—कार्य के समय ब्रह्मचर्य के साथ प्रकाशित होकर आत्मा में स्थित रहती है। तो ब्राह्मण को मुक्ति की प्राप्ति किस तरह हो सकती है? कृपा करके कहिए ॥३॥

सनत्सुजात ने कहा—ब्रह्म नित्य प्रत्यक्ष होकर भी उपाधि का सम्बन्ध होने के कारण सहसा ज्ञानगम्य नहीं होता। अतएव जिस विद्या के द्वारा ब्रह्म की उपलब्धि होती है वह नित्यसिद्ध होने पर भी साधना और यत्न की अपेक्षा रखती है। अब मैं वही गुरुपरम्परा और ब्रह्मचर्य व्रत से सिद्ध होनेवाली ब्रह्मविद्या कहता हूँ ॥४॥

धृतराष्ट्र ने कहा—हे भगवन्! ब्रह्मविद्या का साधन ब्रह्मचर्य क्या और कैसा है? ॥५॥

सनत्सुजात ने कहा—हे धृतराष्ट्र! जो लोग ब्रह्मविद्या की साधना के लिए गुरुगृह में आकर, निष्कपट सेवा के द्वारा गुरु की हार्दिक प्रसन्नता प्राप्त करते हुए, ब्रह्मचर्य में प्रवृत्त होते हैं, वे इसी लोक में ब्रह्ममूर्ति (जीवन्मुक्त) होकर परलोक में परब्रह्म

स पीडितो महाबाहुर्गृहीत्वा रथकूबरम् ।
गांगेयो युद्धदुर्धर्षस्तस्थौ दीर्घमिवांऽतरम् ॥ ४८ ॥
तं विसंज्ञमपोवाह संयंता रथवाजिनाम् ।
उपदेशमनुस्मृत्य रक्षमाणो महारथम् ॥ ४९ ॥

इति श्रीमन्महाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोग्रहे भीष्मापयाने चतुःषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६४ ॥

भी काट डाला। ऊपर से उनकी छाती में अर्जुन ने बहुत ही तीक्ष्ण दस बाण भी मारे। अर्जुन के बाण लगने से महाबाहु भीष्म बहुत ही व्यथित हुए। वे रथ का धुरा पकड़े हुए देर तक अचेत से हो गये। सारथी ने जब उन्हें अचेत देखा तब, उनके इस उपदेश को स्मरण करके कि सारथी को रथी की और रथी को सारथी की रक्षा करनी चाहिए, वह उनको बचाने के लिए युद्धभूमि से रथ हटा ले गया।४५।४९।

विराटपर्व का चौसठवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ६४ ॥

अथ पंचषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६५ ॥

वैशम्पायन उवाच—भीष्मे तु संग्रामशिरो विहाय पलायमाने धृतराष्ट्रपुत्रः।
उत्सृज्य केतुं विनदन्महात्मा धनुर्विगृह्याऽर्जुनमाससाद ॥ १ ॥
स भीमधन्वानमुदग्रवीर्यं धनंजयं शत्रुगणे चरंतम् ।
आकर्णपूर्णायतचोदितेन विव्याध भल्लेन ललाटमध्ये ॥ २ ॥
स तेन बाणेन समर्पितेन जांबूनदाग्रेण सुसंहितेन ।
रराज राजन्महनीयकर्मा यथैकपर्वा रुचिरैकशृंगः ॥ ३ ॥
अथाऽस्य बाणेन विदारितस्य प्रादुर्बभूवाऽसृगजस्रमुष्णम्।
स तस्य जांबूनदपुंखचित्रो भित्वा ललाटं सुविराजते स्म॥ ४ ॥
स तेन बाणाभिहतस्तरस्वी दुर्योधने नोद्धतमन्यु वेगः ।
शरानुपादाय विषाग्निकल्पान विव्याधराजानमदीनसत्त्वः ॥ ५ ॥

पैंसठवां अध्याय ॥ ६५ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! महारथी भीष्म जब युद्ध से हट गये तब दुर्योधन, धनुष हाथ में लेकर, सिंहनाद करता हुआ अर्जुन के सामने आया। शत्रु-सेना में निर्भय भाव से विचरते हुए उग्र तेजवाले अर्जुन को देखकर दुर्योधन ने, कान तक धनुष तानकर, एक भल्ल बाण उनके माथे में मारा। मस्तक में वह भल्ल बाण लगने से, एक शिखरवाले नीले रङ्ग के गिरिराज के समान, अर्जुन की शोभा हुई। अर्जुन के मस्तक से रक्त की धारा बहने लगी। उससे वह सुवर्ण-मण्डित भल्ल बाण चमक उठा ॥१।४॥

[महापराक्रमी अर्जुन उस बाण के लगने से

अपारणीयं तमसः परस्तात्तदंतकोऽप्येति विनाशकाले ।
अणीयो रूपं क्षुरधारया समं महच्च रूपं तद्वै पर्वतेभ्यः ॥ २९ ॥
सा प्रतिष्ठा तदमृतं लोकास्तद्ब्रह्म तद्यशः ।
भूतानि जज्ञिरे तस्मात्प्रलयं यांति तत्र हि ॥ ३० ॥
अनामयं तन्महदुद्यतं यशो वाचो विकारं कवयो वदंति ।
यस्मिन् जगत्सर्वमिदं प्रतिष्ठितं ये तद्विदुरमृतास्ते भवंति ॥ ३१ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि सनत्सुजातपर्वणि सनत्सुजातवाक्ये चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४४ ॥

सबका संहार करनेवाला काल भी प्रलय के समय उसी ब्रह्म में लीन हो जाता है उसका रूप अत्यन्त अलख है; छुरे की धार की तरह अत्यन्त सूक्ष्म और पर्वत से भी अधिक बड़ा है। वह ब्रह्म विकार-हीन और सब प्राणियों का अधिष्ठाता है। यह देख पड़नेवाला पञ्चभूतों का प्रपञ्च वही है। वह ब्रह्म है, वह यश है, वह सर्वमय है, वह बृहत् है, वह रमणीय है। जैसे सुवर्ण से कुण्डल आदि गहने बनते हैं, घट अन्त को मृत्तिका में लीन हो जाता है, वैसे ही सब प्राणी और पदार्थ उसी से उत्पन्न होकर उसी में लीन हो जाते हैं। वह अद्वैत और जगदाकार महत् यश (सर्वव्यापक) है। पण्डित लोग कहते हैं कि उसका विकार नाममात्र को है, वास्तविक नहीं है। यह विश्व उसी में प्रतिष्ठित है। जो लोग उसे जानते हैं वे ही अमर हैं ॥२९-३१॥

—०—

उद्योगपर्व का चवालीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ४४ ॥

अथ पंचचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४५ ॥

सनत्सुजात उवाच—शोकः क्रोधश्च लोभश्च कामो मानः परासुता ।
ईर्ष्या मोहो विधित्सा च कृपाऽसूया जुगुप्सुता ॥ १ ॥
द्वादशैते महादोषा मनुष्यप्राणनाशनाः ।
एकैकमेते राजेंद्र मनुष्यान्पर्युपासते ।
यैराविष्टो नरः पापं मूढसंज्ञो व्यवस्यति ॥ २ ॥
स्पृहयालुरुग्रः परुषो वा वदान्यः क्रोधं बिभ्रन्मनसा वै विकत्थी ।

पैंतालीसवाँ अध्याय ॥ ४५ ॥

सनत्सुजात ने कहा—हे राजेन्द्र ! शोक, क्रोध, लोभ, काम, मोह, निद्रा, ईर्ष्या, अभिमान, विधित्सा, स्नेह, असूया और निन्दा, ये बारह दोष बहुत बड़े हैं। ये मनुष्य की मृत्यु के कारण हैं। इनमें से प्रत्येक दोष मनुष्यों को घेरता है। इन दोषों के आक्रमण से बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है और मनुष्य तरह-तरह के पाप करता है। स्पृहाशील, निर्दय, कठोर वचन बोलनेवाला, बकवादी, हृदय

दृष्ट्वैव पार्थेन हतं च नागं योधांश्च सर्वान्द्रवतो निशम्य ।
रथं समावृत्य कुरुप्रवीरो रणात्प्रदुद्राव यतो न पार्थः ॥ १४ ॥
तं भीमरूपं त्वरितं द्रवंतं दुर्योधनं शत्रुसहोऽभिषंगात् ।
प्रास्फोटयद्योद्धुमनाः किरीटी बाणेन विद्धं रुधिरं वमंतम् ॥ १५ ॥
अर्जुन उवाच-विहाय कीर्ति विपुलं यशश्च युद्धात्परावृत्य पलायसे किम् ।
न तेऽद्य तूर्याणि समाहतानि तथैव राज्यादवरोपितस्य ॥ १६ ॥
युधिष्ठिरस्याऽस्मि निदेशकारी पार्थस्तृतीयो युधि संस्थितोऽस्मि ।
तदर्थमावृत्य मुखं प्रयच्छ नरेन्द्रवृत्तं स्मर धार्त्तराष्ट्र ॥ १७ ॥
मोघं तवेदं भुवि नामधेयं दुर्योधनेतीह कृतं पुरस्तात् ।
नहीह दुर्योधनता तवाऽस्ति पलायमानस्य रणं विहाय ॥ १८ ॥
न ते पुरस्तादथ पृष्ठतो वा पश्यामि दुर्योधन रक्षितारम् ।
अपेहि युद्धात्पुरुषप्रवीर प्राणान्प्रियान्पांडवतोऽद्य रक्ष ॥ १९ ॥

इति श्रीमन्महाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोग्रहे दुर्योधनापयाने पञ्चषष्टितमोऽध्यायः॥ ६५ ॥

दुर्योधन व्याकुल हो गया और उस स्थान से भागने लगा। उस भयङ्कर वेषवाले, घायल, रक्त से भीगे हुए दुर्योधन को युद्ध-भूमि से भागते देखकर अर्जुन ने धिक्कार देते हुए कहा—॥१।१४॥

हे दुर्योधन! तू युद्ध-भूमि से भागकर अपनी भारी कीर्ति को मिट्टी में मिला रहा है। देख, तू अभी तक राज्य से भ्रष्ट नहीं हुआ और तेरे राज्य-भ्रष्ट होने की घोषणा भी अभी नहीं हुई है। मै यहां महाराज युधिष्ठिर की आज्ञा से ही युद्ध करने आया हूं। इसलिए लौटकर मेरे सामने आ। पहले की सब बातें स्मरण कर। तू यदि युद्ध-भूमि से भागा जा रहा है तो तेरा दुर्योधन नाम व्यर्थ है। इस समय मुझे तेरे आगे-पीछे या आस-पास कोई रक्षक अथवा सहायक नहीं देख पड़ता। अच्छी बात है, शीघ्र ही यहां से भागकर अपने प्राणों की रक्षा कर।१५।१९।

—०—

विराटपर्व का पैंसठवां अध्याय समाप्त हुआ॥ ६५ ॥

अथ षट्षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६६ ॥

वैशम्पायन उवाच–आहूयमानश्च स तेन संख्ये महात्मना वै धृतराष्ट्रपुत्रः ।
निवर्तितस्तस्य गिरांकुशेन महागजो मत्त इवांऽकुशेन ॥ १ ॥

छाछठवां अध्याय ॥ ६६ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! मस्त हाथी जैसे अंकुश की चोट खाकर लौटे वैसे ही अर्जुन के ये वाक्य सुनकर दुर्योधन लौट पड़ा। वह रथ पर चढ़कर फिर अर्जुन के सामने आया। सांप जैसे

तच्छुक्रं ज्योतिषां मध्येऽतप्तं तपति तापनम् ।
योगिनस्तं प्रपश्यंति भगवंतं सनातनम् ॥ २ ॥
अपोऽथ अद्भ्यः सलिलस्य मध्ये उभौ देवौ शिश्रियातेऽन्तरिक्षे ।
अतंद्रितः सवितुर्विवस्वानुभौ बिभर्ति पृथिवीं दिवं च ।
योगिनस्तं प्रपश्यंति भगवंतं सनातनम् ॥ ३ ॥
उभौ च देवौ पृथिवीं दिवं च दिशः शुक्रो भुवनं बिभर्ति ।
तस्माद्दिशः सरितश्च स्रवंति तस्मात्समुद्रा विहिता महांतः ।
योगिनस्तं प्रपश्यंति भगवंतं सनातनम् ॥ ४ ॥
चक्रे रथस्य तिष्ठंतोऽध्रुवस्याऽव्ययकर्मणः ।
केतुमंतं वहंत्यश्वास्तं दिव्यमजरं दिवि ।
योगिनस्तं प्रपश्यंति भगवंतं सनातनम् ॥ ५ ॥
न सादृश्ये तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चिदेनम् ।
मनीषयाऽथो मनसा हृदा च य एनं विदुरमृतास्ते भवंति ।
योगिनस्तं प्रपश्यंति भगवंतं सनातनम् ॥ ६ ॥
द्वादशपूगां सरितं पिबंती देवरक्षिताम् ।
मध्वीक्षन्तश्च ते तस्याःसञ्चरन्तीह घोराम् ।
योगिनस्तं प्रपश्यंति भगवंतं सनातनम् ॥ ७ ॥
तदर्धमासं पिबति संचित्य भ्रमरो मधु ।

पाते हैं। जीव और ईश्वर दोनों की अधिष्ठानभूमि हृदयाकाश है उनमें से एक मायाशून्य और सूर्य का भी प्रकाशक है; भूलोक और द्युलोक उसी में अधिष्ठित हैं। योगी लोग ही उस सनातन पुरुष का साक्षात्कार पाते हैं। भगवान् शुक्र पृथ्वी, आकाश, दिशा, भुवन और पूर्वोक्त दोनों देवों को धारण करते हैं। महासागर और सब नदियाँ उसी से निकली हैं और बहती हैं। योगी लोग ही उस सनातन भगवान् के दर्शन पाते हैं। इन्द्रियरूप घोड़ों से युक्त, कर्माधीन, नश्वर देहरूप रथ पर चढ़कर जीव उसी अजर अमर परमात्मा के पद को जाता है। योगी लोग ही उस सनातन भगवान् के दर्शन पाते हैं ॥१।५॥

उसका रूप सादृश्यरहित और चक्षु आदि इन्द्रियों से परे है। मन, बुद्धि और हृदय के द्वारा उसे जानने से मुक्ति मिलती है। योगी लोग ही उस सनातन भगवान् के दर्शन पाते हैं। चित्त स्मृति, श्रोत्र, श्रवण, वाक् वचन, शब्द, विपद्, प्राण, श्वपन, संस्कार और सुकृत से पूर्ण अविद्यारूपिणी दुस्तर नदी देवताओं द्वारा सुरक्षित होकर बहती है। जीवगण उसका जल पीकर, उसमें पुत्र आदि मधुर फलों को देखकर, तृप्त होते हैं और बारम्बार

दृष्ट्वैव पार्थेन हतं च नागं योधांश्च सर्वान्द्रवतो निशम्य ।
रथं समावृत्य कुरुप्रवीरो रणात्प्रदुद्राव यतो न पार्थः ॥ १४ ॥
तं भीमरूपं त्वरितं द्रवंतं दुर्योधनं शत्रुसहोऽभिषंगात् ।
प्रास्फोटयद्योद्धुमनाः किरीटी बाणेन विद्धं रुधिरं वमंतम् ॥ १५ ॥
अर्जुन उवाच-विहाय कीर्तिं विपुलं यशश्च युद्धात्परावृत्य पलायसे किम् ।
न तेऽद्य तूर्याणि समाहतानि तथैव राज्यादवरोपितस्य ॥ १६ ॥
युधिष्ठिरस्याऽस्मि निदेशकारी पार्थस्तृतीयो युधि संस्थितोऽस्मि ।
तदर्थमावृत्य मुखं प्रयच्छ नरेन्द्रवृत्तं स्मर धार्त्तराष्ट्र ॥ १७ ॥
मोघं तवेदं भुवि नामधेयं दुर्योधनेतीह कृतं पुरस्तात् ।
नहीह दुर्योधनता तवाऽस्ति पलायमानस्य रणं विहाय ॥ १८ ॥
न ते पुरस्तादथ पृष्ठतो वा पश्यामि दुर्योधन रक्षितारम् ।
अपेहि युद्धात्पुरुषप्रवीर प्राणान्प्रियान्पांडवतोऽद्य रक्ष ॥ १९ ॥

इति श्रीमन्महाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोग्रहे दुर्योधनापयाने पंचषष्टितमोऽध्याय ॥ ६५ ॥

दुर्योधन व्याकुल हो गया और उस स्थान से भागने लगा। उस भयङ्कर वेषवाले, घायल, रक्त से भीगे हुए दुर्योधन को युद्ध-भूमि से भागते देखकर अर्जुन ने धिक्कार देते हुए कहा—॥९।१४॥

हे दुर्योधन! तू युद्ध-भूमि से भागकर अपनी भारी कीर्ति को मिट्टी में मिला रहा है। देख, तू अभी तक राज्य से भ्रष्ट नहीं हुआ और तेरे राज्य-भ्रष्ट होने की घोषणा भी अभी नहीं हुई है। मैं यहां महाराज युधिष्ठिर की आज्ञा से ही युद्ध करने आया हूं। इसलिए लौटकर मेरे सामने आ। पहले की सब बातें स्मरण कर। तू यदि युद्ध भूमि से भागा जा रहा है तो तेरा दुर्योधन नाम व्यर्थ है। इस समय मुझे तेरे आगे-पीछे या आस पास कोई रक्षक अथवा सहायक नहीं देख पड़ता। अच्छी बात है, शीघ्र ही यहां से भागकर अपने प्राणों की रक्षा कर।१५।१९।

—०—

विराटपर्व का पैंसठवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ६५ ॥

अथ षट्षष्टितमोऽध्याय ॥ ६६ ॥

वैशम्पायन उवाच–आहूयमानश्च स तेन संख्ये महात्मना वै धृतराष्ट्रपुत्रः ।
निवर्तितस्तस्य गिरांकुशेन महागजो मत्त इवांऽकुशेन ॥ १ ॥

छाछठवां अध्याय ॥ ६६ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! मस्त हाथी जैसे अंकुश की चोट खाकर लौटे वैसे ही अर्जुन के ये वाक्य सुनकर दुर्योधन लौट पड़ा। वह रथ पर चढ़कर फिर अर्जुन के सामने आया। सांप जैसे

एवं यः सर्वभूतेषु आत्मानमनुपश्यति ।
अन्यत्राऽन्यत्र युक्तेषु किं स शोचेत्ततः परम् ॥ २५ ॥
यथोदपाने महति सर्वतः संप्लुतोदके ।
एवं सर्वेषु वेदेषु आत्मानमनुजानतः ॥ २६ ॥
अंगुष्ठमात्रः पुरुषो महात्मा न दृश्यतेऽसौ हृदि संनिविष्टः ।
अजश्चरो दिवा रात्रमतंद्रितश्च स तं मत्वा कविरास्ते प्रसन्नः ॥ २७ ॥
अहमेव स्मृतो माता पिता पुत्रोऽस्म्यहं पुनः ।
आत्माऽहमपि सर्वस्य यच्च नाऽस्ति यदस्ति च ॥ २८ ॥
पितामहोऽस्मि स्थविरः पिता पुत्रश्च भारत ।
ममैव यूयमात्मस्था न मे यूयं न वो वयम् ॥ २९ ॥
आत्मैव स्थानं मम जन्म चाऽऽत्मा ओतप्रोतोऽहमजरप्रतिष्ठः ।
अजश्चरो दिवारात्रमतंद्रितोऽहं मां विज्ञाय कविरास्ते प्रसन्नः ॥ ३० ॥
अणोरणीयान्सुमनाः सर्वभूतेषु जाग्रति ।
पितरं सर्वभूतेषु पुष्करे निहितं विदुः ॥ ३१ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि सनत्सुजातपर्वणि सनत्सुजातवाक्ये षट्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४६ ॥
समाप्तमिदं सनत्सुजातपर्व ॥

सनातन पुरुष को देखते हैं । ब्रह्मज्ञानी का हृदय निन्दा से तप्त नहीं होता । वेद के अध्ययन में मन न लगाना या अग्नि-होत्र न करना भी उसे सन्ताप नहीं पहुँचा सकता । ध्यानशील पुरुष को प्राप्त होनेवाली प्रज्ञा ब्रह्मविद्या के प्रभाव से शीघ्र ही मिल जाती है । योगीजन ही उस सनातन पुरुष के दर्शन पाते हैं ॥२१।२४॥

सब प्राणियों के आत्मतत्त्व को देखनेवाला पुरुष अन्य को विषयासक्त देखकर कभी शोकग्रस्त नहीं होता । विषयासक्त पुरुष ही शोक से व्याकुल होते हैं । जलाशय जैसे प्यासे की प्यास बुझाता है, वैसे ही सब वेद आत्मज्ञानी पुरुष के अभीष्ट को सिद्ध करते हैं । अंगुष्ठमात्र हृदयस्थ आत्मा को कोई नहीं देखता । वह जन्म और मोह आदि से रहित और ब्रह्माण्ड का नियामक है । विद्वान् लोग उसे जानकर निर्मल होते हैं । पिता, माता, पुत्र, भूत, भविष्य और वर्तमान का आत्मा, वृद्ध पितामह, प्रपितामह आदि सब मैं ही हूं । तुम मेरे आत्मा में स्थित हो । न मैं तुम्हारा हूँ और न तुम मेरे हो । आत्मा ही मेरी उत्पत्ति और स्थिति का स्थान है । मैं ओतप्रोतरूप से समग्र विश्व में व्याप्त हूँ । मेरा अधिष्ठान कभी विनाश को नहीं प्राप्त होता । मैं जन्म आदि से हीन होकर भी आलस्य छोड़कर दिन-रात विचरता रहता हूँ । आत्मजिज्ञासु और परिणामदर्शी पुरुष विशेष रूप से मुझे जानकर सन्ताप को प्राप्त होते हैं । सूक्ष्म से भी सूक्ष्म वह परमात्मा सभी प्राणियों के भीतर अन्तर्यामी रूप से विराजमान है । ब्रह्मज्ञानी लोग उस सर्वभूतजनक परमात्मा को हृदय-कमल के ऊपर विराजमान देखते हैं ॥२५।३१॥

—०—

उद्योगपर्व का छियालीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ४६ ॥

ततः पुनर्भीमरवं प्रगृह्य दोर्भ्यां महाशंखमुदारघोषम् ।
व्यनादयत्स प्रदिशो दिशः खं भुवं च पार्थो द्विषतां निहंता ॥ १० ॥
ते शंखनादेन कुरुप्रवीराः संमोहिताः पार्थसमीरितेन ।
उत्सृज्य चापानि दुरासदानि सर्वे तदा शांतिपरा बभूवुः ॥ ११ ॥
तथा विसंज्ञेषु च तेषु पार्थः स्मृत्वा च वाक्यानि तथोत्तरायाः ।
निर्याहि मध्यादिति मत्स्यपुत्रमुवाच यावत्कुरवो विसंज्ञाः ॥ १२ ॥
आचार्यशारद्वतयोः सुशुक्ले कर्णस्य पीतं रुचिरं च वस्त्रम् ।
द्रौणेश्च राज्ञश्च तथैव नीले वस्त्रे समादत्स्व नरप्रवीर ॥ १३ ॥
भीष्मस्य संज्ञा तु तथैव मन्ये जानाति सोऽस्त्रप्रतिघातमेषः ।
एतस्य वाहान्कुरु सव्यतस्त्वमेवं हि यातव्यममूढसंज्ञैः ॥ १४ ॥
रश्मीन्समुत्सृज्य ततो महात्मा रथादवप्लुत्य विराटपुत्रः ।
वस्त्राण्युपादाय महारथानां तूर्णं पुनः स्वं रथमारुरोह ॥ १५ ॥
ततोऽन्वशासच्चतुरः सदश्वान्पुत्रो विराटस्य हिरण्यकक्षान् ।
ते तद्व्यतीयुर्ध्वजिनामनीकं श्वेता वहंतोऽर्जुनमाजिमध्यात् ॥ १६ ॥
तथाऽनुयांतं पुरुषप्रवीरं भीष्मः शरैरभ्यहनत्तरस्वी ।
स चापि भीष्मस्य हयान्निहत्य विव्याध पार्थो दशभिः पृषत्कैः ॥ १७ ॥

बजाया। उसका शब्द दसों दिशाओं, पृथ्वी और आकाश में गूंज उठा। अर्जुन के शङ्खनाद और अस्त्र के प्रभाव से कौरव-पक्ष के सब वीर अचेत हो गये। अचेत हो जाने के कारण उनके हाथों से धनुष-बाण गिर पड़े। वे निश्चेष्ट होकर पृथ्वी पर गिर गये ॥८।११॥

उस समय अर्जुन को उत्तरा की बात स्मरण आ गई। उन्होंने उत्तर से कहा—हे वीर! इस समय कौरव-पक्ष के सब वीर अचेत हो गये हैं। इसलिए तुम शीघ्र जाकर द्रोणाचार्य और कृपाचार्य के श्वेत वस्त्र, कर्ण के पीले रङ्ग के वस्त्र और अश्वत्थामा तथा दुर्योधन के नीले रङ्ग के वस्त्र ले आओ। पितामह भीष्म इस सम्मोहन अस्त्र के संहार की युक्ति जानते हैं; इसी से, जान पड़ता है कि वे अचेत नहीं हुए। इसलिए तुम उनके रथ की बाईं ओर से सावधानी के साथ इन वीरों के वस्त्र लेने को जाओ ॥१२।१४॥

अब राजा विराट के पुत्र उत्तर ने घोड़ों की रास छोड़ दी। वह रथ से उतरकर द्रोण आदि वीरों के पास गया और महारथियों के वस्त्र लेकर वहाँ से फिर अर्जुन के रथ पर आ गया। अब उसने उन सुवर्ण-माला-भूषित श्वेत घोड़ों को हाँका। वे घोड़े उसी समय समरभूमि को छोड़कर लौट पड़े। इसी समय पराक्रमी भीष्मजी वेग से अर्जुन के ऊपर बाणों की वर्षा करने लगे। तब अर्जुन ने भूतल

शैनेयेन ध्रुवमात्तायुधेन धृष्टद्युम्नेनाऽथ शिखंडिना च ।
युधिष्ठिरेणेंद्रकल्पेन चैव योऽपध्यानान्निर्दहेद्द्यां दिवं च ॥ ९ ॥
तैश्चेद्योद्धुं मन्यते धार्तराष्ट्रो निर्वृत्तोऽर्थः सकलः पांडवानाम् ।
मा तत्कार्षीः पांडवस्याऽर्थहेतोरुपैहि युद्धं यदि मन्यसे त्वम् ॥ १० ॥
यां तां वने दुःखशय्यामवात्सीत्प्रव्राजितः पांडवो धर्मचारी ।
आप्नोतु तां दुःखतरामनर्थामन्त्यां शय्यां धार्तराष्ट्रः परासुः ॥ ११ ॥
ह्रिया ज्ञानेन तपसा दमेन शौर्येणाऽथो धर्मगुप्त्या धनेन ।
अन्यायवृत्तिः कुरुपाण्डवेयानध्यातिष्ठद्धार्तराष्ट्रो दुरात्मा ॥ १२ ॥
मायोपधः प्रणिपातार्जवाभ्यां तपोदमाभ्यां धर्मगुप्त्या बलेन ।
सत्यं ब्रुवन्प्रतिपन्नो नृपो नस्तितिक्षमाणः क्लिश्यमानोऽतिवेलम् ॥ १३ ॥
यदा ज्येष्ठः पांडवः संशितात्मा क्रोधं यत्तं वर्षपूगान्सुघोरम् ।
अवस्रष्टा कुरुपूद्वृत्तचेतास्तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ॥ १४ ॥
कृष्णवर्त्मेव ज्वलितः समिद्धो यथा दहेत्कक्षमग्निर्निदाघे ।
एवं दग्धा धार्तराष्ट्रस्य सेनां युधिष्ठिरः क्रोधदीप्तोऽन्ववेक्ष्य ॥ १५ ॥
यदा द्रष्टा भीमसेनं रथस्थं गदाहस्तं क्रोधविषं वमंतम् ।
अमर्षणं पांडवं भीमवेगं तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ॥ १६ ॥

सात्यकि, शस्त्रधारी धृष्टद्युम्न और शिखण्डी के साथ उनका युद्ध होगा; और इस युद्ध में वे इन्द्र-तुल्य धर्मराज युधिष्ठिर भी आयंगे जो अनायास स्वर्ग, पाताल और मनुष्यलोक को भस्म कर सकते हैं। यदि दुर्योधन इन वीरों के साथ युद्ध करना चाहेंगे तो अवश्य पाण्डवों के सब प्रयोजन सिद्ध होंगे। पाण्डवों के प्रयोजन की सिद्धि के लिए सन्धि के प्रस्ताव की कोई आवश्यकता नहीं। इच्छा हो तो युद्ध करें ॥९।१०॥

परम धार्मिक राजा युधिष्ठिर वनवास के लिए देश से निकाले जाकर वन में लगातार दुःसह दुःख-शय्या पर सोये हैं। दुर्योधन उनसे भी अधिक दुःख-दायक मृत्यु की अन्तिम शय्या पर सोकर प्राणत्याग करें। कपटी दुरात्मा दुर्योधन लोकलज्जा, ज्ञान, तप, दम, शूरता और धर्म की रक्षा आदि के द्वारा कभी पाण्डवों को हरा नहीं सके। किन्तु राजा युधिष्ठिर ने सरलता, तप, दम, शूरता, बल आदि से सम्पन्न और नम्र होकर भी केवल सत्य के ध्यान से दुःसह क्लेश सहे हैं ॥११।१२॥

जब विशुद्ध-हृदय महात्मा बड़े पाण्डव धर्मराज युधिष्ठिर उद्योग और उत्साह के साथ कौरवों पर पुराना क्रोध प्रकट करेंगे और गर्मियों की दोपहरी में प्रचण्ड अग्नि जैसे घास-फूस को जलाती है वैसे ही क्रोध से प्रज्वलित होकर वे जब दुर्योधन की सेना का

तान्प्रस्थितान्प्रीतमनाः स पार्थो धनंजयः प्रेक्ष्य कुरुप्रवीरान्।
अभाषमाणोऽनुनयं मुहूर्तं वचोऽब्रवीत्संपरिहृत्य भूयः ॥ २५ ॥
पितामहं शांतनवं च वृद्धं द्रोणं गुरुं च प्रणिपत्य मूर्ध्ना ।
द्रौणिं कृपं चैव कुरूंश्च मान्याञ्छरैर्विचित्रैरभिवाद्य चैव ॥ २६ ॥
दुर्योधनस्योत्तमरत्नचित्रं चिच्छेद पार्थो मुकुटं शरेण ।
आमंत्र्यवीरांश्च तथैव मान्यान्गांडीवघोषेण विनाद्य लोकान् ॥ २७ ॥
स देवदत्तं सहसा विनाद्य विदार्य वीरो द्विषतां मनांसि ।
ध्वजेन सर्वानभिभूय शत्रून्स हेममालेन विराजमानः ॥ २८ ॥
दृष्ट्वा प्रयातांस्तु कुरून्किरीटी हृष्टोऽब्रवीत्तत्र स मत्स्यपुत्रम् ।
आवर्त्तयाऽश्वान्पशवो जितास्ते याताः परे याहि पुरं प्रहृष्टः ॥ २९ ॥
देवास्तु दृष्ट्वा महदद्भुतं तद्युद्धं कुरूणां सह फाल्गुनेन ।
जग्मुर्यथास्वं भवनं प्रतीताः पार्थस्य कर्माणि विचिंतयंतः ॥ ३० ॥

इति श्रीमन्महाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोग्रहे समस्तकौरवपलायने षट्षष्टितमोऽध्यायः ॥६६॥

वृथा मोह में न पड़कर इस समय ऐसा उपाय सोचो कि जिसमें स्वार्थ की हानि न हो ॥१९।२२॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! पितामह से अपने हित के वचन सुनकर, मनोरथ पूर्ण न होने से लम्बी सांसें लेता हुआ, मानी क्रोधी दुर्योधन चुप रह गया। भीष्म के हित-वाक्य सुनकर और अभ्युदय को प्राप्त अग्निरूपी अर्जुन के तेज को देखकर और-और वीर पुरुषों ने भी युद्ध से हटना ही अच्छा समझा। वे दुर्योधन की रक्षा करते हुए लौटने को तैयार हो गये ॥२३।२४॥

श्रेष्ठ कुरुवीरों को लौटने के लिए तैयार देखकर अर्जुन ने पहले की तरह फिर बाणों से उन्हें प्रणाम किया। अर्जुन ने माथा नवाकर और बाणों के द्वारा भीष्म, द्रोण, अश्वत्थामा और कृपाचार्य को प्रणाम करके एक विचित्र बाण से दुर्योधन के सिर का मुकुट काट डाला। फिर अन्य वीरों से इसी प्रकार चलते समय का सम्भाषण करके उन्होंने अपने गाण्डीव धनुष के शब्द से त्रिभुवन को प्रतिध्वनित कर दिया।२५।२७।

अर्जुन के 'देवदत्त' शङ्ख के शब्द से शत्रुओं के हृदय मानों फटने लगे। अर्जुन की सुवर्ण-जाल भूषित ध्वजा को देखकर शत्रुओं के हृदय भय के मारे व्याकुल हो उठे। अब अर्जुन ने उत्तर से कहा—चलो, घोड़ों को लौटाओ। तुम्हारी सब गायें लौट गईं। देवता लोग भी कौरवों के साथ अकेले अर्जुन का अद्भुत युद्ध देखकर मन ही मन उनके अद्भुत पराक्रम को सोचते और उसी की चर्चा करते हुए प्रसन्नता से अपने-अपने लोक को गये ॥२८।३०॥

—०—

विराटपर्व का छाछठवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ६६ ॥

रणे हते कौरवाणां प्रवीरे शिखंडिना सत्तमे शांतनूजे ।
न जातु नः शत्रवो धारयेयुरसंशयं सत्यमेतद्ब्रवीमि ॥ ३९ ॥
यदा शिखंडी रथिनः प्रचिन्वन्भीष्मं रथेनाऽभियाता वरूथी ।
दिव्यैर्हयैरवमृद्नन्रथौघांस्तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ॥ ४० ॥
यदा द्रष्टा सृंजयानामनीके धृष्टद्युम्नं प्रमुखे रोचमानम् ।
अस्त्रं यस्मै गुह्यमुवाच धीमान्द्रोणस्तदा तप्स्यति धार्तराष्ट्रः ॥ ४१ ॥
यदा स सेनापतिरप्रमेयाः परामृद्गन्निषुभिर्धार्तराष्ट्रान् ।
द्रोणं रणे शत्रुसहोऽभियाता तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ॥ ४२ ॥
ह्रीमान्मनीषी बलवान्मनस्वी स लक्ष्मीवान्सोमकानां प्रवर्हः ।
न जातु तं शत्रवोऽन्ये सहेरन्येषां स स्यादग्रणीर्वृष्णिसिंहः ॥ ४३ ॥
इदं च ब्रूया मा वृणीष्वेति लोके युद्धेऽद्वितीयं सचिवं रथस्थम् ।
शिनेर्नप्तारं प्रवृणीम सात्यकिं महाबलं वीतभयं कृतास्त्रम् ॥ ४४ ॥
महोरस्को दीर्घबाहुः प्रमाथी युद्धेऽद्वितीयः परमास्त्रवेदी ।
शिनेर्नप्ता तालमात्रायुधोऽयं महारथो वीतभयः कृतास्त्रः ॥ ४५ ॥
यदा शिनीनामधिपो मयोक्तः शरैः परान्मेघ इव प्रवर्षन् ।

पछताना पड़ेगा ॥३७॥

जब मत्स्यराज के पुत्र महारथी उदारप्रकृति उत्तर कवच पहनकर युद्धभूमि में उतरेंगे, तब दुर्योधन को युद्ध के लिए पछताना पड़ेगा ॥३८॥

जब शिखण्डी कवच पहनकर, दिव्य घोड़ोंवाले रथ पर बैठकर, रथों को नष्ट-भ्रष्ट कर, रथी वीरों को खोजते हुए, पितामह भीष्म के ऊपर आक्रमण करेंगे, तब दुर्योधन को युद्ध के लिए पछताना पड़ेगा। मैं निश्चय के साथ कहता हूँ कि शिखण्डी के हाथ से कुरुश्रेष्ठ भीष्म का देहान्त होने पर पाण्डवों के शत्रुओं का अवश्य नाश होगा ॥३९।४०॥

बुद्धिमान् आचार्य द्रोण ने जिन्हें गुप्त अस्त्रों की शिक्षा दी है, उन धृष्टद्युम्न को जब दुर्योधन सृञ्जयसेना में देखेंगे, तब उन्हें अवश्य युद्ध के लिए पछताना पड़ेगा ॥४१॥

जब महाप्रतापी शत्रुदमन सेनापति धृष्टद्युम्न बाणवर्षा से धृतराष्ट्र के पुत्रों का संहार करते हुए द्रोणाचार्य के सामने उपस्थित होंगे, तब दुर्योधन को युद्ध के लिए पछताना पड़ेगा ॥४२॥

लज्जाशील, बुद्धिमान्, चतुर, मनस्वी, लक्ष्मी-सम्पन्न, वृष्णिवंशी श्रीकृष्ण जिनके प्रधान नेता हैं उनको कोई शत्रु नहीं हरा सकता ॥४३॥

दुर्योधन से जाकर तुम कहना कि वे राज्य पाने की आशा न करें; क्योंकि शिनि के पौत्र, निर्भय, अस्त्रविद्या में निपुण, महाबलवान्, पराक्रमी सात्यकि हमारे सहायक हैं ॥४४॥

शिनिवंश के वीर सात्यकि की छाती चौड़ी है, हाथ लम्बे हैं और उनका धनुष चार हाथ का

पितुः सकाशे तव तात सर्वे वसंति पार्था विदितं तवैव ।
तान्मा प्रशंसेर्नगरं प्रविश्य भीतः प्रणश्येद्धि स मत्स्यराजः ॥ ९ ॥
मया जिता सा ध्वजिनी कुरूणां मया च गावो विजिता द्विषद्भ्यः ।
पितुः सकाशे नगरं प्रविश्य त्वमात्मनः कर्म कृतं ब्रवीहि ॥ १० ॥
उत्तर उवाच—यत्ते कृतं कर्म न पारणीय तत्कर्म कर्त्तुं मम नास्ति शक्तिः ।
न त्वां प्रवक्ष्यामि पितुः सकाशे यावन्न मां वक्ष्यसि सव्यसाचिन् ११॥
वैशम्पायन उवाच—स शत्रुसेनामवजित्य जिष्णुराच्छिद्य सर्वं च धनं कुरुभ्यः ।
श्मशानमागत्य पुनः शमीं तामभ्येत्य तस्थौ शरविक्षतांगः । १२ ॥
ततः स वह्निप्रतिमो महाकपिः सहैव भूतैर्दिवमुत्पपात ।
तथैव माया विहिता बभूव ध्वजं च सैंहं युयुजे रथे पुनः॥ १३ ॥
विधाय तच्चाऽऽयुधमाजिवर्धनं कुरूत्तमानामिषुधीः शरांस्तथा ।
प्रायात्स मत्स्यो नगरं प्रहृष्टः किरीटिना सारथिना महात्मना॥ १४ ॥
पार्थस्तु कृत्वा परमार्यकर्म निहत्य शत्रून्द्विषतां निहंता ।
चकार वेणीं च तथैव भूयो जग्राह रश्मीन्पुनरुत्तरस्य ।
विवेश हृष्टो नगरं महामना बृहन्नलारूपमुपेत्य सारथिः ॥ १५ ॥
वैशम्पायन उवाच—ततो निवृत्ताः कुरवः प्रभग्ना वशमास्थिताः ।

उत्तर को गले लगाया और कहा—हे कुमार ! तुम तो यह जान गये हो कि पाण्डव लोग तुम्हारे पिता के यहा रहते हैं; किन्तु नगर में जाकर अभी यह बात प्रकट न करना । यदि वहा जाकर तुम एकाएक यह सूचना दे दोगे तो भय के मारे राजा विराट के मर जाने की आशङ्का है । हे कुमार ! तुम पिता के आगे जाकर कहना कि तुम्हीं ने कौरवों को हराकर उनसे गायें छीन ली हैं ॥९।१०॥

उत्तर ने कहा—हे वीर ! आपने जो यह अद्भुत काम किया है उसे करने की शक्ति मुझमें नहीं है । मैं इस समय इतना ही अङ्गीकार कर सकता हू कि आप जब तक अनुमति न देंगे तब तक आप की बात पिता के आगे प्रकट न करूगा ॥११॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! बाणों के लगने से घायल अर्जुन अब उसी शमीवृक्ष के नीचे पहुचे । तब अग्नि के समान प्रभाशाली महावानर और भूतगण दैवी माया के साथ स्वर्ग को चले गये । अब वहीं पहले की सिंहचिह्नयुक्त ध्वजा उस रथ पर लगा दी गई । अर्जुन की आज्ञा से उत्तर ने वे तरकस, बाण, धनुष आदि दिव्य शस्त्र फिर उसी पेड पर उसी तरह रख दिये । अब प्रसन्नतापूर्वक वह, वीर अर्जुन के साथ, मत्स्यनगर को चला । अर्जुन फिर वही वेषधारी बृहन्नला का वेष बनाकर सारथी बन गये ॥१२।१५॥

वव्रे चाऽहं वज्रहस्तान्महेन्द्रादस्मिन्युद्धे वासुदेवं सहायम् ।
स मे लब्धो दस्युवधाय कृष्णो मन्ये चैतद्विहितं दैवतैर्मे ॥ ६९ ॥
अयुद्ध्यमानो मनसाऽपि यस्य जयं कृष्णः पुरुषस्याऽभिनंदेत् ।
एवं सर्वान्स व्यतीयादमित्रान्सेंद्रान्देवान्मानुषे नास्ति चिंता ॥ ७० ॥
स बाहुभ्यां सागरमुत्तितीर्षेन्महोदधिं सलिलस्याऽप्रमेयम् ।
तेजस्विनं कृष्णमत्यंतशूरं युद्धेन यो वासुदेवं जिगीषेत् ॥ ७१ ॥
गिरिं य इच्छेत्तु तलेन भेत्तुं शिलोच्चयं श्वेतमतिप्रमाणम् ।
तस्यैव पाणिः सनखो विशीर्येन्न चापि किंचित्स गिरेस्तु कुर्यात् ॥ ७२ ॥
अग्निं समिद्धं शमयेद्भुजाभ्यां चंद्रं च सूर्यं च निवारयेत ।
हरेद्देवानाममृतं प्रसह्य युद्धेन यो वासुदेवं जिगीषेत् ॥ ७३ ॥
यो रुक्मिणीमेकरथेन भोजानुत्साद्य राज्ञः समरे प्रसह्य ।
उवाह भार्यां यशसा ज्वलंतीं यस्यां जज्ञे रौक्मिणेयो महात्मा ॥ ७४ ॥
अयं गांधारांस्तरसा संप्रमथ्य जित्वा पुत्रान्नग्नजितः समग्रान् ।
बद्धं मुमोच विनदंतं प्रसह्य सुदर्शनं वै देवतानां ललामम् ॥ ७५ ॥

आकर मुझसे कहा—हे अर्जुन ! तुम्हें दुष्कर कर्म करना है, अपने शत्रुओं के साथ युद्ध करना है। तुम क्या चाहते हो ? उच्चैःश्रवा घोड़े पर बैठकर हाथ में वज्र लिये इन्द्र आगे-आगे तुम्हारे शत्रुओं का नाश करते चलें, अथवा सुग्रीव आदि घोड़ों से युक्त दिव्य रथ पर बैठे भगवान् श्रीकृष्ण तुम्हारी रक्षा करते हुए पीछे चलें ? ॥६७।६८॥

तब मैंने वज्रपाणि इन्द्र को छोड़कर इस युद्ध में सहायक रूप से श्रीकृष्ण को ही स्वीकार किया। दस्युवध के लिए श्रीकृष्ण को मैंने अपना सहायक पाया है। मैं समझता हूँ, यह घटना देवताओं की इच्छा से ही हुई है ॥६९॥

श्रीकृष्ण युद्ध न करके मन से ही जिसकी जय चाहें वह इन्द्र-सहित सब देवताओं को भी जीत सकता है। मनुष्यों की तो बात ही क्या है ॥७०॥

तेजस्वी और शूर श्रीकृष्ण को जीतने की इच्छा करना और अपार समुद्र के जल को हाथों से तैर जाना एक सा असम्भव है। जो पुरुष बड़े भारी श्वेत पर्वत (हिमालय) को, तोड़ डालने के लिए, घूँसे मारता है उसी का हाथ चूर-चूर हो जाता है, पर्वत का कुछ नहीं बिगड़ता ॥७१।७२॥

श्रीकृष्ण को जो युद्ध में जीतना चाहता है वह जलती हुई अग्नि को हाथों से बुझाना चाहता है, चन्द्र सूर्य की गति को रोकना चाहता है और बलपूर्वक देवताओं से अमृत छीन लेना चाहता है ।७३।

महात्मा श्रीकृष्ण अकेले जाकर सब राजाओं को और बड़े रुक्मी को जीतकर बल-पूर्वक यशस्विनी रुक्मिणी को हर लाये हैं। उन्हीं रुक्मिणी के गर्भ से महात्मा प्रद्युम्न का जन्म हुआ है ॥७४॥

श्रीकृष्ण ने एकाएक गान्धार देशवासियों को

अशोभत महाराज सहपार्थैः श्रिया वृतः ॥ २ ॥
तमासनगतं वीरं सुहृदां हर्षवर्द्धनम् ।
उपासांचक्रिरे सर्वे सह पार्थैः परंतपाः ॥ ३ ॥
उपतस्थुः प्रकृतयः समस्ता ब्राह्मणैः सह ।
सभाजितः ससैन्यस्तु प्रतिनंद्याऽथ मत्स्यराट् ॥ ४ ॥
विसर्जयामास तदा द्विजांश्च प्रकृतींस्तथा ।
तथा स राजा मत्स्यानां विराटो वाहिनीपतिः ॥ ५ ॥
उत्तरं परिपप्रच्छ क यात इति चाऽब्रवीत् ।
आचख्युस्तस्य तत्सर्वं स्त्रियः कन्याश्च वेश्मनि ॥ ६ ॥
अंतःपुरचराश्चैव कुरुभिर्गोधनं हृतम् ।
विजेतुमभिसंरब्ध एकएवाति साहसात् ।
बृहन्नलासहायश्च निर्गतः पृथिवींजयः ॥ ७ ॥
उपयानानतिरथान्भीष्मं शांतनवं कृपम् ।
कर्णं दुर्योधनं द्रोणं द्रोणपुत्रं च षड्रथान् ॥ ८ ॥

वैशम्पायन उवाच–राजा विराटोऽथ भृशाभितप्तः श्रुत्वा सुतं त्वेकरथेन यातम् ।
बृहन्नलासारथिमाजिवर्धनं प्रोवाच सर्वानथ मंत्रिमुख्यान् ॥ ९ ॥
सर्वथा कुरवस्ते हि ये चाऽन्ये वसुधाधिपाः ।
त्रिगर्तान्निःसृताञ्श्रुत्वा न स्थास्यंति कदाचन ॥ १० ॥

अड़सठवां अध्याय ॥ ६८ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! संग्राम में त्रिगर्त-नरेश को हराकर, बहुत सा धन और गोधन छीनकर, राजा विराट चारों पाण्डवों के साथ प्रसन्नतापूर्वक अपने नगर में आये । सब प्रजा और ब्राह्मण लोग विराट को आगे से लेने के लिए आये । उन्होंने राजा विराट की जयध्वनि की । राजा ने भी उनका अभिनन्दन किया । [रनिवास के पास पहुंचकर] राजा ने सबको विदा कर दिया । विराट-देश की विशाल सेना के स्वामी राजा विराट ने रनिवास में जाकर पूछा कि प्यारे कुमार उत्तर कहां गये हैं । रानी और राजकुमारियों ने कहा—हे महाराज ! आपकी उत्तर ओर की गोशाला की सब गायों को भीष्म, कृप, कर्ण आदि महारथी कौरव लोग हर ले गये हैं ॥१।८॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! यह सूचना पाते ही कुपित होकर साहस के साथ विजय पाने के लिए, केवल बृहन्नला को साथ ले, राजकुमार उनसे युद्ध करने गये हैं । यह सूचना पाकर राजा विराट को बड़ा खेद हुआ । उन्होंने उसी समय मन्त्रियों को बुलाकर कहा—हे मन्त्रियो ! मुझे जान

अप्येवं नो ब्राह्मणाः संति वृद्धा बहुश्रुताः शीलवन्तः कुलीनाः।
सांवत्सरा ज्योतिषि चाऽभियुक्ता नक्षत्रयोगेषु च निश्चयज्ञाः ॥ ९८ ॥
उच्चावचं दैवयुक्तं रहस्यं दिव्याः प्रश्ना मृगचक्रा मुहूर्ताः ।
क्षयं महांतं कुरुसृंजयानां निवेदयन्ते पांडवानां जयं च ॥ ९९ ॥
यथा हि नो मन्यतेऽजातशत्रुः संसिद्धार्थो द्विषतां निग्रहाय ।
जनार्दनश्चाऽप्यपरोक्षविद्यो न संशयं पश्यति वृष्णिसिंहः ॥ १०० ॥
अहं तथैवं खलु भावि रूपं पश्यामि बुद्धया स्वयमप्रमत्तः ।
दृष्टिश्च मे न व्यथते पुराणी संयुध्यमाना धार्तराष्ट्रा न सन्ति॥ १०१ ॥
अनालब्धं जृंभति गांडिवं धनुरनाहता कंपति मे धनुर्ज्या ।
बाणाश्च मे तूणमुखाद्विसृत्य मुहुर्मुहुर्गंतुमुशंति चैव ॥ १०२ ॥
खड्गः कोशान्निःसरति प्रसन्नो हित्वेव जीर्णामुरगस्त्वचं स्वाम्।
ध्वजे वाचो रौद्ररूपा भवन्ति कदा रथो योक्ष्यते ते किरीटिन् ॥ १०३ ॥
गोमायुसंघाश्च नदंति रात्रौ रक्षांस्यथो निष्पतंत्यंतरिक्षात् ।
मृगाः शृगालाः शितिकंठाश्च काका गृध्रा बकाश्चैव तरक्षवश्च ॥ १०४ ॥
सुवर्णपत्राश्च पतंति पश्चाद् दृष्ट्वा रथं श्वेतहयप्रयुक्तम् ।

धृतराष्ट्र का एक भी पुत्र जीता नहीं बचेगा। हां, यदि वे युद्ध छोड़कर कहीं भाग जायँ तो उनकी आयु हो सकती है। कर्ण-सहित सब कुरुवंश का संहार करके मैं कुरुराज्य को जीतूँगा। युद्ध जब तक नहीं छिड़ता तब तक तुम लोग प्यारी स्त्रियों से मिल लो और ऐश्वर्य सुख भोग लो। हम लोगों के निकट वृद्ध, बहुत शास्त्रों के पण्डित, कुलशील-युक्त, संवत्सर-फल, नक्षत्रों के योग और ज्योतिष के रहस्य जाननेवाले जो ब्राह्मण हैं वे कह रहे हैं और दैवरहस्य, होनी की सूचना देनेवाले प्रश्न, मृगसमूह देख पड़ने के शकुन और मुहूर्त जना रहे हैं कि कुरु और सृञ्जय देश के योद्धाओं का बड़ा भारी नाश होने के साथ ही कौरवों का संहार होगा, और पाण्डवों को विजयलक्ष्मी प्राप्त होगी। हमारे नेता अजातशत्रु अपने पक्ष को शत्रु-दमन के लिए समर्थ समझते हैं और सर्वज्ञ श्रीकृष्ण भी हमारी जीत के बारे में निःसन्देह हैं ॥९८।१००॥

मैं भी शुद्ध हृदय से ज्ञानदृष्टि के द्वारा होनेवाले, शत्रुओं के संहार को और अपनी जीत को देख रहा हूँ। मेरी दृष्टि योगबल से अमोघ है। मुझे निश्चय है कि युद्ध करने से एक भी कौरव जीता नहीं बचेगा। मेरा गाण्डीव धनुष बिना छुए ही शब्दायमान होता है, उसकी डोरी बिना चढ़ाये ही हिल रही है। बाण बार ही बार तर्कशों से बाहर निकले से पड़ते हैं। हम लोगों के पैने खड्ग, केंचुल छोड़े हुए नागों की तरह, चमकते हुए म्यान से बाहर निकले पड़ते हैं। ध्वजा के ऊपर से ये भयङ्कर

सर्वा विनिर्जिता गावः कुरवश्च पराजिताः ।
उत्तरः सह सूतेन कुशली च परंतपः ॥ १९ ॥

युधिष्ठिर उवाच—दिष्ट्या विनिर्जिता गावः कुरवश्च पलायिताः ।
नाऽद्भुतं त्वेव मन्येऽहं यत्ते पुत्रोऽजयत्कुरून् ॥ २० ॥
ध्रुव एव जयस्तस्य यस्य यंता बृहन्नला ।

वैशम्पायन उवाच—ततो विराटो नृपतिः संप्रहृष्टतनूरुहः ॥ २१ ॥
श्रुत्वा स विजयं तस्य कुमारस्याऽमितौजसः ।
आच्छादयित्वा दूतांस्तान्मंत्रिणं सोऽभ्यनन्दयत् ॥ २२ ॥
राजमार्गाः क्रियंतां मे पताकाभिरलंकृताः ।
पुष्पोपहारैरर्च्यंतां देवताश्चापि सर्वशः ॥ २३ ॥
कुमारा योधमुख्याश्च गणिकाश्च स्वलंकृताः ।
वादित्राणि च सर्वाणि प्रत्युद्यांतु सुतं मम ॥ २४ ॥
घंटावान्मानवः शीघ्रं मत्तमारुह्य वारणम् ।
श्रृंगाटकेषु सर्वेषु आख्यातु विजयं मम ॥ २५ ॥
उत्तरा च कुमारीभिर्बह्वीभिः परिवारिता ।
श्रृंगारवेषाभरणा प्रत्युद्यातु सुतं मम ॥ २६ ॥

वैशम्पायन उवाच—श्रुत्वा चेदं वचनं पार्थिवस्य सर्वं पुरं स्वस्तिकपाणिभूतम् ।
भेर्यश्च तूर्याणि च वारिजाश्च वेषैः परार्ध्यैः प्रमदाः शुभाश्च ॥ २७ ॥

मन्त्री ने विराट को विजय की सूचना सुनाकर कहा—हे राजेन्द्र ! राजकुमार उत्तर सब कौरवों को हराकर, सब गायें छीनकर, सारथी के साथ प्रसन्नतापूर्वक लौटे आ रहे हैं ॥१७।१९॥

तब राजा युधिष्ठिर ने कहा—हे राजेन्द्र ! आज भाग्यबल से कौरव हराये गये और आपकी गायें लौट आई हैं। जो हो, यह कुछ बड़े आश्चर्य की बात नहीं हुई जो आपके कुमार ने कौरवों को परास्त कर दिया। बृहन्नला जिसका सारथी है उसे जीतनाही चाहिए॥२०॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! प्रसन्नता के मारे विराट के शरीर में रोमाञ्च हो आया। उन्होंने सूचना लानेवाले दूतों को बहुत सा पुरस्कार देकर मन्त्रियों से कहा—अभी सड़कों पर पताकाएं फहराने की आज्ञा दो। फूल-माला आदि से देवताओं की पूजा कराओ। योद्धा लोग, श्रृङ्गार किये हुए वेश्याएं, बालक और बाजेवाले आगे से आकर मेरे पुत्र का सम्मान करें। मूल्यवान् हाथी पर बैठकर, चौराहों पर आकर, ढिंढोरा पीटनेवाला मेरी विजय की घोषणा करे। कुमारियों-सहित उत्तरा कुमारी, सुन्दर वस्त्र और आभूषण पहनकर, उत्तर की अग-

अजेयौ मानुषे लोके सेंद्रैरपि सुरासुरैः ।
एष नारायणः कृष्णः फाल्गुनश्च नरः स्मृतः ।
नारायणो नरश्चैव सत्त्वमेकं द्विधा कृतम् ॥ २० ॥
एतौ हि कर्मणा लोकानश्नुवातेऽक्षयान्ध्रुवान् ।
तत्र तत्रैव जायेते युद्धकाले पुनःपुनः ॥ २१ ॥
तस्मात्कर्मैव कर्तव्यमिति होवाच नारदः ।
एतद्धि सर्वमाचष्ट वृष्णिचक्रस्य वेदवित् ॥ २२ ॥
शंखचक्रगदाहस्तं यदा द्रक्ष्यसि केशवम् ।
पर्याददानं चाऽस्त्राणि भीमधन्वानमर्जुनम् ॥ २३ ॥
सनातनौ महात्मानौ कृष्णावेकरथे स्थितौ ।
दुर्योधन तदा तात स्मर्ताऽसि वचनं मम ॥ २४ ॥
नो चेदयमभावः स्यात् कुरूणां प्रत्युपस्थितः ।
अर्थाच्च तात धर्माच्च तव बुद्धिरुपप्लुता ॥ २५ ॥
न चेद्ग्रहीष्यसे वाक्यं श्रोताऽसि सुबहून्हतान् ।
तवैव हि मतं सर्वे कुरवः पर्युपासते ॥ २६ ॥
त्रयाणामेव च मतं तत्त्वमेकोऽनुमन्यसे ।
रामेण चैव शप्तस्य कर्णस्य भरतर्षभ ॥ २७ ॥
दुर्जातेः सूतपुत्रस्य शकुनेः सौबलस्य च ।

नहीं कहता। मैंने वेदज्ञ नारद मुनि से सुना है कि महावीर अर्जुन वही पूर्वदेव नर हैं और भगवान् श्रीकृष्ण ही पूर्वदेव नारायण हैं। एक ईश्वर ने नर और नारायण नाम से दो रूप धारण किये हैं ॥१६।२०॥

इन्द्र आदि देवता, असुर अथवा मनुष्य कभी इन्हें नहीं हरा सकते। इन दोनों सनातन ऋषियों ने अपने कर्मों से अक्षय लोक प्राप्त किये हैं। जब जहां घोर युद्ध अनिवार्य होता है तब वहां ये जन्म लेकर शिष्टों का पालन और दुष्टों का दमन करते हैं। युद्ध ही इनका कर्तव्य है ॥२१।२२॥

हे दुर्योधन! तुम जब शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मधारी भगवान् कृष्ण को और गाण्डीव धनुष धारण करने-वाले महाबाहु अर्जुन को एक रथ पर बैठे देखोगे तब तुम्हें मेरा कहा स्मरण आवेगा। मेरा कहा न मानोगे तो निःसन्देह कुरुकुल का सर्वनाश हो जायगा। महाबाहु श्रीकृष्ण और अर्जुन ने बहुत से वीरों को मारा है। यह सुनकर भी जो तुम मेरा कहा न मानोगे तो निस्सन्देह तुम्हारी बुद्धि धर्म और अर्थ से भ्रष्ट हो गई है। सब कौरव तुम्हारे

राज्यं हारितवान्सर्वं तस्माद् द्यूतं न रोचये ।
अथवा मन्यसे राजन्दीव्याम यदि रोचते ॥ ३५ ॥
वैशम्पायन उवाच—प्रवर्त्तमाने द्यूते तु मत्स्यः पांडवमब्रवीत् ।
पश्य पुत्रेण मे युद्धे तादृशाः कुरवो जिताः ॥ ३६ ॥
ततोऽब्रवीन्महात्मा स एनं राजा युधिष्ठिरः ।
बृहन्नला यस्य यंता कथं स न जयेद्युधि ॥ ३७ ॥
इत्युक्तः कुपितो राजा मत्स्यः पांडवमब्रवीत् ।
समं पुत्रेण मे षंढं ब्रह्मबंधो प्रशंससि ॥ ३८ ॥
वाच्यावाच्यं न जानीषे नूनं मामवमन्यसे ।
भीष्मद्रोणमुखान्सर्वान्कस्मान्न स विजेष्यति ॥ ३९ ॥
वयस्यत्वात्तु ते ब्रह्मन्नपराधमिमं क्षमे ।
नेदृशं तु पुनर्वाच्यं यदि जीवितुमिच्छसि ॥ ४० ॥
युधिष्ठिर उवाच—यत्र द्रोणस्तथा भीष्मो द्रौणिर्वैकर्त्तनः कृपः ।
दुर्योधनश्च राजेन्द्रस्तथाऽन्ये च महारथाः ॥ ४१ ॥

क्या उपकार होगा ? मैं तो समझता हूं कि इस समय जुआ न खेलना ही ठीक है । आपने सुना होगा कि पाण्डव युधिष्ठिर इस जुए के कारण ही देवता-सदृश भाइयों को और अपने विपुल साम्राज्य को खो बैठे हैं । इसी से जुआ खेलना मुझे अच्छा नहीं लगता । अथवा, जो आपकी ऐसी ही इच्छा हुई है तो कहिए, मैं इस समय आपके साथ चौसर खेलूं ॥३३।३५॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! विराट के अधिक आग्रह से चौसर का खेल होने लगा । विराट ने राजा युधिष्ठिर से कहा—"हे कङ्क ! देखो, आज मेरे बेटे ने ऐसे-ऐसे बड़े कौरव-वीरों को युद्ध में सहज ही हरा दिया ।" युधिष्ठिर ने फिर वही बात कही कि महाराज ! बृहन्नला जिसका सारथी है वह अवश्य युद्ध में जय प्राप्त करेगा । युधिष्ठिर के मुंह से बारम्बार यही बात सुनकर राजा विराट को क्रोध चढ़ आया । उन्होंने कुपित होकर कहा—हे कङ्क ! युद्ध में मेरा बेटा उत्तर भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य आदि कौरव-वीरों को क्यों नहीं हरा सकता ! हे अधम ब्राह्मण ! तुम एक नपुंसक की तुलना मेरे पुत्र के साथ कर रहे हो ! तुम्हें यह ज्ञान नहीं कि क्या कहना चाहिए और क्या न कहना चाहिए । अनुचित तुलना करके इस समय तुम मेरा अपमान कर रहे हो । अच्छा, सखा समझकर मैं तुम्हारे अपराध को क्षमा किये देता हूं किन्तु जीते रहने की इच्छा हो तो फिर कभी ऐसी बात मुख से न निकालना । ॥३६।४०॥

युधिष्ठिर ने कहा—हे महाराज ! आचार्य द्रोण, पितामह भीष्म, अश्वत्थामा, कृपाचार्य, कर्ण, दुर्योधन

निकृत्या कोपितं मदैर्धर्मज्ञं धर्मचारिणम् ॥ ३ ॥

संजय उवाच—राज्ञो मुखमुदीक्षंते पांचालाः पांडवैः सह ।
युधिष्ठिरस्य भद्रं ते स सर्वाननुशास्ति च ॥ ४ ॥
पृथग्भूताः पांडवानां पांचालानां रथव्रजाः ।
आयांतमभिनंदंति कुंतीपुत्रं युधिष्ठिरम् ॥ ५ ॥
नभः सूर्यमिवोद्यंतं कौन्तेयं दीप्ततेजसम् ।
पांचालाः प्रतिनंदंति तेजोराशिमिवोदितम् ॥ ६ ॥
आगोपालाविपालाश्च नंदमाना युधिष्ठिरम् ।
पांचालाः केकया मत्स्याः प्रतिनंदन्ति पांडवम् ॥ ७ ॥
ब्राह्मण्यो राजपुत्र्यश्च विशां दुहितरश्च याः ।
क्रीडन्त्योऽभिसमायाति पार्थं सन्नद्धमीक्षितुम् ॥ ८ ॥

धृतराष्ट्र उवाच—संजयाऽऽचक्ष्व ये नाऽस्मान्पांडवा अभ्ययुंजत।
धृष्टद्युम्नस्य सैन्येन सोमकानां बलेन च ॥ ९ ॥

वैशम्पायन उवाच—गावल्गणिस्तु तत् पृष्टः सभायां कुरुसंसदि ।
निःश्वस्य सुभृशं दीर्घं मुहुः संचिंतयन्निव ॥ १० ॥
तत्राऽनिमित्ततो दैवात्सूतं कश्मलमाविशत् ।
तदाऽऽचचक्षे विदुरः सभायां राजसंसदि ॥ ११ ॥

को कुपित कर रक्खा है। धर्मज्ञ और धर्मात्मा युधिष्ठिर को शान्ति का उपदेश देकर युद्ध से रोकनेवाले कौन-कौन हैं? ॥१।३॥

सञ्जय ने कहा—हे राजेन्द्र! चारों पाण्डव और धृष्टद्युम्न आदि पाञ्चालगण राजा युधिष्ठिर के मुख से युद्ध की आज्ञा पाने की राह देख रहे हैं। युधिष्ठिर भी सबको यथोचित उद्योग के बारे में आज्ञाएं दिया करते हैं। जब युधिष्ठिर आते हैं तब पाञ्चाल वीरों के रथ उनका अभिनन्दन करते हैं। आकाश में उदय हो रहे सूर्य के समान तेजस्वी युधिष्ठिर की उपासना में सब पाञ्चालगण और पाण्डव लगे रहते हैं। पाञ्चाल, केकय और मत्स्य-देश के अहीर-गड़रिये तक महाराज युधिष्ठिर के भक्त हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य जाति की कन्याएं युद्ध के वेष में अर्जुन को देखने के लिए क्रीड़ा करती हुई चारों ओर से आती हैं ॥४।८॥

धृतराष्ट्र ने पूछा—हे सञ्जय! पाण्डवों ने धृष्टद्युम्न और सोमकों की कितनी सेना हमसे युद्ध करने के लिए एकत्र की है? ॥९॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! कुरुसभा में धृतराष्ट्र का यह प्रश्न सुनकर सञ्जय चिन्तित होकर लम्बी सांसें लेने लगे और खेद के मारे अचेत होकर

अथोत्तरः शुभैर्गन्धैर्माल्यैश्च विविधैस्तथा ।
अवकीर्यमाणः संहृष्टो नगरं स्वैरमागतः ॥ ५० ॥
सभाज्यमानः पौरैश्च स्त्रीभिर्जानपदैस्तथा ।
आसाद्य भवनद्वारं पित्रे संप्रत्यवेदयत् ॥ ५१ ॥
ततो द्वास्थः प्रविश्यैव विराटमिदमब्रवीत् ।
बृहन्नलासहायश्च पुत्रो द्वार्युत्तरः स्थितः ॥ ५२ ॥
ततो हृष्टो मत्स्यराजः क्षत्तारमिदमब्रवीत् ।
प्रवेश्यतामुभौ तूर्णं दर्शनेप्सुरहं तयोः ॥ ५३ ॥
क्षत्तारं कुरुराजस्तु शनैः कर्णमुपाजपत् ।
उत्तरः प्रविशत्वेको न प्रवेश्या बृहन्नला ॥ ५४ ॥
एतस्य हि महाबाहो व्रतमेतत्समाहितम् ।
यो ममाऽङ्गे व्रणं कुर्याच्छोणितं वाऽपि दर्शयेत् ।
अन्यत्र संग्रामगतान्न स जीवेत्कथंचन ॥ ५५ ॥
न मृष्याद्भृशसंक्रुद्धो मां दृष्ट्वा तु सशोणितम् ।
विराटमिह सामात्यं हन्यात्सबलवाहनम् ॥ ५६ ॥
वैशम्पायन उवाच—ततो राज्ञः सुतो ज्येष्ठः प्राविशत्पृथिवींजयः ।
सोऽभिवाद्य पितुः पादौ कंकं चाऽप्युपतिष्ठत ॥ ५७ ॥

उधर चन्दन-माला आदि से अलङ्कृत और सम्मानित होकर उत्तर प्रसन्नतापूर्वक नगर में आया । नगर की और राज्य की प्रजा ने उसका अभिनन्दन किया । इस प्रकार राजभवन के द्वार पर पहुँचकर उत्तर ने पिता के पास सूचना देने के लिए द्वारपाल को भेजा । राजकुमार की आज्ञा से द्वारपाल ने विराट के पास जाकर कहा—हे महाराज ! विजयी राजकुमार, बृहन्नला के साथ, द्वार पर आ गये हैं । पुत्र के आने की सूचना से अत्यन्त प्रसन्न होकर विराट ने कहा—हे द्वारपाल ! तुम उन दोनों को अभी मेरे पास ले आओ । उन्हें देखने के लिए मैं बड़ा ही उत्कण्ठित हो रहा हूँ । तब धर्मराज युधिष्ठिर ने चुपके से द्वारपाल के कान में कहा—तुम जाकर अकेले उत्तर को यहां ले आओ । बृहन्नला यहां न आने पावे, क्योंकि उसकी प्रतिज्ञा है कि जो कोई युद्ध के सिवा अन्य समय मेरे (युधिष्ठिर के) शरीर में घाव करेगा या मेरा रुधिर निकालेगा, उसे वह कभी जीता न रहने देगा । इस कारण यदि बृहन्नला यहां आकर मेरे शरीर से रक्त बहता देखेगा तो मन्त्री-सेना-वाहन आदि सहित राजा विराट को मार डालेगा ॥५०।५६॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! इसी समय उत्तर ने सभा-भवन में जाकर पिता के

महेष्वासा राजपुत्रा भ्रातरः पंच केकयाः ।
आमुक्तकवचाः शूरास्तैश्च वस्तेऽभ्ययुंजत ॥ ३८ ॥
यो दीर्घबाहुः क्षिप्रास्त्रो धृतिमान्सत्यविक्रमः ।
तेन वो वृष्णिवीरेण युयुधानेन संगरः ॥ ३९ ॥
य आसीच्छरणं काले पांडवानां महात्मनाम् ।
रणे तेन विराटेन भविता वः समागमः ॥ ४० ॥
यः स काशिपती राजा वाराणस्यां महारथः ।
स तेपामभवद्योद्धा तेन वस्तेऽभ्ययुंजत ॥ ४१ ॥
शिशुभिर्दुर्जयैः संख्ये द्रौपदेयैर्महात्मभिः ।
आशीविषसमस्पर्शैः पांडवा अभ्ययुंजत ॥ ४२ ॥
यः कृष्णसदृशो वीर्ये युधिष्ठिरसमो दमे ।
तेनाऽभिमन्युना संख्ये पांडवा अभ्ययुंजत ॥ ४३ ॥
यश्चैवाऽप्रतिमो वीर्ये धृष्टकेतुर्महायशाः ।
दुःसहः समरे क्रुद्धः शैशुपालिर्महारथः ॥ ४४ ॥
तेन वश्चेदिराजेन पांडवा अभ्ययुंजत ।
अक्षौहिण्या परिवृतः पांडवान्योऽभिसंश्रितः ॥ ४५ ॥
यः संश्रयः पांडवानां देवानामिव वासवः ।
तेन वो वासुदेवेन पांडवा अभ्ययुंजत ॥ ४६ ॥
तथा चेदिपतेर्भ्राता शरभो भरतर्षभ ।

केकय देश के पांच महारथी राजकुमार भी कौरवों से युद्ध करने के लिए तैयार हैं ॥३८॥

दीर्घबाहु, फुरतीले, धीर और सत्यपरायण वृष्णिश्रेष्ठ महावीर सात्यकि युद्ध करने के लिए तैयार हैं ॥३९॥

अज्ञातवास के समय पाण्डवों की रक्षा करनेवाले राजा विराट आपसे युद्ध करने को तैयार हैं ॥४०॥

काशी के नये नरेश आपसे युद्ध करेंगे। युद्ध में दुर्जय, विषैले सर्प के बच्चे जैसे, द्रौपदी के पांचों पुत्र युद्ध करेंगे ॥४१।४२॥

पराक्रम में श्री कृष्ण और इन्द्रियदमन में युधिष्ठिर के समान वीर अभिमन्यु आपके पुत्रों से युद्ध करेंगे॥४३॥

क्रुद्ध होने पर समर में दुर्धर्ष, महावीर्यशाली, महारथी, महायशस्वी चेदिराज धृष्टकेतु एक अक्षौहिणी सेना साथ लिए पाण्डवों के पक्ष में हैं ॥४४।४५॥

देवताओं में इन्द्र की तरह पाण्डवों में शोभायमान महात्मा श्रीकृष्ण सब तरह से पाण्डवों की सहायता करने के लिए कमर कसे हुए हैं ॥४६॥

चेदिपति के भाई शरभ और करकर्ष भी कौरवों

वैशम्पायन उवाच—शोणिते तु व्यतिक्रांते प्रविवेश बृहन्नला ।
अभिवाद्य विराटं तु कंकं चाप्युपतिष्ठत ॥ ६६ ॥
क्षामयित्वा तु कौरव्यं रणादुत्तरमागतम् ।
प्रशशंस ततो मत्स्यः शृण्वतः सव्यसाचिनः ॥ ६७ ॥
त्वया दायादवानस्मि कैकेयीनंदिवर्धन ।
त्वया मे सदृशः पुत्रो न भूतो न भविष्यति ॥ ६८ ॥
पदं पदसहस्रेण यश्चरन्नाऽपराध्नुयात् ।
तेन कर्णेन ते तात कथमासीत्समागमः ॥ ६९ ॥
मनुष्यलोके सकले यस्य तुल्यो न विद्यते ।
तेन भीष्मेण ते तात कथमासीत्समागमः ॥ ७० ॥
आचार्यो वृष्णिवीराणां कौरवाणां च यो द्विजः ।
सर्वक्षत्रस्य चाऽऽचार्यः सर्वशस्त्रभृतां वरः ।
तेन द्रोणेन ते तात कथमासीत्समागमः ॥ ७१ ॥
आचार्यपुत्रो यः शूरः सर्वशस्त्रभृतामपि ।
अश्वत्थामेति विख्यातस्तेनाऽऽसीत्संगरः कथम् ॥ ७२ ॥
रणे यं प्रेक्ष्य सीदंति हृतस्वा वणिजो यथा ।
कृपेण तेन ते तात कथमासीत्समागमः ॥ ७३ ॥
पर्वतं योऽभिविध्येत राजपुत्रो महेषुभिः ।
दुर्योधनेन ते तात कथमासीत्समागमः ॥ ७४ ॥

सहित नष्ट हो जाते । यद्यपि आपने बिना अपराध के मुझे मारा है तो भी उसके लिए मैं आपको अपराधी नहीं समझता। यह प्रसिद्ध है कि बलवान् स्वामी लोग एकाएक अपने भृत्यों के ऊपर कुपित हो बैठते हैं। ॥६२।६५॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! युधिष्ठिर की नाक से रुधिर टपकना बन्द होने पर बृहन्नला ने सभा में आकर राजा विराट को और कङ्क को प्रणाम किया। महाराज विराट बृहन्नला का अभिनन्दन करके उसके सामने ही युद्ध से लौटे हुए उत्तर कुमार की प्रशंसा करने लगे ॥६६।६७॥

वे कहने लगे—हे बेटा ! तुमसे आज मैं पुत्रवाला हुआ । तुम्हारे समान पुत्र मेरे न हुआ है और न होगा । हे पुत्र ! लगातार युद्ध करके भी कभी न थकने या व्याकुल होनेवाले महारथी कर्ण से तुम किस तरह भिड़े ? सारे संसार में जिनके समान कोई योद्धा नहीं है उन भीष्म से तुमने किस तरह युद्ध किया ? वृष्णिवंशी यादव, कौरव और अन्यान्य क्षत्रियकुलों के आचार्य, सब अस्त्रों के जाननेवाले, महाबली द्रोणाचार्य से तुमने कैसे युद्ध किया ?।६८।७२।

आयसेन स दंडेन रथान्नागान्नरान्हयान् ।
हनिष्यति रणे क्रुद्धो रौद्रः क्रूरपराक्रमः ॥ २२ ॥
अमर्षी नित्यसंरब्धो भीमः प्रहरतां वरः ।
मया तात प्रतीपानि कुर्वन्पूर्वं विमानितः ॥ २३ ॥
निष्कर्णामायसीं स्थूलां सुपार्श्वां कांचनीं गदाम् ।
शतघ्नीं शतनिर्ह्रादां कथं शक्ष्यंति मे सुताः ॥ २४ ॥
अपारमप्लवागाधं समुद्रं शरवेधनम् ।
भीमसेनमयं दुर्गं तात मंदास्तितीर्षवः ॥ २५ ॥
क्रोशतो मे न शृण्वंति बालाः पंडितमानिनः ।
विषमं नहि मन्यंते प्रपातं मधुदर्शिनः ॥ २६ ॥
संयुगं ये गमिष्यंति नररूपेण मृत्युना ।
नियतं चोदिता धात्रा सिंहेनेव महामृगाः ॥ २७ ॥
शैक्यां तात चतुष्किष्कुं षडस्रिममितौजसम् ।
प्रहितां दुःखसंस्पर्शां कथं शक्ष्यंति मे सुताः ॥ २८ ॥
गदां भ्रामयतस्तस्य भिंदतो हस्तिमस्तकान् ।

भर ऊंचे हैं; वेग में घोड़े से और बल में हाथी से भी बढ़कर हैं। वे बड़बड़ाया करते हैं; उनके नेत्र सदा लाल रहते हैं ॥१९।२१॥

वे उग्रमूर्ति क्रूरकर्मा भीमसेन युद्ध में क्रोधित होकर लोहे की गदा से रथ, हाथी, घोड़े और मनुष्यों को अवश्य चूर-चूर कर डालेंगे। मैं पहले उन क्रोधी और श्रेष्ठ योद्धा भीमसेन के प्रतिकूल कार्य करके उनका अपमान कर चुका हूं। इस समय उनकी उस सुवर्णमण्डित, लोहे के मोटे पहलों से सुडौल बनी हुई, सैकड़ों वज्रपात के समान भयङ्कर शब्द करनेवाली गदा के वेग और प्रहार को मेरे पुत्र कैसे सह सकेंगे ! ॥२२।२४॥

हे सञ्जय ! मेरे दुष्टबुद्धि पुत्र बाणवेगरूपी भयङ्कर वेग से युक्त भीमसेनरूपी अथाह समुद्र के पार जाना चाहते हैं। यद्यपि मैं नित्य चिल्लाया करता हूं, तो भी मूर्ख होकर समझदारी का अभिमान रखनेवाले मेरे पुत्र उधर कान तक नहीं देते शहद उतारनेवाला जैसे शहद के लिए ऊपर चढ़ता है, पर वहां से गिरने का जो खटका है उस पर ध्यान नहीं देता, वैसे मेरे पुत्र राज्य तो ले लेना चाहते हैं, परन्तु विनाश की ओर नेत्र उठाकर भी नहीं देखते। मनुष्य-रूपधारी यमराज भीमसेन से युद्ध करने जो जायेंगे वे अवश्य मारे जायेंगे। हे सूतपुत्र ! शिक्य में रखकर चढ़ाई गई, चार हाथ लम्बी, छः कोनेवाली, भीमसेन की कठोर गदा को मेरे पुत्र कैसे सह सकेंगे ! ॥२५।२८॥

जब महातमस्वी भीमसेन चारों ओर गदा घुमाकर हाथियों के मस्तक फोड़ेंगे, क्रोध से ओठ

दुर्योधनं विकर्णं च स नागमिव यूथपम् ।
प्रभग्नमब्रवीद्भीतं राजपुत्रं महाबलः ॥ ५ ॥
न हास्तिनपुरे त्राणं तव पश्यामि किंचन ।
व्यायामेन परीप्सस्व जीवितं कौरवात्मज ॥ ६ ॥
न मोक्ष्यसे पलायंस्त्वं राजन्युद्धे मनः कुरु ।
पृथिवीं भोक्ष्यसे जित्वा हतो वा स्वर्गमाप्स्यसि ॥ ७ ॥
स निवृत्तो नरव्याघ्रो मुंचन्वज्रनिभाञ्शरान् ।
सचिवैः संवृतो राजा रथे नाग इव श्वसन् ॥ ८ ॥
तं दृष्ट्वा रोमहर्षोऽभूदुरुकंपश्च मारिष ।
स तत्र सिंहसंकाशमनीकं व्यधमच्छरैः ॥ ९ ॥
तत्प्रणुद्य रथानीकं सिंहसंहननो युवा ।
कुरूंस्तान्प्रहसन्राजन्संस्थितान्हृतवाससः ॥ १० ॥
एकेन तेन वारेण षड्रथाः परिनिर्जिताः ।
शार्दूलेनेव मत्तेन यथा वनचरा मृगाः ॥ ११ ॥
विराट उवाच—क स वीरो महाबाहुर्देवपुत्रो महायशाः ।
यो मे धनमथाऽजैषीत्कुरुभिर्ग्रस्तमाहवे ॥ १२ ॥
इच्छामि तमहं द्रष्टुमर्चितुं च महाबलम् ।
येन मे त्वं च गावश्च रक्षिता देवसूनुना ॥ १३ ॥

होकर भागने लगे। तब उन्हीं देवकुमार ने दुर्योधन से कहा—हे कुरुराज दुर्योधन! कहां भागे जा रहे हो? भागकर हस्तिनापुर में भी तुम छुटकारा न पा सकोगे। इस समय अपना बल वीर्य दिखाकर, युद्ध करके, अपनी जान बचाने की चेष्टा करो। भागकर तो तुम किसी तरह बच नहीं सकते। युद्ध में जीत जाओगे तो सारी पृथ्वी के चक्रवर्ती राजा बनोगे और मारे जाओगे तो स्वर्गलोक में जाकर सुख भोगोगे॥५।८॥

ये बातें सुनकर दुर्योधन क्रोध से अधीर हो उठे। वे अपने सचिवों और सहायकों सहित वज्र-सदृश बाणों की वर्षा करते और क्रोधित सर्प की तरह फुफकारते हुए लौट पड़े। दुर्योधन की वह भयानक सूरत देखकर मेरे रोंगटे खड़े हो गये, हृदय धड़कने लगा। परन्तु उस सिंह के समान पराक्रमी साहसी देवकुमार ने हँसते हँसते अकेले ही उन छहों महारथियों को हरा दिया। उन्हें अचेत करके उनके वस्त्र भी ले लिये। सिंह जैसे मृगों के झुण्ड को मारकर भगा देता है वैसे ही वे बली देवपुत्र सेना सहित कौरव वीरों को भगा करके उनका उपहास करने लगे॥९।११॥

किं पुनर्मोहमासक्तस्तत्र तत्र सहस्रधा ।
पुत्रेषु राज्यदारेषु पौत्रेष्वपि च बंधुषु ॥ ५५ ॥
संशये तु महत्यस्मिन्किं नु मे क्षममुत्तरम् ।
विनाशं ह्येव पश्यामि कुरूणामनुचिंतयन् ॥ ५६ ॥
द्यूतप्रमुखमाभाति कुरूणां व्यसनं महत् ।
मंदेनैश्वर्यकामेन लोभात्पापमिदं कृतम् ॥ ५७ ॥
मन्ये पर्यायधर्मोऽयं कालस्याऽत्यंतगामिनः ।
चक्रे प्रधिरिवाऽऽसक्तो नाऽस्य शक्यं पलायितुम् ॥ ५८ ॥
किं नु कुर्यां कथं कुर्यां क्व नु गच्छामि संजय ।
एते नश्यंति कुरवो मंदाः कालवशं गताः ॥ ५९ ॥
अवशोऽहं तदा तात पुत्राणां निहते शते ।
श्रोष्यामि निनदं स्त्रीणां कथं मां मरणं स्पृशेत् ॥ ६० ॥
यथा निदाघे ज्वलनः समिद्धो दहेत्कक्षं वायुना चोद्यमानः ।
गदाहस्तः पांडवो वै तथैव हंता मदीयान्सहितोऽर्जुनेन ॥ ६१ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि धृतराष्ट्रवाक्ये एकपंचाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५१ ॥

हे सञ्जय ! ऐसा जान पड़ता है कि ज्ञान से दुःख नहीं दूर होता, बल्कि अत्यन्त दुःख उपस्थित होने पर उनमें ज्ञान ही मिट जाता है ॥५३॥

लोक-व्यवहार को जाननेवाले जीवन्मुक्त ऋषि भी सुख के समय सुख का और दुःख के समय दुःख का अनुभव करने के लिए विवश होते हैं । तब मैं तो हजार तरह के ममता-मोह में फँसा हुआ हूँ ॥५४॥

पुत्र, पौत्र, भाई-बन्धु, इष्ट मित्र आदि के विनाश और कुलवधुओं के सर्वनाश को मैं कैसे देख सकूँगा? ॥५५॥

मैंने अच्छीतरह विचारकर देख लिया, मुझे कौरवों का नाश अनिवार्य जान पड़ता है ॥५६॥

इस जुए के कारण ही कौरवों पर यह संकट आया है । लालची मन्दमति दुर्योधन ने ऐश्वर्य के लोभ से पाप करके यह अनिष्ट कर डाला है ॥५७॥

अत्यन्त शीघ्र चलने और पलटनेवाले काल का यह धर्म है कि उसके फेर से रथ के पहिये की तरह सुख और दुःख घूमा करते हैं । [illegible] जैसे रथ के पहिये से अलग नहीं हो सकती वैसे ही कोई मनुष्य इस कालचक्र के फेर से भागकर बच नहीं सकता ॥५८॥

हे सञ्जय ! मैं क्या करूँ ? कहाँ जाऊँ ! कालवश ये मन्दबुद्धि कौरव काल के मुँह का कौर बनने को तैयार हैं । १०० पुत्रों के मरने पर मैं रनिवास की स्त्रियों का रोना सुनूँगा । मुझे उससे पहले मृत्यु क्यों नहीं ले आती ! जैसे गर्मियों में प्रज्वलित दावानल वायु की सहायता पाकर सूखे वन को जलाता है वैसे ही अर्जुन के सहित गदा हाथ में लिये हुए भयानक भीमसेन मेरे पुत्रों को मारेंगे ॥५९।६१॥

उद्योगपर्व का इक्यावनवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ५१ ॥

अथ वैवाहिकपर्व ॥
अथ सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७० ॥

वैशम्पायन उवाच—ततस्तृतीये दिवसे भ्रातरः पंच पांडवाः ।
स्नाताः शुक्लांबरधराः समये चरितव्रताः ॥ १ ॥
युधिष्ठिरं पुरस्कृत्य सर्वाभरणभूषिताः ।
द्वारि मत्ता यथा नागा भ्राजमाना महारथाः ॥ २ ॥
विराटस्य सभां गत्वा भूमिपालासनेष्वथ ।
निषेदुः पावकप्रख्याः सर्वे धिष्ण्येष्विवाऽग्नयः ॥ ३ ॥
तेषु तत्रोपविष्टेषु विराटः पृथिवीपतिः ।
आजगाम सभां कर्तुं राजकार्याणि सर्वशः ॥ ४ ॥
श्रीमतः पांडवान्दृष्ट्वा ज्वलतः पावकानिव ।
मुहूर्तमिव च ध्यात्वा सरोषः पृथिवीपतिः ॥ ५ ॥
अथ मत्स्योऽब्रवीत्कंकं देवरूपमिव स्थितम् ।
मरुद्गणैरुपासीनं त्रिदशानामिवेश्वरम् ॥ ६ ॥
स किलाऽक्षातिवापस्त्वं सभास्तारो मया वृतः ।
अथ राजासने कस्मादुपविष्टस्त्वलंकृतः ॥ ७ ॥
वैशम्पायन उवाच—परिहासेप्सया वाक्यं विराटस्य निशम्य तत् ।

सत्तरवां अध्याय ॥ ७० ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! इसके पश्चात् तीसरे दिन प्रतिज्ञा के बन्धन से मुक्त पाचों पाण्डव, स्नान आदि करके श्वेत वस्त्र और अनेक प्रकार के आभूषण पहनकर, राजा विराट की सभा में आये। [वहां आकर महाराज युधिष्ठिर राजा विराट के सिंहासन पर बैठ गये।] द्वार पर जैसे मस्त हाथी की शोभा होती है, घर में वेदी पर जैसे अग्नि की शोभा होती है, वैसे ही विराट की सभा में श्रेष्ठ आसनों पर प्रभावशाली पांचों पाण्डव शोभायमान हुए ॥१।३॥

इसी समय महाराज विराट राज-कार्य करने को राजसभा में आये। वहां अग्नि के समान तेजस्वी पाण्डवों को [अपने] श्रेष्ठ आसन पर बैठे देखकर वे क्रुद्ध हो गये। फिर पल भर सोचकर उन्होंने, देवमण्डली के बीच में बैठे हुए इन्द्र के समान, तेजस्वी धर्मराज युधिष्ठिर से कहा—हे कङ्क ! मैंने जुआ खेलने के लिए तुमको अपना मुख्य मुखिया बनाकर सभा में रक्खा था। इस समय तुम मूल्यवान् वस्त्र आभूषण पहनकर इस राज सिंहासन पर क्यों बैठ गये हो ?॥४।७॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! राजा विराट के ये वाक्य सुनकर, मुसकाते हुए अर्जुन ने, दिल्लगी के तौर पर कहा—हे राजेन्द्र ! ये इन्द्र के

स स्रष्टा जगतः कृष्णः पांडवानां जये धृतः ॥ ३ ॥
समस्तामर्जुनाद्विद्यां सात्यकिः क्षिप्रमासवान् ।
शैनेयः समरे स्थाता बीजवत्प्रवपञ्शरान् ॥ ४ ॥
धृष्टद्युम्नश्च पांचाल्यः क्रूरकर्मा महारथः ।
मामकेषु रणं कर्ता बलेषु परमास्त्रवित् ॥ ५ ॥
युधिष्ठिरस्य च क्रोधादर्जुनस्य च विक्रमात् ।
यमाभ्यां भीमसेनाच्च भयं मे तात जायते ॥ ६ ॥
अमानुषं मनुष्येन्द्रैर्जालं विततमंतरा ।
न मे सैन्यास्तरिष्यंति ततः क्रोशामि संजय ॥ ७ ॥
दर्शनीयो मनस्वी च लक्ष्मीवान्ब्रह्मवर्चसी ।
मेधावी सुकृतप्रज्ञो धर्मात्मा पांडुनंदनः ॥ ८ ॥
मित्रामात्यैः सुसंपन्नः संपन्नो युद्धयोजकैः ।
भ्रातृभिः श्वशुरैर्वीरैरुपपन्नो महारथैः ॥ ९ ॥
धृत्या च पुरुषव्याघ्रो नैभृत्येन च पांडवः ।
अनृशंसो वदान्यश्च ह्रीमान्सत्यपराक्रमः ॥ १० ॥
बहुश्रुतः कृतात्मा च वृद्धसेवी जितेंद्रियः ।
तं सर्वगुणसंपन्नं समिद्धमिव पावकम् ॥ ११ ॥

के लिए आये हैं ॥१।२॥

जो महाबली श्रीकृष्ण इच्छामात्र से इन्द्रसहित सब लोकों को वश में कर सकते हैं वही त्रिभुवन के उत्पादक श्रीकृष्ण पाण्डवों को जय दिलाने की चेष्टा में लगे हुए हैं। शीघ्र ही अर्जुन से सब अस्त्र-विद्या सीख लेनेवाले शिनिवंशतिलक वीर सात्यकि पाण्डवों की ओर से बीज बोने की तरह युद्ध भूमि में बाण बरसावेंगे। क्रूर कर्म करनेवाले महारथी पाञ्चालनन्दन धृष्टद्युम्न पाण्डवों का पक्ष लेकर हमसे युद्ध करेंगे ॥३।५॥

हे सञ्जय! युधिष्ठिर के क्रोध, अर्जुन के पराक्रम, भीमसेन के बल और नकुल-सहदेव की युद्ध-चातुरी से मुझे भय लगता है। मनुष्यश्रेष्ठ पाण्डव जिन अलौकिक अस्त्रों से युक्त बाणों की वर्षा करेंगे उन्हें सहकर जीते रहना मेरे सैनिकों की शक्ति से बाहर है। इसी से मैं इस तरह चिल्ला रहा हूं ॥६।७॥

पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर दर्शनीय रूपवाले, उदार श्रीमान्, ब्रह्मतेज-सम्पन्न, चतुर, बुद्धिमान्, धर्मपरायण, युद्ध के लिए उद्यत, महारथी, महावीर, मित्र-मन्त्री-भाई-ससुर आदि सहायकों से युक्त, धीर, सम्मति को गुप्त रखनेवाले, दयाशील, दाता, लोकलज्जा का खयाल रखनेवाले, सफल पराक्रमी, बहुत से शास्त्रों

उत्तर उवाच—आर्याः पूज्याश्च मान्याश्च प्राप्तकालं च मे मतम्।
पूज्यंतां पूजमार्हाश्च महाभागाश्च पांडवाः ॥ २४ ॥
विराट उवाच—अहं खल्वपि संग्रामे शत्रूणां वशमागतः ।
मोक्षितो भीमसेनेन गावश्चापि जितास्तथा ॥ २५ ॥
एतेषां बाहुवीर्येण अस्माकं विजयो मृधे ।
एवं सर्वे सहामात्याः कुंतीपुत्रं युधिष्ठिरम् ॥ २६ ॥
प्रसादयामो भद्रं ते सानुजं पांडवर्षभम् ।
यदस्माभिरजानद्भिः किंचिदुक्तो नराधिपः ।
क्षंतुमर्हति तत्सर्वं धर्मात्मा ह्येष पांडवः ॥ २७ ॥
वैशम्पायन उवाच–ततो विराटः परमाभितुष्टः समेत्य राजा समयं चकार।
राज्यं च सर्वं विससर्ज तस्मै सदंडकोशं सपुरं महात्मा ॥ २८ ॥
पांडवांश्च ततः सर्वान्मत्स्यराजः प्रतापवान् ।
धनंजयं पुरस्कृत्य दिष्ट्या दिष्ट्येति चाऽब्रवीत् ॥ २९ ॥
समुपाघ्राय मूर्द्धानं संश्लिष्य च पुनः पुनः ।
युधिष्ठिरं च भीमं च माद्रीपुत्रौ च पांडवौ ॥ ३० ॥
नाऽतृप्यद्दर्शने तेषां विराटो वाहिनीपतिः ।
स प्रीयमाणो राजानं युधिष्ठिरमथाऽब्रवीत् ॥ ३१ ॥

यह अवसर प्राप्त हुआ है । इस कारण जो तुम्हारी सम्मति हो तो कहो, मैं अर्जुन को तुम्हारी बहन उत्तरा देकर सन्तुष्ट कर दूँ । उत्तर ने कहा—हे महाराज ! मेरी समझ में महात्मा पाण्डव सर्वथा हमारे पूज्य और माननीय हैं । उन्हें पूजा और मान देने का ठीक समय भी आ पहुंचा है । इसलिए अब आप अवश्य सत्कार के योग्य भाग्यवान् पाण्डवों का उचित सत्कार और सम्मान कीजिए ॥२३।२४॥

विराट ने कहा—मैं भी युद्ध में शत्रुओं के हाथ पड़ गया था । भीमसेन ने ही मुझे छुड़ाया है और मेरी गायें शत्रुओं से छीनी हैं । तात्पर्य यह है कि हम लोगों ने इन्हीं पाण्डवों के बाहुबल से युद्ध में विजय पाई है । इसलिए आओ, हम लोग मन्त्रियों और नगरवासियों सहित युधिष्ठिर आदि पाण्डवों को मनावें । आशा है, हमने बिना जाने-पहचाने जो कुछ कहा-सुना है उसे धर्मात्मा महाराज युधिष्ठिर क्षमा कर देंगे । ॥२५।२७॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! अब प्रसन्नहृदय राजा विराट पहले महाराज युधिष्ठिर के पास गये । सत्कारपूर्वक शिष्टाचार के साथ उन्होंने राजा युधिष्ठिर को राजदण्ड, कोष और नगरीसहित अपना सारा राज्य अर्पण कर दिया । महाप्रतापी राजा

भक्त्या ह्यस्य विरुद्ध्यंते तव पुत्राः सदैव ते ।
अनर्हानेव तु वधे धर्मयुक्तान्विकर्मणा ॥ १९ ॥
योऽक्लेशयत्पांडुपुत्रान्यो विद्वेष्ट्यधुनाऽपि वै ।
सर्वोपायैर्नियंतव्यः सानुगः पापपूरुषः ॥ २० ॥
तव पुत्रो महाराज नाऽनुशोचितुमर्हसि ।
द्यूतकाले मया चोक्तं विदुरेण च धीमता ॥ २१ ॥
यदिदं ते विलपितं पांडवान्प्रति भारत ।
अनीशेनेव राजेंद्र सर्वमेनान्निरर्थकम् ॥ २२ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि संजयवाक्ये चतुःपंचाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५४ ॥

जानते हैं। वे आपको और आपके पुत्रों को आदर की दृष्टि से नहीं देखते। सब अर्जुन के ही पक्ष में जाकर आपसे युद्ध करने को तैयार हैं। वे सब सदा से पाण्डवों के भक्त और आपके पुत्रों के विरोधी हैं। हे महाराज! आप शोक न करके अपने पापी पुत्र दुर्योधन को और उसके सहायकार साथियों को शीघ्र दण्ड देकर राह पर लाइए। दुर्योधन ने अनुचित उपाय से कई बार धर्मात्मा और वध के अयोग्य पाण्डवों को मार डालने की चेष्टा की है। वे सदा पाण्डवों को क्लेश पहुँचाते रहे हैं और अब भी उनसे घोर शत्रुता रखते हैं। हे महाराज! यही बात जुए के समय मैंने और महात्मा विदुर ने भी कही थी। मैं दुर्योधन के पीछे यही कह चुका हूं और इस समय उनके आगे भी कह रहा हूं। इसी में भलाई है। जो आप असमर्थता दिखाते हुए पाण्डवों के लिए विलाप करेंगे और पुत्रों को शासन के द्वारा राह पर नहीं लावेंगे तो आपका यह विलाप करना वृथा है॥१७-२२॥

उद्योगपर्व का चौवनवां अध्याय समाप्त हुआ॥ ५४ ॥

रहस्यं च प्रकाशं च विश्वस्ता पितृवन्मयि ॥ २ ॥
प्रियो बहुतमश्चाऽऽसं नर्त्तको गीतकोविदः ।
आचार्यवच्च मां नित्यं मन्यते दुहिता तव ॥ ३ ॥
वयस्थया तथा राजन्सह संवत्सरोषितः ।
अतिशंका भवेत्स्थाने तव लोकस्य वा विभो ॥ ४ ॥
तस्मान्निमंत्रयेऽयं ते दुहितां मनुजाधिप ।
शुद्धो जितेंद्रियो दांतस्तस्याः शुद्धिः कृता मया ॥ ५ ॥
स्नुषायां दुहितुर्वापि पुत्रे चाऽऽत्मनि वा पुनः ।
अत्र शंकां न पश्यामि तेन शुद्धिर्भविष्यति ॥ ६ ॥
अभिशापादहं भीतो मिथ्यावादात्परंतप ।
स्नुषार्थमुत्तरां राजन्प्रतिगृह्णामि ते सुताम् ॥ ७ ॥
स्वस्त्रीयो वासुदेवस्य साक्षाद्देवशिशुर्यथा ।
दयितश्चक्रहस्तस्य सर्वास्त्रेषु च कोविदः ॥ ८ ॥
अभिमन्युर्महाबाहुः पुत्रो मम विशांपते ।
जामाता तव युक्तो वै भर्त्ता च दुहितुस्तव ॥ ९ ॥
विराट उवाच—उपपन्नं कुरुश्रेष्ठे कुंतीपुत्रे धनंजये ।
य एवं धर्मनित्यश्च जातज्ञानश्च पांडवः ॥ १० ॥

रनिवास में आपकी कन्या के साथ रहा हूं। आपकी कन्या ने, गुप्त या प्रकट, सभी बातों में मुझ पर पिता के समान विश्वास किया है। मैं उसे अत्यन्त स्नेह के साथ नाचना-गाना आदि सिखाता था और वह मुझे पूजनीय गुरु के समान मानती थी। मै उस चतुर कुमारी के साथ एक वर्ष तक रह चुका हूं। यदि मैं इस समय उससे विवाह कर लूँगा तो आपको और अन्य लोगों को मेरे चरित्र के बारे में सन्देह होगा। हे महाराज! मैंने निर्दोष चित्त से, जितेन्द्रिय रहकर, आपकी कन्या को शिक्षा दी है। वह यदि मेरे बेटे की स्त्री होगी तो किसी को आपकी कन्या पर, मेरे पुत्र पर या मेरे चरित्र पर किसी प्रकार का दोष लगाने का अवसर नहीं मिलेगा। हे शत्रुदमन! मैं निन्दा से बहुत भयभीत होता हूं। इसी कारण उत्तरा को स्त्रीरूप से न ग्रहण करके पुत्रवधू के रूप से स्वीकार करता हूं। श्रीकृष्ण का भानजा, देवकुमार-सदृश तेजस्वी, प्रतापी, वीर, मेरा पुत्र अभिमन्यु आपका दामाद और उत्तरा का पति होने के लिए सब तरह उपयुक्त है ॥२।९॥

विराट ने कहा—हे अर्जुन! तुम बड़े ही धर्मात्मा हो। उत्तरा के विवाह न करना तुम्हारे ही योग्य बात है। अब तुम जो कुछ ठीक समझो सो करो।

तानागतानभिप्रेक्ष्य मत्स्यो धर्मभृतां वरः ।
पूजयामास विधिवत्सभृत्यबलवाहनान् ॥ १९ ॥
प्रीतोऽभवद्दुहितरं दत्वा तामभिमन्यवे ।
ततः प्रत्युपयातेषु पार्थिवेषु ततस्ततः ॥ २० ॥
तत्राऽगमद्वासुदेवो वनमाली हलायुधः ।
कृतवर्मा च हार्दिक्यो युयुधानश्च सात्यकिः ॥ २१ ॥
अनाधृष्टिस्तथाऽक्रूरः सांबो निशठ एव च ।
अभिमन्युमुपादाय सह मात्रा परंतपाः ॥ २२ ॥
इंद्रसेनादयश्चैव रथैस्तैः सुसमाहितैः ।
आययुः सहिताः सर्वे परिसंवत्सरोषिताः ॥ २३ ॥
दश नागसहस्राणि हयानां च दशायुतम् ।
रथानामर्बुदं पूर्णं निखर्वं च पदातिनाम् ॥ २४ ॥
वृष्ण्यंधकाश्च बहवो भोजाश्च परमौजसः ।
अन्वयुर्वृष्णिशार्दूलं वासुदेवं महाद्युतिम् ॥ २५ ॥
पारिबर्हं ददौ कृष्णः पांडवानां महात्मनाम् ।
स्त्रियो रत्नानि वासांसि पृथक्पृथगनेकशः ।
ततो विवाहो विधिवद्ववृधे मत्स्यपार्थयोः ॥ २६ ॥

स्वाध्यायनिरत और एक-एक अक्षौहिणी सेना के अधिपति थे । परम धार्मिक राजा विराट ने अनेक देशों से आये हुए सब राजाओं का यथोचित स्वागत-सत्कार किया ॥१५।१९॥

राजाओं के साथ उनके असंख्य सेवक, सेना और वाहन भी आये । अभिमन्यु को कन्या देने के आनन्द में राजा विराट मग्न हो रहे थे । अब आनर्तदेश(द्वारका) से श्रीकृष्ण, बलभद्र, कृतवर्मा, हार्दिक्य, युयुधान, सात्यकि, अनाधृष्टि, अक्रूर, साम्ब, बलभद्र के पुत्र निशठ आदि यादव—अभिमन्यु और सुभद्रा को साथ लेकर—आये । पाण्डवों के सारथी इन्द्रसेन आदि भी एक वर्ष के पश्चात् पाण्डवों के दिव्य रथ लेकर आनर्त देश से विराट की राजधानी में आये । श्रीकृष्ण के साथ दस हजार हाथी, एक लाख घोड़े, दस लाख रथ, एक निखर्व पैदल और वृष्णि, अन्धक, भोज आदि वंशों के अनेक महाबलशाली योद्धा यादव आये ॥२०।२५॥

श्रीकृष्ण ने आकर पाण्डवों को राजाओं के योग्य बहुत सा धन, रत्न, दासी-दास और तरह-तरह के वस्त्र दिये । इसके पश्चात् शुभ लग्न में विधिपूर्वक विवाह हुआ । शङ्ख, नगाड़े, तुरही आदि बाजे बजने लगे । तरह-तरह के मृगों और पशुओं के मांस वगैरह

तस्मै सप्त सहस्राणि हयानां वातरंहसाम् ।
द्वे च नागशते मुख्ये प्रादाद्बहुधनं तदा ॥ ३६ ॥
हुत्वा सम्यक्समिद्धाग्निमर्चयित्वा द्विजन्मनः ।
राज्यं बलं च कोशं च सर्वमात्मानमेव च ॥ ३७ ॥
कृते विवाहे तु तदा धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ।
ब्राह्मणेभ्यो ददौ वित्तं यदुपाहरदच्युतः ॥ ३८ ॥
गोसहस्राणि रत्नानि वस्त्राणि विविधानि च ।
भूषणानि च मुख्यानि यानानि शयनानि च ॥ ३९ ॥
भोजनानि च हृद्यानि पानानि विविधानि च ।
तन्महोत्सवसंकाशं हृष्टपुष्टजनायुतम् ।
नगरं मत्स्यराजस्य शुशुभे भरतर्षभ ॥ ४० ॥

इति श्रीमन्महाभारते विराटपर्वणि वैवाहिकपर्वणि उत्तराविवाहे द्विसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७२ ॥

॥ समाप्तम् वैवाहिकपर्व ॥ ॥ समाप्तञ्च विराटपर्व ॥

किया और ब्राह्मणों की पूजा की। फिर उन्होंने प्रसन्नता-पूर्वक दहेज (यौतुक) के रूप में अपने दामाद को वायु के समान शीघ्रगामी सात हजार घोड़े, दो सौ उत्तम हाथी, बहुत-सा धन-रत्न देकर राज्य, सेना और कोष सहित अपना शरीर तक अर्पण कर दिया। इस प्रकार विवाह का कार्य समाप्त होने पर राजा युधिष्ठिर ने ब्राह्मणों को श्रीकृष्ण का दिया हुआ सब धन, हजार गायें, रत्न, तरह-तरह के वस्त्र, आभूषण, सवारियाँ, पलंग, खाने और पीने की सामग्रियाँ दीं। हे भरतश्रेष्ठ ! उस समय विराट की राजधानी हृष्ट-पुष्ट मनुष्यों से परिपूर्ण होने के कारण उस महान् उत्सव से बहुत सुहावनी लगी ॥३६।४०॥

विराटपर्व का बहत्तरवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ७२ ॥

विराटपर्व समाप्त हुआ ।

समेत्य सर्वे सहिताः सुहृद्भिस्तेषां विनाशाय यतेयुरेव ।
दुर्योधनस्याऽपि मतं यथावन्न ज्ञायते किं नु करिष्यतीति ॥ २३ ॥
अज्ञायमाने च मते परस्य किं स्यात्समारभ्यतमं मतं वः ।
तस्मादितो गच्छतु धर्मशीलः शुचिः कुलीनः पुरुषोऽप्रमत्तः ॥ २४ ॥
दूतः समर्थः प्रशमाय तेषां राज्यार्धदानाय युधिष्ठिरस्य ।
निशम्य वाक्यं तु जनार्दनस्य धर्मार्थयुक्तं मधुरं समं च ॥ २५ ॥
समाददे वाक्यमथाऽग्रजोऽस्य संपूज्य वाक्यं तदतीव राजन् ॥ २६ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि पुरोहितयाने प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

को, युधिष्ठिर की धर्मनिष्ठा को और दोनों पक्षों के परस्पर सम्बन्ध को अच्छी तरह विचारकर, मिलकर और अलग-अलग, अपनी सम्मति दीजिए। ये पाडव सदा से सत्यनिष्ठ हैं और नियम के अनुसार अपनी प्रतिज्ञा का भी पालन कर चुके हैं। इसलिए अब जो शत्रु लोग आधा राज्य न देकर फिर छलकपट या बेईमानी का बरताव करें। तो ये धृतराष्ट्र के पुत्रों को अवश्य मार डालेंगे। कौरवों के इष्ट-मित्र और स्वजन यदि उनकी सहायता करेंगे, उनके साथ मिलकर युद्ध ठानेंगे और इन्हें राज्य प्राप्त करने में बाधा देंगे तो उन्हें भी पाण्डव अवश्य मारेंगे॥१६।२१॥

यह सत्य है कि पाण्डव संख्या में शत्रुओं से कम हैं, पर मेरी समझ में ये शत्रुओं को मारने में सब तरह समर्थ हैं। इनके भी सहायक इष्ट-मित्र अनेक हैं; उनकी सहायता से ये अवश्य शत्रुओं को मारकर राज्य लेने का यत्न करेंगे। दुर्योधन का मत ठीक-ठीक नहीं जान पड़ता कि वह क्या करना चाहता है। दूसरे पक्ष का हाल जाने बिना हम लोग ठीक सम्मति नहीं कर सकते कि हमारा कर्तव्य क्या है। इसलिए मेरी सम्मति तो यह है कि पहले कोई ऐसा पुरुष यहां से दूत बनाकर कौरवों के पास भेजा जाय जो बे-लाग, अच्छे स्वभाव का, कुलीन, धर्मात्मा, श्रेष्ठ और सावधान हो। वह ऐसा पुरुष हो जो उन्हें समझाकर इस पर प्रसन्न कर सके कि वे युधिष्ठिर को आधा राज्य दे दें। हे महाराज! श्रीकृष्ण के इन धमार्थयुक्त, पक्षपात-रहित, मधुर वचनों को सुनकर बलदेवजी ने उनकी प्रशंसा की और फिर आप अपना अभिप्राय प्रकट किया ॥२२।२६॥

उद्योगपर्व का पहला अध्याय समाप्त हुआ ॥ १ ॥

अथ द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

बलदेव उवाच—श्रुतं भवद्भिर्गदपूर्वजस्य वाक्यं यथा धर्मवदर्थवच्च ।
अजातशत्रोश्च हितं हितं च दुर्योधनस्यापि तथैव राज्ञः ॥ १ ॥
अर्धं हि राज्यस्य विसृज्य वीराः कुंतीसुतास्तस्य कृते यतंते ।

दूसरा अध्याय ॥ २ ॥

बलदेवजी ने कहा—हे राजाओ! श्रीकृष्ण ने जो राजा युधिष्ठिर और दुर्योधन दोनों के हित के लिए धमार्थयुक्त वचन कहे, सो आप लोग सुन चुके। इस समय वीर पाण्डव आधा राज्य प्राप्त करने के

हित्वा हि कर्णं च सुयोधनं च समाह्वयद्देवितुमाजमीढः ।
दुरोदरास्तत्र सहस्रशोऽन्ये युधिष्ठिरो यान्विषहेत जेतुम् ॥ १० ॥
उत्सृज्य तान्सौवलमेव चाऽयं समाह्वयत्तेन जितोऽक्षवत्याम् ।
स दीव्यमानः प्रतिदेवनेन अक्षेषु नित्यं तु पराङ्मुखेषु ॥ ११ ॥
संरंभमाणो विजितः प्रसह्य तत्राऽपराधः शकुनेर्न कश्चित् ।
तस्मात्प्रणम्यैव वचो ब्रवीतु वैचित्रवीर्यं वहु सामयुक्तम् ॥ १२ ॥
तथा हि शक्यो धृतराष्ट्रपुत्रः स्वार्थे नियोक्तुं पुरुषेण तेन ।
अयुद्धमाकांक्षन कौरवाणां साम्नैव दुर्योधनमाह्वयध्वम् ॥ १३ ॥
साम्ना जितोऽर्थोऽर्थकरो भवेत युद्धेऽनयो भविता नेह सोऽर्थः ॥ १४ ॥
वैशम्पायन उवाच—एवं ब्रुवत्येव मधुप्रवीरे शिनिप्रवीरः सहसोत्पपात ।
तच्चापि वाक्यं परिनिंद्य तस्य समाददे वाक्यमिदं समन्युः ॥ १५ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि बलदेववाक्ये द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

कर्ण, दुर्योधन आदि अनेक पुरुष वहां पर ऐसे थे, जिन्हें ये सहज ही खेल में जीत सकते थे; किन्तु इन्होंने शकुनि से ही खेलना स्वीकार कर लिया। उसने इन्हें कपट-पांसों के खेल में जीत लिया। धूर्त शकुनि के साथ खेलने में हर बार इनकी हार के पांसे गिरने लगे, तब भी ये नहीं चेते; हठ करके इन्होंने अपना सर्वस्व आप ही हार दिया। इसलिए इसमें शकुनि का कुछ अपराध नहीं है। इस कारण इनके दूत को धृतराष्ट्र के पास आकर नम्रता के साथ सामनीति-युक्त वचन कहने चाहिएँ। इस उपाय से इनका दूत दुर्योधन को अपनी इच्छा के अनुसार बनाकर आधा राज्य देने के लिए प्रसन्न कर सकेगा। मैं कहता हूं, कि तुम लोग युद्ध की इच्छा मत प्रकट करो, समझा-बुझाकर ही दुर्योधन से काम निकालो। सामनीति से सिद्ध हुआ प्रयोजन अच्छा होता है। युद्ध ठानने से अन्याय होगा। युधिष्ठिर युद्ध करना भी नहीं चाहते और इसमें किसी का भला भी न होगा। वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! बलदेवजी की ये बातें सुनकर शिनिवीर सात्यकि कुपित होकर अपने आसन से उठ खड़े हुए और बलदेवजी के कथन की निन्दा करते हुए बोले ॥१०-१५॥

—०—

उद्योगपर्व का दूसरा अध्याय समाप्त हुआ ॥ २ ॥

अथ तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

सात्यकिरुवाच—यादृशः पुरुषस्याऽऽत्मा तादृशं संप्रभाषते ।
यथारूपोऽन्तरात्मा ते तथारूपं प्रभाषसे ॥ १ ॥
संति वै पुरुषाः शूराः संति कापुरुषास्तथा ।

यद्ययं पापवित्तानि कामयेत युधिष्ठिरः ॥ ९ ॥
एवमप्ययमत्यंतं पराञ्नाऽर्हति याचितुम् ।
कथं च धर्मयुक्तास्ते न च राज्यं जिहीर्षवः ॥ १० ॥
निवृत्तवासान्कौन्तेयान्य आहुर्विदिता इति ।
अनुनीता हि भीष्मेण द्रोणेन विदुरेण च ॥ ११ ॥
न व्यवस्यंति पांडूनां प्रदातुं पैतृकं वसु ।
अहं तु ताञ्शितैर्बाणैरनुनीय रणे बलात् ॥ १२ ॥
पादयोः पातयिष्यामि कौंतेयस्य महात्मनः ।
अथ ते न व्यवस्यंति प्रणिपाताय धीमतः ॥ १३ ॥
गमिष्यंति सहामात्या यमस्य सदनं प्रति ।
नहि ते युयुधानस्य संरब्धस्य युयुत्सतः ॥ १४ ॥
वेगं समर्थाः संसोढुं वज्रस्येव महीधराः ।
को हि गांडीवधन्वानं कश्च चक्रायुधं युधि ।
मां चापि विषहेत्कुद्धं कश्च भीमं दुरासदम् ॥ १५ ॥
यमौ च दृढधन्वानौ यमकालोपमद्युती ।
विराटद्रुपदौ वीरौ यमकालोपमद्युती ॥ १६ ॥

समय वनवास की प्रतिज्ञा पूर्ण करके बाप-दादे के राज्य के अधिकारी हो चुके हैं । फिर ये क्यों नम्रता के साथ भीख सी मांगेंगे ? जो ये पराये धन की चाह करें, तो भी इन्हें शत्रुओं से भीख सी मांगना कभी उचित नहीं । पाण्डवों ने यद्यपि वन में रहकर प्रतिज्ञा पूर्ण कर ली है, तो भी कौरव लोग कहते हैं कि पाण्डव लोग अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण नहीं कर सके—बीच में ही हमने उनका पता लगा लिया है । ऐसी दशा में कौरवों का धार्मिक या राज्य छीन लेने की इच्छा न रखनेवाला कैसे कहा जा सकता है ! ॥७।१०॥

महात्मा भीष्म, द्रोणाचार्य और विदुर के बार-बार समझाने पर भी कौरव लोग पाण्डवों को उनके पिता का राज्य नहीं देना चाहते । इसलिए अब मैं उन्हीं को युद्ध में अपने पैने बाणों से घायल और विनीत बनाकर महात्मा युधिष्ठिर के पांवों पर गिराऊँगा ॥११।१२॥

इतने पर भी यदि वे धर्मराज के पांवों पर न गिरेंगे—शरण में न आवेंगे—तो मैं उन्हें मारकर संसार से हटा दूंगा । पर्वत जैसे वज्र के वेग को नहीं सह सकते वैसे ही कौरव लोग कुपित सात्यकि के बाणों के वेग को युद्ध में नहीं सह सकेंगे । पृथ्वी पर ऐसा कौन है, जो गाण्डीव धनुष धारण करनेवाले अर्जुन के, चक्रधारी श्रीकृष्ण के, दुर्द्धर्ष भीम

भीष्मद्रोणौ च कार्पण्यान्मौर्ख्याद्राधेयसौबलौ ॥ २ ॥
बलदेवस्य वाक्यं तु मम ज्ञाने न युज्यते ।
एतद्धि पुरुषेणाऽग्रे कार्यं सुनयमिच्छता ॥ ३ ॥
न तु वाच्यो मृदु वचो धार्त्तराष्ट्रः कथंचन ।
न हि मार्दवसाध्योऽसौ पापबुद्धिर्मतो मम ॥ ४ ॥
गर्दभे मार्दवं कुर्याद्गोषु तीक्ष्णं समाचरेत् ।
मृदु दुर्योधने वाक्यं यो ब्रूयात्पापचेतसि ॥ ५ ॥
मृदु वै मन्यते पापो भाषमाणमशक्तिकम् ।
जितमर्थं विजानीयादबुधो मार्दवे सति ॥ ६ ॥
एतच्चैव करिष्यामो यत्नश्च क्रियतामिह ।
प्रस्थापयाम मित्रेभ्यो बलान्युद्योजयंतु नः ॥ ७ ॥
शल्यस्य धृष्टकेतोश्च जयत्सेनस्य वा विभो ।
केकयानां च सर्वेषां दूता गच्छंतु शीघ्रगाः ॥ ८ ॥
स च दुर्योधनो नूनं प्रेषयिष्यति सर्वशः ।
पूर्वाभिपन्नाः संतश्च भजंते पूर्वचोदनम् ॥ ९ ॥
तत्त्वरध्वं नरेन्द्राणां पूर्वमेव प्रचोदने ।
महद्धि कार्यं वोढव्यमिति मे वर्त्तते मतिः ॥ १० ॥

चौथा अध्याय ॥ ४ ॥

राजा द्रुपद ने कहा—हे महाबाहो! जैसा तुम कह रहे हो वैसा ही होगा, इसमें सन्देह नहीं। दुर्योधन कभी समझाने-बुझाने से राज्य न देगा। उससे मीठी बातचीत करना व्यर्थ है। पुत्रवत्सल धृतराष्ट्र भी उसी की हां में हां मिलावेंगे। भीष्म और द्रोणाचार्य दुर्योधन का अन्न खाते हैं, इसलिए उसके विरुद्ध कुछ न कह सकेंगे। कर्ण और शकुनि, मूर्खता के कारण, दुर्योधन की हां में हां मिलावेंगे। इस कारण बलदेव की सम्मति मेरे विचार में युक्ति-सङ्गत नहीं है। न्यायनिष्ठ पुरुष को सबसे पहले साम-नीति का ही प्रयोग करना चाहिए, यह बात ठीक है; परन्तु दुर्योधन ऐसा पुरुष नहीं कि उससे नम्र वचन कहे जायें ॥१।४॥

मैं अच्छी तरह से जानता हूं कि पाप बुद्धिवाला दुर्योधन नम्रता के व्यवहार से कभी राज्य देने को प्रसन्न न होगा। उससे नम्रता और कोमलता का व्यवहार करना वैसा ही है, जैसे कोई गधे को पुचकारे और गाय या बैल को डण्डों से मारे। वह पापी समझाने-बुझानेवाले नम्र पुरुषों को शक्तिहीन और कायर समझता है। निर्बुद्धि पुरुष का स्वभाव यह होता है कि वह कोमलता के व्यवहार से और सिर पर चढ़ जाता है [उसे यह नहीं जान पड़ता कि यह

जयत्सेनश्च काश्यश्च तथा पंचनदा नृपाः ।
क्राथपुत्रश्च दुर्द्धर्षः पार्वतीयाश्च ये नृपाः ॥ १९ ॥
जानकिश्च सुशर्मा च मणिमान्योऽतिमत्सकः ।
पांशुराष्ट्राधिपश्चैव धृष्टकेतुश्च वीर्यवान् ॥ २० ॥
तुंडश्च दंडधारश्च बृहत्सेनश्च वीर्यवान् ।
अपराजितो निषादश्च श्रेणिमान्वसुमानपि ॥ २१ ॥
बृहद्बलो महौजाश्च बाहुः परपुरंजयः ।
समुद्रसेनो राजा च सह पुत्रेण वीर्यवान् ॥ २२ ॥
उद्भवः क्षेमकश्चैव वाटधानश्च पार्थिवः ।
श्रुतायुश्च दृढायुश्च शाल्वपुत्रश्च वीर्यवान् ॥ २३ ॥
कुमारश्च कलिंगानामीश्वरो युद्धदुर्मदः ।
एतेषां प्रेष्यतां शीघ्रमेतद्धि मम रोचते ॥ २४ ॥
अयं च ब्राह्मणो विद्वान्मम राजन्पुरोहितः ।
प्रेष्यतां धृतराष्ट्राय वाक्यमस्मै प्रदीयताम् ॥ २५ ॥
यथा दुर्योधनो वाच्यो यथा शांतनवो नृपः ।
धृतराष्ट्रो यथा वाच्यो द्रोणश्च रथिनां वरः ॥ २६ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि द्रुपदवाक्ये चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

आषाढ, वायुवेग, पूर्वपाली, भूरितेजा, देवक, पुत्रों सहित एकलव्य, करूषदेश के राजा लोग, वीर्यशाली क्षेमधूर्ति, काम्बोजदेश के राजा लोग, ऋषिकदेश के नरेश, पश्चिम अनूप देश के नरपतिगण, जयत्सेन, काश्य, पञ्चनद प्रदेश के नरेशगण, दुर्द्धर्ष राजा क्राथ के पुत्र, पहाड़ी राजा लोग, जनक राजा के पुत्र, सुशर्मा, मणिमान्, योतिमत्सक, पांशुराष्ट्र के राजा, वीर्यवान् धृष्टकेतु, तुण्ड, दण्डधार, वीर्यशाली बृहत्सेन, अपराजित निषादराज, श्रेणिमान्, वसुमान्, बृहद्बल, महौजा, शत्रुदमन राजा बाहुक, राजकुमार सहित पराक्रमी समुद्रसेन, उद्भव, क्षेमक, वाटधान, श्रुतायु, दृढायु, बली शाल्वपुत्र, कुमार, महायोद्धा कलिङ्गराज आदि इन सब राजाओं के पास शीघ्र दूत भेजो । ये मेरे पुरोहित ब्राह्मण विद्वान् और चतुर हैं । इनको दूत बनाकर धृतराष्ट्र के पास भेजो । जो कुछ कहना है सो इन्हें बता दो । ये दुर्योधन, भीष्म, महारथी द्रोणाचार्य और धृतराष्ट्र [illegible] तुम्हारा सँदेसा जाकर कहेंगे ॥११।२६॥

उद्योगपर्व का चौथा अध्याय समाप्त हुआ ॥ ४ ॥

अथ दर्पान्वितो मोहान्न कुर्याद्धृतराष्ट्रजः ।
अन्येषां प्रेषयित्वा च पश्चादस्मान्समाह्वयेः ॥ ९ ॥
ततो दुर्योधनो मंदः सहामात्यः सबांधवः ।
निष्ठामापत्स्यते मूढः क्रुद्धे गाण्डीवधन्वनि ॥ १० ॥
वैशम्पायन उवाच—ततः सत्कृत्य वार्ष्णेयं विराटः पृथिवीपतिः ।
गृहान्प्रस्थापयामास सगणं सहबांधवम् ॥ ११ ॥
द्वारकां तु गते कृष्णे युधिष्ठिरपुरोगमाः ।
चक्रुः सांग्रामिकं सर्वं विराटश्च महीपतिः ॥ १२ ॥
ततः संप्रेषयामास विराटः सह बांधवैः ।
सर्वेषां भूमिपालानां द्रुपदश्च महीपतिः ॥ १३ ॥
वचनात्कुरुसिंहानां मत्स्यपाञ्चालयोश्च ते ।
समाजग्मुर्महीपालाः संप्रहृष्टा महाबलाः ॥ १४ ॥
तच्छ्रुत्वा पाण्डुपुत्राणां समागच्छन्महद्बलम् ।
धृतराष्ट्रसुताश्चापि समानिन्युर्महीपतीन् ॥ १५ ॥

करेंगे। आप आचार्य द्रोण और कृपाचार्य के सखा हैं; धृतराष्ट्र भी आपको बहुत मानते हैं। आप ही पाण्डवों की ओर से उनके प्रयोजन को सिद्ध करनेवाला सँदेसा, किसी मनुष्य के हाथ, कौरवों के पास कहला भेजिए। आप जो कुछ कहला भेजेंगे वही हम सब को स्वीकार होगा ॥४।७॥

जो आपका कहा मानकर दुर्योधन न्यायानुसार पाण्डवों से मेल कर लेगा तो भाइयों का परस्पर विरोध और स्वजनों का नाश न होगा। और जो मान के मारे दुर्योधन आपका कहा न माने—आधा राज्य देने के लिए प्रसन्न न हो—तो पहले अन्य राजाओं और इष्ट-मित्रों के पास रण का निमन्त्रण भेजकर पीछे से हमें भी बुलाइएगा। तब मूढ़ मन्द बुद्धि दुर्योधन अपने मन्त्रियों और भाइयों के साथ कुपित अर्जुन के हाथ से अवश्य मारा जायगा।८।१०।

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! इसके पश्चात् राजा विराट ने अनुचरों और बान्धवों सहित श्रीकृष्ण का सत्कार करके उन्हें द्वारका जाने के लिए विदा कर दिया। उनके द्वारका जाने पर युधिष्ठिर आदि पाण्डव और राजा विराट युद्ध की तैयारियां करने लगे। राजा विराट और राजा द्रुपद ने अपने भाई-बन्धुओं के साथ सम्मति करके सब राजाओं के पास रण का निमन्त्रण भेजा। राजा विराट, राजा द्रुपद और पाण्डवों का निमन्त्रण पाकर राजा लोग प्रसन्नतापूर्वक अपनी-अपनी सेना साथ लेकर विराट की राजधानी में आने लगे ॥११।१४॥

आप वृद्ध, वेदज्ञ, ब्राह्मण और फिर दूत हैं; इसलिए आपको कौरवों से तनिक भी भय नहीं है। आज पुण्य योग और जय मुहूर्त है। युधिष्ठिर का प्रयोजन सिद्ध करने के लिए आप शीघ्र कौरवों के यहां जाने को तैयार हूजिए। वैशम्पायन ने कहा— हे राजा जनमेजय! राजा द्रुपद के ये उपदेशयुक्त वचन सुनकर नीति-शास्त्र के प्रयोजनों में निपुण, विश्वास-पात्र, सच्चरित्र पुरोहित, पाण्डवों का हित करने के लिए, अपने शिष्यों के साथ हस्तिनापुर में, कौरवों के पास गये॥१७।१९॥

उद्योगपर्व का छठवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ६ ॥

अथ सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

वैशम्पायन उवाच—पुरोहितं ते प्रस्थाप्य नगरं नागसाह्वयम् ।
दूतान्प्रस्थापयामासुः पार्थिवेभ्यस्ततस्ततः ॥ १ ॥
प्रस्थाप्य दूतानन्यत्र द्वारकां पुरुषर्षभः ।
स्वयं जगाम कौरव्यः कुन्तीपुत्रो धनंजयः ॥ २ ॥
गते द्वारवतीं कृष्णे बलदेवे च माधवे ।
सह वृष्ण्यंधकैः सर्वैर्भोजैश्च शतशस्तदा ॥ ३ ॥
सर्वमागमयामास पाण्डवानां विचेष्टितम् ।
धृतराष्ट्रात्मजो राजा गूढैः प्रणिहितैश्चरैः ॥ ४ ॥
स श्रुत्वा माधवं यांतं सद‍्श्वैरनिलोपमैः ।
बलेन नाऽतिमहता द्वारकामभ्ययात्पुरीम् ॥ ५ ॥
तमेव दिवसं चापि कौन्तेयः पाण्डुनंदनः ।
आनर्त्तनगरीं रम्यां जगामाऽऽशु धनंजयः ॥ ६ ॥
तौ यात्वा पुरुषव्याघ्रौ द्वारकां कुरुनंदनौ ।

सातवां अध्याय ॥ ७ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! द्रुपद के पुरोहित इस प्रकार दूत बनकर हस्तिनापुर को पधारे। इसके पश्चात् पाण्डवों ने अन्य अनेक दूतों को सब देशों के राजाओं के पास भेजा। दूतों को और-और जगह भेजकर अर्जुन स्वयं द्वारकापुरी में श्रीकृष्ण के पास गये ॥१।२॥

हे राजेन्द्र! जब वृष्णि, अन्धक, भोजवंश के असंख्य यादवों सहित श्रीकृष्ण और बलदेव विराट नगरी से द्वारकापुरी को गये थे, तभी गुप्त दूतों के द्वारा राजा दुर्योधन को पाण्डवों के भी का सब हाल मालूम हो गया था। उसको जब श्रीकृष्ण के द्वारका जाने का हाल मालूम हुआ तब वह, उसी दिन, वायु के समान शीघ्रगामी श्रेष्ठ घोड़ों की सवारी से बहुत थोड़ी सी सेना साथ ले द्वारका की ओर चल दिया। उसी दिन दैवयोग से अर्जुन भी शीघ्रता से रमणीय द्वारकापुरी को गये ॥३।६॥

तव पूर्वाभिगमनात्पूर्वं चाप्यस्य दर्शनात् ।
साहाय्यमुभयोरेव करिष्यामि सुयोधन ॥ १६ ॥
प्रवारणं तु बालानां पूर्वं कार्यमिति श्रुतिः ।
तस्मात्प्रवारणं पूर्वमर्हः पार्थो धनंजयः ॥ १७ ॥
मत्संहननतुल्यानां गोपानामर्बुदं महत् ।
नारायणा इति ख्याताः सर्वे संग्रामयोधिनः ॥ १८ ॥
ते वा युधि दुराधर्षा भवंत्वेकस्य सैनिकाः ।
अयुध्यमानः संग्रामे न्यस्तशस्त्रोऽहमेकतः ॥ १९ ॥
आभ्यामन्यतरं पार्थ यत्ते हृद्यतरं मतम् ।
तद् वृणीतां भवानग्रे प्रवार्यस्त्वं हि धर्मतः ॥ २० ॥
वैशम्पायन उवाच—एवमुक्तस्तु कृष्णेन कुंतीपुत्रो धनंजयः ।
अयुध्यमानं संग्रामे वरयामास केशवम् ॥ २१ ॥
नारायणममित्रघ्नं कामाज्जातमजं नृषु ।
सर्वक्षत्रस्य पुरतो देवदानवयोरपि ॥ २२ ॥
दुर्योधनस्तु तत्सैन्यं सर्वमावरयत्तदा ।
सहस्राणां सहस्रं तु योधानां प्राप्य भारत ॥ २३ ॥

उनके माननीय हैं । इसलिए सज्जनों के सदाचार का पालन कीजिए ॥१०।१५॥

श्रीकृष्ण ने कहा—हे दुर्योधन ! यह सत्य है कि आप पहले आये हैं, किन्तु मैंने पहले अर्जुन को ही देखा है । इसलिए मैं दोनों की सहायता करूगा। यह बात प्रसिद्ध है कि बालकों की ही इच्छा पहले पूर्ण की जाती हैं, इसलिए आपसे पहले अर्जुन की इच्छा ही पूर्ण करनी चाहिए । मैं अपनी ओर से दो प्रकार की सहायताओं का प्रस्ताव करता हू । उनमें से अर्जुन जिसे चाहें उसे ले लें । मेरे पास एक अर्बुद (दस करोड़) नारायण नाम से प्रसिद्ध मेरे ही समान दृढ-शरीरवाले बली, गोपों की सेना है । उन योद्धाओं की नारायणी सेना एक ओर से युद्ध करेगी और एक ओर, युद्ध न करने का प्रण करके, निहत्था मैं रहूँगा । हे अर्जुन ! इन दोनों प्रकार की सहायताओं में से जिसे तुम पसन्द करो, उसे ले लो । धर्मके अनुसार तुम्हीं को पहले अपनी इच्छा के अनुसार मांगने का अधिकार है, [क्योंकि तुम दुर्योधन से छोटे हो । जो चाहो, पसन्द कर लो ।] ॥१६।२०॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! श्रीकृष्ण के निहत्थे और युद्ध से विमुख रहने की बात सुनकर भी अर्जुन ने उन्हीं को मांग लिया । अपनी इच्छा से यदुवंश में उत्पन्न शत्रुनाशन नारायण को सबके आगे अर्जुन ने जब अपने पक्ष में ले

सोऽभ्ययात्कृतवर्माणं धृतराष्ट्रसुतो नृपः ।
कृतवर्मा ददौ तस्य सेनामक्षौहिणीं तदा ॥ ३२ ॥
स तेन सर्वसैन्येन भीमेन कुरुनंदनः ।
वृतः परिययौ हृष्टः सुहृदः संप्रहर्षयन् ॥ ३३ ॥
ततः पीतांबरधरो जगत्स्रष्टा जनार्दनः ।
गते दुर्योधने कृष्णः किरीटिनमथाऽब्रवीत् ॥ ३४ ॥
अयुध्यमानः कां बुद्धिमास्थायाऽहं वृतस्त्वया ।
अर्जुन उवाच—भवान्समर्थस्तान्सर्वान्निहंतुं नाऽत्र संशयः ।
निहंतुमहमप्येकः समर्थः पुरुषर्षभ ॥ ३५ ॥
भवांस्तु कीर्तिमाँल्लोके तद्यशस्त्वां गमिष्यति ।
यशसां चाऽहमप्यर्थी तस्मादसि मया वृतः ॥ ३६ ॥
सारथ्यं तु त्वया कार्यमिति मे मानसं सदा ।
चिररात्रेप्सितं कामं तद्भवान्कर्तुमर्हति ॥ ३७ ॥
वासुदेव उवाच—उपपन्नमिदं पार्थ यत्स्पर्द्धसि मया सह ।
सारथ्यं ते करिष्यामि कामः संपद्यतां तव ॥ ३८ ॥
वैशम्पायन उवाच—एवं प्रमुदितः पार्थः कृष्णेन सहितस्तदा ।
वृतो दाशार्हप्रवरैः पुनरायाद्युधिष्ठिरम् ॥ ३९ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि कृष्णसारथ्यस्वीकारे सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

जीत का निश्चय करके, दुर्योधन कृतवर्मा यादव के पास गया। उसने अपनी एक अक्षौहिणी सेना दुर्योधन को दे दी। उस भयानक सेना को साथ लिए प्रसन्नता से दुर्योधन अपने इष्ट-मित्रों को आनन्दित करता हुआ हस्तिनापुर को गया ॥३१।३३॥

उसके चले जाने पर पीताम्बरधारी श्रीकृष्ण ने अर्जुन से पूछा—हे अर्जुन! तुमने मुझे युद्ध से विमुख जानकर भी क्या समझकर अपने पक्ष में लिया? ॥३४।३५॥

अर्जुन ने कहा—हे यदुनन्दन! आपका यश त्रिभुवन में व्याप्त है और आप धृतराष्ट्र के सब पुत्रों को अकेले मार सकते हैं। परन्तु मैं अकेला ही उन सब शत्रुओं को मारकर यशस्वी बनना चाहता हूं। [मुझे विश्वास है कि मैं अकेला ही सब शत्रुओं को मार सकता हू।] इसी से मैंने आपको निःशस्त्र और युद्ध से विमुख देखकर प्रसन्नता के साथ अपने पक्ष में लिया है। बहुत दिनों से मेरी इच्छा थी कि इस महायुद्ध में आप मेरे सारथी बनें, सो मेरी यह इच्छा आप अवश्य पूर्ण कीजिये ॥३६।३७॥

श्रीकृष्ण ने कहा—हे अर्जुन! सब तरह यह तुम्हारे योग्य ही है कि तुम मेरी बराबरी का दावा रखते हो। मैं इस युद्ध में सारथी बनकर तुम्हारी इच्छा पूर्ण करूंगा ॥३८॥

रमणीयेषु देशेषु रत्नचित्राः स्वलंकृताः ॥ ८ ॥
शिल्पिभिर्विविधैश्चैव क्रीडास्तत्र प्रयोजिताः ।
तत्र माल्यानि मांसानि भक्ष्यं पेयं च सत्कृतम् ॥ ९ ॥
कूपाश्च विविधाकारा मनोहर्षविवर्धनाः ।
वाप्यश्च विविधाकारा औदकानि गृहाणि च ॥ १० ॥
स ताः सभाः समासाद्य पूज्यमानो यथाऽमरः ।
दुर्योधनस्य सचिवैर्देशे देशे समंततः ॥ ११ ॥
आजगाम सभामन्यां देवावसथवर्चसम् ।
स तत्र विषयैर्युक्तैः कल्याणैरतिमानुषैः ॥ १२ ॥
मेनेऽभ्यधिकमात्मानमवमेने पुरंदरम् ।
पप्रच्छ सततः प्रेष्यान्प्रहृष्टः क्षत्रियर्षभः ॥ १३ ॥
युधिष्ठिरस्य पुरुषाः केऽत्र चक्रुः सभा इमाः ।
आनीयंतां सभाकाराः प्रदेयार्हा हि मे मताः ॥ १४ ॥
प्रसादमेषां दास्यामि कुंतीपुत्रोऽनुमन्यताम् ।
दुर्योधनाय तत्सर्वं कथयंति स्म विस्मताः ॥ १५ ॥
संप्रहृष्टो यदा शल्यो दिदित्सुरपि जीवितम् ।
गूढो दुर्योधनस्तत्र दर्शयामास मातुलम् ॥ १६ ॥

शल्य के सत्कार के लिए, दुर्योधन की आज्ञा से, बढ़िया कारीगरों ने रमणीय स्थानों में रत्नमण्डित सुसज्जित सभाभवन बना दिये। उनमें मनोरञ्जन के लिए बहुत सी वस्तुएं रखवा दी गईं। माला, मांस, स्वादिष्ठ खाने-पीने की सामग्री, कुएँ, अनेक आकार की बावलियां और जल के भीतर बने हुए घर उन स्थानों में थे ॥८।१०॥

प्रत्येक देश में, हर एक सभा में, दुर्योधन के मनुष्यों ने, शल्य की सेवा और सत्कार बढ़ चढ़कर किया। मद्रराज शल्य इस प्रकार विश्राम और सुख भोगते हुए एक सभाभवन में पहुंचे। वह सभाभवन देवताओं के निवासभवन के समान अलौकिक सुख-दायक पदार्थों से भरा हुआ था। उस स्थान को और वहां की सामग्री को देखकर शल्य बहुत ही प्रसन्न हुए। तरह-तरह के सत्कारों से सन्तुष्ट शल्य इन्द्र को भी अपने से कम सुखी समझने लगे। तब क्षत्रियश्रेष्ठ शल्य ने प्रसन्न होकर वहां उपस्थित कर्मचारियों से पूछा—युधिष्ठिर के किन मनुष्यों ने राह में ये ठहरने के [पड़ाव और रहने के] स्थान बनाये हैं? मैं उन्हें पुरस्कार पाने के योग्य समझता हूं। उन्हें ले आओ। मैं पारितोषिक दूंगा। मुझे पूर्ण आशा है कि युधिष्ठिर मेरे इस विचार का अनुमोदन करेंगे ॥११।१५॥

दुर्योधन छिपा हुआ शल्य के साथ ही था।

स तथा शल्यमामंत्र्य पुनरायात्स्वकं पुरम् ।
शल्यो जगाम कौन्तेयानाख्यातुं कर्म तस्य तत् ॥ २४ ॥
उपप्लव्यं स गत्वा तु स्कंधावारं प्रविश्य च ।
पांडवानथ तान्सर्वान्शल्यस्तत्र ददर्श ह ॥ २५ ॥
समेत्य च महाबाहुः शल्यः पाण्डुसुतैस्तदा ।
पाद्यमर्घ्यं च गां चैव प्रत्यगृह्णाद्यथाविधि ॥ २६ ॥
ततः कुशलपूर्वं हि मद्रराजोऽरिसूदनः ।
प्रीत्या परमया युक्तः समाश्लिष्य युधिष्ठिरम् ॥ २७ ॥
तथा भीमार्जुनौ कृष्णौ स्वस्त्रीयौ च यमावुभौ ।
आसने चोपविष्टस्तु शल्यः पार्थमुवाच ह ॥ २८ ॥
कुशलं राजशार्दूल कच्चित्ते कुरुनंदन ।
अरण्यवासाद्दिष्ट्याऽसि विमुक्तो जयतां वर ॥ २९ ॥
सुदुष्करं कृतं राजन्निर्जने वसता त्वया ।
भ्रातृभिः सह राजेन्द्र कृष्णया चाऽनया सह ॥ ३० ॥
अज्ञातवासं घोरं च वसता दुष्करं कृतम् ।
दुःखमेव कुतः सौख्यं भ्रष्टराज्यस्य भारत ॥ ३१ ॥

मैं शीघ्र ही लौटकर आ जाऊंगा। वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! इसके पश्चात् दोनों परस्पर गले लगकर मिले। दुर्योधन तो शल्य से बिदा होकर अपनी राजधानी को लौट गया और मद्रराज शल्य पाण्डवों से दुर्योधन की यह चतुराई बतलाने को उनके पास गये। मत्स्यराज विराट की राजधानी के उपप्लव्य प्रदेश में पहुंचकर, सेना की छावनी के भीतर जाकर, शल्य ने पाण्डवों से भेंट की ॥२३।२५॥

बहुत दिनों के पश्चात् मामा शल्य को आये देखकर युधिष्ठिर आदि पाण्डव अपने आसनों से उठ बैठे। युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन अपने भानजे नकुल और सहदेव आदि से मिलकर शल्य को बड़ी प्रसन्नता हुई। धर्मात्मा युधिष्ठिर ने पुरोहित के द्वारा गाय, पाद्य, अर्घ्य आदि देकर, हाथ जोड़कर, शल्य से कहा—हे राजेन्द्र ! हम आपका स्वागत करते हैं। यह आसन लीजिए और बैठिए। पाण्डवों के बीच में उस सुवर्णमय आसन पर बैठकर शल्य ने युधिष्ठिर से कहा—हे राजेन्द्र ! तुम सब प्रकार से सकुशल हो न ? बड़े ही भाग्य की बात है कि तुमने द्रौपदी और भाइयों सहित निर्जन वन में रहकर, घोर अज्ञातवास व्यतीत करके, दुष्कर कार्य करते हुए अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण कर ली। हे भरतश्रेष्ठ ! राज्य से भ्रष्ट पुरुष को दुःख के सिवा सुख कहां ? ॥२६।३१॥

युधिष्ठिर उवाच—सुकृतं ते कृतं राजन्प्रहृष्टेनांऽतरात्मना ।
दुर्योधनस्य यद्वीर त्वया वाचा प्रतिश्रुतम् ॥ ४० ॥
एकं त्विच्छामि भद्रं ते क्रियमाणं महीपते ।
राजन्नकर्त्तव्यमपि कर्तुमर्हसि सत्तम ॥ ४१ ॥
मम त्ववेक्षया वीर शृणु विज्ञापयामि ते ।
भवानिह महाराज वासुदेवसमो युधि ॥ ४२ ॥
कर्णार्जुनाभ्यां संप्राप्ते द्वैरथे राजसत्तम ।
कर्णस्य भवता कार्यं सारथ्यं नाऽत्र संशयः ॥ ४३ ॥
तत्र पाल्योऽर्जुनो राजन्यदि मत्प्रियमिच्छसि ।
तेजोवधश्च ते कार्यः सौतेरस्मज्जयावहः ॥ ४४ ॥
अकर्तव्यमपि ह्येतत्कर्तुमर्हसि मातुल ।
शल्य उवाच—शृणु पाण्डव भद्रं ते यद्ब्रवीषि महात्मनः ।
तेजोवधनिमित्तं मां सूतपुत्रस्य संगमे ॥ ४५ ॥
अहं तस्य भविष्यामि संग्रामे सारथिर्ध्रुवम् ।
वासुदेवेन हि समं नित्यं मां स हि मन्यते ॥ ४६ ॥
तस्याऽहं कुरुशार्दूल प्रतीपमहितं वचः ।
ध्रुवं संकथयिष्यामि योद्धुकामस्य संयुगे ॥ ४७ ॥

दिये हुए वरदान का सब समाचार युधिष्ठिर से कहा॥३९॥

तब धर्मराज ने शल्य से कहा—हे मामाजी! आपने प्रसन्न होकर जो कुछ किया वह बहुत अच्छा किया। हे वीर! आपने दुर्योधन से जो निश्चय कर लिया सो बहुत ठीक किया। किन्तु एक बात मैं भी आपसे करना चाहता हूँ। अकर्तव्य होने पर भी आप मेरी भलाई के लिए वह काम अवश्य करें। सुनिए, आप युद्ध में श्रीकृष्ण के समान हैं। जिस समय कर्ण और अर्जुन से द्वन्द्व युद्ध होगा उस समय आपको अवश्य कर्ण का सारथी बनना पड़ेगा; क्योंकि रथ हांकने की कला में आप श्रीकृष्ण से कम नहीं हैं। इसलिए जो आप मेरा हित करना चाहते हैं तो उस समय, हमारी जीत होने के लिए अर्जुन की सहायता कीजिएगा; अर्थात् कर्ण [के मुख पर उसकी निन्दा करके उस] का उत्साह कम करते जाइएगा। [इस प्रकार तेज घट जाने से कर्ण को मारना अर्जुन के लिए सहज हो जायगा।] यद्यपि यह कार्य अनुचित है, तो भी आपको करना ही पड़ेगा ॥ ४०।४५॥

शल्य ने कहा—हे वत्स! तुम्हारा भला हो। तुम वीर कर्ण का तेज हरने के लिए जो कहते हो, वह मैं अवश्य करूंगा। कर्ण मुझे श्रीकृष्ण के समान

शल्य उवाच—शृणु राजन्पुरावृत्तमितिहासं पुरातनम् ।
सभार्येण यथा प्राप्तं दुःखमिंद्रेण भारत ॥ २ ॥
त्वष्टा प्रजापतिर्ह्यासीद्देवश्रेष्ठो महातपाः ।
स पुत्रं वै त्रिशिरसमिंद्रद्रोहात्किलाऽसृजत् ॥ ३ ॥
ऐंद्रं स प्रार्थयत्स्थानं विश्वरूपो महाद्युतिः ।
तैस्त्रिभिर्वदनैर्घोरैः सूर्येंदुज्वलनोपमैः ॥ ४ ॥
वेदानेकेन सोऽधीते सुरामेकेन चाऽपिबत् ।
एकेन च दिशः सर्वाः पिबन्निव निरीक्षते ॥ ५ ॥
स तपस्वी मृदुर्दान्तो धर्मे तपसि चोद्यतः ।
तपस्तस्य महत्तीव्रं सुदुश्चरमरिंदम ॥ ६ ॥
तस्य दृष्ट्वा तपोवीर्यं सत्यं चाऽमिततेजसः ।
विषादमगमच्छक्र इंद्रोऽयं मा भवेदिति ॥ ७ ॥
कथं सज्जेच्च भोगेषु न च तप्येन्महत्तपः ।
विवर्धमानस्त्रिशिराः सर्वं हि भुवनं ग्रसेत् ॥ ८ ॥
इति संचिंत्य बहुधा बुद्धिमान्भरतर्षभ ।
आज्ञापयत्सोऽप्सरसस्त्वष्टृपुत्रप्रलोभने ॥ ९ ॥

नवां अध्याय ॥ ९ ॥

युधिष्ठिर ने कहा—हे मामाजी ! इन्द्र को किसलिए घोर दुःख सहना पड़ा ? कृपा करके कहिए । सुनने के लिए मेरा जी चाहता है ॥१॥

शल्य ने कहा—हे तात ! इन्द्राणी सहित इन्द्र को जैसे दुःख प्राप्त हुआ, वह प्राचीन इतिहास मैं तुमसे कहता हूं, सुनो ॥२॥

पूर्व समय में एक त्वष्टा नाम के महातपस्वी देवताओं में श्रेष्ठ, प्रजापति थे । उन्होंने इन्द्र के द्रोह से, उनका अनिष्ट करने के लिए, तीन सिर का एक पुत्र उत्पन्न किया । उसके तीनों मुख सूर्य, चन्द्र और अग्नि के समान थे। महातेजस्वी विश्वरूप त्रिशिरा ने इन्द्र का पद छीन लेना चाहा । वे एक मुख से वेदपाठ, दूसरे मुख से सुरा-पान और तीसरे मुख से मानों सब दिशाओं को पी जायंगे ॥३।५॥

इस तरह चारों ओर देख रहे थे। महातेजस्वी विश्वरूप स्वभाव से ही तपस्वी, कोमल-प्रकृति, जितेन्द्रिय और धर्मनिष्ठ थे । वे इन्द्र-पद प्राप्त करने की इच्छा से अत्यन्त कठिन तप करने लगे। महातेजस्वी त्रिशिरा के सत्य और तप के बल को देखकर इन्द्र को बड़ा खेद हुआ। वे सोचने लगे कि यह कहीं इन्द्र न हो जाय। उन्होंने सोचा, क्या उपाय करना चाहिए, जिससे विश्वरूप यह महातप करना छोड़कर भोगों में आसक्त हो जाय। तपके द्वारा बढ़कर यह त्रिशिरा सब भुवनों के राज्य पर अधिकार कर लेगा ॥६।८॥

कृतांजलिपुटाः सर्वा देवराजमथाऽब्रुवन् ।
न स शक्यः सुदुर्धर्षो धैर्याच्चालयितुं प्रभो ॥ १८ ॥
यत्ते कार्यं महाभाग क्रियतां तदनंतरम् ।
संपूज्याऽप्सरसः शक्रो विसृज्य च महामतिः ॥ १९ ॥
चिंतयामास तस्यैव वधोपायं युधिष्ठिर ।
स तूष्णीं चिंतयन्वीरो देवराजः प्रतापवान् ॥ २० ॥
विनिश्चितमतिर्धीमान्वधे त्रिशिरसोऽभवत् ।
वज्रमस्य क्षिपाम्यद्य स क्षिप्रं न भविष्यति ॥ २१ ॥
शत्रुः प्रवृद्धो नोपेक्ष्यो दुर्बलोऽपि बलीयसा ।
शास्त्रबुद्ध्या विनिश्चित्य कृत्वा बुद्धिं वधे दृढाम् ॥ २२ ॥
अथ वैश्वानरनिभं घोररूपं भयावहम् ।
मुमोच वज्रं संक्रुद्धः शक्रस्त्रिशिरसं प्रति ॥ २३ ॥
स पपात हतस्तेन वज्रेण दृढमाहतः ।
पर्वतस्येव शिखरं प्रणुन्नं मेदिनीतले ॥ २४ ॥
तं तु वज्रहतं दृष्ट्वा शयानमचलोपमम् ।
न शर्म लेभे देवेंद्रो दीपितस्तस्य तेजसा ॥ २५ ॥

लगीं। महातपस्वी त्रिशिरा इन्द्रियदमन करके भरे हुए समुद्र के समान अटल भाव से बैठे हुए थे, इसलिए वे अप्सराओं के प्रलोभन दिखाने पर भी न तो विचलित हुए, और न यह समझकर हर्षित ही हुए कि मुझे मेरे तप का फल मिल गया। इस प्रकार कार्य सिद्ध न होने पर अप्सराएं इन्द्र के पास लौट गईं और हाथ जोड़कर कहने लगीं—हे भगवन्! हम किसी उपाय से दुर्द्धर्ष तपस्वी त्रिशिरा के चित्त को चलायमान नहीं कर सकीं। हे महाभाग! उनका धैर्य अटल है। अब आप अपना जो कर्तव्य समझिए सो कीजिए ॥१८।१९॥

तब यथोचित सम्मान के साथ अप्सराओं को विदा करके इन्द्र, त्रिशिरा के मारने का, उपाय सोचने लगे। कुछ देर तक सोचकर उन्होंने निश्चय किया कि वज्र-प्रहार करने से त्रिशिरा अवश्य मारा जा सकता है। दुर्बल शत्रु की जड़ जब दृढ़ हो रही हो तब प्रबल पुरुष को उसकी ओर से निश्चिन्त न रहना चाहिए। इस प्रकार शास्त्र के कथन पर विचार करके उन्होंने त्रिशिरा को मार डालने का निश्चय किया ॥२०।२२॥

इन्द्र ने कुपित होकर अग्नितुल्य घोररूप, भयानक वज्र त्रिशिरा के ऊपर चलाया। वज्र की चोट से त्रिशिरा, कटकर गिरे हुए पर्वत-शिखर की तरह पृथ्वी पर गिर पड़े। हे महाराज! इस तरह त्वष्टा

तक्षोवाच—क्रूरेण नाऽपत्रपसे कथं शक्रेह कर्मणा ।
ऋषिपुत्रमिमं हत्वा ब्रह्महत्याभयं न ते ॥ ३४ ॥
शक्र उवाच—पश्चाद्धर्मं चरिष्यामि पावनार्थं सुदुश्चरम् ।
शत्रुरेष महावीर्यो वज्रेण निहतो मया ॥ ३५ ॥
अद्यापि चाऽहमुद्विग्नस्तक्षन्नस्माद्बिभेमि वै ।
क्षिप्रं छिंधि शिरांसि त्वं करिष्येऽनुग्रहं तव ॥ ३६ ॥
शिरः पशोस्ते दास्यंति भागं यज्ञेषु मानवाः ।
एष तेऽनुग्रहस्तक्षन्क्षिप्रं कुरु मम प्रियम् ॥ ३७ ॥
शल्य उवाच—एतच्छ्रुत्वा तु तक्षा स महेंद्रवचनात्तदा ।
शिरांस्यथ त्रिशिरसः कुठारेणाऽच्छिनत्तदा ॥ ३८ ॥
निकृत्तेषु ततस्तेषु निष्क्रामन्नण्डजास्त्वथा ।
कपिंजलास्तित्तिराश्च कलविंकाश्च सर्वशः ॥ ३९ ॥
येन वेदानधीते स्म पिबते सोममेव च ।
तस्माद्वक्त्राद्विनिश्चेरुः क्षिप्रं तस्य कपिंजलाः ॥ ४० ॥
येन सर्वा दिशो राजन्पिबन्निव निरीक्षते ।
तस्माद्वक्त्राद्विनिश्चेरुस्तित्तिरास्तस्य पांडव ॥ ४१ ॥
यत्सुरापं तु तस्याऽऽसीद्वक्त्रं त्रिशिरसस्तदा ।
कलविंकाः समुत्पेतुः श्येनाश्च भरतर्षभ ॥ ४२ ॥

हूं। हे बढ़ई! मेरा कहा करने में कुछ सोच-विचार मत करो ॥३३॥

बढ़ई ने नम्रता के साथ हाथ जोड़कर कहा—हे देवराज! इस क्रूर कर्म से तुम्हें लज्जा नहीं आती? इस ऋषिपुत्र को मारने में तुम ब्रह्महत्या से नहीं डरे ॥३४॥

इन्द्र ने कहा—मैं कठिन [तप] धर्म करके पीछे इस पाप से छुटकारा पा लूंगा। यह महावीर्य तपस्वी मेरा शत्रु है। मैं इसे वज्र से मार चुका हूं, पर अभी तक भय और व्याकुलता बनी हुई है। इसलिए तुम शीघ्रता से इसके तीनों सिर काट डालो। मैं तुम्हें यह वर देता हूं कि अब लोग तुम्हें यज्ञ में मारे गये पशु का सिर, यज्ञ के भाग में, देंगे ।३५।३७।

शल्य ने कहा—हे राजेन्द्र! तब बढ़ई ने, इन्द्र की आज्ञा पाकर, कुल्हाड़ी से त्रिशिरा के तीनों सिर काट डाले। उन सिरों के कटने पर छिद्रों से कपिंजल (पपीहा), तीतर और कलविंक (गौरैया) नाम के तीन प्रकार के पक्षी निकले। विश्वरूप जिस मुंह से वेद-पाठ और सोम-पान करते थे, उससे कपिंजल पक्षी निकले। जिस मुंह से वे मानों सब दिशाओं को पी लेंगे, ऐसी दृष्टि से देखते थे, उस मुंह से

संक्रुद्धयोर्महाघोरं प्रसक्तं कुरुसत्तम ।
ततो जग्राह देवेन्द्रं वृत्रो वीरः शतक्रतुम् ॥ ५१ ॥
अपावृत्याऽक्षिपद्वक्रे शक्रं कोपसमन्वितः ।
ग्रस्ते वृत्रेण शक्रे तु संभ्रांतास्त्रिदिवेश्वराः ॥ ५२ ॥
असृजंस्ते महासत्वा जृंभिकां वृत्रनाशिनीम् ।
विजृंभमाणस्य ततो वृत्रस्याऽऽस्यादपावृतात् ॥ ५३ ॥
स्वान्यंगान्यभिसंक्षिप्य निष्क्रांतो बलनाशनः ।
ततः प्रभृति लोकस्य जृंभिका प्राणसंश्रिता ॥ ५४ ॥
जहृषुश्च सुराः सर्वे दृष्ट्वा शक्रं विनिःसृतम् ।
ततः प्रववृते युद्धं वृत्रवासवयोः पुनः ॥ ५५ ॥
संरब्धयोस्तदा घोरं सुचिरं भरतर्षभ ।
यदा व्यवर्धत रणे वृत्रो बलसमन्वितः ॥ ५६ ॥
त्वष्टुस्तेजोबलाविद्धस्तदा शक्रो न्यवर्तत ।
निवृत्ते च तदा देवा विषादमगमन्परम् ॥ ५७ ॥
समेत्य सह शक्रेण त्वष्टुस्तेजोविमोहिताः ।
अमंत्रयंत ते सर्वे मुनिभिः सह भारत ॥ ५८ ॥
किं कार्यमिति वै राजन्विचिंत्य भयमोहिताः ।
जग्मुः सर्वे महात्मानं मनोभिर्विष्णुमव्ययम् ।
उपविष्टा मंदराग्रे सर्वे वृत्रवधेप्सवः ॥ ५९ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि इंद्रविजये नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

उनके यों कहने पर महाबली वृत्रासुर तुरन्त देवपुरी में पहुंचा। कुपित वृत्रासुर ने घोर-युद्ध करते-करते इन्द्र को अपने विशाल मुख के भीतर रख लिया। देवताओं ने व्याकुल होकर उसे मारने के लिए प्रबल जृम्भिका (जँभाई) को उत्पन्न किया। वृत्र ने जँभाते समय ज्योंही मुँह खोला त्योंही उससे इन्द्र, सब अङ्ग समेटकर, बाहर निकल आये। यह देखकर देवता बहुत प्रसन्न हुए। तभी से सब जीवित प्राणी जँभाई लेते हैं ॥५०।५४॥

इसके पश्चात् फिर वृत्रासुर और इन्द्र का घोर संग्राम होने लगा। बहुत दिनों तक लगातार संग्राम होता रहा। अब वृत्रासुर, त्वष्टा की तपस्या के प्रभाव से, अत्यन्त बढ़ने लगा। यह देखकर इन्द्र बहुत व्याकुल हुए और युद्धभूमि छोड़कर भाग खड़े हुए।

अमृतं चाऽऽहृतं विष्णो दैत्याश्च निहता रणे ।
वलिं वध्वा महादैत्यं शक्रो देवाधिपः कृतः ॥ ७ ॥
त्वं प्रभुः सर्वदेवानां त्वया सर्वमिदं ततम् ।
त्वं हि देवो महादेवः सर्वलोकनमस्कृतः ॥ ८ ॥
गतिर्भव त्वं देवानां सेंद्राणाममरोत्तम ।
जगद्व्याप्तमिदं सर्वं वृत्रेणाऽसुरसूदन ॥ ९ ॥
विष्णुरुवाच—अवश्यं करणीयं मे भवतां हितमुत्तमम् ।
तस्मादुपायं वक्ष्यामि यथाऽसौ न भविष्यति ॥ १० ॥
गच्छध्वं सर्षिगंधर्वा यत्राऽसौ विश्वरूपधृक् ।
साम तस्य प्रयुंजध्वं तत एनं विजेष्यथ ॥ ११ ॥
भविष्यति जयो देवाः शक्रस्य मम तेजसा ।
अदृश्यश्च प्रवेक्ष्यामि वज्रे ह्यस्याऽऽयुधोत्तमे ॥ १२ ॥
गच्छध्वमृषिभिः सार्द्धं गंधर्वैश्च सुरोत्तमाः ।
वृत्रस्य सह शक्रेण संधिं कुरुत मा चिरम् ॥ १३ ॥
शल्य उवाच—एवमुक्ते तु देवेन ऋषयस्त्रिदशास्तथा ।
ययुः समेत्य सहिताः शक्रं कृत्वा पुरःपरम् ॥ १४ ॥
समीपमेत्य च यदा सर्व एव महौजसः ।
तं तेजसा प्रज्वलितं प्रतपन्तं दिशो दश ॥ १५ ॥

आपने तीनों लोकों को तीन पग में नाप लिया है । आपने ही युद्ध में दैत्यों को मारा और देवताओं को अमृत पिलाया है । महादैत्य बलि को बाधकर आपने ही इन्द्र को देवताओं का राजा बनाया है । आप सब देवताओं के प्रभु और सब जगत् में व्याप्त हैं। हे महादेव ! आप वह देव हैं जिनकी सब लोक वंदना करते हैं । हे शत्रुदमन ! इस समय वृत्रासुर ने सब जगत् को अपने अधिकार में कर लिया है। इन्द्र-सहित हम सब देवताओं की गति या आश्रय आप ही हैं । इस समय वृत्रासुर से हमें बचाइए ॥६।९॥

विष्णु ने कहा—हे देवताओ ! मुझे तुम्हारी भलाई करनी चाहिए। इसलिए मैं तुम्हें ऐसा उपाय बताता हूं जिससे तुम उस शत्रु को मार सकोगे। तुम लोग ऋषियों और गन्धर्वों को साथ लेकर विश्व-रूपधारी वृत्रासुर के पास जाओ । वहां उसके साथ साम-नीति का व्यवहार करो । तब तुम उसको जीत सकोगे । मैं इन्द्र के श्रेष्ठ शस्त्र वज्र में अदृश्य भाव से प्रवेश करूंगा । इसलिए तुम लोग शीघ्र ही जाकर वृत्रासुर से इन्द्र की सान्धि करा दो ॥१०।१३॥

शल्य ने कहा—हे राजा युधिष्ठिर ! तब विष्णु

दृढं सतां संगतं चापि नित्यं ब्रूयाच्चाऽर्थं ह्यर्थकृच्छ्रेषु धीरः ।
महार्थवत्सत्पुरुषेण संगतं तस्मात्संतं न जिघांसेत धीरः ॥ २४ ॥
इंद्रः सतां संमतश्च निवासश्च महात्मनाम् ।
सत्यवादी ह्यनिंद्यश्च धर्मवित्सूक्ष्मनिश्चयः ॥ २५ ॥
तेन ते सह शक्रेण संधिर्भवतु नित्यदा ।
एवं विश्वासमागच्छ मा ते भूद् बुद्धिरन्यथा ॥ २६ ॥
शल्य उवाच—महर्षिवचनं श्रुत्वा तानुवाच महाद्युतिः ।
अवश्यं भगवंतो मे माननीयास्तपस्विनः ॥ २७ ॥
ब्रवीमि यदहं देवास्तत्सर्वं क्रियते यदि ।
ततः सर्वं करिष्यामि यदूचुर्मां द्विजर्षभाः ॥ २८ ॥
न शुष्केण न चाऽऽर्द्रेण नाऽश्मना न च दारुणा।
न शस्त्रेण न चाऽस्त्रेण न दिवा न तथा निशि ॥ २९ ॥
वध्यो भवेयं विप्रेंद्राः शक्रस्य सह दैवतैः ।
एवं मे रोचते संधिः शक्रेण सह नित्यदा ॥ ३० ॥
बाढमित्येव ऋषयस्तमूचुर्भरतर्षभ ।
एवं वृत्ते तु संधाने वृत्रः प्रमुदितोऽभवत् ॥ ३१ ॥

पश्चात् जो होना है वह तो होगा ही। सत्सङ्ग का अवसर हाथ से न जाने देना चाहिए। इसी कारण सत्सङ्ग एक प्रार्थनीय वस्तु है। सज्जनों का सङ्ग अर्थात् मित्रता दृढ होती है। धीर पुरुष आर्थिक कष्टके समय उसे ही धन समझते हैं। सज्जनों का समागम एक अमूल्य और प्रयोजनीय पदार्थ है। इसी लिए धीर पुरुष को चाहिए कि सज्जन से द्रोह और उसकी हिंसा करने की इच्छा अपने मन में न रक्खे। इन्द्र सज्जन है और महात्मा पुरुषों के लिए आश्रयरूप हैं। इसके सिवा वे सत्यवादी, प्रशंसनीय, धर्मज्ञ और सूक्ष्मदर्शी भी हैं। इसलिए तुम विश्वास करके सदा के लिए उनसे मित्रता कर लो। निरर्थक सोच-विचार मत करो ॥२१।२६॥

ऋषियों के यों कहने पर तेजस्वी वृत्रासुर ने कहा—हे तपस्वियो! इसमें सन्देह नहीं कि आप मेरे पूजनीय हैं। अच्छा, मैं जो कुछ कहता हूं उसे देवता लोग मान लें तो मैं उनके साथ मित्रता कर सकता हूं। देखिए, इन्द्र और सब देवता मुझे सूखे या गीले पदार्थ से, लोहे के शस्त्र या लकड़ी से, पत्थर से, किसी अस्त्र से, दिन को या रात्रि को न मार सकें। इस प्रतिज्ञा पर मैं इन्द्रसे सन्धि करने को प्रसन्न हूं।२७।३०।

ऋषियों ने देवताओं की ओर से सब स्वीकार कर लिया। इस प्रकार सन्धि हो जाने पर वृत्रासुर बहुत प्रसन्न हुआ। इन्द्र भी बहुत प्रसन्न हुए और

ततो देवाः सगंधर्वा यक्षरक्षोमहोरगाः ।
ऋषयश्च महेन्द्रं तमस्तुवन्विविधैः स्तवैः ॥ ४१ ॥
नमस्कृतः सर्वभूतैः सर्वभूतान्यसांत्वयत् ।
हत्वा शत्रुं प्रहृष्टात्मा वासवः सह दैवतैः ॥ ४२ ॥
विष्णुं त्रिभुवनश्रेष्ठं पूजयामास धर्मवित् ।
ततो हते महावीर्ये वृत्रे देवभयंकरे ॥ ४३ ॥
अनृतेनाऽभिभूतोऽभूच्छक्रः परमदुर्मनाः ।
त्रैशीर्षयाऽभिभूतश्च स पूर्वं ब्रह्महत्यया ॥ ४४ ॥
सोऽन्तमाश्रित्य लोकानां नष्टसंज्ञो विचेतनः ।
न प्राज्ञायत देवेंद्रस्त्वभिभूतः सकल्मषैः ॥ ४५ ॥
प्रतिच्छन्नोऽवसच्चाऽप्सु चेष्टमान इवोरगः ।
ततः प्रनष्टे देवेंद्रे ब्रह्महत्याभयार्दिते ॥ ४६ ॥
भूमिः प्रध्वस्तसंकाशा निर्वृक्षा शुष्ककानना ।
विच्छिन्नस्रोतसो नद्यः सरांस्यनुदकानि च ॥ ४७ ॥
संक्षोभश्चापि सत्वानामनावृष्टिकृतोऽभवत् ।
देवाश्चापि भृशं त्रस्तास्तथा सर्वे महर्षयः ॥ ४८ ॥

उस फेने-सहित वज्र के भीतर प्रवेश करके विष्णु ने वृत्रासुर को मार डाला। वृत्रासुर के मरने पर दिशाएँ प्रकाशित हो उठीं। सुख पहुंचानेवाली शीतल वायु चलने लगी ॥३७।४०॥

त्रिलोकी की प्रजा प्रसन्न हो उठी। तब देवता, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, नाग और ऋषिगण इन्द्र की स्तुति करने लगे। सब प्राणियों ने इन्द्र को प्रणाम किया, इन्द्र ने भी उन्हें धैर्य दिया। देवताओं-सहित इन्द्र, शत्रु को मारकर, बहुत प्रसन्न हुए। फिर धर्मज्ञ इन्द्र ने त्रिभुवन में श्रेष्ठ विष्णु की पूजा की। हे महाराज! सब देवताओं के लिए भयङ्कर, महापराक्रमी वृत्रासुर के मरने पर इन्द्र को ब्रह्महत्या के पाप ने घर दबाया। इससे वे बहुत चिन्तित हुए। एक तो पहले त्रिशिरा के मारने से ब्रह्महत्या लगी ही थी, दूसरे अब वृत्रासुर को भी मारने से दूसरी ब्रह्महत्या सताने लगी। ब्रह्महत्या से पीड़ित इन्द्र अचेत से होकर सब लोकों के बाहर जाकर जल में छिप रहे और तड़पते हुए सर्प की तरह वहीं रहने लगे ॥४१।४६॥

ब्रह्महत्या के भय से इन्द्र जब भाग गये तब सारी पृथ्वी उजड़ गई, वन सूख गये, हरे-भरे वृक्षों का नाम भी न रह गया। नदियों का बहना बन्द हो गया और सरोवर सूखने लगे। वर्षा न होने से सब प्राणी व्याकुल हो उठे। देवता और

परस्परभयं घोरमस्माकं हि न संशयः ।
अभिषिच्यस्व राजेंद्र भव राजा त्रिविष्टपे ॥ ६ ॥
देवदानवयक्षाणामृषीणां रक्षसां तथा ।
पितृगंधर्वभूतानां चक्षुर्विषयवर्तिनाम् ॥ ७ ॥
तेज आदास्यसे पश्यन्बलवांश्च भविष्यसि ।
धर्मं पुरस्कृत्य सदा सर्वलोकाधिपो भव ॥ ८ ॥
ब्रह्मर्षींश्चापि देवांश्च गोपायस्व त्रिविष्टपे ।
अभिषिक्तः स राजेंद्र ततो राजा त्रिविष्टपे ॥ ९ ॥
धर्मं पुरस्कृत्य तदा सर्वलोकाधिपोऽभवत् ।
सुदुर्लभं वरं लब्ध्वा प्राप्य राज्यं त्रिविष्टपे ॥ १० ॥
धर्मात्मा सततं भूत्वा कामात्मा समपद्यत ।
देवोद्यानेषु सर्वेषु नंदनोपवनेषु च ॥ ११ ॥
कैलासे हिमवत्पृष्ठे मंदरे श्वेतपर्वते ।
सह्ये महेंद्रे मलये समुद्रेषु सरित्सु च ॥ १२ ॥
अप्सरोभिः परिवृतो देवकन्यासमावृतः ।
नहुषो देवराजोऽथ क्रीडन्बहुविधं तदा ॥ १३ ॥
शृण्वन्दिव्या बहुविधाः कथाः श्रुतिमनोहराः ।
वादित्राणि च सर्वाणि गीतं च मधुरस्वनम् ॥ १४ ॥

राज्य की रक्षा करो । हमको आपस में ही परस्पर बड़ा भय है । स्वर्ग-राज्य में अपना अभिषेक कराकर तुम हमारे राजा बनो और हमारा भय दूर करो । हम तुमको यह शक्ति देते हैं कि देवता, दानव, गन्धर्व, यक्ष, ऋषि, राक्षस, पितृगण, भूतगण आदि में से जो कोई सामने आवेगा उसके तेज और बल को तुम देखते ही हर लोगे । तुम बड़े बलवान् बन जाओगे । अब तुम कृपा करके धर्मपालन करते हुए त्रिभुवन के राजा बनो और त्रिभुवनमें ब्राह्मणों, ऋषियों और देवताओं की रक्षा करो ॥५।९॥

शल्य कहते हैं—देवताओं के कहने से नहुष ने दुर्लभ देव-राज्य स्वीकार कर लिया । वे धर्म के अनुसार सब लोकों के स्वामी हो गये । सदा के धर्मात्मा राजा नहुष स्वर्ग में कामात्मा बन गये । देवराज नहुष अप्सराओं और देवकन्याओं के साथ नन्दन आदि देवताओं के उद्यानों में, कैलास, हिमवान्, मन्दराचल, श्वेतपर्वत, सह्य, महेन्द्र, मलय आदि पर्वतों पर, तथा समुद्रों और नदियों के किनारे जाकर अनेक प्रकार की क्रीड़ाएँ करते थे ॥१०।१३॥

वे सुनने में मनोहर दिव्य कथाएँ, सब तरह

यदुक्ताऽसि मया देवि सत्यं तद्भविता ध्रुवम् ।
द्रक्ष्यसे देवराजानमिंद्रं शीघ्रमिहाऽऽगतम् ॥ २४ ॥
न भेतव्यं च नहुषात्सत्यमेतद्ब्रवीमि ते ।
समानयिष्ये शक्रेण न चिराद्भवतीमहम् ॥ २५ ॥
अथ शुश्राव नहुषः शक्राणीं शरणंगताम् ।
बृहस्पतेरंगिरसश्चुक्रोध स नृपस्तदा ॥ २६ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि इन्द्राणीभये एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

इस समय, मेरा सतीत्व बचाकर, सत्य कीजिए। तब बृहस्पतिने भयभीत हुई-हुई इन्द्राणी से कहा—हे देवी! मैं जो तुमसे कह चुका हूं सो अवश्य सत्य होगा। तुम्हें शीघ्र ही यहां आये हुए इन्द्र के दर्शन होंगे। नहुष से मत भयभीत होओ। मैं सत्य कहता हूं कि शीघ्र ही इन्द्र से तुमको मिला दूँगा। हे महाराज! उधर जब नहुष को यह सूचना मिली कि इन्द्राणी आङ्गिरस बृहस्पति की शरण में गई हैं तब उनके क्रोध का ठिकाना न रहा ॥२०।२६॥

—०—

उद्योगपर्व का ग्यारहवां अध्याय समाप्त हुआ॥ ११ ॥

अथ द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

शल्य उवाच—क्रुद्धं तु नहुषं दृष्ट्वा देवा ऋषिपुरोगमाः ।
अब्रुवन्देवराजानं नहुषं घोरदर्शनम् ॥ १ ॥
देवराज जहि क्रोधं त्वयि क्रुद्धे जगद्विभो ।
त्रस्तं सासुरगंधर्वं सकिंनरमहोरगम् ॥ २ ॥
जहि क्रोधमिमं साधो न कुप्यन्ति भवद्विधाः ।
परस्य पत्नी सा देवी प्रसीदस्व सुरेश्वर ॥ ३ ॥
निवर्तय मनः पापात्परदाराभिमर्शनात् ।
देवराजोऽसि भद्रं ते प्रजा धर्मेण पालय ॥ ४ ॥

बारहवां अध्याय ॥ १२ ॥

शल्य कहते हैं कि देवताओं और ऋषियों ने नहुष का क्रोध बढ़ता देखकर नम्रता के साथ उनसे कहा—हे देवराज! क्रोध के वेग को शान्त कीजिए। आपको कुपित देखकर असुर, गन्धर्व, किन्नर, नाग आदि सब जगत् के जीव भयभीत हो गये हैं। हे देवेन्द्र! क्रोध को शान्त कीजिए। आप सरीखे महानुभाव क्रोध नहीं करते। शची देवी पराई स्त्री हैं, इसलिए प्रसन्न होकर पर-स्त्री-गमन के पाप-कर्म से अपने मन को हटा लीजिए। आपका भला हो। आप देवराज हैं; धर्म के साथ प्रजा का पालन कीजिए॥१।४॥

देवा ऊचुः—त्वया जगदिदं सर्वं धृतं स्थावरजंगमम् ।
एकपत्न्यसि सत्या च गच्छस्व नहुषं प्रति ॥ २९ ॥
क्षिप्रं त्वामभिकामश्च विनशिष्यति पापकृत् ।
नहुषो देवि शक्रश्च सुरैश्वर्यमवाप्स्यति ॥ ३० ॥
एवं विनिश्चयं कृत्वा इंद्राणी कार्यसिद्धये ।
अभ्यगच्छत सव्रीडा नहुषं घोरदर्शनम् ॥ ३१ ॥
दृष्ट्वा तां नहुषश्चापि वयोरूपसमन्विताम् ।
समहृष्यत दुष्टात्मा कामोपहतचेतनः ॥ ३२ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि इन्द्राणीकालावधियाचने द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

हे ब्रह्मन् ! आपने यह अच्छा उपाय बताया; इससे सब देवताओं का कल्याण होगा। अब इन्द्राणी को नहुष के पास चलने के लिए प्रसन्न करना चाहिए। इसके पश्चात् अग्नि आदि सब देवता, लोगों के हित की इच्छा से, इन्द्राणी से कहने लगे—हे देवी ! तुमने इस जगत् को धारण कर रक्खा है। तुम पतिव्रता और सत्यवादिनी हो। इस समय तुम नहुष के पास चली चलो। तुम्हारे बारे में बुरा विचार रखनेवाला नहुष अपने पाप से आप ही नष्ट होजायगा फिर इन्द्र को देव-राज्य मिल जायगा ॥२७।३०॥

देवताओं के यों निश्चय करने पर, अपना काम निकालने के लिए, देवी लज्जित सी होकर क्रोध के मारे घोर रूप धारण किये हुए नहुष के पास गई। सुन्दर रूप और उत्तम अवस्थावाली इन्द्राणी को देखकर कामान्ध दूषित-हृदय नहुष बहुत प्रसन्न हुए। ॥३१।३२॥

उद्योगपर्व का बारहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ १२ ॥

अथ त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

शल्य उवाच—अथ तामब्रवीद् दृष्ट्वा नहुषो देवराट् तदा ।
त्रयाणामपि लोकानामहमिंद्रः शुचिस्मिते ॥ १ ॥
भजस्व मां वरारोहे पतित्वे वरवर्णिनि ।
एवमुक्ता तु सा देवी नहुषेण पतिव्रता ॥ २ ॥
प्रावेपत भयोद्विग्ना प्रवाते कदली यथा ।

तेरहवाँ अध्याय ॥ १३ ॥

नहुष ने कहा—हे सुन्दरी ! मैं त्रिभुवन का स्वामी इन्द्र हूँ; इसलिए तुम मेरी रानी बनकर मुझे स्वीकार करो। पतिव्रता इन्द्राणी ने नहुष की बातें सुनकर मन ही मन ब्रह्मा को प्रणाम किया। इस समय भय के मारे विह्वल और आँधी से हिलते हुए केले के पेड़ की तरह काँपती हुई ने हाथ जोड़कर

त्वद्वीर्यनिहते वृत्रे वासवो ब्रह्महत्यया ॥ १२ ॥
वृतः सुरगणश्रेष्ठ मोक्षं तस्य विनिर्दिश ।
तेषां तद्वचनं श्रुत्वा देवानां विष्णुरब्रवीत् ॥ १३ ॥
मामेव यजतां शक्रः पावयिष्यामि वज्रिणम् ।
पुण्येन हयमेधेन मामिष्ट्वा पाकशासनः ॥ १४ ॥
पुनरेष्यति देवानामिंद्रत्वमकुतोभयः ।
स्वकर्मभिश्च नहुषो नाशं यास्यति दुर्मतिः ॥ १५ ॥
किंचित्कालमिदं देवा मर्षयध्वमतंद्रिताः ।
श्रुत्वा विष्णोः शुभां सत्यां वाणींताममृतोपमाम्॥ १६ ॥
ततः सर्वे सुरगणाः सोपाध्यायाः सहर्षिभिः ।
यत्र शक्रो भयोद्विग्नस्तं देशमुपचक्रमुः ॥ १७ ॥
तत्राऽश्वमेधः सुमहान्महेंद्रस्य महात्मनः ।
ववृते पावनार्थं वै ब्रह्महत्यापहो नृप ॥ १८ ॥
विभज्य ब्रह्महत्यां तु वृक्षेषु च नदीषु च ।
पर्वतेषु पृथिव्यां च स्त्रीषु चैव युधिष्ठिर ॥ १९ ॥
संविभज्य च भूतेषु विसृज्य च सुरेश्वरः ।
विज्वरो धूतपाप्मा च वासवोऽभवदात्मवान् ॥ २० ॥

रक्षा के लिए ही विष्णुरूप धारण किया है—अर्थात् सर्वव्यापक हुए हैं । वृत्रासुर आपके ही पराक्रम और तेज से मारा गया है । देवश्रेष्ठ ! सभी से इन्द्र को ब्रह्महत्या लगी है । अब आप कृपा करके ऐसा उपाय बताइए, जिससे इन्द्र ब्रह्महत्या के पाप से छुटकारा पा जायँ ॥७।१३॥

इस पर विष्णु ने कहा—हे देवताओ ! इन्द्र पवित्र अश्वमेध यज्ञ करके मेरी आराधना करें तो मैं उन्हें पवित्र कर दूं । महायज्ञ करने से इन्द्र फिर निर्भय इन्द्रपद प्राप्त कर सकेंगे । दुर्मति नहुष अपने कर्मों के फल से आप ही नष्ट होगा । किन्तु कुछ समय तक तुम लोग ठहर जाओ । हे महाराज युधिष्ठिर ! विष्णु भगवान् की यह शुभ, सत्य और अमृततुल्य वाणी सुनकर सब देवता—गुरु बृहस्पति और अन्य महर्षियों को साथ लेकर—उस स्थान पर पहुंचे जहां भय-भीत हुए और व्याकुल हुए इन्द्र छिपे हुए-हुए थे । उसी स्थान पर महेन्द्र ने महायज्ञ अश्वमेध की दीक्षा ली । ब्रह्महत्या को मिटानेवाला वह यज्ञ इन्द्र की पवित्रता के लिए होने लगा । हे राजा युधिष्ठिर ! इन्द्र ने अपनी ब्रह्महत्या नदियों, वृक्षों, पर्वतों, स्त्रियों और पृथ्वी को बांट दी । इस प्रकार पांच जगह पाप बांट देने पर इन्द्र पाप, भय और सन्ताप से छुटकारा

अथ चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

शल्य उवाच—अथैनां रूपिणी साध्वीमुपातिष्ठदुपश्रुतिः ।
तां वयोरूपसंपन्नां दृष्ट्वा देवीमुपस्थिताम् ॥ १ ॥
इंद्राणी संप्रहृष्टात्मा संपूज्यैनामथाऽब्रवीत् ।
इच्छामि त्वामहं ज्ञातुं का त्वं ब्रूहि वरानने ॥ २ ॥
उपश्रुतिरुवाच—उपश्रुतिरहं देवि तवांऽतिकमुपागता ।
दर्शनं चैव संप्राप्ता तव सत्येन भाविनि ॥ ३ ॥
पतिव्रता च युक्ता च यमेन नियमेन च ।
दर्शयिष्यामि ते शक्रं देवं वृत्रनिषूदनम् ॥ ४ ॥
क्षिप्रमन्वेहि भद्रं ते द्रक्ष्यसे सुरसत्तमम् ।
ततस्तां प्रहितां देवीमिंद्राणी सा समन्वगात् ॥ ५ ॥
देवारण्यान्यतिक्रम्य पर्वतांश्च बहूंस्ततः ।
हिमवंतमतिक्रम्य उत्तरं पार्श्वमागमत् ॥ ६ ॥
समुद्रं च समासाद्य बहुयोजनविस्तृतम् ।
आससाद महाद्वीपं नानाद्रुमलतावृतम् ॥ ७ ॥
तत्राऽपश्यत्सरो दिव्यं नानाशकुनिभिर्वृतम् ।
शतयोजनविस्तीर्णं तावदेवाऽऽयतं शुभम् ॥ ८ ॥

चौदहवां अध्याय ॥ १४ ॥

शल्य ने कहा—हे राजा युधिष्ठिर ! शची देवी के ध्यान करने पर सुन्दर अवस्था और रूप धारण किये हुए उपश्रुति देवी प्रकट होकर इन्द्राणी के पास आई। उन्हें देखकर इन्द्राणी बहुत प्रसन्न हुईं। उनकी पूजा करके इन्द्राणी ने कहा—हे देवी ! मैं यह जानना चाहती हूँ कि तुम कौन हो ॥१।२॥

उपश्रुति ने कहा—हे शोभने ! मेरा नाम उपश्रुति है। मैं तुम्हारे पास आई हूँ। सत्य के बल से तुम्हें मेरे दर्शन हुए हैं। तुम पतिव्रता, सत्य पर प्रेम रखने वाली और यम-नियम आदि से पवित्र हो। मैं तुमको वृत्रविनाशन इन्द्र के दर्शन कराऊंगी। शीघ्र ही मेरे साथ चलो, अभी तुम्हें इन्द्र के दर्शन होंगे और तुम्हारा कल्याण होगा ॥३।५॥

अब उपश्रुति देवी चलीं। इन्द्राणी भी उनके पीछे पीछे हो लीं। देववन, बहुत से पर्वत और हिमवान् को लाघती हुई उपश्रुति देवी उसके उत्तर ओर के प्रदेश में पहुचीं। अनेक योजनों तक फैले हुए समुद्र के पास जाकर वे एक महाद्वीप में पहुँचीं। उस द्वीप में अनेक प्रकार के वृक्ष और लताएं लगी हुई थीं। उसके भीतर इन्द्राणी ने सौ योजन लम्बा

प्रकाशयाऽऽत्मनाऽऽत्मानं दैत्यदानवसूदनम् ।
तेजः समाप्नुहि विभो देवराज्यं प्रशाधि च ॥ १८ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि इन्द्राणीन्द्रस्तवे चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

गर्वित हो गया है कि उसने मुझे अपनी सेवा करने के लिए बुलाया है । उस क्रूर ने मुझे कुछ समय दिया है कि मैं तुम्हारा पता लगा सकूं। सो हे प्रभो! जो तुम मेरी रक्षा नहीं करोगे तो वह दुष्ट मुझे अपने वश में कर लेगा। हे इन्द्र ! इसी के लिए मैं शीघ्रता के साथ तुम्हारे पास आई हूं। तुम पापविचार रखनेवाले भयानक नहुष को मारो। हे दैत्यों और दानवों के शत्रु ! तुम प्रकट होकर अपने पहले का तेज प्राप्त करो और देवलोक का राज्य करो ॥१५।१८॥

—०—

उद्योगपर्व का चौदहवा अध्याय समाप्त हुआ ॥ १४ ॥

अथ पंचदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

शल्य उवाच—एवमुक्तः स भगवाञ्शच्या तां पुनरब्रवीत् ।
विक्रमस्य न कालोऽयं नहुषो बलवत्तरः ॥ १ ॥
विवर्द्धितश्च ऋषिभिर्हव्यैकव्यैश्च भाविनि ।
नीतिमत्र विधास्यामि देवि तां कर्तुमर्हसि ॥ २ ॥
गुह्यं चैतत्त्वया कार्यं नाऽऽख्यातव्यं शुभे क्वचित् ।
गत्वा नहुषमेकांते ब्रवीहि च सुमध्यमे ॥ ३ ॥
ऋषियानेन दिव्येन मामुपैहि जगत्पते ।
एवं तव वशे प्रीता भविष्यामीति तं वद ॥ ४ ॥
इत्युक्ता देवराजेन पत्नी सा कमलेक्षणा ।
एवमस्त्वित्यथोक्त्वा तु जगाम नहुषं प्रति ॥ ५ ॥

पन्द्रहवा अध्याय ॥ १५ ॥

शल्य ने कहा—हे राजा युधिष्ठिर ! प्रिया की ये बातें सुनकर इन्द्र ने कहा—हे प्रिये ! राजा नहुष ऋषियों के दिये हुए हव्य (देवताओं के भाग) और कव्य (पितरों के भाग) को पाकर प्रबल हो रहे हैं। इसलिए यहा पर नीति से काम लेना चाहिए । मैं तुमको एक गुप्त उपाय बताता हूं; तुम किसी से उसकी चर्चा न करना। एकान्त में नहुष के पास जाकर तुम कहो कि हे त्रिलोकी के ईश्वर ! तुम मुझसे मिलने के लिए ऋषियों की दिव्य सवारी पर चढ़कर आओ। ऐसा करोगे तो मैं प्रसन्नतापूर्वक तुम्हारे अधीन हो जाऊंगी। मुझे विश्वास है कि इस युक्ति से तुम्हारा उपकार और नहुष का नाश हो जायगा ॥१।४॥

यह सुनकर कमलनयनी इन्द्राणी "ऐसा ही करूँगी" कहकर नहुष के पास गई। देखते ही नहुष

सर्वेषां तेज आदत्से स्वेन वीर्येण दर्शनात् ।
न ते प्रमुखतः स्थातुं कश्चिच्छक्नोति वीर्यवान् ॥ १४ ॥

शल्य उवाच—एवमुक्तस्तु नहुषः प्राहृष्यत तदा किल ।
उवाच वचनं चापि सुरेंद्रस्तामनिंदिताम् ॥ १५ ॥

नहुष उवाच—अपूर्ववाहनमिदं त्वयोक्तं वरवर्णिनि ।
दृढं मे रुचितं देवि त्वद्वशोऽस्मि वरानने ॥ १६ ॥
न ह्यल्पवीर्यो भवति यो वाहान्कुरुते मुनीन् ।
अहं तपस्वी बलवान्भूतभव्यभवत्प्रभुः ॥ १७ ॥
मयि क्रुद्धे जगन्न स्यान्मयि सर्वं प्रतिष्ठितम् ।
देवदानवगंधर्वाः किन्नरोरगराक्षसाः ॥ १८ ॥
न मे क्रुद्धस्य पर्याप्ताः सर्वे लोकाः शुचिस्मिते।
चक्षुषा यं प्रपश्यामि तस्य तेजो हराम्यहम् ॥ १९ ॥
तस्मात्ते वचनं देवि करिष्यामि न संशयः ।
सप्तर्षयो मां वक्ष्यंति सर्वे ब्रह्मर्षयस्तथा ॥ २० ॥
पश्य माहात्म्ययोगं मे ऋद्धिं च वरवर्णिनि ।

शल्य उवाच—एवमुक्त्वा तु तां देवीं विसृज्य च वराननाम्॥ २१ ॥

चलें। तुम देखते ही सबका तेज हर लेते हो, कोई पराक्रमी तुम्हारे सामने नहीं ठहर सकता। इस प्रकार नये वाहन पर चढ़ना तुम्हारे योग्य ही होगा, क्योंकि तुम सब देवताओं और दैत्यों से बढ़कर हो ॥१३।१४॥

शल्य ने कहा—हे राजा युधिष्ठिर ! अब देवराज नहुष इन्द्राणी के वचन सुनकर बहुत प्रसन्न हुए। वे कहने लगे—हे देवी ! यह तुमने बड़ा अपूर्व वाहन बतलाया, मैं इस वाहन को बहुत अच्छा समझता हूँ। मैं तुम्हारे वश में हूं; इस कारण अवश्य तुम्हारा कहा करूंगा। थोड़ी शक्ति और प्रभाववाला पुरुष तपस्वी मुनियों को अपने वाहन में नहीं लगा सकता। मैं तपस्वी, बलवान्, त्रिकालज्ञ और भूत-भविष्य-वर्तमान का स्वामी हूं, यह जगत् मेरे आश्रय में स्थिर है ॥१५।१७॥

मेरे कुपित होने पर सारे जगत् का नाश हो सकता है। मैं क्रोध करूं तो देवता, दानव, गन्धर्व, किन्नर, नाग, राक्षस आदि कोई मेरे आगे नहीं ठहर सकते। मैं जिसकी ओर देख लेता हूं उसी के तेज को हर लेता हूं। इसलिए हे देवी ! मैं तुम्हारा कहा करूंगा। सप्तर्षिगण और अन्य ब्रह्मर्षिगण अपने कन्धे पर मेरी पालकी ले चलेंगे। तुम मेरी महिमा और बल-वैभव को देखो ॥१८।२०॥

शल्य ने कहा—हे राजा युधिष्ठिर ! अब बल गर्वित नहुष ने इन्द्राणी को तो विदा कर दिया और

स दिशः प्रदिशश्चैव पर्वतानि वनानि च ।
पृथिवीं चांऽतरिक्षं च विचिंत्याऽथ मनोगतिः ॥ ३० ॥
निमेषांतरमात्रेण बृहस्पतिमुपागमत् ।
अग्निरुवाच—बृहस्पते न पश्यामि देवराजमिह क्वचित् ।
आपः शेषाःसदा चाऽऽपः प्रवेष्टुं नोत्सहाम्यहम्॥ ३१ ॥
न मे तत्र गतिर्ब्रह्मन्किमन्यत्करवाणि ते ।
तमब्रवीद्देवगुरुरपो विश महाद्युते ॥ ३२ ॥
अग्निरुवाच—नाऽऽपः प्रवेष्टुं शक्ष्यामि क्षयो मेऽत्र भविष्यति ।
शरणं त्वां प्रपन्नोऽस्मि स्वस्ति तेऽस्तु महाद्युते ॥ ३३ ॥
अद्भ्योऽग्निर्ब्रह्मतः क्षत्रमश्मनो लोहमुत्थितम् ।
तेषां सर्वत्रगं तेजः स्वासु योनिषु शाम्यति ॥ ३४ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि बृहस्पत्यग्निसंवादे पंचदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

ने देवराज के मिलने के लिए हवन करके अग्नि से कहा—तुम शीघ्र ही इन्द्र को ढूँढ़ लाओ। तब स्वयं भगवान् अग्नि अद्भुत स्त्री का रूप रखकर, इन्द्र का पता लगाने के लिए, वहां से चल पड़े और अन्तर्धान हो गये ॥२८।२९॥

वे दम भर दिशा-विदिशा, पर्वत, वन-सारी पृथ्वी और आकाश—में इन्द्र को खोजकर लौट आये। मन का सा वेग रखनेवाले अग्नि बृहस्पति के पास पहुँचकर कहने लगे—हे देवगुरु ! मैं सब जगह खोज आया, पर इन्द्र का पता नहीं चलता। केवल जल में खोजना शेष रह गया है परन्तु जल के भीतर जाना मेरे लिए असम्भव है। इसी से मैं वहां जाना नहीं चाहता। बृहस्पति ने अग्नि से जल के भीतर भी जाकर देखने के लिए कहा। तब अग्नि ने कहा—हे भगवन् ! जल के भीतर मैं न जा सकूँगा। वहां जाने से मेरा नाश हो जायगा। मैं आपके शरणागत हूँ, क्षमा कीजिए। जल से अग्नि, ब्राह्मण से क्षत्रिय और पत्थर से लोहा उत्पन्न हुआ है। इनका तेज और सब जगह काम देता है, पर अपनी उत्पत्ति के स्थान में ठण्डा पड़ जाता है ॥३०।३४॥

—०—

उद्योगपर्व का पन्द्रहवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ १५ ॥

अथ षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

बृहस्पतिरुवाच—त्वमग्ने सर्वदेवानां मुखं त्वमसि हव्यवाट् ।
त्वमंतः सर्वभूतानां गूढश्चरसि साक्षिवत् ॥ १ ॥
त्वामाहुरेकं कवयस्त्वामाहुस्त्रिविधं पुनः ।

दर्शयिष्यामि ते शक्रं सत्यमेतद्ब्रवीमि ते ।

शल्य उवाच— प्रविश्याऽपस्ततो वह्निः ससमुद्राः सपल्वलाः ।

आससाद सरस्तच्च गूढो यत्र शतक्रतुः ॥ १० ॥

अथ तत्रापि पद्मानि विचिन्वन्भरतर्षभ ।

अपश्यत्स तु देवेंद्रं बिसमध्यगतं तदा ॥ ११ ॥

आगत्य च ततस्तूर्णं तमाचष्ट बृहस्पतेः ।

अणुमात्रेण वपुषा पद्मतंत्वाश्रितं प्रभुम् ॥ १२ ॥

गत्वा देवर्षिगंधर्वैः सहितोऽथ बृहस्पतिः ।

पुराणैः कर्मभिर्देवं तुष्टाव बलसूदनम् ॥ १३ ॥

महासुरो हतः शक्र नमुचिर्दारुणस्त्वया ।

शंबरश्च बलश्चैव तथोभौ घोरविक्रमौ ॥ १४ ॥

शतक्रतो विवर्धस्व सर्वान्शत्रून्निषूदय ।

उत्तिष्ठ शक्र संपश्य देवर्षींश्च समागतान् ॥ १५ ॥

महेंद्र दानवान्हत्वा लोकास्त्रातास्त्वया विभो ।

अपां फेनं समासाद्य विष्णुतेजोतिबृंहितम् ।

त्वया वृत्रो हतः पूर्वं देवराज जगत्पते ॥ १६ ॥

ने बहुत प्रसन्न होकर बृहस्पति से कहा—मैं सत्य कहता हूँ कि इन्द्र को लाकर आपको अवश्य दिखा दूंगा ॥५।९॥

शल्य ने कहा—हे राजा युधिष्ठिर ! तब समुद्र, झील आदि के जल में प्रवेश करके अन्त को अग्निदेव उस सरोवर में पहुंचे जहां इन्द्र छिपे हुए थे। वहां कमलों के बीच में खोजते-खोजते अग्नि ने कमलनाल के भीतर इन्द्र को देख लिया। तब उन्होंने इन्द्र के पास से लौटकर बृहस्पति से सब हाल कहा। बतलाया कि वहां पर इन्द्र बहुत ही सूक्ष्म रूप रक्खे कमलनाल के भीतर रहते हैं। अब देवता, ऋषि, गन्धर्व आदि को साथ लेकर बृहस्पतिजी वहां पहुंचे, और इन्द्र के पुराने कामों का वर्णन करके उनकी स्तुति करने लगे ॥१०।१३॥

बृहस्पति ने कहा—हे शक्र ! महादानव नमुचि, घोर पराक्रमी शम्बासुर और बल नाम के दानव को तुमने मारा है। हे इन्द्र ! तुम वृद्धि को प्राप्त होकर सब शत्रुओं का नाश करो। उठो, देखो, सब ऋषि लोग तुम्हारे पास आये हैं। हे महेन्द्र ! तुम कई बार दानवों को मारकर लोकों की रक्षा कर चुके हो। जगत् के स्वामी हे देवराज ! तुमने पहले विष्णु के तेज से परिपूर्ण जल के फेन से वृत्रासुर को मारा है। सब प्राणी तुम्हारी स्तुति और पूजा करते हैं और शरणागत होते है। जगत् में तुम्हारे

त्रैलोक्ये च प्राप्य राज्यं महर्षीन्कृत्वा वाहान्याति लोकान्दुरात्मा ॥ २५ ॥
तेजोहरं दृष्टिविषं सुघोरं मा त्वं पश्येर्नहुषं वै कदाचित् ।
देवाश्च सर्वे नहुषं भृशार्ता न पश्यन्ते गूढरूपाश्चरंतः ॥ २६ ॥
शल्य उवाच—एवं वदत्यंगिरसां वरिष्ठे बृहस्पतौ लोकपालः कुबेरः ।
वैवस्वतश्चैव यमः पुराणो देवश्च सोमो वरुणश्चाऽऽजगाम ॥ २७ ॥
ते वै समागम्य महेंद्रमूचुर्दिष्ट्या त्वाष्ट्रो निहतश्चैव वृत्रः ।
दिष्ट्या च त्वां कुशलिनमक्षतं च पश्यामो वै निहतारिं च शक्र ॥ २८ ॥
स तान्यथावद्ध हि लोकपालान्समेत्य वै प्रीतमना महेंद्रः ।
उवाच चैनान्प्रतिभाष्य शक्रः संचोदयिष्यन्नहुषस्यांऽतरेण ॥ २९ ॥
राजा देवानां नहुषो घोररूपस्तत्र साह्यं दीयतां मे भवद्भिः ।
ते चाऽब्रुवन्नहुषो घोररूपो दृष्टीविषस्तस्य बिभीम ईश ॥ ३० ॥
त्वं चेद्राजानं नहुषं पराजयेस्ततो वयं भागमर्हाम शक्र ।
इंद्रोऽब्रवीद्भवतु भवानपांपतिर्यमः कुबेरश्च मयाऽभिषेकम् ॥ ३१ ॥
संप्राप्नुवंत्वद्य सहैव दैवते रिपुं जयाम तं नहुषं घोरदृष्टिम् ।

आप हमारे त्रिभुवन-पालक राजा बनिए ॥२३।२४॥

इस प्रकार तुम्हारे छोड़े हुए पद पर इन्द्र बनाकर नहुष को बैठाने की इच्छा प्रकट करने पर नहुष ने उन सबसे कहा—मुझमें इन्द्र का कार्य करने की शक्ति नहीं है; आप लोग अपने तेज और वरदान से मुझे समर्थ बना दीजिए। तब देवताओं ने नहुष को उसी तरह शक्तिशाली बना दिया। घोर वीर्य प्राप्त करके नहुष इस समय महर्षियों के कन्धे पर पालकी रखाकर लोकों में विचरता है। उसकी दृष्टि में घोर विष है, उसके प्रभाव से वह देखते ही तेज को हर लेता है। तुम उसके सामने मत जाना। उससे डरकर देवता कभी सामने नहीं जाते, छिपे-छिपे घूमते हैं ॥२५।२६॥

शल्य ने कहा—हे राजा युधिष्ठिर! बृहस्पति यों कह ही रहे थे कि वहां पर लोकपाल कुबेर, यमराज, चन्द्र और वरुण आ गये। उन्होंने कहा—हे इन्द्र! बड़े ही भाग्य की बात है कि तुमने त्रिशिरा और घोर वृत्रासुर को मार डाला। यह भी बड़े भाग्य की बात है कि हम तुमको सकुशल और अक्षत-शरीर देख रहे हैं। तब उन लोकपालों से मिलकर प्रसन्नहृदय महेन्द्र ने नहुष की बुद्धि को भ्रष्ट करने के विचार से कहा—देवताओं के वर्तमान राजा भयावने नहुष को मैं इन्द्र-पद से भ्रष्ट करना चाहता हूं। इस काम में तुम लोग मेरी सहायता करो ॥२७।३०॥

लोकपालों ने कहा—हे ईश! घोररूप नहुष की दृष्टि में विष है, इस कारण हम उससे भयभीत होते हैं। जो तुम उसे इन्द्र-पद से हटा दोगे तो हमें भी यज्ञ में भाग मिलेगा ॥३१॥

त्रैलोक्ये च प्राप्य राज्यं महर्षीन्कृत्वा वाहान्याति लोकान्दुरात्मा॥ २५ ॥
तेजोहरं दृष्टिविषं सुघोरं मा त्वं पश्येर्नहुषं वै कदाचित् ।
देवाश्च सर्वे नहुषं भृशार्ता न पश्यन्ते गूढरूपाश्चरंतः ॥ २६ ॥
शल्य उवाच—एवं वदत्यंगिरसां वरिष्ठे बृहस्पतौ लोकपालः कुबेरः ।
वैवस्वतश्चैव यमः पुराणो देवश्च सोमो वरुणश्चाऽऽजगाम ॥ २७ ॥
ते वै समागम्य महेंद्रमूचुर्दिष्ट्या त्वाष्ट्रो निहतश्चैव वृत्रः ।
दिष्ट्या च त्वां कुशलिनमक्षतं च पश्यामो वै निहतारिं च शक्र ॥ २८ ॥
स तान्यथावच्च हि लोकपालान्समेत्य वै प्रीतमना महेंद्रः ।
उवाच चैनान्प्रतिभाष्य शक्रः संचोदयिष्यन्नहुषस्यांऽतरेण ॥ २९ ॥
राजा देवानां नहुषो घोररूपस्तत्र साह्यं दीयतां मे भवद्भिः ।
ते चाऽब्रुवन्नहुषो घोररूपो दृष्टीविषस्तस्य बिभीम ईश ॥ ३० ॥
त्वं चेद्राजानं नहुषं पराजयेस्ततो वयं भागमर्हाम शक्र ।
इंद्रोऽब्रवीद्भवतु भवानपांपतिर्यमः कुबेरश्च मयाऽभिषेकम् ॥ ३१ ॥
संप्राप्नुवंत्वद्य सहैव दैवतै रिपुं जयाम तं नहुषं घोरदृष्टिम् ।

आप हमारे त्रिभुवन-पालक राजा बनिए ॥२३।२४॥

इस प्रकार तुम्हारे छोड़े हुए पद पर इन्द्र बनाकर नहुष को बैठाने की इच्छा प्रकट करने पर नहुष ने उन सबसे कहा—मुझमें इन्द्र का कार्य करने की शक्ति नहीं है; आप लोग अपने तेज और वरदान से मुझे समर्थ बना दीजिए। तब देवताओं ने नहुष को उसी तरह शक्तिशाली बना दिया। घोर वीर्य प्राप्त करके नहुष [illegible] समय महर्षियों के कन्धे पर पालकी रखाकर लोकों में विचरता है। उसकी दृष्टि में घोर विष है, उसके प्रभाव से वह देखते ही तेज को हर लेता है। तुम उसके सामने मत जाना। उससे डरकर देवता कभी सामने नहीं जाते, छिपे-छिपे घूमते हैं ॥२५।२६॥

शल्य ने कहा—हे राजा युधिष्ठिर! बृहस्पति यों कह ही रहे थे कि वहां पर लोकपाल कुबेर, यमराज, चन्द्र और वरुण आ गये। उन्होंने कहा—हे इन्द्र! बड़े ही भाग्य की बात है कि तुमने त्रिशिरा और घोर वृत्रासुर को मार डाला। यह भी बड़े भाग्य की बात है कि हम तुमको सकुशल और अक्षत-शरीर देख रहे हैं। तब उन लोकपालों से मिलकर प्रसन्नहृदय महेन्द्र ने नहुष की बुद्धि को भ्रष्ट करने के विचार से कहा—देवताओं के वर्तमान राजा भयावने नहुष को मैं इन्द्र-पद से भ्रष्ट करना चाहता हूं। इस काम में तुम लोग मेरी सहायता करो ॥२७।३०॥

लोकपालों ने कहा—हे ईश! घोररूप नहुष की दृष्टि में विष है, इस कारण हम उससे भयभीत होते हैं। जो तुम उसे इन्द्र-पद से हटा दोगे तो हमें भी यज्ञ में भाग मिलेगा ॥३१॥

पाद्यमाचमनीयं च गामर्घ्यं च प्रतीच्छ मे ॥ ४ ॥
शल्य उवाच—पूजितं चोपविष्टं तमासने मुनिसत्तमम् ।
पर्यपृच्छत देवेशः प्रहृष्टो ब्राह्मणर्षभम् ॥ ५ ॥
एतदिच्छामि भगवन्कथ्यमानं द्विजोत्तम ।
परिभ्रष्टः कथं स्वर्गान्नहुषः पापनिश्चयः ॥ ६ ॥
अगस्त्य उवाच—शृणु शक्र प्रियं वाक्यं यथा राजा दुरात्मवान् ।
स्वर्गाद्भ्रष्टो दुराचारो नहुषो बलदर्पितः ॥ ७ ॥
श्रमार्त्ताश्च वहंतस्तं नहुषं पापकारिणम् ।
देवर्षयो महाभागास्तथा ब्रह्मर्षयोऽमलाः ॥ ८ ॥
पप्रच्छुर्नहुषं देव संशयं जयतां वर ।
य इमे ब्रह्मणा प्रोक्ता मंत्रा वै प्रोक्षणे गवाम् ॥ ९ ॥
एते प्रमाणं भवत उताहो नेति वासव ।
नहुषो नेति तानाह तमसा मूढचेतनः ॥ १० ॥
ऋषय ऊचुः—अधर्मे संप्रवृत्तस्त्वं धर्मं न प्रतिपद्यसे ।
प्रमाणमेतदस्माकं पूर्वं प्रोक्तं महर्षिभिः ॥ ११ ॥
अगस्त्य उवाच—ततो विवदमानः स मुनिभिः सह वासव ।

बात है कि तुम विश्वरूप और वृत्रासुर को मारकर वृद्धि को प्राप्त हो रहे हो । बड़े ही भाग्य की बात है कि इस समय राजा नहुष देवराज्य से भ्रष्ट हो गया और मैं तुम्हें निष्कण्टक देख रहा हूं ॥१।४॥

इन्द्र ने स्वागत करके कहा—हे ऋषिवर ! आपके दर्शन पाकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई । यह पाद्य, अर्घ्य, आचमन और गाय आदि पूजाकी सामग्री मैं अर्पण करता हूं, लीजिए । शल्य ने कहा—हे राजा युधिष्ठिर ! मुनिवर अगस्त्य जब पूजा स्वीकार करके आसन पर बैठ गये तब इन्द्र ने उनसे पूछा—मैं सुनना चाहता हूं कि पापी नहुष कैसे स्वर्ग से भ्रष्ट हुआ ॥५।६॥

अगस्त्य मुनि ने कहा—हे इन्द्र ! जिसतरह बलदर्पित दुरात्मा राजा नहुष स्वर्ग से भ्रष्ट हुआ, सो कहता हूं, सुनो । पुण्यात्मा देवर्षि और महर्षि लोग जिस समय पापी नहुष की पालकी लादकर चलते-चलते बहुत थक गये, उस समय उन्होंने नहुष से पूछा कि हे राजेन्द्र ! ब्रह्माजी ने गोप्रोक्षण के जो मन्त्र कहे हैं, उनको आप प्रमाण मानते हैं या नहीं ? दुर्बुद्धि नहुष ने तमोगुण के प्रभाव से मूढ होकर कहा कि मैं नहीं मानता ॥७।१०॥

तब ऋषियों ने कहा—आप धर्मको नहीं जानते और अधर्म पर उतारू हैं । पहले के महर्षिगण जो इसबोर में कह गये हैं, उसे ही हम प्रमाण मानते हैं ॥११॥

गंधर्वा देवकन्याश्च सर्वे चाऽप्सरसां गणाः ।
सरांसि सरितः शैलाः सागराश्च विशांपते ॥ २१ ॥
उपागम्याऽब्रुवन्सर्वे दिष्ट्या वर्धसि शत्रुहन् ।
हतश्च नहुषः पापो दिष्ट्याऽगस्त्येन धीमता ।
दिष्ट्या पापसमाचारः कृतः सर्पो महीतले ॥ २२ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि इंद्रागस्त्यसंवादे नहुषभ्रंशे सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

प्रसन्नतापूर्वक इन्द्र के पास आकर कहा—हे शत्रुनाशन ! बड़े ही भाग्य की बात है कि तुम वृद्धि को प्राप्त हो रहे हो; और पाप विचारवाला नहुष राजा, महर्षि अगस्त्य के शाप से पृथ्वी पर गिरकर सर्प हो गया ॥२०।२२॥

—०—

उद्योगपर्व का सत्रहवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ १७ ॥

अथ अष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

शल्य उवाच—ततः शक्रः स्तूयमानो गंधर्वाप्सरसां गणैः ।
ऐरावतं समारुह्य द्विपेंद्रं लक्षणैर्युतम् ॥ १ ॥
पावकः सुमहातेजा महर्षिश्च बृहस्पतिः ।
यमश्च वरुणश्चैव कुवेरश्च धनेश्वरः ॥ २ ॥
सर्वैर्देवैः परिवृतः शक्रो वृत्रनिषूदनः ।
गंधर्वैरप्सरोभिश्च यातस्त्रिभुवनं प्रभुः ॥ ३ ॥
स समेत्य महेंद्राण्या देवराजः शतक्रतुः ।
मुदा परमया युक्तः पालयामास देवराट् ॥ ४ ॥
ततः स भगवांस्तत्र अंगिराः समदृश्यत ।
अथर्ववेदमंत्रैश्च देवेंद्रं समपूजयत् ॥ ५ ॥
ततस्तु भगवानिंद्रः संहृष्टः समपद्यत ।

अठारहवां अध्याय ॥ १८ ॥

शल्य ने कहा—हे राजा युधिष्ठिर ! तब वृत्रासुर को मारनेवाले इन्द्र सुलक्षणयुक्त ऐरावत हाथी पर चढ़कर स्वर्ग को चले। आगे-आगे गन्धर्वों और अप्सराओं के दल उनकी स्तुति करते चले जा रहे थे। महातेजस्वी अग्नि, महर्षि बृहस्पति, यम, वरुण, कुबेर आदि सब देवता, गन्धर्वों और अप्सराओं के झुण्ड उनके साथ-साथ चले ॥१।३॥

देवराज इन्द्र आकर पहले इन्द्राणी से मिले

ततः सागरपर्यंतां भोक्ष्यसे मेदिनीमिमाम् ।
भ्रातृभिः सहितो वीर द्रौपद्या च सहाऽनया ॥ १५ ॥
उपाख्यानमिदं शक्रविजयं वेदसंमितम् ।
राज्ञा व्यूढेष्वनीकेषु श्रोतव्यं जयमिच्छता ॥ १६ ॥
तस्मात्संश्रावयामि त्वां विजयं जयतां वर ।
संस्तूयमाना वर्धंते महात्मानो युधिष्ठिर ॥ १७ ॥
क्षत्रियाणामभावोऽयं युधिष्ठिर महात्मनाम् ।
दुर्योधनापराधेन भीमार्जुनबलेन च ॥ १८ ॥
आख्यानमिंद्रविजयं य इदं नियतः पठेत् ।
धूतपाप्मा जितस्वर्गः परत्रेह च मोदते ॥ १९ ॥
न चाऽरिजं भयं तस्य नाऽपुत्रो वा भवेन्नरः ।
नाऽऽपदं प्राप्नुयात्कांचिद्दीर्घमायुश्च विंदति ।
सर्वत्र जयमाप्नोति न कदाचित्पराजयम् ॥ २० ॥
वैशम्पायन उवाच—एवमाश्वासितो राजा शल्येन भरतर्षभ ।
पूजयामास विधिवच्छल्यं धर्मभृतां वरः ॥ २१ ॥
श्रुत्वा तु शल्यवचनं कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
प्रत्युवाच महाबाहुर्मद्रराजमिदं वचः ॥ २२ ॥

दुरात्मा शत्रु दुर्योधन, कर्ण आदि भी शीघ्र ही मारे जायँगे। तब तुम भी इन द्रौपदी और भाइयों के साथ समुद्रपर्यन्त पृथ्वी का अकण्टक राज्य करोगे।१२।१५।

हे राजेन्द्र ! जिस समय संग्राम होनेवाला हो और व्यूह बना करके सेनाएँ युद्ध करने को उद्यत हो रही हों, उस समय राजा को विजय पाने की इच्छा से यह वेद-तुल्य इन्द्र-विजय की कथा अवश्य सुननी चाहिए। इसी से विजय की यह कथा मैं तुमको सुना रहा हूं। हे राजा युधिष्ठिर ! स्तुति करने से क्षत्रियों का तेज बढ़ता है। हे धर्मराज ! दुर्योधन के अपराध के कारण भीमसेन और अर्जुन के हाथों शीघ्र ही युद्ध में अनेक क्षत्रिय वीरों का संहार होगा। इस इन्द्र-विजय के उपाख्यान को जो कोई नियम से पढ़ता है वह पापहीन होकर स्वर्ग को जीत लेता है, और इस लोक तथा परलोक में सुख भोगता है। उसे शत्रु का भय नहीं होता। वह विपत्तियों से बचा रहता है और पुत्र-पौत्र पाकर दीर्घायु पाता है। वह कहीं कभी हारता नहीं है; उसे सदा विजय मिलती है।१६।२०।

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! शल्य ने यों युधिष्ठिर को दिलासा दिया और युधिष्ठिर ने भी उनकी पूजा की। फिर युधिष्ठिर ने मद्रराज से

अक्षौहिणी तु सा सेना तदा यौधिष्ठिरं बलम्।
प्रविश्यांऽतर्दधे राजन्सागरं कुनदी यथा ॥ ६ ॥
तथैवाऽक्षौहिणीं गृह्य चेदीनामृषभो वली ।
धृष्टकेतुरुपागच्छत्पांडवानामितौजसः ॥ ७ ॥
मागधश्च जयत्सेनो जरासंधिर्महावलः ।
अक्षौहिण्यैव सैन्यस्य धर्मराजमुपागमत् ॥ ८ ॥
तथैव पांड्यो राजेंद्र सागरानूपवासिभिः ।
वृतो बहुविधैर्योधैर्युधिष्ठिरमुपागमत् ॥ ९ ॥
तस्य सैन्यमतीवाऽऽसीत्तस्मिन्बलसमागमे ।
प्रेक्षणीयतरं राजन्सुवेषं बलवत्तदा ॥ १० ॥
द्रुपदस्याऽप्यभूत्सेना नानादेशसमागतैः ।
शोभिता पुरुषैः शूरैः पुत्रैश्चाऽस्य महारथैः ॥ ११ ॥
तथैव राजा मत्स्यानां विराटो वाहिनीपतिः ।
पार्वतीयैर्महीपालैः सहितः पांडवानियात् ॥ १२ ॥
इतश्चेतश्च पांडूनां समाजग्मुर्महात्मनाम् ।
अक्षौहिण्यस्तु सप्तैता विविधध्वजसंकुलाः ॥ १३ ॥
युयुत्समानाः कुरुभिः पांडवान्समहर्षयन् ।
तथैव धार्त्तराष्ट्रस्य हर्षं समभिवर्धयन् ॥ १४ ॥

थे। सुवर्ण के समान और आभूषणों से अलंकृत वह सेना बिजलियों से भूषित घनघटा के समान जान पड़ती थी। वह एक अक्षौहिणी सेना, समुद्र में छोटी नदी के समान, राजा युधिष्ठिर की अपार सेना में छिप सी गई ॥१।६॥

इसके पश्चात् महाबली चेदिराज धृष्टकेतु, परम पराक्रमी पाण्डवों की सहायता के लिए, एक अक्षौहिणी सेना लेकर आये। मगधनरेश जरासन्ध के कुमार महाबली जयत्सेन भी एक अक्षौहिणी सेना लेकर राजा युधिष्ठिर के पास आये। पाण्ड्य देश के राजा भी, समुद्रतट में रहनेवाली जातियों के भिन्न-भिन्न प्रकार के सिपाहियों को साथ लेकर राजा युधिष्ठिर के पास आये। उनकी सुन्दर वेषवाली, प्रबल सेना उस सेना-समागम में अत्यन्त दर्शनीय जान पड़ती थी ॥७।१०॥

अनेक देशों से आये हुए शूर-वीर योद्धाओं से शोभित महाराज द्रुपद की सब सेना आकर वहां एकत्र हुई। द्रुपद के महारथी पुत्र उसके सञ्चालक थे। मत्स्यदेश के राजा विराट भी पर्वती राजाओं की सेना के साथ पाण्डवों की सहायता के लिए तैयार

तथा माहिष्मतीवासी नीलो नीलायुधैः सह ॥ २३ ॥
महीपालो महावीर्यैर्दक्षिणापथवासिभिः ।
आवंत्यौ च महीपालौ महाबलसुसंवृतौ ॥ २४ ॥
पृथगक्षौहिणीभ्यां तावभियातौ सुयोधनम् ।
केकयाश्च नरव्याघ्राः सोदर्याः पंच पार्थिवाः ॥ २५ ॥
संहर्षयंतः कौरव्यमक्षौहिण्या समाद्रवन् ।
तमस्ततस्तु सर्वेषां भूमिपानां महात्मनाम् ॥ २६ ।
तिस्रोऽन्याः समवर्तंत वाहिन्यो भरतर्षभ ।
एवमेकादशावृत्ताः सेना दुर्योधनस्य ताः ॥ २७ ॥
युयुत्समानाः कौन्तेयान्नानाध्वजसमाकुलाः ।
न हास्तिनपुरे राजन्नवकाशोऽभवत्तदा ॥ २८ ॥
राज्ञां स्ववलमुख्यानां प्राधान्येनाऽपि भारत ।
ततः पंचनदं चैव कृत्स्नं च कुरुजांगलम् ॥ २९ ॥
तथा रोहितकारण्यं मरुभूमिश्च केवला ।
अहिच्छत्रं कालकूटं गंगाकूलं च भारत ॥ ३० ॥
वारणं वाटधानं च यामुनश्चैव पर्वतः ।
एष देशः सुविस्तीर्णः प्रभूतधनधान्यवान् ॥ ३१ ॥
बभूव कौरवेयाणां बलेनाऽतीव संवृतः ।
तत्र सैन्यं तथा युक्तं ददर्श स पुरोहितः ॥ ३२ ॥

सुदाक्षिण भी, यवनों और शकों की टीड़ी-दल सी एक अक्षौहिणी सेना साथ लेकर, दुर्योधन के पास पहुंचे। वह सेना भी और सेनाओं की तरह दुर्योधन की अपार सेना में मिलकर अदृश्य सी हो गई।२१।२३।

माहिष्मती पुरी के राजा नील भी दक्षिणदेश के नीलशस्त्रधारी वीर पुरुषों की सेना लेकर पहुंचे। अवन्ती देश के दोनों राजा विन्द-अनुविन्द भी एक-एक अक्षौहिणी सेना साथ लेकर दुर्योधनके पासआये। केकय देश के राजा पांचों भाई, दुर्योधन को प्रसन्न करने के लिए, एक अक्षौहिणी सेना साथ लेकर आये। इसी प्रकार और भी जो राजा आये उनकी सब सेना मिलाकर तीन अक्षौहिणी हुई। इस प्रकार दुर्योधन की ओर अनेक रंग की ध्वजाओं से शोभित ग्यारह अक्षौहिणी सेना एकत्र हो गई। हस्तिनापुर में तो एक राजा की सेना के रहने भर को भी स्थान नहीं था ॥२४।२९॥

इसलिए वह सब सेना सारे पञ्चनद, कुरुजाङ्गल, रोहितक वन, मरुभूमि, अहिच्छत्र, कालकूट, गङ्गातट,

प्राणांतिकैरप्युपायैः प्रयतद्भिरनेकशः ।
शेषवंतो न शकिता नेतुं वै यमसादनम् ॥ ७ ॥
पुनश्च वर्द्धितं राज्यं स्वबलेन महात्मभिः ।
छद्मनाऽपहृतं क्षुद्रैर्धार्तराष्ट्रैः ससौबलैः ॥ ८ ॥
तदप्यनुमतं कर्म यथायुक्तमनेन वै ।
वासिताश्च महारण्ये वर्षाणीह त्रयोदश ॥ ९ ॥
सभायां क्लेशितैर्वीरैः सह भार्यैस्तथा भृशम् ।
अरण्ये विविधाः क्लेशाः संप्राप्तास्तैः सुदारुणाः ॥ १० ॥
तथा विराटनगरे योन्यंतरगतैरिव ।
प्राप्तः परमसंक्लेशो यथा पापैर्महात्मभिः ॥ ११ ॥
ते सर्वं पृष्ठतः कृत्वा तत्सर्वं पूर्वकिल्बिषम् ।
सामैव कुरुभिः सार्धमिच्छंति कुरुपुंगवाः ॥ १२ ॥
तेषां च वृत्तमाज्ञाय वृत्तं दुर्योधनस्य च ।
अनुनेतुमिहाऽर्हन्ति धार्तराष्ट्रं सुहृज्जनाः ॥ १३ ॥
न हि ते विग्रहं वीराः कुर्वंति कुरुभिः सह ।
अविनाशेन लोकस्य कांक्षन्ते पांडवाः स्वकम् ॥ १४ ॥

ने उनका जो पैतृक राज्य ले लिया था, वह उन्हें नहीं मिला। उसके पश्चात् दुर्योधन आदि ने प्राणनाशक अनेक उपाय किये, पर पाण्डवों की आयु थी, इसलिए वे बाल-बाल बचते रहे; उनका कोई कुछ भी नहीं बिगाड़ सका। वीर पाण्डवों ने थोड़ा सा राज्य पाकर ही सन्तोष कर लिया था। उसे उन्होंने अपने बाहुबल से, पृथ्वी-विजय करके, बढ़ा लिया। तब धृतराष्ट्र की अनुमति और शकुनि की सहायता से दुर्योधन आदि कौरवों ने छलपूर्वक उनका वह राज्य भी हर लिया ॥४।८॥

यही नहीं, बल्कि तेरह वर्ष तक वन में रहने के लिए विवश करके द्रौपदी-सहित पाण्डवों को सभा में तरह-तरह के कष्ट पहुंचाये और अपमान किया। कौरवों के कपट के कारण ही पाण्डवों को वन में रहकर भयानक क्लेश सहने पड़े। वीर पाण्डवों को पापियों की तरह अज्ञातवास का वर्ष विराटनगरी में छिपकर बिताना पड़ा। वहां उन्हें गर्भवास के से घोर दुःख सहने पड़े। परन्तु इन सब पहले के दुर्व्यवहारों को भुलाकर पाण्डव लोग सामनीति के साथ आपस में मेल कर लेना चाहते हैं ॥९।१२॥

उनके और दुर्योधन के आचरणों पर ध्यान देकर आप लोग दुर्योधन को समझाइए, क्योंकि आप लोग दुर्योधन के हितचिन्तक और आत्मीय हैं। पाण्डव लोग कौरवों के साथ युद्ध करना नहीं

अथ एकविंशोऽध्यायः ॥ २१ ॥

वैशम्पायन उवाच—तस्य तद्वचनं श्रुत्वा प्रज्ञावृद्धो महाद्युतिः ।
संपूज्यैनं यथाकालं भीष्मो वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥
दिष्ट्या कुशलिनः सर्वे सह दामोदरेण ते ।
दिष्ट्या सहायवंतश्च दिष्ट्या धर्मे च ते रताः ॥ २ ॥
दिष्ट्या च संधिकामास्ते भ्रातरः कुरुनंदनाः ।
दिष्ट्या न युद्धमनसः पाण्डवाः सह बांधवैः ॥ ३ ॥
भवता सत्यमुक्तं तु सर्वमेतन्न संशयः ।
अतितीक्ष्णं तु ते वाक्यं ब्राह्मण्यादिति मे मतिः ॥ ४ ॥
असंशयं क्लेशितास्ते वने चेह च पाण्डवाः ।
प्राप्ताश्च धर्मतः सर्वं पितुर्धनमसंशयम् ॥ ५ ॥
किरीटी बलवान्पार्थः कृतास्त्रश्च महारथः ।
को हि पाण्डुसुतं युद्धे विषहेत धनंजयम् ॥ ६ ॥
अपि वज्रधरः साक्षात्किमुताऽन्ये धनुर्भृतः ।
त्रयाणामपि लोकानां समर्थ इति मे मतिः ॥ ७ ॥
भीष्मे ब्रुवति तद्वाक्यं धृष्टमाक्षिप्य मन्युना ।

इक्कीसवां अध्याय ॥ २१ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजेंद्र ! पुरोहित के मुंह से ये बातें सुनकर बुद्धिमान् तेजस्वी महात्मा भीष्म ने समयानुसार उनकी प्रशंसा करते हुए कहा—बड़े ही भाग्य की बात है कि पाण्डव लोग श्रीकृष्ण के साथ सकुशल, सहायवान् और धर्मनिरत हैं । यह भाग्य की ही बात है कि पाण्डव लोग कौरवों से सन्धि करना चाहते हैं; उनका या उनके इष्ट-मित्र भाई-बन्धुओं का युद्ध का अभिप्राय नहीं है । हे ब्रह्मन् ! आपने जो कुछ कहा सो ठीक ही है; किन्तु आपका कहने का ढङ्ग अत्यन्त तीव्र है । मेरी समझ में उसका कारण आपका ब्राह्मण होना ही है ॥१।४॥

इसमें सन्देह नहीं कि वन में और यहां भी पाण्डवों को बड़ा दु ख पहुंचाया गया है और यह भी ठीक है कि वे इस समय धर्म के अनुसार अपने पिता का राज्य पाने के अधिकारी हैं । युद्ध-भूमि में युद्ध करने के लिए खड़े हुए अर्जुन का सामना साक्षात् इन्द्र भी नहीं कर सकते, तब और योद्धाओं के लिए तो कुछ कहना ही नहीं है । अर्जुन बलवान्, अस्त्र-विद्या में निपुण और महारथी हैं; वे युद्ध में तीनों लोकों का नाश कर सकते हैं । मैं तो यही समझता हू ॥५।७॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! भीष्म के यों कहने पर कर्ण ने क्रोध का भाव दिखाकर, ढिठाई के साथ उनके वचनों का अनादर करके,

एक एव यदा पार्थः षड्रथाञ्जितवान्युधि ॥ १६ ॥
बहुशो जीयमानस्य कर्म दृष्टं तथैव ते ।
न चेदेवं करिष्यामो यदयं ब्राह्मणोऽब्रवीत् ।
ध्रुवं युधि हतास्तेन भक्षयिष्याम पांसुकान् ॥ १७ ॥
वैशम्पायन उवाच—धृतराष्ट्रस्ततो भीष्ममनुमान्य प्रसाद्य च ।
अवभर्त्स्य च राधेयमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १८ ॥
अस्मद्धितं वाक्यमिदं भीष्मः शांतनवोऽब्रवीत् ।
पांडवानां हितं चैव सर्वस्य जगतस्तथा ॥ १९ ॥
चिंतयित्वा तु पार्थेभ्यः प्रेषयिष्यामि संजयम् ।
स भवान्प्रतियात्वद्य पांडवानेव मा चिरम् ॥ २० ॥
स तं सत्कृत्य कौरव्यः प्रेषयामास पांडवान् ।
सभामध्ये समाहूय संजयं वाक्यमब्रवीत् ॥ २१ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि संजययानपर्वणि पुरोहितयाने एकविंशोऽध्यायः ॥ २१ ॥

भीष्म ने कहा—हे कर्ण ! मुंह से यों कह देने में क्या वीरता है ? तुम क्या अहङ्कार करते हो ? अकेले अर्जुन ने युद्ध में तुम छः महारथियों को मार भगाया था; उसे स्मरण करो। अर्जुन ने उस युद्ध में कई बार तुमको जीतकर छोड़ दिया था, तभी तुम्हारी सब बहादुरी देख ली गई । ब्राह्मण ने जो कहा है उसे यदि हम लोग नहीं मानेंगे तो अवश्य अर्जुन के हाथ से मरकर धूल फांकेंगे ॥१६।१७॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! तब धृतराष्ट्र ने सादर नम्र वचनों से भीष्म को प्रसन्न करके कर्ण को झिड़का और कहा—पितामह भीष्म ने यह हमारे हित की बात कही है । इससे पाण्डवों का और सब जगत् का हित होगा । यह सोचकर मैं अभी सञ्जय को पाण्डवों के पास भेजूंगा । हे ब्राह्मणश्रेष्ठ ! आप शीघ्र ही पाण्डवों के पास जाइए । अब धृतराष्ट्र ने सत्कारपूर्वक उस ब्राह्मण को पाण्डवों के पास भेज दिया और फिर सभा में सञ्जय को बुलाकर उससे यों कहा ॥१८।२१॥

उद्योगपर्व का इकीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ २१ ॥

अथ द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥

धृतराष्ट्र उवाच—प्राप्तानाहुः संजय पांडुपुत्रानुपप्लव्ये तान्विजानीहि गत्वा ।
अजातशत्रुं च सभाजयेथा दिष्ट्या न हास्थानमुपस्थितस्त्वम् ॥ १ ॥

बाईसवां अध्याय ॥ २२ ॥

धृतराष्ट्र ने कहा—हे सञ्जय ! लोग कहते हैं कि पाण्डव लोग उपप्लव्य नगरमें आ गये हैं । तुम जाकर पता लाओ । अजातशत्रु युधिष्ठिर का सत्कार करना और कहना, "प्रसन्नता की बात है कि तुम वन से

प्रियश्चैषामात्मसमश्च कृष्णो विद्वांश्चैषां कर्माणि नित्ययुक्तः ।
समानीतान्पाण्डवान्सृंजयांश्च जनार्दनं युयुधानं विराटम् ॥ ३९ ॥
अनामयं मद्वचनेन पृच्छेः सर्वांस्तथा द्रौपदेयांश्च पंच ।
यद्यत्तत्र प्राप्तकालं परेभ्यस्त्वं मन्येथा भारतानां हितं च ।
तद्भाषेथाः संजय राजमध्ये न मूर्च्छयेद्यन्न च युद्धहेतुः ॥ ४० ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि सञ्जययानपर्वणि धृतराष्ट्रसंदेशे द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥

शीघ्र पाञ्चालराज की सेना के पड़ाव में जाओ। तुम अजातशत्रु युधिष्ठिर से उनकी कुशल पूछना और बारम्बार मेरी ओर से प्रीति की बातें करना। महापराक्रमी महाभाग श्रीकृष्ण के साथ भी ऐसा ही व्यवहार करना। मेरे कहने से कुशल-क्षेम पूछना, और कहना, राजा धृतराष्ट्र पाण्डवों से मेल ही करना चाहते हैं। श्रीकृष्ण जो कुछ कहेंगे उसे युधिष्ठिर कभी न टालेंगे। हे सञ्जय! श्रीकृष्ण उन्हें बहुत प्यारे हैं। वे आत्मा से भी बढ़कर पाण्डवों को प्रिय, बुद्धिमान्, विद्वान् और सदा पाण्डवों के हितचिन्तक हैं। तुम मेरी ओर से पाण्डव, सात्यकि, राजा विराट और द्रौपदी के पाँचों पुत्रों से भी उनकी कुशल क्षेम पूछना। इसके सिवा वहाँ जो तुम समय के अनुकूल और कौरवों के भले की बात समझना सो उस राजसभा में कहना। ऐसी बातें करना जिनसे पाण्डवपक्ष का क्रोध और विरोध न घड़े, और युद्ध छिड़ने की आशङ्का मिट जाय ॥३८।४०॥

—०—

उद्योगपर्व का बाईसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ २२ ॥

अथ त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

वैशम्पायन उवाच—राज्ञस्तु वचनं श्रुत्वा धृतराष्ट्रस्य संजयः ।
उपप्लव्यं ययौ द्रष्टुं पांडवानमितौजसः ॥ १ ॥
स तु राजानमासाद्य कुंतीपुत्रं युधिष्ठिरम् ।
अभिवाद्य ततः पूर्वं सूतपुत्रोऽभ्यभाषत ॥ २ ॥
गावल्गणिः संजयः सूतसूनुरजातशत्रुमवदत्प्रतीतः ।
दिष्ट्या राजंस्त्वामरोगं प्रपश्ये सहायवंतं च महेंद्रकल्पम् ॥ ३ ॥

तेईसवाँ अध्याय ॥ २३ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! राजा धृतराष्ट्र के वचन सुनकर सञ्जय उसी दिन पराक्रमी पाण्डवों को देखने के लिए उपप्लव्य नगर को गये। राजा युधिष्ठिर के पास पहुँचकर सञ्जय ने पहले उन्हें प्रणाम किया और फिर प्रसन्नतापूर्वक कहा—बड़े ही भाग्य की बात है हे महाराज! जो मैं आपको नीरोग, सहाययुक्त और महेन्द्र के समान देख रहा हूँ। बुद्धिमान् बूढ़े राजा धृतराष्ट्र ने आपके कुशल-समाचार पूछे हैं। पाण्डवश्रेष्ठ भीमसेन, वीर अर्जुन, पुरुषसिंह नकुल और सहदेव अच्छी तरह

कच्चिन्मानं तात लभंत एते धनुर्भृतः कच्चिदेतेऽप्यरोगाः ।
येषां राष्ट्रे निवसति दर्शनीयो महेष्वासः शीलवान्द्रोणपुत्रः ॥ १२ ॥
वैश्यापुत्रः कुशली तात कच्चिन्महाप्राज्ञो राजपुत्रो युयुत्सुः ।
कर्णोऽमात्यः कुशली तात कच्चित्सुयोधनो यस्य मंदो विधेयः ॥ १३ ॥
स्त्रियो वृद्धा भारतानां जनन्यो महानस्यो दासभार्याश्च सूत ।
वध्वः पुत्रा भागिनेया भगिन्यो दौहित्रा वा कच्चिदप्यव्यलीकाः ॥ १४ ॥
कच्चिद्राजा ब्राह्मणानां यथावत्प्रवर्तते पूर्ववत्तात वृत्तिम् ।
कच्चिद्दायान्मामकान्धार्तराष्ट्रो द्विजातीनां संजय नोपहंति ॥ १५ ॥
कच्चिद्राजा धृतराष्ट्रः सपुत्र उपेक्षते ब्राह्मणातिक्रमान्वै ।
स्वर्गस्य कच्चिन्न तथा वर्त्मभूतामुपेक्षते तेषु सदैव वृत्तिम् ॥ १६ ॥
एतज्ज्योतिश्चोत्तमं जीवलोके शुक्लं प्रजानां विहितं विधात्रा ।
ते चेल्लोभं नियच्छंति मंदाः कृत्स्नो नाशो भविता कौरवाणाम् ॥ १७ ॥
कच्चिद्राजा धृतराष्ट्रः सपुत्रो बुभूषते वृत्तिममात्यवर्गे ।
कच्चिन्न भेदेन जिजीविषंति सुहृद्रूपा दुर्हृदश्चैकमर्त्यात् ॥ १८ ॥
कच्चिन्न पापं कथयंति तात ते पांडवानां कुरवः सर्व एव ।
द्रोणः सपुत्रश्च कृपश्च वीरो नास्मासु पापानि वदंति कच्चित् ॥ १९ ॥

हैं ? उनका सर्वत्र मान होता है न ? वैश्यापुत्र धृतराष्ट्र के पुत्र महाप्राज्ञ युयुत्सु तो सकुशल हैं ? मन्दबुद्धि दुर्योधन जिनकी सम्मति पर चलते हैं वे मानों कर्ण तो सकुशल हैं ? भारतवंश की स्त्रियां, बूढ़े, माताएं, दासियां, रसोई का काम करनेवाली, बहुएं, पुत्र, भानजे, बहनें, नाती आदि सब परिवार परिजन तो सकुशल हैं और निष्कपट व्यवहार करते हैं ? राजा दुर्योधन पहले की तरह ब्राह्मणों को, बंधी हुई, वृत्तियां देते जाते हैं न ? हे सञ्जय ! मैंने ब्राह्मणों को जीविका के लिए गांव पृथ्वी आदि जो सम्पत्ति दे रक्खी थी, उसे दुर्योधन ने उनसे छीन तो नहीं लिया? ॥११।१५॥

ब्राह्मणों से यदि कोई अपराध बन पड़ता है तो उसे अपने पुत्रों सहित राजा धृतराष्ट्र उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं न ? स्वर्ग का मार्ग, जो ब्राह्मणों को दी हुई, जीविका है उसकी उपेक्षा तो राजा नहीं करते ? ब्राह्मणों की जीविका को बनाये रखना एक ऐसा काम है जिससे यहां यश होता है और परलोक में सद्गति प्राप्त होती है । यह व्यवस्था विधाता की बनाई हुई है । यदि मन्दबुद्धि कौरव लोभ में पड़कर ब्राह्मणों की वृत्तियां छीन लेंगे तो कौरवों का सर्वनाश ही हो जायगा । हे सञ्जय ! अपने पुत्र सहित राजा धृतराष्ट्र सदा अपने मन्त्रियों और कर्मचारियों के कामों पर ध्यान रखते हैं न ? ठीक समय पर उन्हें उनकी वृत्ति देकर सन्तुष्ट रखते हैं न ? इस पर दृष्टि

यत्र मंदाञ्छत्रुवशं प्रयातानमोचयद्भीमसेनो जयश्च ॥ २६ ॥
अहं पश्चादर्जुनमभ्यरक्षं माद्रीपुत्रौ भीमसेनोऽप्यरक्षत् ।
गाण्डीवधन्वा शत्रुसंघानुदस्य स्वस्त्यागमत्कच्चिदेनं स्मरंति ॥ २७ ॥
न कर्मणा साधुनैकेन नूनं सुखं शक्यं वै भवतीह संजय ।
सर्वात्मना परिजेतुं वयं चेन्न शक्नुमो धृतराष्ट्रस्य पुत्रम् ॥ २८ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि सञ्जययानपर्वणि युधिष्ठिरप्रश्ने त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

स्मरण करते हैं? ॥२०।२५॥

कुमन्त्रणा करके घोषयात्रा के बहाने दुर्योधन आदि कौरव द्वैतवन में गये थे। वहां गन्धर्वों से जो उन्हें नीचा देखना पड़ा था और अर्जुन तथा भीमसेन ने मेरे कहने से जाकर उन्हें गन्धर्वों के हाथ से छुड़ाया था, उन बातों को कभी दुर्योधन और उनके साथी लोग स्मरण करते हैं? उस युद्ध में मैंने अर्जुन की और भीमसेन ने नकुल और सह-देव की पृष्ठ-रक्षा की थी। गाण्डीव धनुष धारण करने वाले अर्जुन शत्रुओं के असंख्य दल को हराकर सकुशल लौट आये थे। इन बातों को और उन पराक्रमी अर्जुन को कौरव लोग कभी स्मरण करते हैं? हे सञ्जय! यदि हम लोग अनेक यत्न करके भी धृतराष्ट्र के पुत्र दुर्योधन को वश में न कर सके तो मुझे यह निश्चय हो जायगा कि इस लोक में केवल अच्छे कर्मों से ही सुख नहीं पाया जा सकता ॥२६।२८॥

उद्योगपर्व का तेईसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ २३ ॥

अथ चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ २४ ॥

संजय उवाच-यथाऽऽत्थ मे पांडव तत्तथैव कुरून्कुरुश्रेष्ठ जनं च पृच्छसि ।
अनामयास्तात मनस्विनस्ते कुरुश्रेष्ठान्पृच्छसि पार्थ यांस्त्वम् ॥ १ ॥
संत्येव वृद्धाः साधवो धार्तराष्ट्रे संत्येव पापाः पाण्डव तस्य विद्धि ।
दद्याद्रिपुभ्योऽपि हि धार्तराष्ट्रः कुतो दायांल्लोपयेद्ब्राह्मणानाम् ॥ २ ॥
यद्युष्माकं वर्त्तते सौनधर्म्यमद्रुग्धेषु द्रुग्धवत्तन्न साधु ।
मित्रध्रुक् स्याद्धृतराष्ट्रः सपुत्रो युष्मान्द्विषन्साधुवृत्तानसाधुः ॥ ३ ॥
न चाऽनुजानाति भृशं च तप्यते शोचत्यंतः स्थविरोऽजातशत्रो ।

चौबीसवां अध्याय ॥ २४ ॥

सञ्जय ने कहा—हे युधिष्ठिर! आपने कौरवों के बारे में जो कुछ पूछा सो सब वैसा ही है। हे पार्थ! जिन भीष्म आदि कुरुश्रेष्ठों के बारे में आपने प्रश्न किये वे सब सकुशल हैं। हे राजेन्द्र! दुर्योधन के पास वृद्ध सज्जन भी हैं और पापबुद्धि वाले दुर्जन भी हैं। दुर्योधन शत्रुओं को भी धन देता है, तब वह ब्राह्मणों की [illegible] कैसे छीनेगा? आप लोग द्रोह का भाव नहीं रखते, इस कारण दुर्योधन का आपसे द्रोह रखना ठीक नहीं कहा जा सकता। साधु दुर्योधन [illegible] सत्पुरुषों से द्वेष करके मित्रद्रोही [illegible]

अथ पंचविंशोऽध्यायः ॥ २५ ॥

युधिष्ठिर उवाच–समागताः पाण्डवाः सृंजयाश्च जनार्दनो युयुधानो विराटः ।
यत्ते वाक्यं धृतराष्ट्रानुशिष्टं गावल्गणे ब्रूहि तत्सूतपुत्र ॥ १ ॥
संजय उवाच–अजातशत्रुं च वृकोदरं च धनंजयं माद्रवतीसुतौ च ।
आमंत्रये वासुदेवं च शौरिं युयुधानं चेकितानं विराटम् ॥ २ ॥
पंचालानामधिपं चैव वृद्धं धृष्टद्युम्नं पार्षतं याज्ञसेनिम् ।
सर्वे वाचं शृणुतेमां मदीयां वक्ष्यामि यां भूतिमिच्छन्कुरूणाम् ॥ ३ ॥
शमं राजा धृतराष्ट्रोऽभिनंदन्नयोजयत्त्वरमाणो रथं मे ।
सभ्रातृपुत्रस्वजनस्य राज्ञस्तद्रोचतां पाण्डवानां शमोऽस्तु ॥ ४ ॥
सर्वैर्धर्मैः समुपेतास्तु पार्थाः संस्थानेन मार्दवेनाऽऽर्जवेन ।
जाताः कुले ह्यनृशंसा वदान्या ह्रीनिषेवाः कर्मणां निश्चयज्ञाः ॥ ५ ॥
न युज्यते कर्म युष्मासु हीनं सत्त्वं हि वस्तादृशं भीमसेनाः ।
उद्भासते ह्यंजनबिंदुवत्तच्छुभ्रे वस्त्रे यद्भवेत्किल्बिषं वः ॥ ६ ॥
सर्वक्षयो दृश्यते यत्र कृत्स्नः पापोदयो निरयोऽभावसंस्थः ।
कस्तत्र कुर्याज्जातु कर्म प्रजानन्पराजयो यत्र समो जयश्च ॥ ७ ॥

पच्चीसवाँ अध्याय ॥ २५ ॥

युधिष्ठिर ने कहा—हे सञ्जय ! पाण्डव, सृञ्जय, कृष्णचन्द्र, सात्यकि, विराट आदि सब लोग यहाँ उपस्थित हैं । अब तुम महाराज धृतराष्ट्र की कही हुई बातें कहो ॥१॥

सञ्जय ने कहा—मैं अजातशत्रु, भीमसेन, अर्जुन, नकुल, सहदेव, श्रीकृष्ण, सात्यकि, चेकितान, विराट, वृद्ध पाञ्चालनरेश द्रुपद, धृष्टद्युम्न आदि सबको प्रणाम करके कौरवों के भले की बातें कहता हूँ । आप लोग सुनिए । राजा धृतराष्ट्र आपस में सन्धि कर लेना चाहते हैं । इसी से शीघ्र ही रथ पर बिठाकर उन्होंने मुझे आपके पास भेजा है । भाई, पुत्र, स्वजन, इष्ट मित्र आदि के साथ राजा युधिष्ठिर को धृतराष्ट्र की इच्छा का अनुमोदन करना चाहिए ।२।४।

पाण्डव लोग उसे स्वीकार कर लें, जिसमें युद्ध की आशङ्का मिट जाय और शान्ति स्थापित हो । पाण्डव लोग आकृति, सरलता, कृपा आदि से युक्त, अच्छे कुल में उत्पन्न, शान्त, उदार, शीलसङ्कोचयुक्त और सब कामों में चतुर दूरदर्शी हैं । हे सेनायुक्त पाण्डवो ! हिंसा या और कोई हीन कार्य आपसे नहीं हो सकता, क्योंकि आपकी बुद्धि ऐसी ही परिमार्जित और दृढ़ है । जो ऐसा काम आपसे हो जाय तो वह श्वेत वस्त्र में काले दाग की तरह सदा दूर से दिखाई देगा—कलङ्क बन जायगा । युद्ध में जाति का क्षय होने की आशङ्का है । उसे कौरवों का पापोदय कहना चाहिए । ऐसे युद्ध में हारना और जीतना दोनों ही समान शोक का कारण होंगे, क्योंकि सब

हारेगा। जीतने या हारने में दोनों पक्षों का कुछ कल्याण नहीं देख पड़ता।] ॥११।१२॥

पाण्डव लोग, नीच कुल में उत्पन्न ओछे मनुष्यों की तरह, धर्म और अर्थ के विरुद्ध युद्ध ऐसे घोर कर्म में कैसे प्रवृत्त होंगे ? इसलिए मैं (धृतराष्ट्र) श्रीकृष्ण और वृद्ध पाञ्चालराज द्रुपद को प्रणत-भाव से मनाता हुआ, हाथ जोड़कर, शरणागत होकर, कहता हूं कि [युद्ध छोड़कर सन्धि का ही उद्योग होना चाहिए।] कुरुवंश और सृञ्जयवंश की भलाई का उपाय करना चाहिए। मुझे विश्वास है कि मेरी बात का श्रीकृष्ण और अर्जुन को स्मरण अवश्य होगा। क्योंकि ये तो याचना करने से अपने प्राण तक दे सकते हैं; तब यह प्रार्थना मान लेना कौन बड़ी बात है। मैं आपस में सन्धि होने के लिए ही ये बातें कह रहा हूं। हे धर्मराज! भीष्म और महाराज धृतराष्ट्र की यही इच्छा है कि यह विरोध सदा के लिए शान्त हो जाय ॥१३।१५॥

—०—

उद्योगपर्व का पचीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ २५ ॥

अथ षड्विंशोऽध्यायः ॥ २६ ॥

युधिष्ठिर उवाच–कां नु वाचं संजय मे शृणोषि युद्धैषिणीं येन युद्धाद्बिभेषि ।
अयुद्धं वै तात युद्धाद्गरीयः कस्तल्लब्ध्वा जातु युध्येत सूत ॥ १ ॥
अकुर्वतश्चेत्पुरुषस्य संजय सिद्ध्येत्संकल्पो मनसा यं यमिच्छेत् ।
न कर्म कुर्याद्विदितं ममैतदन्यत्र युद्धाद्बहु यल्लघीयः ॥ २ ॥
कुतो युद्धं जातु नरोऽवगच्छेत्को देवशप्तो हि वृणीत युद्धम् ।
सुखैषिणः कर्म कुर्वंति पार्था धर्मादहीनं यच्च लोकस्य पथ्यम् ॥ ३ ॥
धर्मोदयं सुखमाशंसमानाः कृच्छ्रोपायं तत्त्वतः कर्म दुःखम् ।
सुखं प्रेप्सुर्विजिघांसुश्च दुःखं य इंद्रियाणां प्रीतिवशानुगामी ॥ ४ ॥
कामाभिध्या स्वशरीरं दुनोति यया प्रमुक्तो न करोति दुःखम् ।
यथेध्यमानस्य समिद्धतेजसो भूयो बलं वर्धते पावकस्य ॥ ५ ॥

छब्बीसवां अध्याय ॥ २६ ॥

युधिष्ठिर ने कहा–हे सञ्जय! तुमने मेरे मुंह से युद्ध की इच्छा की कौनसी बात सुनी है, जो युद्ध से यों भयभीत होते हो ? युद्ध की अपेक्षा सन्धि कर लेना ही श्रेष्ठ है। जो यों ही कार्य सिद्ध हो जाय तो युद्ध करना कौन उचित समझेगा ? यदि मनुष्य की इच्छा, कुछ किये बिना, स्वयं सिद्ध हो जाय तो फिर कौन उद्योग करना चाहेगा ? जो युद्ध करने से बहुत और युद्ध न करने से कम लाभ हो तो वह कम लाभ ही सब तरह श्रेष्ठ है, यह मुझे विदित है ॥१।२॥

कौन पुरुष युद्ध करने की इच्छा करेगा ? किसे देवताओं का शाप हुआ है, जो छेड़कर युद्ध करना चाहेगा ? हे सूत! पाण्डवों का नियम है कि वे सदा सुख की इच्छा से वही काम करते हैं जो धर्म के विरुद्ध नहीं होता और जिससे किसी को हानि नहीं पहुंचती। हम लोग वही सुख चाहते हैं जिससे धर्म का अभ्युदय हो अथवा जो धर्मकार्य से प्राप्त हो।

गांडीवविस्फारितशब्दमाजावशृण्वाना धार्त्तराष्ट्रा ध्रियंते ।
क्रुद्धं न चेदीक्षते भीमसेनं सुयोधनो मन्यते सिद्धमर्थम् ॥ २५ ॥
इंद्रोऽप्येतन्नोत्सहेत्तात हर्तुमैश्वर्यं नो जीवति भीमसेने ।
धनंजये नकुले चैव सूत तथा वीरे सहदेवे सहिष्णौ ॥ २६ ॥
स चेदेतां प्रतिपद्यते बुद्धिं वृद्धो राजा सह पुत्रेण सूत ।
एवं रणे पांडवकोपदग्धा न पश्येयुः संजय धार्त्तराष्ट्राः ॥ २७ ॥
जानासि त्वं क्लेशमस्मासु वृत्तं त्वां पूजयन्संजयाऽहं क्षमेयम्।
यच्चाऽस्माकं कौरवैर्भूतपूर्वं या नो वृत्तिर्धार्तराष्ट्रे तदाऽऽसीत् ॥ २८ ॥
अद्यापि तत्तत्र तथैव वर्त्ततां शांतिं गमिष्यामि यथा त्वमात्थ।
इंद्रप्रस्थे भवतु ममैव राज्यं सुयोधनो यच्छतु भारताग्र्यः ॥ २९ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि संजययानपर्वणि युधिष्ठिरवाक्ये षड्विंशोऽध्याय. ॥ २६ ॥

इसे सब कौरव और अन्य राजा लोग भी जानते है। अर्जुन का धनुष चार हाथ लम्बा है और वे धनुर्विद्या को बहुत अच्छी तरह से जानते हैं। दुर्योधन उन अर्जुन से युद्ध करके पाण्डवों के भाग को ले लेना सहज समझता है, इससे बढ़कर मूर्खता क्या होगी? वास्तव में दुर्योधन आदि कौरव जब तक गाण्डीव धनुष का शब्द नहीं सुनते, और क्रोधित भीमसेन का भयानक मुख नहीं देखते, तभी तक वे जीवित हैं और राज्यप्राप्ति के प्रयोजन को सिद्ध समझते हैं॥२१।२५॥

हे सञ्जय! भीमसेन, अर्जुन, सहन न करनेवाले वीर सहदेव और नकुल के जीते रहते हमारे राज्य और ऐश्वर्य को साक्षात् इन्द्र भी नहीं ले सकते। जो दुर्योधन सहित राजा धृतराष्ट्र यह समझें कि पाण्डवों को राज्य न देने से कौरवों का नाश होना अनिवार्य है तो कौरव लोग युद्ध में पाण्डवों के कोप की अग्नि में भस्म होने से बच सकते हैं। हमने अब तक जो क्लेश सहे हैं उन्हें तुम अच्छी तरह से जानते ही हो। दुर्योधनकृत पहले के अपने अपकारों को मैं क्षमा कर सकता हूं, क्योंकि मुझे तुम्हारी बात रखनी है। तुम्हारे कहने से मैं सन्धि कर लूंगा। पहले कौरवों के साथ हमारा जैसा भाव और व्यवहार था वैसा ही अब भी रहेगा। कौरवश्रेष्ठ दुर्योधन मेरा इन्द्रप्रस्थ का राज्य मुझे दे दे ॥२६।२९॥

—०—

उद्योगपर्व का छब्बीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ २६ ॥

अथ सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २७ ॥

संजय उवाच-धर्मनित्या पांडव ते विचेष्टा लोके श्रुता दृश्यते चापि पार्थ ।
महास्रावं जीवितं चाप्यनित्यं संपश्य त्वं पांडव मा व्यनीनशः ॥ १ ॥

सत्ताईसवां अध्याय ॥ २७ ॥

सञ्जय ने कहा—हे पाण्डव! आपके सब काम धर्म के अनुकूल ही देख पड़ते हैं और सब लोग आप के इस काम को जानते हैं। आप अपने इस यश का विचार करके और जीवन को अनित्य समझकर

नाऽधर्मे ते धीयते पार्थ बुद्धिर्न संरंभात्कर्म चकर्थ पापम् ।
आत्था किं तत्कारणं यस्य हेतोः प्रज्ञाविरुद्धं कर्म चिकीर्षसीदम् ॥ २२ ॥
अव्याधिजं कटुकं शीर्षरोगि यशोमुषं पापफलोदयं वा ।
सतां पेयं यन्न पिबंत्यसंतो मन्युं महाराज पिब प्रशाम्य ॥ २३ ॥
पापानुबंधं को नु तं कामयेत क्षमैव ते ज्यायसी नोत भोगाः ।
यत्र भीष्मः शांतनवो हतः स्याद्यत्र द्रोणः सहपुत्रो हतः स्यात् ॥ २४ ॥
कृपः शल्यः सौमदत्तिर्विकर्णो विविंशतिः कर्णदुर्योधनौ च ।
एतान्हत्वा कीदृशं तत्सुखं स्याद्यद्विंदेथास्तदनुब्रूहि पार्थ ॥ २५ ॥
लब्ध्वाऽपीमां पृथिवीं सागरांतां जरामृत्यू नैव हि त्वं प्रजह्याः ।
प्रियाप्रिये सुखदुःखे च राजन्नेवं विद्वान्नैव युद्धं कुरु त्वम् ॥ २६ ॥
अमात्यानां यदि कामस्य हेतोरेवं युक्तं कर्म चिकीर्षसि त्वम् ।
अपक्रामेः स्वं प्रदायैव तेषां मागास्त्वं वै देवयानात्पथोऽद्य ॥ २७ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि संजययानपर्वणि संजयवाक्ये सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २७ ॥

हे धर्मराज ! आपकी बुद्धि कभी अधर्म की ओर नहीं झुकती और आपने कभी क्रोध के वश होकर कोई पापकर्म नहीं किया। बताइए, इस समय किस कारण आप यह बुद्धि के विरुद्ध कार्य (युद्ध) करना चाहते हैं ? हे महाराज ! यह क्रोध बिना व्याधि की पीड़ा, कड़वा, सिर को घुमा देनेवाला, यश को हरनेवाला और पाप-फल के उदय का कारण है। सज्जन लोग इसे पी जाते हैं, दुर्जन नहीं पी सकते। हे युधिष्ठिर ! आप इसे पी जाइए और शान्त बनिए। जिस युद्ध में शान्तनु के पुत्र भीष्म पितामह, गुरु द्रोणाचार्य और अश्वत्थामा मारे जायँ उस पापमय युद्ध को कौन चाहेगा ? हे राजेन्द्र ! आपको राज्य-भोग की अपेक्षा क्षमा को ही श्रेष्ठ समझना चाहिए। हे कुन्तीपुत्र ! बताइए, कृपाचार्य, शल्य, सोमदत्त के पुत्र, विकर्ण, विविंशति, कर्ण, दुर्योधन आदि स्वजनों की हत्या करके आप लोग जो सुख पायेंगे वह कैसा होगा ? सोचिए तो, आप सारी पृथ्वी का राज्य भी प्राप्त कर लें तो भी बुढ़ापा और मृत्यु, प्रिय और अप्रिय, सुख और दुःख—इनसे आप बच नहीं सकते। यह समझकर आप युद्ध न कीजिए। जो आप मन्त्रियों की सम्मति से युद्ध छेड़ना चाहते हैं तो आप उन्हें ही सब कार्य सौंपकर स्वयं इससे अलग हो जाइए। आप गोत्र से द्रोह करके अर्चि आदि देवयानों के मार्ग से अपने को मत हटाइए ॥२२।२७॥

उद्योगपर्व का सत्ताईसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ २७ ॥

अथ अष्टाविंशोऽध्यायः ॥ २८ ॥

युधिष्ठिर उवाच–असंशयं संजय सत्यमेतद्धर्मो वरः कर्मणां यत्त्वमात्थ ।
ज्ञात्वा तु मां संजय गर्हयेस्त्वं यदि धर्मं यद्यधर्मं चरेयम् ॥ १ ॥

ब्रह्मविद्यां ब्रह्मचर्यं क्रियां च निषेवमाणा ऋषयोऽमुत्र भांति ॥ १६ ॥
जानन्निमं सर्वलोकस्य धर्मं विप्रेंद्राणां क्षत्रियाणां विशां च ।
स कस्मात्त्वं जानता ज्ञानवान्सन्व्यायच्छसे संजय कौरवार्थे ॥ १७ ॥
आम्नायेषु नित्यसंयोगमस्य तथाऽश्वमेधे राजसूये च विद्धि ।
संयुज्यते धनुषा वर्मणा च हस्त्यश्वाद्यै रथशस्त्रैश्च भूयः ॥ १८ ॥
ते चेदिमे कौरवाणामुपायमवगच्छेयुरवधेनैव पार्थाः ।
धर्मत्राणं पुण्यमेषां कृतं स्यादार्ये वृत्ते भीमसेनं निगृह्य ॥ १९ ॥
ते चेत्पित्र्ये कर्मणि वर्तमाना आपद्येरन्दिष्टवशेन मृत्युम् ।
यथाशक्त्या पूरयंतः स्वकर्म तदप्येषां निधनं स्यात्प्रशस्तम् ॥ २० ॥
उताऽहो त्वं मन्यसे शाम्यमेव राज्ञां युद्धे वर्तते धर्मतंत्रम् ।
अयुद्धे वा वर्तते धर्मतंत्रं तथैव ते वाचमिमां शृणोमि ॥ २१ ॥
चातुर्वर्ण्यस्य प्रथमं संविभागमवेक्ष्य त्वं संजय स्वं च कर्म ।
निशम्याऽथो पांडवानां च कर्म प्रशंस वा निंद वा या मतिस्ते ॥ २२ ॥
अधीयीत ब्राह्मणो वै यजेत दद्यादीयात्तीर्थमुख्यानि चैव ।

मान हैं। कहां तक कहें, रुद्र, आदित्य, वसु, विश्वेदेवा, यम, राजराज कुबेर आदि देवता और गन्धर्व, यक्ष, अप्सरा आदि सब कर्म के प्रभाव से ही अपने-अपने स्थान में स्थित होकर ऐश्वर्य-भोग कर रहे है। इस लोक में भी देखो, ऋषि लोग ब्रह्मज्ञान का अभ्यास, ब्रह्मचर्य का पालन और यज्ञ आदि करके, कर्म के प्रभाव से ही, श्रेष्ठ समझे जाते हैं। हे सञ्जय! तुम सब संसार के—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि के—इस धर्म को जानकर भी, ज्ञानी होकर भी, कौरवों का पक्ष लेकर क्यों युधिष्ठिर पर दबाव डालना चाहते हो? ॥१५।१७॥

ये युधिष्ठिर नित्य वेद-शास्त्र पढ़ते-सुनते रहते हैं; अश्वमेध और राजसूय यज्ञ भी कर चुके है; धनुष-कवच-रथ-शस्त्र-हाथी-घोड़े आदि के रखने और चलाने में भी निपुण हैं। इनमें विद्या, धर्म और वीरता बहुत कुछ है; इसलिए इन्हें न कोई कुछ सिखा सकता है और न सहज में इन पर विजय पा सकता है। ये पाण्डव यदि कौरवों की हत्या बिना किये ही राज्य लेने का कोई और उपाय ठीक कर सकें और भीमसेन का क्रोध शान्त करके उन्हें अहिंसा की राह पर ला सकें तो बहुत ही अच्छा है। इस तरह कार्य सिद्ध हो जाने पर धर्म की रक्षा और पुण्य दोनों बातें होंगी। ये पाण्डव इस प्रकार पैतृक धर्म की राह पर चलकर अपनी शक्ति भर अपना कार्य सिद्ध करने में यदि दैवयोग से मृत्यु के मुख में चले जायँगे तो वह भी प्रशंसनीय है ॥१८।२०॥

अथवा जो तुम सन्धि को ही पसन्द करते हो तो बताओ, क्षत्रिय के लिए युद्ध करना धर्म है या युद्ध न करना? जिसे तुम श्रेष्ठ कहोगे उसे मैं करूंगा। हे सञ्जय! तुम चारों वर्णों के प्रथम अर्थात् प्राचीन

अभी तक शान्ति धारण किये हुए हैं। जो उन्हें आधा राज्य देकर सन्धि न की जायगी तो वे युद्ध करने को भी तैयार और समर्थ हैं ॥५६।५८॥

—०—

उद्योगपर्व का उनतीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ २९ ॥

अथ त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३० ॥

संजय उवाच–आमंत्रये त्वां नरदेवदेव गच्छाम्यहं पांडव स्वस्ति तेऽस्तु ।
कच्चिन्न वाचा वृजिनं हि किंचिदुच्चारितं मे मनसोऽभिषंगात् ॥ १ ॥
जनार्दनं भीमसेनार्जुनौ च माद्रीसुतौ सात्यकिं चेकितानम् ।
आमंत्र्य गच्छामि शिवं सुखं वः सौम्येन मां पश्यत चक्षुषा नृपाः ॥ २ ॥
युधिष्ठिर उवाच–अनुज्ञातः संजय स्वस्ति गच्छ न नः स्मरस्यप्रियं जातु विद्वन् ।
विद्मश्च त्वां ते च वयं च सर्वे शुद्धात्मानं मध्यगतं सभास्थम् ॥ ३ ॥
आप्तो दूतः संजय सुप्रियोऽसि कल्याणवाक् शीलवांस्तृप्तिमांश्च ।
न मुह्येस्त्वं संजय जातु मत्या न च क्रुद्ध्येरुच्यमानो दुरुक्तैः ॥ ४ ॥
न मर्मगां जातु वक्ताऽसि रुक्षां नोपश्रुतिं कटुकां नोतु मुक्ताम् ।
धर्मारामामर्थवतीमहिंस्रामेतां वाचं तव जानीम सूत ॥ ५ ॥
त्वमेव नः प्रियतमोऽसि दूत इहाऽऽगच्छेद्विदुरो वा द्वितीयः ।
अभीक्ष्णदृष्टोऽसि पुरा हि नस्त्वं धनंजयस्याऽऽत्मसमः सखाऽसि ॥ ६ ॥

तीसवां अध्याय ॥ ३० ॥

सञ्जय ने कहा—हे महाराज ! आपका भला हो। अब मैं आपसे जाने की आज्ञा मांगता हूं। मन की चञ्चलता के कारण मेरे मुंह से जो कुछ अनुचित निकल गया हो तो उसके लिए मैं आप लोगों से क्षमा मांगता हूं। श्रीकृष्ण, भीमसेन, अर्जुन, नकुल, सहदेव, सात्यकि और चेकितान आदि से आज्ञा मांगकर मैं जाता हूं। आप लोगों को सुख और कल्याण प्राप्त हो। आप सब लोग मुझ पर कृपा-दृष्टि रक्खें ॥१।२॥

युधिष्ठिर ने कहा–हे सञ्जय ! तुम्हारा कल्याण हो। जाओ, मैं तुम्हें जाने की आज्ञा देता हूं। तुम बुद्धिमान् और विद्वान् पुरुष हो, इसलिए कभी हमारा अनिष्ट नहीं चाहोगे। हम जानते हैं कि तुम्हारा हृदय शुद्ध है और तुम मध्यस्थ दूत बनकर हमारी सभा में आये हो, इसलिए तुमने जो कुछ कहा है, धृतराष्ट्र और दुर्योधन की ओर से कहा है। हे सञ्जय ! तुम विश्वासपात्र दूत, प्रीतिपात्र, कल्याण की बात कहनेवाले, सुशील और सन्तोषी हो। तुम्हारी बुद्धि कभी मोह को नहीं प्राप्त हो सकती और सच्ची उचित बात कहने पर तुम कभी अप्रसन्न नहीं हो सकते। तुम कभी मर्मस्थल में चोट पहुंचानेवाली, कड़वी, कड़ी और असङ्गत बात नहीं कह सकते ॥३।५॥

हे सूत ! तुमने जो कुछ हमसे कहा है उसे

गंधर्वपुत्रप्रतिमं तरस्विनं तमश्वत्थामानं कुशलं स्म पृच्छेः ॥ १३ ॥
शरद्वतस्याऽऽवसथं स्म गत्वा महारथस्याऽऽत्मविदां वरस्य ।
त्वं मामभीक्ष्णं परिकीर्तयन्वै कृपस्य पादौ संजय पाणिना स्पृशेः ॥ १४ ॥
यस्मिन्शौर्यमानृशंस्यं तपश्च प्रज्ञा शीलं श्रुतिसत्त्वे धृतिश्च ।
पादौ गृहीत्वा कुरुसत्तमस्य भीष्मस्य मां तत्र निवेदयेथाः ॥ १५ ॥
प्रज्ञाचक्षुर्यः प्रणेता कुरूणां बहुश्रुतो वृद्धसेवी मनीषी ।
तस्मै राज्ञे स्थविरायाऽभिवाद्य आचक्षीथाः संजय मामरोगम् ॥ १६ ॥
ज्येष्ठः पुत्रो धृतराष्ट्रस्य मंदो मूर्खः शठः संजय पापशीलः ।
प्रशास्ता वै पृथिवी येन सर्वा सुयोधनं कुशलं तात पृच्छेः ॥ १७ ॥
भ्राता कनीयानपि तस्य मंदस्तथाशीलः संजय सोऽपि शश्वत् ।
महेष्वासः शूरतमः कुरूणां दुःशासनः कुशलं तात वाच्यः ॥ १८ ॥
यस्य कामो वर्तते नित्यमेव नाऽन्यच्छमाद्भारतानामिति स्म ।
स बाल्हिकानामृषभो मनीषी त्वयाऽभिवाद्यः संजय साधुशीलः ॥ १९ ॥
गुणैरनेकैः प्रवरैश्च युक्तो विज्ञानवान्नैव च निष्ठुरो यः ।
स्नेहादमर्षं सहते सदैव स सोमदत्तः पूजनीयो मतो मे ॥ २० ॥

अस्त्रविद्या के पूर्वोक्त चारों अङ्ग के ज्ञाता, पराक्रमी और गन्धर्वपुत्र के समान दर्शनीय तथा सङ्गीत-विद्या के जानकार हैं। उनसे हमारी ओर से उनकी कुशल पूछना ॥१०।१३॥

फिर महारथी और आत्मज्ञानियों में श्रेष्ठ कृपाचार्य के घर पर जाकर बारम्बार मेरा नाम लेकर मेरी ओर से उनके चरण छूना। हमारे पितामह भीष्म शूरवीर दयालु, तपस्वी, प्राज्ञ, सुशील, सुरूप, धीर और शास्त्रज्ञ हैं। उन कुरुवृद्ध के पाव छूकर मेरी ओर से प्रार्थना करना। हे सञ्जय! कौरवों के मुखिया प्रज्ञाचक्षु, वृद्धों की उपासना करनेवाले, बुद्धिमान्, बहुश्रुत, वृद्ध महाराज धृतराष्ट्र के पाव मेरी ओर से छूना और कहना कि मैं अपने भाइयों के साथ सकुशल हूं ॥१४।१६॥

जिसकी निन्दा पृथ्वी भर पर फैली हुई है उस धृतराष्ट्र के बड़े बेटे, अभागे, मन्दबुद्धि, मूर्ख, शठ, पापप्रकृति दुर्योधन से भी मिलकर मेरी ओर से कुशल प्रश्न करना। हे सञ्जय! दुर्योधन का छोटा भाई दुःशासन महारथी और कौरवों में प्रधान शूर होने पर भी बड़े भाई के ही समान नीच प्रकृतिवाला और मन्दबुद्धि है। उससे भी मेरी ओर से मिलकर कुशल पूछना। भरतवंश में शान्ति की अत्यन्त इच्छा रखनेवाले, बुद्धिमान्, बाह्लीकश्रेष्ठ राजा बाह्लीक से भी मिलकर मेरी कुशल कहना। मधुर वचन कहकर मेरी ओर से उनका सत्कार करना [जिस में वे प्रसन्न होकर मुझ से फिर मिलें।] अनेक श्रेष्ठ गुणों से युक्त; ज्ञानी कोमलहृदय, कौरवों पर होनेवाले क्रोध को सदा स्नेह के कारण शांत रखनेवाले सोमदत्त मेरे पूजनीय हैं।

तथा भीष्मं शांतनवं भारतानां पितामहम् ।
शिरसाऽभिवदेथास्त्वं मम नाम प्रकीर्तयन् ॥ ८ ॥
अभिवाद्य च वक्तव्यस्ततोऽस्माकं पितामहः ।
भवता शांतनोर्वंशो निमग्नः पुनरुद्धृतः ॥ ९ ॥
स त्वं कुरु तथा तात स्वमतेन पितामह ।
यथा जीवंति ते पौत्राः प्रीतिमंत परस्परम् ॥ १० ॥
तथैव विदुरं ब्रूयाः कुरूणां मंत्रधारिणम् ।
अयुद्धं सौम्य भाषस्व हितकामो युधिष्ठिरे ॥ ११ ॥
अथ दुर्योधनं ब्रूया राजपुत्रममर्षणम् ।
मध्ये कुरूणामासीनमनुनीय पुनः पुनः ॥ १२ ॥
अपापां यदुपैक्षस्त्वं कृष्णामेतां सभागताम् ।
तद्दुःखमतितिक्षाम मा वधीष्म कुरूनिति ॥ १३ ॥
एवं पूर्वापरान्क्लेशानतितिक्षंत पांडवाः ।
बलीयांसोऽपि संतो यत्तत्सर्वं कुरवो विदुः ॥ १४ ॥
यन्नः प्रव्राजयेः सौम्य अजिनैः प्रतिवासितान् ।
तद्दुःखमतितिक्षाम मा वधीष्म कुरूनिति ॥ १५ ॥

विश्व किसी एक के अधीन नहीं रह सकता। इसलिए हम कौरवों से मिलकर भाग बांटकर जीना और राज्य भोगना चाहते हैं। धृतराष्ट्र और दुर्योधन से कह देना कि वे काम-क्रोध-लोभ आदि शत्रुओं के वश में न हों ॥४।७॥

हे सञ्जय ! तुम भरतवंश के पितामह, महाराज शान्तनु के पुत्र, भीष्म से कहना कि युधिष्ठिर ने आपके चरणों में सिर रखकर प्रणाम किया है। इस प्रकार प्रणाम करके तुम पितामह से मेरी ओर से कहना कि "आपने नष्ट होने से भरतवंश को बचा लिया है। इसलिए अब आप विचार करके अपने मत से वह उपाय कीजिए जिसमें आपके पोते पाण्डव और कौरव आपस में सन्धि करके सुख से जीवित रहें।" इसी तरह तुम कौरवों के मन्त्री महात्मा विदुर से कहना कि "हे सौम्य ! युधिष्ठिर के हित की इच्छा से आप दुर्योधन और धृतराष्ट्र को युद्ध न करके सन्धि कर लेने की सम्मति दीजिए।" ॥८।११॥

हे सञ्जय ! सभा में कौरवों के बीच में बैठे हुए अभिमानी, असहनशील, राजपुत्र दुर्योधन से बहुत अनुनय-विनय के साथ कहना—सभा में बुलाकर बिना किसी अपराध के तुमने द्रौपदी का जो अपमान किया और कष्ट दिया उसे पाण्डव लोग इस लिए भूल जाने को तैयार हैं कि कौरवों की हत्या न करनी पड़े। यह बात सब कौरव जानते हैं कि

हंसी-खुशी मनाते हुए कौरवों से मिलें। मैं कौरवों और पाञ्चालों को अक्षत शरीर से हेल-मेल के साथ देखना चाहता हूं। हे भरतश्रेष्ठ! सब लोग सन्धि और शान्ति को पसन्द करते हैं। इसी में सबको प्रसन्नता प्राप्त होगी। हे सञ्जय! मैं सन्धि और युद्ध दोनों के लिए तैयार और समर्थ हूं। मैं कोमल और कठोर दोनों तरह के काम कर सकता हूं। जैसे धर्मोपार्जन के लिए मैं समर्थ हूं वैसे ही धनोपार्जन भी कर सकता हूं ॥२०।२३॥

—०—

उद्योगपर्व का इकतीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ३१ ॥

अथ द्वात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३२ ॥

वैशम्पायन उवाच—अनुज्ञातः पांडवेन प्रययौ संजयस्तदा ।
शासनं धृतराष्ट्रस्य सर्वं कृत्वा महात्मनः ॥ १ ॥
संप्राप्य हास्तिनपुरं शीघ्रमेव प्रविश्य च ।
अंतःपुरं समास्थाय द्वाःस्थं वचनमब्रवीत् ॥ २ ॥
आचक्ष्व धृतराष्ट्राय द्वाःस्थ मां समुपागतम् ।
सकाशात्पांडुपुत्राणां संजयं मा चिरं कृथाः ॥ ३ ॥
जागर्ति चेदभिवदेस्त्वं हि द्वाःस्थ प्रविशेयं विदितो भूमिपस्य ।
निवेद्यमत्राऽस्त्यधिकं हि मेऽस्ति द्वाःस्थोऽथ श्रुत्वा नृपतिं जगाद ॥ ४ ॥
द्वाःस्थ उवाच—संजयोऽयं भूमिपते नमस्ते दिदृक्षया द्वारमुपागतस्ते ।
प्राप्तो दूतः पांडवानां सकाशात्प्रशाधि राजन्किमयं करोतु ॥ ५ ॥
धृतराष्ट्र उवाच—आचक्ष्व मां कुशलिनं कल्पमस्मै प्रवेश्यतां स्वागतं संजयाय।
न चाऽहमेतस्य भवाम्यकल्पः स मे कस्माद् द्वारि तिष्ठेच्च सक्तः ॥ ६ ॥

बत्तीसवां अध्याय ॥ ३२ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय! इस प्रकार धृतराष्ट्र की आज्ञा के अनुसार सब काम करने के पश्चात् बुद्धिमान् सञ्जय युधिष्ठिर से आज्ञा लेकर हस्तिनापुर को लौटे। वेग से चलने-वाले घोड़े जिसमें जुते हुए थे उस रथ पर बैठकर सञ्जय शीघ्र ही दुर्योधन की राजधानी में पहुंच गये। रनिवास के द्वार पर पहुंचकर उन्होंने द्वारपाल से कहा—हे द्वारपाल! तुम इसी समय महाराज धृतराष्ट्र को मेरे आने की सूचना दो। कहो, सञ्जय पाण्डवों के पास से लौटकर आ गया। यदि महाराज जागृत हों तो उनसे जाकर यह कहना। उनकी आज्ञा मिलने पर मैं भीतर जाकर उनसे मिलूंगा। मुझे उनसे विशेष प्रयोजन की कुछ बातें कहनी हैं ॥१।४॥

द्वारपाल ने सञ्जय की बातें सुनकर राजा धृत-राष्ट्र के पास जाकर कहा—मैं आपको प्रणाम करता हूं। हे राजेन्द्र! पाण्डवों के पास से लौटकर आये हुए दूत सञ्जय आपसे मिलने के लिए द्वार पर खड़े हुए हैं। उनके लिए आप क्या देते हैं? धृतराष्ट्र ने

धृतराष्ट्र उवाच—संजयो विदुर प्राप्तो गर्हयित्वा च मां गतः ।
अजातशत्रोः श्वो वाक्यं सभामध्ये स वक्ष्यति ॥ ९ ॥
तस्याऽद्य कुरुवीरस्य न विज्ञातं वचो मया ।
तन्मे दहति गात्राणि तदकार्षीत्प्रजागरम् ॥ १० ॥
जाग्रतो दह्यमानस्य श्रेयो यदनुपश्यसि ।
तद् ब्रूहि त्वं हि नस्तात धर्मार्थकुशलो ह्यसि ॥ ११ ॥
यतः प्राप्तः संजयः पांडवेभ्यो न मे यथावन्मनसः प्रशांतिः ।
सर्वेंद्रियाण्यप्रकृतिं गतानि किं वक्ष्यतीत्येव मेऽद्य प्रचिंता॥ १२ ॥
विदुर उवाच—अभियुक्तं बलवता दुर्बलं हीनसाधनम् ।
हृतस्वं कामिनं चोरमाविशंति प्रजागराः ॥ १३ ॥
कच्चिदेतैर्महादोषैर्न स्पृष्टोऽसि नराधिप ।
कच्चिच्च परवित्तेषु गृध्यन्न परितप्यसे ॥ १४ ॥
धृतराष्ट्र उवाच—श्रोतुमिच्छामि ते धर्म्यं परं नैःश्रेयसं वचः ।
अस्मिन् राजर्षिवंशे हि त्वमेकः प्राज्ञसंमतः ॥ १५ ॥
विदुर उवाच—राजा लक्षणसंपन्नस्त्रैलोक्यस्याधिपो भवेत् ।

जोड़कर चिन्तित धृतराष्ट्र से कहा—हे महाप्राज्ञ ! मैं आपकी आज्ञा से सेवा में उपस्थित हूं । यदि मेरे करने योग्य कुछ कार्य हो तो मैं उपस्थित हूं, आज्ञा कीजिए ॥७।८॥

धृतराष्ट्र ने कहा—हे विदुर ! सञ्जय पाण्डवों के पास से लौट आया है; वह मेरी निन्दा करके अभी अपने घर को गया है । वह प्रातःकाल सभा में युधिष्ठिर का सन्देशा सुनावेगा । अभी मुझे नहीं ज्ञात हुआ कि महात्मा युधिष्ठिर ने उससे क्या-क्या कहा है । उसी चिन्ता से मुझे निद्रा नहीं आती और शरीर में अग्नि सी लगी हुई है । मैं जगकर चिन्ता की अग्नि में जल रहा हूं । हे भाई ! तुम धर्म और अर्थ की बातों में निपुण हो । जिस तरह जिस बात में तुम्हें मेरा भला देख पड़ता हो वह मुझसे कहो । जब से सञ्जय पाण्डवों के पास से आया है तब से मेरे मन को चैन नहीं है । सब इन्द्रियां विकल सी हो रही हैं । इस समय मुझे यही चिन्ता सता रही है कि सञ्जय प्रातःकाल न जाने क्या कहेगा ॥९।१२॥

विदुर ने कहा—जो व्यक्ति कामी है, जो चोर है, जिसका सर्वस्व हर लिया गया है और जिस असहाय दुर्बल पुरुष पर बलवान् का आक्रमण होनेवाला है, इन्हीं चार तरह के मनुष्य को निद्रा नहीं आती । हे राजेन्द्र ! इन महान् दोषों में से किसी दोष ने तो आपको अपना शिकार नहीं बना लिया ? अथवा पराये धन पर लोभ करके तो आप व्याकुल नहीं हो रहे हैं ? ॥१३।१४॥

धृतराष्ट्र ने कहा—हे विदुर ! मैं तुमसे धर्मयुक्त कल्याणदायक बातें सुनना चाहता हूं । राजर्षि भरत

यस्य कृत्यं न विघ्नंति शीतमुष्णं भयं रतिः ।
समृद्धिरसमृद्धिर्वा स वै पंडित उच्यते ॥ २४ ॥
यस्य संसारिणी प्रज्ञा धर्मार्थावनुवर्तते ।
कामादर्थं वृणीते यः स वै पंडित उच्यते ॥ २५ ॥
यथाशक्ति चिकीर्षंति यथाशक्ति च कुर्वते ।
न किंचिदवमन्यंते नराः पंडितबुद्धयः ॥ २६ ॥
क्षिप्रं विजानाति चिरं शृणोति विज्ञाय चार्थं भजते न कामात् ।
नासंपृष्टो व्युपयुंक्ते परार्थे तत्प्रज्ञानं प्रथमं पंडितस्य ॥ २७ ॥
नाप्राप्यमभिवांच्छंति नष्टं नेच्छंति शोचितुम् ।
आपत्सु च न मुह्यंति नराः पंडितबुद्धयः ॥ २८ ॥
निश्चित्य यः प्रक्रमते नांतर्वसति कर्मणः ।
अवंध्यकालो वश्यात्मा स वै पंडित उच्यते ॥ २९ ॥
आर्यकर्माणि रज्यंते भूतिकर्माणि कुर्वते ।
हितं च नाभ्यसूयंति पंडिता भरतर्षभ ॥ ३० ॥

कर सकते, वही पण्डित है । जिसके कार्य या सम्मति को शत्रु लोग पहले से नहीं जान पाते, कार्य हो चुकने पर ही उन्हें उसकी सूचना होती है, वही पण्डित है । गर्मी, जाड़ा, भय, आसक्ति, ऐश्वर्य या निर्धनता जिसके काम में विघ्न नहीं डाल सकती, वही पण्डित है । जिसकी बुद्धि धर्म और अर्थ का अनुसरण करती है और जो ऐहिक सुख की अपेक्षा दोनों लोकों में सुख देनेवाले धर्म-रूपी अर्थ को पसन्द करता है वह पण्डित है । तात्पर्य यह है कि 'काम' का दर्जा धर्म और अर्थ से नीचे है ॥२२।२५॥

पण्डित लोग यथाशक्ति करना चाहते हैं और यथाशक्ति ही करते हैं, वे किसी को तुच्छ भी नहीं समझते । पण्डित की पहली पहचान यह है कि वह शीघ्र समझ लेता है, देर तक सुनता है, कामना से प्रेरित होकर नहीं, किन्तु अर्थ पर ध्यान रखकर कर्तव्य करता है । वह किसी के अच्छी तरह पूछे बिना निरर्थक बकबक नहीं करता या अपनी ओर से नहीं कहने लगता । जो पण्डित—अर्थात् भले-बुरे का ज्ञान रखनेवाले—हैं वे शक्ति से बाहर की वस्तु को नहीं चाहते, जो नष्ट हो गया है उसका सोच नहीं करते, आपत्ति के समय मूढ़ नहीं हो जाते, उनकी बुद्धि भ्रष्ट नहीं होती । जो यह निश्चय करके कि मेरा यत्न सिद्ध हो जायगा, आरम्भ करता है, कार्य पूरा किये बिना बीच में नहीं रुकता, बिना प्रयोजन का काम किसी समय नहीं करता और आत्मा को वश में किये हुए है, वह पण्डित कहलाता है । हे भरतश्रेष्ठ ! पण्डित लोग श्रेष्ठ और बढ़ती के काम करते हैं और हित की सम्मति को अच्छी दृष्टि से देखते हैं, हित की बातें कहने-

संसारयति कृत्यानि सर्वत्र विचिकित्सते ।
चिरं करोति क्षिप्रार्थे स मूढो भरतर्षभ ॥ ३९ ॥
श्राद्धं पितृभ्यो न ददाति दैवतानि न चार्चति ।
सुहृन्मित्रं न लभते तमाहुर्मूढचेतसम् ॥ ४० ॥
अनाहूतः प्रविशति अपृष्टो बहु भाषते ।
अविश्वस्ते विश्वसिति मूढचेता नराधमः ॥ ४१ ॥
परं क्षिपति दोषेण वर्तमानः स्वयं तथा ।
यश्च क्रुध्यत्यनीशानः स च मूढतमो नरः ॥ ४२ ॥
आत्मनो बलमज्ञाय धर्मार्थपरिवर्जितम् ।
अलभ्यमिच्छन्नैष्कर्म्यान्मूढबुद्धिरिहोच्यते ॥ ४३ ॥
अशिष्यं शास्ति यो राजन्यश्च शून्यमुपासते ।
कदर्यं भजते यश्च तमाहुर्मूढचेतसम् ॥ ४४ ॥
अर्थं महान्तमासाद्य विद्यामैश्वर्यमेव वा ।
विचरत्यसमुन्नद्धो यः स पंडित उच्यते ॥ ४५ ॥
एकः संपन्नमश्नाति वस्ते वासश्च शोभनम् ।
योऽसंविभज्य भृत्येभ्यः को नृशंसतरस्ततः ॥ ४६ ॥

को मित्र बनानेवाला, मित्र से द्वेष और उसकी हत्या करनेवाला, और निन्दित कर्म करनेवाला मूढ़ कहा जाता है। कर्तव्य कार्यों को नौकर-चाकरों से करानेवाला, सब बातों में सन्देह करनेवाला, शीघ्र के कार्य में देर लगानेवाला मूढ़ है। पितरों का श्राद्ध और देवताओं की पूजा न करनेवाला, हितचिन्तक मित्र को न खोजनेवाला मूढ़ है। बिना बुलाये किसी के पास जानेवाला, बिना पूछे बहुत कुछ कह जानेवाला, अविश्वास के योग्य मनुष्य पर विश्वास करनेवाला मूढ़ नराधम है ॥३९।४१॥

आप स्वयं कोई दोष का काम करके भी उसी दोष के लिए दूसरे पर आक्षेप करनेवाला और निर्बल होकर भी क्रोध करनेवाला सबसे बढ़कर मूढ़ है। जो मनुष्य अपने बल को न जानकर, धर्मार्थ शून्य होकर भी, बिना यत्न किये अलभ्य या दुर्लभ वस्तु को प्राप्त करना चाहता है वह मूढ़ है। हे राजेन्द्र! जिसका शासन न करना चाहिए उसको जो उपदेश करता है, छिपकर राज-दाराओं से सम्बन्ध रखता है और कञ्जूस की सेवा करता है वह मूढ़ है। हे राजेन्द्र! जो मनुष्य सम्पत्तिशाली होकर अकेला स्वादिष्ट वस्तु खाता है, अकेला सुन्दर मूल्यवान् वस्त्र पहनता है, और भरण-पोषण के योग्य व्यक्तियों को अन्न-वस्त्र नहीं देता, उससे बढ़कर निठुर और नीच कौन होगा ? ॥४२।४६॥

क्षमा वशीकृतिर्लोके क्षमया किं न साध्यते ।
शांतिखड्गः करे यस्य किं करिष्यति दुर्जनः ॥ ५५ ॥
अतृणे पतितो वह्निः स्वयमेवोपशाम्यति ।
अक्षमावान्परं दोषैरात्मानं चैव योजयेत् ॥ ५६ ॥
एको धर्मः परं श्रेयः क्षमैका शांतिरुत्तमा ।
विद्यैका परमा तृप्तिरहिंसैका सुखावहा ॥ ५७ ॥
द्वाविमौ ग्रसते भूमिः सर्पो बिलशयानिव ।
राजानं चाविरोद्धारं ब्राह्मणं चाप्रवासिनम् ॥ ५८ ॥
द्वे कर्मणी नरः कुर्वन्नस्मिँल्लोके विरोचते ।
अब्रुवन्परुषं किंचिदसतोऽनर्चयंस्तथा ॥ ५९ ॥
द्वाविमौ पुरुषव्याघ्र परप्रत्ययकारिणौ ।
स्त्रियः कामितकामिन्यो लोकः पूजितपूजकः ॥ ६० ॥
द्वाविमौ कंटकौ तीक्ष्णौ शरीरपरिशोषिणौ ।
यश्चाधनः कामयते यश्च कुप्यत्यनीश्वरः ॥ ६१ ॥
द्वावेव न विराजेते विपरीतेन कर्मणा ।
गृहस्थश्च निरारंभः कार्यवांश्चैव भिक्षुकः ॥ ६२ ॥

बोलना स्वर्ग की सीढ़ी है। खेद है कि यह बात आपकी समझ में नहीं आती। क्षमा करनेवाला असमर्थ समझा जाता है, यही एक दोष है। परन्तु इस दोष का ख़याल न करना चाहिए; क्योंकि क्षमा ही मनुष्य का परम बल है। क्षमा अशक्तों के लिए गुण है और समर्थों के लिए आभूषण है। क्षमा एक उत्तम वशीकरण है। क्षमा से कौन काम नहीं सिद्ध होता! जिसके हाथ में क्षमा रूपी खड्ग है उसका दुर्जन क्या बिगाड़ सकता है? ॥५०।५५॥

घास-फूस से शून्य जगह पर गिरकर अग्नि आप ही बुझ जाती है। जिसमें क्षमा नहीं है, वह दूसरों में और अपने में सैकड़ों दोष उत्पन्न कर लेता है। हे महाराज! धर्म ही परम कल्याण-दाता है, क्षमा ही उत्तम शान्ति है, विद्या ही परम तृप्ति है और अहिंसा ही परम सुख देती है। सर्प जैसे बिल में रहनेवाले जीवों को खा लेता है वैसे ही यह भूमि युद्ध-विमुख राजा और प्रवासविमुख ब्राह्मण को ग्रस लेती है॥५६।५८॥

इस लोक में कटु वचन न बोलने से और दुष्टों का आदर न करने से मनुष्य की प्रशंसा होती है। हे पुरुषसिंह! दूसरी के चाहे हुए पुरुष को चाहनेवाली स्त्रियां और पूजित की पूजा करनेवाले (अर्थात् दुर्योधन से सम्मान-प्राप्त कर्ण को तुम भी मानते हो) मूर्ख पुरुष, ये दोनों दूसरों को विश्वास

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥ ७१ ॥
वरप्रदानं राज्यं च पुत्रजन्म च भारत ।
शत्रोश्च मोक्षणं कृच्छ्रात्त्रीणि चैकं च तत्समम् ॥ ७२ ॥
भक्तं च भजमानं च तवास्मीति च वादिनम् ।
त्रीनेताञ्छरणं प्राप्तान्विषमेऽपि न संत्यजेत् ॥ ७३ ॥
चत्वारि राज्ञा तु महाबलेन वर्ज्यान्याहुः पंडितस्तानि विद्यात् ।
अल्पप्रज्ञैः सह मंत्रं न कुर्यान्न दीर्घसूत्रैरभसैश्चारणैश्च ॥ ७४ ॥
चत्वारि ते तात गृहे वसंतु श्रियाभिजुष्टस्य गृहस्थ धर्मे ।
वृद्धो ज्ञातिरवसन्नः कुलीनः सखा दरिद्रो भगिनी चानपत्या ॥ ७५ ॥
चत्वार्याह महाराज साद्यस्कानि बृहस्पतिः ।
पृच्छते त्रिदशेंद्राय तानीमानी निबोध मे ॥ ७६ ॥
देवतानां च संकल्पमनुभावं च धीमताम् ।
विनयं कृतविद्यानां विनाशं पापकर्मणाम् ॥ ७७ ॥

को आधा राज्य दे सकते हैं । हे महाराज ! पराये धन को हरना, पराई स्त्री को खराब करना और हितचिन्तक मित्र को दूर कर देना, ये तीन दोष सर्वसंहार का कारण होते हैं ॥६९।७०॥

काम, क्रोध और लोभ, ये तीनों नरक के द्वार और आत्मविनाश के कारण हैं । इसलिए इनसे सदा बचना ही चाहिए । वर देना, राज्यलाभ और पुत्र का जन्म, इन तीनों के बराबर शत्रु को कष्ट से छुड़ाना है । भक्त, उपासक (आश्रय में रहनेवाला) और 'मैं तुम्हारा हूँ' कहनेवाला, इन तीनों शरणागतों को महाविपत्ति के समय भी न छोड़ना चाहिए । हे राजेन्द्र ! पण्डित को यह बात जान रखनी चाहिए कि महाबली राजा निम्नलिखित चार पुरुषों को मंत्री न बनावे—जो अल्प बुद्धीवाला हो, जो शीघ्र के कार्य में देर लगानेवाला हो, जो 'करूँगा करूँगा' कहकर समय गँवानेवाला आलसी हो, और जो खुशामदी हो, उससे सम्मति न लेना ही भला है । हे तात ! सदा गृहस्थधर्म में अनुरक्त और सम्पत्तिशाली आपके घर में वृद्ध जातिवाला, विपत्ति का सताया कुलीन पुरुष, दरिद्र मित्र और बिना बालबच्चों की बहन, ये चार मनुष्य सदा रहें । क्योंकि वृद्ध जातिवाला कुल-धर्मों का उपदेश करता है, कुलीन व्यक्ति बच्चों को सदाचार सिखाता है, मित्र हित की बात कहता है और बहन धन की रक्षा करती है ॥७१।७५॥

हे राजेन्द्र ! इन्द्र के पूछने पर बृहस्पति ने कहा है कि स्वर्गवासी देवताओं का सङ्कल्प, बुद्धिमान् तेजस्वियों का प्रभाव कृतविद्य का विनय और पापकर्म करनेवालों का विनाश तुरन्त फलता है;ये चारों बातें कभी निष्फल नहीं जातीं । विधिपूर्वक श्रद्धा से किया हुआ

षडेव तु गुणाः पुंसा न हातव्याः कदाचन ।
सत्यं दानमनालस्यमनसूया क्षमा धृतिः ॥ ८६ ॥
षडिमानि विनश्यंति मुहूर्तमनवेक्षणात् ।
गावः सेवा कृषिर्भार्या विद्या वृषलसंगतिः ॥ ८७ ॥
षडेते ह्यवमन्यंते नित्यं पूर्वोपकारिणम् ।
आचार्यं शिक्षिताः शिष्याः कृतदाराश्च मातरम् ॥ ८८ ॥
नारीं विगतकामास्तु कृतार्थाश्च प्रयोजकम् ।
नावं विस्तीर्णकांतारा आतुराश्च चिकित्सकम् ॥ ८९ ॥
आरोग्यमानृण्यमविप्रवासः सद्भिर्मनुष्यैः सह संप्रयोगः।
स्वप्रत्ययावृत्तिरभीतवासः षट् जीवलोकस्य सुखानि राजन्॥९० ॥
ईर्षुर्घृणी न संतुष्टः क्रोधनो नित्यशंकितः ।
परभाग्योपजीवी च षडेते नित्यदुःखिताः ॥ ९१ ॥
अर्थागमो नित्यमरोगिता च प्रिया च भार्या प्रियवादिनी च ।
वश्यश्च पुत्रोऽर्थकरी च विद्या षड् जीवलोकस्य सुखानि राजन्॥ ९२ ॥
षण्णामात्मनि नित्यानामैश्वर्यं योऽधिगच्छति ।
न स पापैः कुतोऽनर्थैर्युज्यते विजितेन्द्रियः ॥ ९३ ॥

रहनेवाले नाई को उसी तरह छोड़ देना चाहिए, जैसे समुद्र में टूटी हुई नाव को लोग छोड़ देते हैं॥८४।८५॥

हे महाशय! सत्य, दान, आलस्य का त्याग, ईर्ष्या न करना, क्षमा और धैर्य इन छ गुणों को कभी न छोड़ना चाहिए। गाय, खेती, भार्या, सेवा, विद्या और शूद्रसङ्गति, ये छ वस्तुएँ तनिक सी लापरवाही होते ही नष्ट हो जाती हैं। हे राजेन्द्र! ये छ मनुष्य अपने पहले के उपकार करनेवाले को भूल जाते हैं, उसका आदर नहीं करते,—विद्या पढ़ चुकने पर शिष्य अपने गुरु को, विवाह कर लेने पर पुत्र अपनी माता को, भोग कर चुकने पर पुरुष-स्त्री को, कार्य सिद्ध हो जाने पर कृतार्थ पुरुष अपनी सहायता करनेवाले को, पार पहुँचे हुए लोग नाव को और आराम हो जाने पर रोगी वैद्य को छोड़ देते हैं। हे महाराज! आरोग्य, ऋणी न होना, प्रवास में न रहना, सज्जनों का सङ्ग, अपने विचार से ठीक की गई जीविका और निर्भय निवास, ये छ मनुष्य-लोक के सर्वोपरि सुख हैं॥८६।९०॥

ईर्ष्या करनेवाला, घृणित कार्य करनेवाला, असन्तोषी, क्रोधी, नित्य शङ्कित रहनेवाला और दूसरे के टुकड़े खानेवाला, ये छ मनुष्य सदा दुःखित रहते हैं। हे राजेन्द्र! नित्य धन की आमदनी, सदा आरोग्य रहना, प्रिया और प्रियवादिनी भार्या, आज्ञाका पालन करनेवाला पुत्र और अर्थकरी विद्या, ये बातें भूलोक में

समागमश्च सखिभिर्महांश्चैव धनागमः ।
पुत्रेण च परिष्वंगः सन्निपातश्च मैथुने ॥१०२॥
समये च प्रियालापः स्वयूथ्येषु समुन्नतिः ।
अभिप्रेतस्य लाभश्च पूजा च जनसंसदि ॥१०३॥
अष्टौ गुणाः पुरुषं दीपयंति प्रज्ञा च कौल्यं च दमः श्रुतं च।
पराक्रमश्चाबहुभाषिता च दानं यथाशक्ति कृतज्ञता च ॥१०४॥
नवद्वारमिदं वेश्म त्रिस्थूणं पंचसाक्षिकम् ।
क्षेत्रज्ञाधिष्ठितं विद्वान् यो वेद स परः कविः ॥१०५॥
दश धर्मं न जानंति धृतराष्ट्र निबोध तान् ।
मत्तः प्रमत्त उन्मत्तः श्रांतः क्रुद्धो बुभुक्षितः ॥१०६॥
त्वरमाणश्च लुब्धश्च भीतः कामी च ते दश ।
तस्मादेतेषु सर्वेषु न प्रसज्जेत पंडितः ॥१०७॥
अत्रैवोदाहरंतीममितिहासं पुरातनम् ।
पुत्रार्थमसुरेंद्रेण गीतं चैव सुधन्वना ॥१०८॥

कुछ माँगते भी हैं तो उन्हें डाँट-फटकार बतलाता है। ॥९९।१००॥

हे महाराज! बुद्धिमान् पुरुष को सदा विचारपूर्वक इन दोषों से बचना चाहिए। हे राजेन्द्र! इसी तरह मित्र का मिलना, बहुत से धन की प्राप्ति, पुत्र को छाती से लगाना, स्त्रीसम्भोग, यथासमय स्त्री से प्रिय वार्तालाप, अपने पक्ष की उन्नति, वाञ्छित वस्तु का लाभ और लोगों में प्रतिष्ठा प्राप्त करना, ये आठ बातें सुख का सारांश हैं। इनसे बढ़कर सुख मनुष्य के लिए नहीं है। हे कुरुकुल-तिलक! समझदारी, कुलीनता, इन्द्रियदमन, शास्त्र का ज्ञान, पराक्रम, व्यर्थ बहुत बकबक न करना, यथाशक्ति दान करना और कृतज्ञता, ये आठ गुण मनुष्य के तेज और प्रभाव को बढ़ाते हैं। हे राजेन्द्र! यह मनुष्य का शरीर एक घर है। इसमें नव द्वार हैं। वात, पित्त, और श्लेष्मा ये तीन थूनियां हैं। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द ये पांच विषय साक्षी हैं। इस घर में क्षेत्रज्ञ जीव रहता है। जो मनुष्य इस शरीरतत्त्व को जानता है वही पण्डित है ॥१०१।१०५॥

हे राजेन्द्र! मदिरा आदि से मतवाला, अन्य विषय की आसक्ति से असावधान, उन्मत्त, थका हुआ, क्रोध में भरा हुआ, भूखा, शीघ्र में पड़ा हुआ, लोभी, भयभीत और कामपीड़ित, ये दस तरह के मनुष्य धर्म को नहीं जानते। इस कारण पण्डित पुरुष को इन दसों भावों से दूर रहना चाहिए। हे धृतराष्ट्र! यहां पर एक प्राचीन इतिहास कहा जाता है। असुरेन्द्र सुधन्वा ने अपने पुत्र से जो कुछ कहा है वह मैं आपको सुनाता हूं। जो राजा काम-क्रोध से बचकर सुपात्र को दान करता है, विशेषज्ञ होता है, शास्त्रों का ज्ञाता और कर्तव्य कार्य को शीघ्र कर

न मूर्च्छितः कटुकान्याह किंचित्प्रियं सदा तं कुरुते जनो हि ॥ ११६ ॥
न वैरमुद्दीपयति प्रशांतं न दर्पमारोहति नास्तमेति ।
न दुर्गतोऽस्मीति करोत्यकार्यं तमार्यशीलं परमाहुरार्याः ॥ ११७ ॥
न स्वे सुखे वै कुरुते प्रहर्षं नान्यस्य दुःखे भवति प्रहृष्टः ।
दत्वा न पश्चात्कुरुते न तापं स कथ्यते सत्पुरुषार्यशीलः ॥ ११८ ॥
देशाचारान्समयान्जातिधर्मान्बुभूषते यः स परावरज्ञः ।
स यत्र तत्राभिगतः सदैव महाजनस्याधिपत्यं करोति ॥ ११९ ॥
दंभं मोहं मत्सरं पापकृत्यं राजद्विष्टं पैशुनं पूगवैरम् ।
मत्तोन्मत्तैर्दुर्जनैश्चापि वादं यः प्रज्ञावान्वर्जयेत्स प्रधानः ॥ १२० ॥
दानं होमं दैवतं मंगलानि प्रायश्चित्तान्विविधाँल्लोकवादान् ।
एतानि यः कुरुते नैत्यकानि तस्योत्थानं देवताराधयंति ॥ १२१ ॥
समैर्विवाहं कुरुते न हीनैः समैः सख्यं व्यवहारं कथां च ।
गुणैर्विशिष्टांश्च पुरो दधाति विपश्चितस्तस्य नयाः सुनीताः ॥ १२२ ॥
मितं भुंक्ते संविभज्याश्रितेभ्यो मितं स्वपित्यमितं कर्म कृत्वा ।
ददात्यमित्रेष्वपि याचितः संस्तमात्मवन्तं प्रजहात्यनर्थः ॥ १२३ ॥

कहता और क्लेश को शान्त करना चाहता है, वही सर्वत्र प्रशंसा पाता है ॥११११५॥

जो उद्धत भाव प्रकट करनेवाली पोशाक नहीं पहनता, पौरुष में प्रबल होकर भी औरों की निन्दा या अपनी प्रशंसा नहीं करता, किसी के बुरे वचनों से क्रोधित होकर भी कटु वचन नहीं कहता, उसी मनुष्य पर सब लोगों का प्यार होता है। जो शान्त वैर को नहीं उभारता, दर्प छोड़कर शान्ति का आश्रय लेता है, अपनी दुर्गति की दशा में भी अनुचित काम नहीं करता, उस आर्य पुरुष की सब लोग प्रशंसा करते हैं। जो अपने सुख में अत्यन्त प्रसन्नता नहीं दिखाता, दूसरे के दुःख में आनन्द नहीं मनाता और देकर पीछे पछताता नहीं है, वह सत्पुरुष आर्य कहलाता है। देशाचार, समय की गति और जातियों के धर्म आदि विषयों की जानकारी प्राप्त करने में लगा हुआ पुरुष श्रेष्ठ ज्ञानी माना जाता है। वह जहाँ जाता है वहीं नेता बन जाता है। जो चतुर पुरुष मतवाले, उन्मत्त और दुर्जनों से वाद-विवाद नहीं करता, दम्भ (पाखण्ड), मोह, मत्सर, पापकर्म, राजद्रोह, चुगलखोरी और बहुत लोगों से वैर नहीं करता, वही प्रधान पुरुष है ॥११६।१२०॥

जो मनुष्य नित्य [पवित्रता के साथ] देवताओं की आराधना और अन्य मङ्गलकृत्य करता है, दैनिक पाप के प्रायश्चित्त के लिए पञ्च महायज्ञ करता है और तरह-तरह के लोक व्यवहार करता है, उसके अभ्युदय को देवता चाहते हैं और उसकी सहायता भी करते हैं। जो पुरुष बराबरवालों से विवाह, मित्रता, व्यवहार और बातचीत करता है—हीनों से नहीं;

त्वं मां यथावद्विदुर प्रशाधि प्रज्ञापूर्वं सर्वमजातशत्रोः ।
यन्मन्यसे पथ्यमदीनसत्व श्रेयस्करं ब्रूहि तद्वै कुरूणाम्॥ २ ॥
पापाशंकी पापमेवानुपश्यन्पृच्छामि त्वां व्याकुलेनात्मनाहम्।
कवे तन्मे ब्रूहि सर्वं यथावन्मनीषितं सर्वमजातशत्रोः ॥ ३ ॥
विदुर उवाच-शुभं वा यदि वा पापं द्वेष्यं वा यदि वा प्रियम् ।
अपृष्टस्तस्य तद्ब्रूयाद्यस्य नेच्छेत्पराभवम् ॥ ४ ॥
तस्माद्वक्ष्यामि ते राजन् हितं यत्स्यात् कुरुन्प्रति।
वचः श्रेयस्करं धर्म्यं ब्रुवतस्तन्निबोध मे ॥ ५ ॥
मिथ्योपेतानि कर्माणि सिद्धयेयुर्यानि भारत ।
अनुपायप्रयुक्तानि मा स्म तेषु मनः कृथाः ॥ ६ ॥
तथैव योगविहितं यत्तु कर्म न सिद्धयति ।
उपाययुक्तं मेधावी न तत्र ग्लपयेन्मनः ॥ ७ ॥
अनुबंधानपेक्षेत सानुबंधेषु कर्मसु ।
संप्रधार्य च कुर्वीत न वेगेन समाचरेत् ॥ ८ ॥
अनुबंधं च संप्रेक्ष्य विपाकं चैव कर्मणाम् ।
उत्थानमात्मनश्चैव धीरः कुर्वीत वा न वा ॥ ९ ॥

चौंतीसवां अध्याय ॥ ३४ ॥

धृतराष्ट्र ने कहा—हे भाई विदुर ! इस प्रकार निद्रा न आने पर चिन्ता से पीड़ित मनुष्य को क्या करना चाहिए ? तुम धर्म-अर्थ की बातों में निपुण हो । मेरे इस प्रश्न का उत्तर विस्तार के साथ दो । हे विदुर ! तुम युधिष्ठिर और कौरवों का हित जिसमें समझते हो, वह विचार करके मुझसे कहो । अपने पहले के अपराध से मुझे कुल का विनाश ही देख पड़ता है । इसी से शङ्कित और व्याकुल होकर मैं यह तुमसे पूछता हूँ । हे चतुर ! अब तुम मुझसे युधिष्ठिर का निश्चय अच्छी तरह से कहो ॥१।३॥

विदुर ने कहा—जो अपना अनादर न चाहता हो उसे चाहिए कि बिना पूछे किसी से शुभ या अशुभ, प्रिय या अप्रिय, कुछ न कहे । आप पूछते हैं, इससे अब मैं कौरवों के भले के लिए धर्मसङ्गत श्रेयस्कर बातें कहता हूँ—सुनिए । कपटद्यूत आदि कर्म, जो बुरे उपायों से सिद्ध होते हैं, उनमें मन न लगाइए । ऐसे ही जो काम युक्ति के साथ उपयुक्त उपायों से किये जाने पर भी सिद्ध न हों, तो उस असफलता से मन में ग्लानि न लाना चाहिए । प्रयोजनीय कार्यों में पहले प्रयोजन को देखना चाहिए । इस प्रकार विचार और निश्चय करके कार्य करना चाहिए । कोई कार्य एकाएक कर बैठना बड़ी मूर्खता

पुष्पं पुष्पं विचिन्वीत मूलच्छेदं न कारयेत् ।
मालाकार इवारामे न यथांगारकारकः ॥ १८ ॥
किन्नु मे स्यादिदं कृत्वा किन्नु मे स्यादकुर्वतः ।
इति कर्माणि संचिंत्य कुर्याद्वा पुरुषो न वा ॥ १९ ॥
अनारभ्या भवंत्यर्थाः केचिन्नित्यं तथाऽगताः ।
कृतः पुरुषकारो हि भवेद्येषु निरर्थकः ॥ २० ॥
प्रसादो निष्फलो यस्य क्रोधश्चापि निरर्थकः ।
न तं भर्तारमिच्छंति षंढं पतिमिव स्त्रियः ॥ २१ ॥
कांश्चिदर्थान्नरः प्राज्ञो लघुमूलान्महाफलान् ।
क्षिप्रमारभते कर्तुं न विघ्नयति तादृशान् ॥ २२ ॥
ऋजु पश्यति यः सर्वं चक्षुषाऽनुपिबन्निव ।
आसीनमपि तूष्णीकमनुरज्यंति तं प्रजाः ॥ २३ ॥
सुपुष्पितः स्यादफलः फलितः स्याद्दुरारुहः ।
अपक्वः पक्वसंकाशो न तु शीर्येत कर्हिचित् ॥ २४ ॥
चक्षुषा मनसा वाचा कर्मणा च चतुर्विधम् ।
प्रसादयति यो लोकं तं लोकोऽनुप्रसीदति ॥ २५ ॥

ले लेता है वैसे ही चतुर राजा प्रजा को सताता या मारता नहीं है, सहज उपाय से धन प्राप्त कर लेता है। माली की तरह राजा को फूल फूल चुन लेना चाहिए, जड़ न काट डालनी चाहिए। जैसे कोयले बुझानेवाला जड़ से काटकर पेड़ को जला देता है वैसे प्रजा का संहार करना उचित नहीं। मनुष्य को चाहिए, प्रत्येक कार्य में पहले यह सोच ले कि इसके करने से क्या लाभ होगा और न करने से क्या हानि होगी। यों सोचने के पश्चात् चाहे उस कार्य को करे और चाहे न करे। कुछ ऐसे अप्राप्य मनोरथ होते हैं जिनकी प्राप्ति के लिए उद्योग ही न करना चाहिए। क्योंकि उनमें किया गया पौरुष व्यर्थ होता है ॥१७।२०॥

जैसे स्त्रियाँ नपुंसक पति को नहीं चाहतीं वैसे ही जिस राजा की प्रसन्नता व्यर्थ और क्रोध निष्फल होता है उसे प्रजा अपना स्वामी बनाये रखना नहीं चाहती। कुछ ऐसे कार्य होते हैं जिनकी जड़ (आरम्भ) छोटी और फल भारी होता है। प्राज्ञ पुरुष ऐसे कामों में देर नहीं लगाते, शीघ्र उन्हें आरम्भ कर देते हैं। जो राजा स्नेहपूर्ण सरल दृष्टि से सबको देखता है वह चाहे चुपचाप भी बैठा रहे, प्रजा उस पर अनुराग रखती है। राजा को चाहिए कि वृक्षकी तरह अच्छीतरह फलकर भी (वाणी और आँखों से अनुग्रह दिखाकर भी) फलहीन रहे (आश्रित

सुव्याहृतानि सूक्तानि सुकृतानि ततस्ततः ।
संचिन्वन् धीर आसीत शिलाहारी शिलं यथा ॥ ३३ ॥
गंधेन गावः पश्यंति वेदैः पश्यंति ब्राह्मणाः ।
चारैः पश्यंति राजानश्चक्षुर्भ्यामितरे जनाः ॥ ३४ ॥
भूयांसं लभते क्लेशं या गौर्भवति दुर्दुहा ।
अथ या सुदुहा राजन्नैव तां वितुदंत्यपि ॥ ३५ ॥
यदतप्तं प्रणमति न तत्संतापयंत्यपि ।
यच्च स्वयं न तं दारु न तत्संतापयंत्यपि ॥ ३६ ॥
एतयोपमया धीरः सन्नमेत बलीयसे ।
इंद्राय स प्रणमते नमते यो बलीयसे ॥ ३७ ॥
पर्जन्यनाथाः पशवो राजानो मंत्रिबांधवाः ।
पतयो बांधवाः स्त्रीणां ब्राह्मणा वेदबांधवाः ॥ ३८ ॥
सत्येन रक्ष्यते धर्मो विद्यायोगेन रक्ष्यते ।
मृजया रक्ष्यते रूपं कुलं वृत्तेन रक्ष्यते ॥ ३९ ॥
मानेन रक्ष्यते धान्यमश्वान् रक्षत्यनुक्रमः ।
अभीक्ष्णदर्शनं गाश्च स्त्रियो रक्ष्याः कुचेततः ॥ ४० ॥

बीनकर जीविका चलानेवाले तपस्वी दाने बीनते रहते हैं वैसे ही धीर पुरुष को सबसे बड़े मनुष्यों के वचन या उपदेश और सत्कार्य चुनकर ग्रहण कर लेने चाहिएँ। गायें गन्ध से, ब्राह्मण वेद से, राजा लोग जासूसों से और अन्य लोग आँखों से देखते हैं। दुहने के समय जो गाय उत्पात करती है उसको बहुत क्लेश सहने पड़ते हैं, और जो गाय सहज में दुह लेने देती है उसे कोई कुछ भी कष्ट नहीं देता। ॥३१।३५॥

जो बिना ताप पहुँचाये ही झुकता है उसे ताप न पहुँचाना चाहिए। जो लकड़ी स्वयं झुकी हुई हो उसे झुकाना पण्डित का काम नहीं। इस उपमा का ख्याल करके धीर पुरुष को अपने से बलवान् के आगे झुकना चाहिए। जो प्रबल से झुकता है वह बल के अधिष्ठाता देवता इन्द्र को प्रणाम करता है। पशुओं के स्वामी (घास चारा उत्पन्न करके पालनेवाले) मेघ हैं, राजाओं के बन्धु मन्त्री लोग हैं, स्त्री का मित्र पति है और वेद ब्राह्मणों के बान्धव हैं। सत्य से धर्म की, अभ्यास से विद्या की, स्वच्छ करने से रूप की और सदाचार या अच्छे चरित्र से कुल की रक्षा होती है। परिणाम से अन्न आदि पदार्थ, चलाने और कसरत कराने से घोड़े, बार बार की देखभाल से गायें और मलिन वस्त्रों से स्त्रियां सुरक्षित रहती हैं ॥३६।४०॥

शीलं प्रधानं पुरुषे तद्यस्येह प्रणश्यति ।
न तस्य जीवितेनार्थो न धनेन न बंधुभिः ॥ ४८ ॥
आढ्यानां मांसपरमं मध्यानां गोरसोत्तरम् ।
तैलोत्तरं दरिद्राणां भोजनं भरतर्षभ ॥ ४९ ॥
संपन्नतरमेवान्नं दरिद्रा भुंजते सदा ।
क्षुत्स्वादुतां जनयति साचाढ्येषु सुदुर्लभा ॥ ५० ॥
प्रायेण श्रीमतां लोके भोक्तुं शक्तिर्न विद्यते ।
जीर्यन्त्यपि हि काष्ठानि दरिद्राणां महीपते ॥ ५१ ॥
अवृत्तिर्भयमंत्यानां मध्यानां मरणाद्भयम् ।
उत्तमानां तु मर्त्यानामवमानात्परं भयम् ॥ ५२ ॥
ऐश्वर्यमदपापिष्ठा मदाः पानमदादयः ।
ऐश्वर्यमदमत्तो हि नाऽपतित्वा विबुध्यते ॥ ५३ ॥
इन्द्रियैरिंद्रियार्थेषु वर्तमानैरनिग्रहैः ।
तैरयं ताप्यते लोको नक्षत्राणि ग्रहैरिव ॥ ५४ ॥
योजितः पंचवर्गेण सहजेनात्मकर्षिणा ।
आपदस्तस्य वर्धंते शुक्लपक्ष इवोडुराट् ॥ ५५ ॥

नष्ट हो जाता है उसका जीवन, ऐश्वर्य और बन्धु आदि सब व्यर्थ हैं। धनी लोग मांस अधिक खाते हैं, मध्यवित्त लोग गोरस का अधिक सेवन करते हैं और दरिद्र लोग तेल को ही श्रेष्ठ समझकर खा लेते हैं। सत्य तो यह है कि निर्धन लोग ही सबसे मज़े में सुख का कौर खाते हैं। भूख ही आहार में स्वाद उत्पन्न कर देती है और वह भूख धनी पुरुषों को नहीं लगती, इसलिए वह निर्धनों को मिलनेवाला स्वाद धनी पुरुषों को दुर्लभ है ॥४६।५०॥

प्रायः देखा जाता है कि श्रीमान् लोगों को अजीर्ण सताये रहता है, उनमें खाने की शक्ति ही नहीं देखी जाती। किन्तु दरिद्र लोग लकड़ी भी खा लें तो पच जाती है। अधम पुरुष जीविका की हानि से, मध्यम पुरुष मृत्यु से और उत्तम पुरुष अपमान से बहुत भयभीत होते हैं। विद्या-मद, पानमद आदि से ऐश्वर्य का मद अधिक हानि पहुँचानेवाला है। क्योंकि ऐश्वर्य के मद में मतवाला पुरुष अपने अधःपतन को देखकर भी सचेत नहीं होता। सूर्य आदि ग्रहों से जैसे नक्षत्रों को पीड़ा पहुँचती है (अर्थात् उनके प्रताप से नक्षत्रों की प्रभा क्षीण हो जाती है), वैसे ही अपने विषयों में आसक्त और वश में न आनेवाली इन्द्रियां सब लोगों को कष्ट में डाल देती हैं। स्वभाव से ही मन को अपनी ओर खींचनेवाली इन्द्रियों के वश में जो पुरुष रहता है उसकी आप-

इंद्रियाणामनैश्वर्यादैश्वर्याद्भ्रश्यते हि सः ॥ ६३ ॥
आत्मनाऽऽत्मानमन्विच्छेन्मनोबुद्धींद्रियैर्यतैः ।
आत्मा ह्येवात्मनो बंधुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥ ६४ ॥
बंधुरात्माऽऽत्मनस्तस्य येनैवात्माऽऽत्मना जितः।
स एव नियतो बंधुः स एव नियतो रिपुः ॥ ६५ ॥
क्षुद्राक्षेणेव जालेन झषावपिहितावुरू ।
कामश्च राजन्क्रोधश्च तौ प्रज्ञानं विलुंपतः ॥ ६६ ॥
समवेक्ष्येह धर्मार्थौ संभारान्योऽधिगच्छति ।
स वै संभृतसंभारः सततं सुखमेधते ॥ ६७ ॥
यः पंचाभ्यंतराञ्शत्रूनविजित्य मनोमयान् ।
जिगीषति रिपूनन्यान्रिपवोऽभिभवंति तम् ॥ ६८ ॥
दृश्यंते हि महात्मानो बध्यमानाः स्वकर्मभिः ।
इंद्रियाणामनीशत्वाद्राजानो राज्यविभ्रमैः ॥ ६९ ॥
असंत्यागात्पापकृतामपापांस्तुल्यो दंडः स्पृशते मिश्रभावात्।
शुष्केणार्द्रं दह्यते मिश्रभावात्तस्मात्पापैः सह संधिं न कुर्यात्॥ ७० ॥
निजानुत्पततः शत्रून्पंच पंच प्रयोजनान् ।

को वश में न रख सकने के कारण, ऐश्वर्य से भ्रष्ट हो जाता है । मन, बुद्धि और इन्द्रियों को वश में रखकर मनुष्य को अपने हृदय में अपने सम्बन्ध में विचार करना चाहिए । मनुष्य आप ही अपना मित्र और आप ही अपना शत्रु होता है, अर्थात् अपनी भलाई या बुराई उसी के हाथ में है । जिसने आत्मविचार से अपने मन को वश में कर लिया है वही अपने आत्मा का मित्र है । मन ही अपना मित्र है, और वही अपना शत्रु है ॥६१।६५॥

हे भरतश्रेष्ठ ! छोटे छेदवाले जाल को जैसे बड़ी मछलियां फाड़ डालती हैं वैसे ही ज्ञान को काम और क्रोध मिटा देते हैं । जो पुरुष धर्म और अर्थ को अच्छी तरह देखकर जयसाधक कार्य्यों का आरंभ करता है वह विजय और ऐश्वर्य पाकर सदा सुख पाता है । जो पुरुष मन के अनुगामी, अपने हृदय में रहनेवाले शत्रुरूप पाचों इन्द्रियों को जीते बिना अन्य बाहरी शत्रुओं को जीतना चाहता है वह शत्रुओं के वश होकर कष्ट भोगता है । बड़े बड़े राजा लोग इन्द्रियों को जीतने में असमर्थ होने के कारण राज्य के मोह में, ऐश्वर्य-विलास में, मग्न होकर अपने कर्मों से ही मृत्यु के मुँह में जाते देख पड़ते हैं । जैसे सूखी लकड़ी के साथ गीली लकड़ी भी अग्नि में जलती है, वैसे ही पापियों के साथ में पुण्यात्माओं को भी पापियों के समान

वाक्शल्यस्तु न निर्हर्तुं शक्यो हृदिशयो हि सः ॥ ७९ ॥
वाक्सायका वदनान्निष्पतंति यैराहतः शोचति राज्यहानि ।
परस्य नाममर्मसु ते पतंति तान्पंडितो नावसृजेत्परेभ्यः ॥ ८० ॥
यस्मै देवाः प्रयच्छंति पुरुषाय पराभवम् ।
बुद्धिं तस्यापकर्षंति सोऽवाचीनानि पश्यति ॥ ८१ ॥
बुद्धौ कलुषभूतायां विनाशे प्रत्युपस्थिते ।
अनयो नयसंकाशो हृदयान्नापसर्पति ॥ ८२ ॥
सेयं बुद्धिः परीता ते पुत्राणां भरतर्षभ ।
पांडवानां विरोधेन न चैनानवबुध्यसे ॥ ८३ ॥
राजा लक्षणसंपन्नस्त्रैलोक्यस्यापि यो भवेत् ।
शिष्यस्ते शासिता सोऽस्तु धृतराष्ट्र युधिष्ठिरः ॥ ८४ ॥
अतीव सर्वान्पुत्रांस्ते भागधेयपुरस्कृतः ।
तेजसा प्रज्ञया चैव युक्तो धर्मार्थतत्त्ववित् ॥ ८५ ॥
अनुक्रोशादानृशंस्याद्योऽसौ धर्मभृतां वरः ।
गौरवात्तव राजेंद्र बहून्क्लेशांस्तितिक्षति ॥ ८६ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि प्रजागरपर्वणि विदुरनीतिवाक्ये चतुस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३४ ॥

कर्णीकार, नालीक, नाराच आदि बाण शरीर से निकाल लिये जा सकते हैं, परन्तु हृदय में चुभे हुए वाणी के बाण किसी तरह नहीं निकलते, हृदय में खटका करते है। मुँह से निकले हुए वचनबाण जिसके कलेजे में लगते हैं वह दिन-रात शोक से व्याकुल रहता है। वे बाण औरों के मर्मस्थल पर ही चोट करते हैं। उन वाक्य बाणों को पण्डित पुरुष औरों पर न छोड़े ॥७९।८०॥

देवता लोग जिसका पराभव चाहते हैं उसकी बुद्धि को भ्रष्ट कर देते हैं तब उसे नीच कर्म सूझने लगते हैं। जब बुद्धि कलुषित हो जाती है और विनाश सिर पर आ जाता है तब अनुचित कार्य उचित सा जान पड़ता है और वह किसी तरह हृदय से नहीं हटता। हे भरतश्रेष्ठ! आपके पुत्रों को उसी बुद्धि ने घेर रक्खा है; वे पाण्डवों से विरोध बढ़ाना ही अच्छा समझते हैं। परन्तु आपको इन लोगों का पता नहीं लगता। हे धृतराष्ट्र! शिष्य की तरह आपकी आज्ञा माननेवाले महात्मा युधिष्ठिर त्रिलोकी का राज्य करने की योग्यता रखते हैं और उनमें वे सब लक्षण हैं। आप उन्हें उनका राज्य दे दीजिए। राज्य में पहले उनका भाग है। वे धर्म-अर्थ के ज्ञाता और तेज तथा बुद्धि में आपके सब पुत्रों से बढ़कर हैं। वे धर्मात्मा दयालु स्वभाव से क्रूर प्रकृति न होने के कारण और आपके बड़प्पन का खयाल करके, अनेक क्लेशों को सह रहे हैं; युद्ध नहीं छोड़ते ॥८१।८६॥

—०—

उद्योगपर्व का चौंतीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ३४ ॥

विरोचन उवाच—प्राजापत्यास्तु वै श्रेष्ठा वयं केशिनि सत्तमाः ।
अस्माकं खल्विमे लोकाः के देवाः के द्विजातयः ॥ ९ ॥
केशिन्युवाच—इहैवावां प्रतीक्षाव उपस्थाने विरोचन ।
सुधन्वा प्रातरागंता पश्येयं वां समागतौ ॥ १० ॥
विरोचन उवाच—तथा भद्रे करिष्यामि यथा त्वं भीरु भाषसे ।
सुधन्वानं च मां चैव प्रातर्द्रष्टाऽसि संगतौ ॥ ११ ॥
विदुर उवाच—अतीतायां च शर्वर्यामुदिते सूर्यमंडले ।
अथाजगाम तं देशं सुधन्वा राजसत्तम ।
विरोचनो यत्र विभो केशिन्या सहितः स्थितः ॥ १२ ॥
सुधन्वा च समागच्छत्प्राह्लादिं केशिनीं तथा ।
समागतं द्विजं दृष्ट्वा केशिनी भरतर्षभ ।
प्रत्युत्थायासनं तस्मै पाद्यमर्घ्यं ददौ पुनः ॥ १३ ॥
सुधन्वोवाच—अन्वालभे हिरण्मयं प्राह्लादे ते वरासनम् ।
एकत्वमुपसंपन्नो न त्वासेऽहं त्वया सह ॥ १४ ॥
विरोचन उवाच—तवार्हते तु फलकं कूर्चं वाऽप्यथवा बृसी ।
सुधन्वन्न त्वमर्होऽसि मया सह समासनम् ॥ १५ ॥
सुधन्वोवाच—पिता पुत्रौ सहासीतां द्वौ विप्रौ क्षत्रियावपि ।
वृद्धौ वैश्यौ च शूद्रौ च न त्वन्यावितरेतरम् ॥ १६ ॥

ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं या दैत्य ? तुमसे पहले के प्रार्थी सुधन्वा क्यों न मेरे पति हों ? विरोचन ने कहा—हे केशिनी ! प्रजापति से उत्पन्न हम दैत्य ही श्रेष्ठ हैं। ये सब लोक हमारे ही हैं। देवता कौन हैं और ब्राह्मण कौन होते हैं ? केशिनी ने कहा—मैं यहीं पर तुम दोनों प्रार्थियों की प्रतीक्षा करूँगी। तुम यहीं ठहरो, प्रातःकाल सुधन्वा भी आवेंगे। तुम दोनों को एक साथ देखकर मैं निश्चय करूँगी ॥९।१०॥

विरोचन ने कहा—हे भद्रे ! मैं तुम्हारे कहे के अनुसार कार्य करूँगा। कल तुम मुझे सुधन्वा के साथ प्रातःकाल देखोगी। विदुर कहते हैं कि रात्रि व्यतीत हो गई, सूर्योदय हुआ। उस समय सुधन्वा भी वहां आ गये। विरोचन और केशिनी के पास सुधन्वा के पहुँचने पर केशिनी ने उठकर उनका सत्कार किया। अब सुधन्वा ने विरोचन से कहा—मैं तुम्हारे इस सुवर्णमय आसन को केवल स्पर्श से स्वीकार किये लेता हूं किन्तु तुम्हारे साथ एक आसन पर बैठ नहीं सकता। विरोचन ने कहा—ठीक है, तुमको तो लकड़ी का या कुश का आसन चाहिए। सुधन्वा, तुम मेरे साथ आसन पर नहीं बैठ सकते ॥११।१५॥

सुधन्वा ने कहा—हे विरोचन ! पिता और

विदुर उवाच—तस्माद्राजेंद्र भूम्यर्थे नानृतं वक्तुमर्हसि ।
मागमः स सुतामात्यो नाशं पुत्रार्थमब्रुवन् ॥ ३९ ॥
न देवा दंडमादाय रक्षंति पशुपालवत् ।
यं तु रक्षितुमिच्छंति बुद्ध्या संविभजंति तम् ॥ ४० ॥
यथा यथा हि पुरुषः कल्याणे कुरुते मनः ।
तथा तथाऽस्य सर्वार्थाः सिद्ध्यंते नात्र संशयः ॥ ४१ ॥
नैनं छंदांसि वृजिनात्तारयंति मायाविनं मायया वर्तमानम् ।
नीडं शकुंता इव जातपक्षाश्छंदांस्येनं प्रजहत्यंतकाले ॥ ४२ ॥
मद्यपानं कलहं पूगवैरं भार्यापत्योरंतरं ज्ञातिभेदम् ।
राजद्विष्टं स्त्रीपुंसयोर्विवादं वर्ज्यान्याहुर्यश्च पंथाः प्रदुष्टः ॥ ४३ ॥
सामुद्रिकं वणिजं चोरपूर्वं शलाकधूर्तं च चिकित्सकं च ।
अरिं च मित्रं च कुशीलवं च नैतान्साक्ष्ये त्वधिकुर्वीत सप्त ॥ ४४ ॥
मानाग्निहोत्रमुत मानमौनं मानेनाधीतमुत मानयज्ञः ।
एतानि चत्वार्यभयंकराणि भयं प्रयच्छंत्ययथाकृतानि ॥ ४५ ॥
अगारदाही गरदः कुंडाशी सोमविक्रयी ।

केशिनी इन्हीं की भार्या हो और ये मेरे आगे केशिनी के पाँव हल्दी से धोवें ॥३७।३८॥

विदुर ने कहा—हे महाराज ! इसलिए भूमि के वास्ते आप असत्य न बोलें और मिथ्या निर्णय न करें। जो पुरुष भूमि के लिए असत्य बोलता है उसका नाश हो जाता है। आप भी पुत्र का पक्ष लेकर भूमि के लिए अन्याय न कीजिए, नहीं तो पुत्र, परिवार, मन्त्री आदि सहित आपका सर्वनाश हो जायगा। देवता पशुपालकों की तरह लाठी लेकर किसी की रक्षा नहीं करते। वे जिसकी रक्षा करना चाहते हैं उसे अच्छी बुद्धि दे देते हैं।३९।४०।

मनुष्य जैसे-जैसे कल्याणदायक कामों में मन लगाता है वैसे-वैसे उसके सब प्रयोजन सिद्ध होते हैं। जो मायावी पुरुष छल-कपट करता है उसके कष्ट को वेद नहीं हटा सकते। जैसे पङ्ख निकलने पर पक्षियों के बच्चे घोसला छोड़कर उड़ जाते हैं वैसे ही वेद भी अन्तकाल में उस कपटी को छोड़ जाते हैं ॥४१।४२॥

हे महाराज ! शास्त्र में लिखा है कि मद्यपान, कलह, बहुत मनुष्यों से बैर, स्त्री और पति में मनमुटाव जाति-भाइयों में फूट, राजद्रोह, स्त्री पुरुष में बैर और दूषित मार्ग, इनसे सदा बचना चाहिए। इसके सिवा हस्तरेखा देखनेवाले को, पहले के चोर बनिये को, शलाका (पासा) फेंककर शकुन आदि बतानेवाले धूर्त को, वैद्य को, शत्रु को, मित्र को और नर्तक मनुष्य आदि को कभी गवाह न बनाना चाहिए। अग्निहोत्र मौनव्रत, अध्ययन और यज्ञ, ये चार काम विधिपूर्वक करने से अभय देते हैं, किन्तु विधि के विपरीत करने से

राजा यदा सत्कुरुते मनुष्यं सर्वान् गुणानेष गुणो विभाति ॥ ५३ ॥
अष्टौ नृपेमानि मनुष्यलोके स्वर्गस्य लोकस्य निदर्शनानि ।
चत्वार्येषामन्वेतानि सद्भिश्चत्वारि चैषामनुयांति संतः ॥ ५४ ॥
यज्ञो दानमध्ययनं तपश्च चत्वार्येतान्यन्ववेतानि सद्भिः ।
दमः सत्यमार्जवमानृशंस्यं चत्वार्येतान्यनुयांति संतः ॥ ५५ ॥
इज्याध्ययनदानानि तपः सत्यं क्षमा घृणा ।
अलोभ इति मार्गोऽयं धर्मस्याष्टविधः स्मृतः ॥ ५६ ॥
तत्र पूर्वचतुर्वर्गो दंभार्थमपि सेव्यते ।
उत्तरश्च चतुर्वर्गो नामहात्मसु तिष्ठति ॥ ५७ ॥
न सा सभा यत्र न संति वृद्धा न ते वृद्धा ये न वदंति धर्मम् ।
नासौ धर्मो यत्र न सत्यमस्ति न तत्सत्यं यच्छलेनाभ्युपेतम्॥ ५८॥
सत्यं रूपं श्रुतं विद्या कौल्यं शीलं बलं धनम् ।
शौर्यं च चित्रभाष्यं च दशेमे स्वर्गयोनयः ॥ ५९ ॥
पापं कुर्वन्पापकीर्तिः पापमेवाश्नुते फलम् ।
पुण्यं कुर्वन्पुण्यकीर्तिः पुण्यमत्यंतमश्नुते ॥ ६० ॥
तस्मात्पापं न कुर्वीत पुरुषः शंसितव्रतः ।

दमन, शास्त्रज्ञान, पराक्रम, कम बोलना, यथाशक्ति दान की प्रवृत्ति और कृतज्ञता, इन आठ गुणों से मनुष्य का चरित्र उज्ज्वल होता है। हे महाराज! इन सब गुणों से बढ़कर एक गुण यह है कि राजा सबका सत्कार करे। इस गुण के साथ ही और सब गुण भी रहते हैं। हे राजेन्द्र! इस लोक में आगे कहे गये आठ गुण स्वर्ग के चिह्न हैं। इनमें से चार तो सज्जनों के स्वाभाविक गुण हैं और चार को सीखना पड़ता है। यज्ञ, दान की प्रवृत्ति, अध्ययन और तप, ये स्वाभाविक गुण हैं और जितेन्द्रियता, सत्य, सरलता और कोमलता, इनका अभ्यास करना पड़ता है ॥५१।५५॥

यज्ञ, अध्ययन, दान, तप, सत्य, क्षमा, दया और जितेन्द्रिता, ये आठ बातें धर्म का मार्ग हैं। इनमें से पहले की चार बातें तो दिखाने के लिए पाखण्डी भी करते हैं, पर पीछे की चार बातें सज्जन महात्माओं के सिवा औरों में नहीं पाई जातीं। जिसमें बूढ़े (अनुभवी) लोग नहीं हैं वह सभा ही नहीं है, जो धर्म का उपदेश नहीं करते वे वृद्ध ही नहीं हैं, जिसमें सत्य नहीं वह धर्म ही नहीं है और जिसमें छल का लेश भी है वह सत्य ही नहीं है। सत्य, रूप (विनय का भाव), शास्त्र का ज्ञान, विद्या, कुल, शील, बल, धन, शूरता और युक्तियुक्त बात करना—ये गुण स्वर्ग के हैं। पाप करनेवाला यहा बदनामी उठाकर

जीर्णमन्नं प्रशंसंति भार्यां च गतयौवनाम् ।
शूरं विजितसंग्रामं गतपारं तपस्विनम् ॥ ६९ ॥
धनेनाधर्मलब्धेन यच्छिद्रमपिधीयते ।
असंवृतं तद्भवति ततोऽन्यदवदीर्यते ॥ ७० ॥
गुरुरात्मवतां शास्ता शास्ता राजा दुरात्मनाम् ।
अथ प्रच्छन्नपापानां शास्ता वैवस्वतो यमः ॥ ७१ ॥
ऋषीणां च नदीनां च कुलानां च महात्मनाम् ।
प्रभवो नाधिगंतव्यः स्त्रीणां दुश्चरितस्य च ॥ ७२ ॥
द्विजातिपूजाभिरतो दाता ज्ञातिषु चार्जवी ।
क्षत्रियः शीलभाग्राजंश्चिरं पालयते महीम् ॥ ७३ ॥
सुवर्णपुष्पां पृथिवीं चिन्वंति पुरुषास्त्रयः ।
शूरश्च कृतविद्यश्च यश्च जानाति सेवितुम् ॥ ७४ ॥
बुद्धिश्रेष्ठानि कर्माणि बाहुमध्यानि भारत ।
तानि जंघाजघन्यानि भारप्रत्यवराणि च ॥ ७५ ॥
दुर्योधनेऽथ शकुनौ मूढे दुःशासने तथा ।
कर्णे चैश्वर्यमाधाय कथं त्वं भूतिमिच्छसि ॥ ७६ ॥

कटे। पहली अवस्था में वह करना चाहिए जिससे बुढ़ापा सुख से कटे और जन्म भर वह काम करना चाहिए जिससे परलोक में सद्गति हो। पच जाने पर भोजन की, जवानी व्यतीत हो जाने पर भार्या की, समर जीत लेने पर शूर की और सिद्धि पा जाने पर तपस्वी की प्रशंसा होती है। अधर्म से प्राप्त किये गये धन के द्वारा जो दोष ढका जाता है, वह तो खुला ही रहता है, बल्कि और छिद्र भी खुल जाते हैं ॥६९।७०॥

आत्मज्ञानियों का शासक गुरु है, दुष्टों का शासक राजा है, किन्तु जो लोग गुप्त रूप से पाप करते हैं उनको दण्ड देनेवाले साक्षात् यमराज ही हैं। ऋषि, नदी, कुल और महात्माओं की उत्पत्ति तथा स्त्रियों के कुचरित्र का हाल नहीं जाना जा सकता। हे राजेन्द्र! जो सुशील राजा ब्राह्मणों का सत्कार करता है, जातिवालों को धन आदि देकर सन्तुष्ट रखता है, सरल और सुशील है, वह बहुत समय तक राज्य करता है। शूर, विद्वान् और सेवा के ढङ्ग को जाननेवाला, ये तीन प्रकार के मनुष्य पृथ्वी पर सम्पत्ति प्राप्त कर सकते हैं। बुद्धि के कार्य श्रेष्ठ होते हैं, बाहुबल के काम मध्यम होते हैं, जाँघ का काम नीच है और बोझ ढोने का काम महा अधम है। आप दुर्योधन, शकुनि, मूढ़ दुःशासन और कर्ण को राज्य का मुखिया बनाकर भलाई की

मर्माण्यस्थीनि हृदयं तथाऽसून् रूक्षावाचो निर्दहंतीह पुंसाम् ।
तस्माद्वाचमुषतीं रूक्षरूपां धर्मारामो नित्यशो वर्जयीत ॥ ७ ॥
अरुंतुदं परुषं रूक्षवाचं वाक्कंटकैर्वितुदंतं मनुष्यान् ।
विद्यादलक्ष्मीकतमं जनानां मुखे निवद्धां निर्ऋतिं वै वहंतम् ॥ ८ ॥
परश्चेदेनमभिविद्धयेत बाणैर्भृशं सुतीक्ष्णैरनलार्कदीप्तैः ।
स विद्धयमानोऽप्यतिदह्यमानो विद्यात्कविः सुकृतं मे दधाति ॥ ९ ॥
यदि संतं सेवति यद्यसंतं तपस्विनं यदि वा स्तेनमेव ।
वासो यथा रंगवशं प्रयाति तथा स तेषां वशमभ्युपैति ॥ १० ॥
अतिवादं न प्रवदेन्न वादयेद्योऽनाहतः प्रतिहन्यान्न घातयेत् ।
हंतुं च यो नेच्छति पापकं वै तस्मै देवाः स्पृहयंत्यागताय ॥ ११ ॥
अव्याहृतं व्याहृताच्छ्रेय आहुः सत्यं वदेद्व्याहृतं तद्‌द्वितीयम् ।
प्रियं वदेद्व्याहृतं तत्तृतीयं धर्म्यं वदेद्व्याहृतं तच्चतुर्थम् ॥ १२ ॥
यादृशैः संनिविशते यादृशांश्चोपसेवते ।
यादृगिच्छेच्च भवितुं तादृग्भवति पूरुषः ॥ १३ ॥

देनेवाले या निन्दा करनेवाले को भस्म कर देता है और सहनेवाला गाली देनेवाले के पुण्य को हर लेता है। न किसी को कटु वचन कहे, न किसी का अनादर करे, न मित्रद्रोह करे, न नीच की सेवा करे, न अभिमानी हो, न चरित्र से हीन हो और न किसी को रूखी चुभती हुई बातें कहकर कष्ट पहुँचावे। रूखी और चुभती हुई बातें दूसरे के मर्मस्थल में, हड्डियों में और हृदय में खटकती हैं और जलन सी उत्पन्न कर देती हैं। इसलिए धर्मात्मा पुरुष को लगती हुई रूखी बात मुँह से न निकालनी चाहिए ॥४।७॥

मर्मस्थल में चोट पहुँचानेवाली, कठोर, रूखी बातें कहनेवाले और वाक्य-बाण से मनुष्यों को व्यथित करनेवाले मनुष्य को महा अभागा समझना चाहिए। उसके मुँह में दरिद्र या मृत्यु का निवास रहता है। जो कोई अग्नि और सूर्य के समान प्रज्वलित तीक्ष्ण वाक्य-बाण मारकर पीड़ा पहुंचावे तो बुद्धिमान् पुरुष को समझना चाहिए कि वह उसका उपकार कर रहा है। मनुष्य सज्जन या दुर्जन, तपस्वी या चोर, जिसका सङ्ग करता है वैसा ही हो जाता है; जैसे उजले वस्त्र को जिस रङ्ग से रंगो वही रङ्ग उस पर चढ़ जाता है ॥८।१०॥

जो पुरुष न बुरे वचन कहता है और न किसी से कहलाता है, जो न किसी को मारता है और न स्वयं मार खाता है, जो अपने ऊपर प्रहार करनेवाले पर भी प्रहार करना नहीं चाहता, उसका देवगण भी आदर करते है। बोलने से शांत रहना श्रेष्ठ है। सत्य बोलना उससे श्रेष्ठ है। सत्य यदि प्रिय हो तो और भी अच्छा। और जो सत्य और प्रिय धर्मसङ्गत हो तो सबसे श्रेष्ठ है। मनुष्य जैसे लोगों के पास

प्राप्नोति वै वित्तमसद्बलेन नित्योत्थानात्प्रज्ञया पौरुषेण ।
न त्वेव सम्यग्लभते प्रशंसां न वृत्तमाप्नोति महाकुलानाम् ॥ २१ ॥

धृतराष्ट्र उवाच–महाकुलेभ्यः स्पृहयंति देवा धर्मार्थनित्याश्च बहुश्रुताश्च ।
पृच्छामि त्वां विदुर प्रश्नमेतं भवंति वै कानि महाकुलानि ॥ २२ ॥

विदुर उवाच–तपो दमो ब्रह्मवित्तं वितानाः पुण्या विवाहाः सततान्नदानम् ।
येष्वेवैते सप्त गुणा वसंति सम्यग्वृत्तास्तानि महाकुलानि ॥ २३ ॥
येषां न वृत्तं व्यथते न योनिश्चित्तप्रसादेन चरंति धर्मम् ।
ये कीर्तिमिच्छंति कुले विशिष्टां त्यक्तानृतास्तानि महाकुलानि ॥ २४ ॥

अनिज्यया कुविवाहैर्वेदस्योत्सादनेन च ।
कुलान्यकुलतां यांति धर्मस्यातिक्रमेण च ॥ २५ ॥
देवद्रव्यविनाशेन ब्रह्मस्वहरणेन च ।
कुलान्यकुलतां यांति ब्राह्मणातिक्रमेण च ॥ २६ ॥
ब्राह्मणानां परिभवात्परिवादाच्च भारत ।
कुलान्यकुलतां यांति न्यासापहरणेन च ॥ २७ ॥

स्वजनों से भी चौकन्ना रहता है और जो कृतघ्न है, वह अधम है। मनुष्य को सदा उत्तम पुरुषों से भी मिलना चाहिए अवसर पड़ने पर समय के अनुसार मध्यम पुरुषों से भी मिलना आवश्यक होता है। किन्तु जिसे अपना अभ्युदय अभीष्ट हो वह अधमों का साथ कभी न करे ॥१९।२०॥

मनुष्य असत् लोगों के बल, बुद्धि, पौरुष और उद्योग से सम्पत्ति और राज्य पा सकता है, किन्तु कीर्ति या श्रेष्ठ कुलों के प्रशंसनीय चरित्र को नहीं पा सकता ॥२१॥

धृतराष्ट्र ने कहा—हे विदुर! धर्मार्थ के ज्ञाता शास्त्रज्ञान-संपन्न देवगण महाकुल की इच्छा किया करते हैं। इसलिए मैं तुमसे पूछता हूँ कि महाकुल कौन होते हैं? उनके लक्षण क्या हैं? ॥२२॥

विदुर ने कहा—हे राजेन्द्र! तप (कृच्छ्र-चान्द्रायण आदि), जितेन्द्रियता, वेदों का पढ़ना पढ़ाना, यज्ञ, विवाह (श्रेष्ठ सम्बन्ध), सच्चरित्रता और अन्नदान की प्रवृत्ति, ये गुण महाकुल के लक्षण हैं। जिनका चारित्र नीतिभ्रष्ट नहीं होता, जिनका जन्म व्यभिचार से नहीं हुआ, जो अपनी प्रसन्नता के लिए धर्म करते हैं, जो अपने कुल की कीर्ति को सदा बढ़ाना ही चाहते हैं और जो मिथ्या नहीं बोलते उनके घराने महाकुल हैं ॥२३।२४॥

हे महाराज! यज्ञ न करने से, नीच कुल में विवाह करने से, वेद न पढ़ने से, धर्म का उल्लघन करने से, देवता का द्रव्य ले लेने से, ब्राह्मण का धन हर लेने से, ब्राह्मणों का अनादर और निन्दा करने से, और दूसरे की धरोहर मार लेने से कुलों की श्रेष्ठता जाती रहती है। जो कुल विद्या, धन और परिवार से पूर्ण होने पर भी चारित्र से भ्रष्ट हैं

सूक्ष्मोऽपि भारं नृपते स्यंदनो वै शक्तो वोढुं न तथाऽन्ये महीजाः ।
एवं युक्ता भारसहा भवंति महाकुलीना न तथाऽन्ये मनुष्याः ॥ ३६ ॥
न तन्मित्रं यस्य कोपाद्बिभेति यद्वाऽमित्र शंकितेनोपचर्यम् ।
यस्मिन्मित्रे पितरीवाश्वसीत तद्वै मित्रं सगतानीतराणि ॥ ३७ ॥
यः कश्चिदप्यसंबद्धो मित्रभावेन वर्तते ।
स एव बंधुस्तन्मित्रं सागतिस्तत्परायणम् ॥ ३८ ॥
चलचित्तस्य वै पुंसो वृद्धाननुपसेवतः ।
पारिप्लवमतेर्नित्यमध्रुवो मित्रसंग्रहः ॥ ३९ ॥
चलचित्तमनात्मानमिंद्रियाणां वशानुगम् ।
अर्थाः समभिवर्तंते हंसाः शुष्क सरो यथा ॥ ४० ॥
अकस्मादेव कुप्यंति प्रसीदंत्यनिमित्ततः ।
शीलमेतदसाधूनामभ्रं पारिप्लवं यथा ॥ ४१ ॥
सत्कृताश्च कृतार्थाश्च मित्राणां न भवंति ये ।
तान्मृतानपि क्रव्यादाः कृतघ्नान्नोपभुंजते ॥ ४२ ॥
अर्चयेदेव मित्राणि सति वाऽसति वा धने ।
नानर्थयन्प्रजानाति मित्राणां सारफल्गुताम् ॥ ४३ ॥

वे वृक्ष छोटे होने पर भी बोझ सह सकते हैं, और पेड़ बड़े होने पर भी बोझ को नहीं सह सकते। इसी प्रकार कुलीन पुरुष जैसे बोझ उठा सकते हैं—सहनशील हो सकते हैं—वैसे और लोग नहीं हो सकते। जिसके क्रोध से भय हो और शङ्कित रहकर जिस मित्र के पास रहना हो वह मित्र नहीं है। जिस पर माता पिता का सा भरोसा किया जा सके वही सच्चा मित्र है, और सब कहने भर के मित्र हैं। कोई संबंध न रहने पर भी जो मित्रता का व्यवहार करता है वही सम्बन्धी, मित्र, गति और आश्रय है। जिसका चित्त चञ्चल है, जो बूढ़ों के पास नहीं बैठता-उठता, जो भ्रम में पड़कर डँवाडोल रहता है, उसके मित्रों का होना अनिश्चित है। जैसे हंस सूखे सरोवर को छोड़ जाते हैं वैसे ही चञ्चल चित्तवाले, मूढ़ और इन्द्रियों के अनुगामी पुरुष को अर्थसिद्धि छोड़ जाती है ॥३५।४०॥

दुर्जनों की बुद्धि मेघ की तरह अस्थिर होती है। वे अकस्मात् क्रोध कर बैठते हैं और अकारण प्रसन्नता प्रकट करते हैं। मित्रों से सत्कार और सहायता पाकर, कृतार्थ होकर, भी जो लोग मित्रों का हित नहीं करते उन कृतघ्नों को मरने पर मांस-भोजी कुत्ते-सियार आदि भी नहीं खाते। मित्र चाहे धनी हो और चाहे निर्धन, उससे कुछ माँगना न चाहिए। क्योंकि माँगने से मित्रता का महत्व घट

बुद्धया भयं प्रणुदति तपसा विंदते महत् ।
गुरुशुश्रूषया ज्ञानं शांतिं योगेन विंदति ॥ ५२ ॥
अनाश्रिता दानपुण्यं वेदपुण्यमनाश्रिताः ।
रागद्वेषविनिर्मुक्ता विचरंतीह मोक्षिणः ॥ ५३ ॥
स्वधीतस्य सुयुद्धस्य सुकृतस्य च कर्मणः ।
तपसश्च सुतप्तस्य तस्यांते सुखमेधते ॥ ५४ ॥
स्वास्तीर्णानि शयनानि प्रपन्ना न वै भिन्ना जातु निद्रां लभंते।
न स्त्रीषु राजन् रतिमाप्नुवंति न मागधैः स्तूयमाना न सूतैः ॥ ५५ ॥
न वै भिन्ना जातु चरंति धर्मं न वै सुखं प्राप्नुवंतीह भिन्नाः।
न वै भिन्ना गौरवं प्राप्नुवंति न वै भिन्नाः प्रशमं रोचयंति ॥ ५६ ॥
न वै तेषां स्वदते पथ्यमुक्तं योगक्षेमं कल्पते नैव तेषाम् ।
भिन्नानां वै मनुजेंद्र परायणं न विद्यते किंचिदन्यद्विनाशात् ॥ ५७ ॥
संपन्नं गोषु संभाव्यं संभाव्यं ब्राह्मणे तपः ।
संभाव्यं चापलं स्त्रीषु संभाव्यं ज्ञातितो भयम् ॥ ॥५८॥

व्याकुलता मिटे और शान्ति मिले ॥४६।५०॥

विदुर ने कहा—हे निष्पाप ! विद्या, तप, इन्द्रियदमन और लोभ के त्याग (अर्थात् सन्तोष) के सिवा आपको शान्ति मिलने का कोई उपाय मुझे नहीं देख पड़ता । ज्ञान से भय चला जाता है। तप से ब्रह्मज्ञान मिलता है । गुरु की सेवा से ज्ञान बढ़ता है । चित्त की सब वृत्तियों को रोकने से शान्ति प्राप्त होती है । मोक्ष की इच्छा रखनेवाले महात्मा पुरुष न दान के पुण्य का आश्रय लेते हैं और न वेदोक्त यज्ञ आदि का अनुष्ठान करते हैं ! वे तो रागद्वेष को छोड़कर इस पृथ्वी पर विचरते हैं। अच्छे पढ़ने लिखने का, धर्मयुद्ध करने का, पुण्यकर्म करने का और श्रेष्ठ तपस्या करने का फल यह होता है कि अन्त में मनुष्य को सुख और समृद्धि प्राप्त होती है । भेदभाव से भरे हुए लोग मूल्यवान् कोमल पलंग पर लेटकर भी सुख की नींद नहीं सोते; उन्हें स्त्रियां या मागध सूत बन्दीजन की स्तुतियां नहीं भातीं ॥५१।५५॥

जिनके मन में भेदभाव है वे धर्म का आचरण नहीं करते, सुख भी नहीं पाते; न उन्हें गौरव मिलता है और न शान्ति रुचती है । उनसे हित की बात कहो तो वह उन्हें अच्छी नहीं लगती । जो नहीं मिला उसको प्राप्त और जो मिल गया है उसकी रक्षा वे नहीं कर सकते । भेदभाव के भक्त विनाश की ओर ही अग्रसर होते हैं । जैसे गायों में दूध का होना, ब्राह्मण में तप का होना, स्त्रियों में चञ्चलता का होना सम्भव है वैसे ही जाति-भाइयों से भय की आशङ्का करनी चाहिए । पाण्डव लोग बाल्यावस्था में आपके पास रहकर पले हैं और अब आपके ही अन्याय से वन में रहकर क्लेश

न मनुष्ये गुणः कश्चिद्राजन्सधनतामृते ।
अनातुरत्वाद्भद्रं ते मृतकल्पा हि रोगिणः ॥ ६७ ॥
अव्याधिजं कटुकं शीर्षरोगि पापानुबंधं परुषं तीक्ष्णमुष्णम् ।
सतां पेयं यन्न पिबंत्यसंतो मन्युं महाराज पिब प्रशाम्य ॥ ६८ ॥
रोगार्दिता न फलान्याद्रियंते न वै लभंते विषयेषु तत्त्वम् ।
दुःखोपेता रोगिणो नित्यमेव न बुध्यंते धनभोगान्न सौख्यम् ॥ ६९ ॥
पुरा ह्युक्तं नाकरोस्त्वं वचो मे द्यूते जितां द्रौपदीं प्रेक्ष्य राजन् ।
दुर्योधनं वारयेत्यक्षवत्यां कितवत्वं पंडिता वर्जयंति ॥ ७० ॥
न तद्बलं यन्मृदुना विरुध्यते सूक्ष्मो धर्मस्तरसा सेवितव्यः ।
प्रध्वंसिनी क्रूरसमाहिता श्रीर्मृदुप्रौढा गच्छति पुत्रपौत्रान् ॥ ७१ ॥
धार्तराष्ट्राः पांडवान्पालयंतु पांडोः सुतास्तव पुत्रांश्च पांतु ।
एकारिमित्राः कुरवो ह्येककार्या जीवंतु राजन् सुखिनः समृद्धाः ॥ ७२ ॥
मेढीभूतः कौरवाणां त्वमद्य त्वय्याधीनं कुरुकुलमाजमीढ ।
पार्थान्बालान्वनवासप्रतप्तान् गोपायस्व स्वं यशस्तात रक्षन् ॥ ७३ ॥

करने पर भी इनका त्याग कर देना ही सबसे बड़ा और कड़ा दण्ड है। धन और आरोग्य के बिना मनुष्य में कोई गुण नहीं रहता। रोगी को तो मुर्दे के बराबर माना है। आपका भला हो। आप रोग उत्पन्न करनेवाले इस चिन्ता-जागरण को छोड़िए। बिना व्याधि के ही उपजा हुआ, कटु, सिर में पीड़ा उत्पन्न करनेवाला, पापजनक, कठोर, तीक्ष्ण, गर्म, सज्जनों के पीने की और दुर्जनों के न पीने की वस्तु जो क्रोध है उसे पी जाइए। क्षमा धारण करने से शान्ति पाइएगा। रोग से पीड़ित मनुष्यों को पुत्र, पशु आदि जीवन के फल सुखदायक नहीं होते। वे किसी विषय के तत्त्व को भी नहीं प्राप्त कर सकते, क्योंकि उनमें इष्ट अनिष्ट का विवेक नहीं रह जाता। रोगी पुरुष सदा दुःखी रहते हैं। वे धन, भोग (स्त्रीसङ्ग) आदि के सुख का अनुभव भी नहीं कर सकते। [इसलिए आप रोग उत्पन्न करनेवाले सन्ताप और जागरण को छोड़ दीजिए।] पहले सभा में कपटद्यूत के समय, द्रौपदी को जीत लेने पर, मैंने आपसे कहा था कि दुर्योधन को रोकिए; जुए को बुरा समझकर पण्डित लोग उससे बचते हैं। परन्तु आपने उस समय मेरा कहा नहीं किया॥६६।७०॥

वह बल ही नहीं जिसका विरोध दुर्बल पुरुष भी कर सके। धर्म की गति सूक्ष्म है, इसलिए जिसमें थोड़ा भी धर्म हो वह काम शीघ्रता के साथ करना चाहिए। क्रूर पुरुष को मिली हुई लक्ष्मी विनाश का कारण बन जाती है और शीघ्र ही नष्ट हो जाती है। और, कोमल प्रकृति चतुर पुरुष को मिली हुई लक्ष्मी पुत्र पौत्र आदि तक स्थिर बनी रहती है। इसलिए आपके पुत्र पाण्डवों की और पाण्डव लोग आपके पुत्रों की रक्षा करें। कौरव और पाण्डव एक

यश्चापि लब्ध्वा न स्मरामीति वादी दत्त्वा च यः कत्थति याच्यमानः ।
यश्चासतः सत्त्वमुपानयीत एतान्नयंति निरयं पाशहस्ताः ॥ ६ ॥
यस्मिन्यथा वर्तते यो मनुष्यस्तस्मिंस्तथा वर्तितव्यं स धर्मः ।
मायाचारो मायया वर्तितव्यः साध्वाचारः साधुना प्रत्युपेयः॥ ७ ॥
जरा रूपं हरति हि धैर्यमाशा मृत्युः प्राणान्धर्मचर्यामसूया ।
कामो ह्रियं वृत्तमनार्यसेवा क्रोधः श्रियं सर्वमेवाभिमानः ॥ ८ ॥

धृतराष्ट्र उवाच—शतायुरुक्तः पुरुषः सर्ववेदेषु वै यदा ।
नाप्नोत्यथ च तत्सर्वमायुः केनेह हेतुना ॥ ९ ॥

विदुर उवाच—अतिमानोऽतिवादश्च तथाऽत्यागो नराधिप ।
क्रोधश्चात्मविधित्सा च मित्रद्रोहश्च तानि षट् ॥ १० ॥
एत एवासयस्तीक्ष्णाः कृन्तन्त्यायूंषि देहिनाम्।
एतानि मानवान् घ्नंति न मृत्युर्भद्रमस्तु ते ॥ ११ ॥
विश्वस्तस्यैति यो दारान् यश्चापि गुरुतल्पगः ।
वृषलीपतिर्द्विजो यश्च पानपश्चैव भारत ॥ १२ ॥

योग्य वस्तु को चाहता है, ॥१।४॥

जो पराये खेत में बीज बोता है, जो औरों के आगे स्त्री की अत्यन्त निन्दा करता है, जो पाकर भी यह कहता है कि मुझे स्मरण नहीं है, जो किसी को उसके मांगने पर कुछ देकर अपनी प्रशंसा करता है और जो दुष्ट दुर्जनों को समझाकर शांत बनाना चाहता है या असाधु को साधु प्रमाणित करता है । पाश हाथ में लिये यमराज के दूत इन सबहों को यमपुरी को ले जाते हैं । ये मानों आकाश में घूंसे मारना चाहते हैं न झुक सकनेवाले इन्द्र के धनुष को झुकाना चाहते हैं, पकड़ी न जाने योग्य सूर्य-चन्द्र आदि की किरणों को पकड़ना चाहते हैं । हे राजेन्द्र ! जिसके साथ जिसका जैसा व्यवहार हो उसके साथ उसे वैसा ही व्यवहार करना चाहिए । यही धर्म है । कपटी से कपटता का और सीधे से सरलता का व्यवहार करना ही भला है । बुढ़ापा रूप को, आशा (तृष्णा) धैर्य को, मृत्यु प्राणों को, ईर्ष्या धर्म-कर्म को, कामविकार लज्जा को, नीचों का सङ्ग चरित्र को, क्रोध लक्ष्मी को और अभिमान सभी बातों को मिटा देता है ॥५।८॥

धृतराष्ट्र ने कहा—हे विदुर ! सब वेदों में मनुष्य की आयु सौ वर्ष की लिखी है । फिर किस कारण सब लोग उतने दिन तक नहीं जीने पाते ? ॥९॥

विदुर ने कहा—हे राजेन्द्र ! अभिमान, अतिवाद, महापाप, क्रोध, पेट भरने की और स्त्रीभोग की ही चिन्ता में लगे रहना और मित्रद्रोह, ये छः तीक्ष्ण तलवारें मनुष्य की आयु को क्षीण किया करती हैं । हे महाराज ! यही छः काम मनुष्यों को मारते हैं, मृत्यु नहीं मारती । यह समझकर आप कल्याण की राह पकड़िए ॥१०।११॥

उक्तं मया द्यूतकालेऽपि राजन्नेदं युक्तं वचनं प्रातिपेय ।
तदौषधं पथ्यमिवातुरस्य न रोचते तव वैचित्रवीर्य ॥ २० ॥
काकैरिमांश्चित्रबर्हान्मयूरान्पराजयेथाः पांडवान्धार्तराष्ट्रैः ।
हित्वा सिंहान् क्रोष्टुकान्गूहमानाः प्राप्ते काले शोचिता त्वं नरेंद्र ॥ २१ ॥
यस्तात न क्रुध्यति सर्वकालं भृत्यस्य भक्तस्य हिते रतस्य ।
तस्मिन्भृत्या भर्तरि विश्वसंति न चैनमापत्सु परित्यजंति ॥ २२ ॥
न भृत्यानां वृत्तिसंरोधनेन राज्यं धनं संजिघृक्षेदपूर्वम् ।
त्यजंति ह्येनं वंचिता वै विरुद्धाः स्निग्धा ह्यमात्याः परिहीनभोगाः ॥ २३ ॥
कृत्यानि पूर्वं परिसंख्याय सर्वाण्यायव्यये चानुरूपां च वृत्तिम् ।
संगृह्णीयादनुरूपान्सहायान् सहायसाध्यानि हि दुष्कराणि ॥ २४ ॥
अभिप्रायं यो विदित्वा तु भर्तुः सर्वाणि कार्याणि करोत्यतंद्री ।
वक्ता हितानामनुरक्त आर्यः शक्तिज्ञ आत्मेव हि सोऽनुकंप्यः ॥ २५ ॥

के लिए धन भी व्यय कर डालना चाहिए, किन्तु अपनी रक्षा के लिए धन और स्त्री दोनों का मोह न करना चाहिए ॥१७।१८॥

पूर्व समय के लोगों ने अनुभव करके देखा है कि जुआ मनुष्यों में वैर-भाव उत्पन्न कर देता है। इसलिए बुद्धिमान् पुरुष दिल्लगी के लिए भी जुआ न खेले। मैंने सभा में भी कहा था कि यह जुआ खेलना श्रेष्ठ नहीं है; परन्तु रोगी को जैसे पथ्य नहीं रुचता वैसे ही वह मेरा कहना आपको नहीं रुचा ॥१९।२०॥

कौओं से विचित्र पङ्खवाले मोरों का हारना और कौरवों से पाण्डवों का परास्त होना एक ही बात है। आप सिंहों को छोड़कर सियारों को पालते हैं। इसके लिए समय पर आपको शोक करना पड़ेगा ॥२१॥

हे राजेन्द्र ! जो पुरुष अपने भक्त, हितचिन्तक सेवकों पर कभी क्रोध नहीं करते उन पर सेवक भी विश्वास करते हैं और आपत्ति के समय उनको नहीं छोड़ते। राजा को चाहिए कि सेवकों की वृत्ति छीनकर राज्य और सम्पत्ति बढ़ाने की इच्छा न करे। यदि वह सेवकों को धोखा देता है तो वे भोगों से हीन होकर विरोधी बन जाते हैं और पहले स्नेह का व्यवहार करनेवाले से सलाहकर उसे छोड़ देते हैं। राजा को चाहिए कि पहले यह निश्चय कर ले कि मैं क्या कर सकता हूँ और क्या नहीं कर सकता। फिर वह आय-व्यय के अनुसार सेवकों की वृत्ति नियत कर दे। उसके पश्चात् योग्य सहायकों का संग्रह करे; क्योंकि सब दुष्कर कार्य सहायकों के बल से ही किये जा सकते हैं ॥२२।२४॥

जो सेवक, स्वामी के अभिप्राय को जानकर, आलस्य छोड़कर भाव से सब काम करता है, हित की बात कहने में नहीं हिचकता, अनुराग रखनेवाला तथा सच्चरित्र है और आत्मा की तरह स्वामी की शक्ति को जानता है, उसके साथ राजा को सदा दया और स्नेह का व्यवहार करना चाहिए। जो

गुणाश्च षण्मितभुक्तं भजंते आरोग्यमायुश्च बलं सुखं च ।
अनाविलं चास्य भवत्यपत्यं न चैनमाद्यून इति क्षिपंति ॥ ३४ ॥
अकर्मशीलं च महाशनं च लोकद्विष्टं बहुमायं नृशंसम् ।
अदेशकालज्ञमनिष्टवेषमेतान्गृहे न प्रतिवासयेत ॥ ३५ ॥
कदर्यमाक्रोशकमश्रुतं च वनौकसं धूर्तममान्यमानिनम् ।
निष्ठूरिणं कृतवैरं कृतघ्नमेतान्भृशार्तोऽपि न जातु याचेत् ॥ ३६ ॥
संक्लिष्टकर्माणमतिप्रमादं नित्यानृतं चादृढभक्तिकं च ।
विसृष्टरागं पटुमानिनं चाप्येतान्न सेवेत नराधमान् षट् ॥ ३७ ॥
सहायबंधना ह्यर्थाः सहायाश्चार्थबंधनाः ।
अन्योन्यबंधनावेतौ विनान्योन्यं न सिद्ध्यतः ॥ ३८ ॥
उत्पाद्य पुत्राननृणांश्च कृत्वा वृत्तिं च तेभ्योऽनुविधाय कांचित् ।
स्थाने कुमारीः प्रतिपाद्य सर्वा अरण्यसंस्थोऽथ मुनिर्बुभूषेत् ॥ ३९ ॥
हितं यत्सर्वभूतानामात्मनश्च सुखावहम् ।
तत्कुर्यादीश्वरे ह्येतन्मूलं सर्वार्थसिद्धये ॥ ४० ॥

कीर्ति बढ़ती है । हे महाराज ! ये सब गुण एक ही गुण के आश्रित रहते हैं । यदि राजा सबका सत्कार करता है तो ये सब गुण उसमें विद्यमान होते हैं ॥३१।३२॥

स्नान करनेवाले पुरुष में बल, रूप, स्वरशुद्धि, वर्णशुद्धि, स्पर्श, गन्ध, विशुद्धता, शोभा या सम्पत्ति, सुकुमारता और श्रेष्ठ स्त्रियां, ये दस गुण रहते हैं । परिमित भोजन करनेवाले को आरोग्य, आयु, बल, सुख और निर्दोष-पुत्र मिलते हैं और पेटू कहकर लोग उसे ताना नहीं देते । परिमित भोजन करने में ये छः गुण हैं ॥३३।३४॥

निकम्मे, बहुत खानेवाले, सबके शत्रु, मायावी (धूर्त), क्रूर, देश-काल को न जाननेवाले और उग्र वेषवाले पुरुषों को अपने घर में न रखना चाहिए । अत्यन्त कष्ट के समय भी कृपण, कटु वचन बोलनेवाले या परसन्तापी, शास्त्रज्ञानहीन, बनवासी, धूर्त, जो मान के योग्य नहीं है उसका मान करनेवाले, निष्ठुर, वैर करनेवाले और कृतघ्न से कुछ भी न मांगना चाहिए । आततायी, अत्यन्त असावधान, नित्य मिथ्यावादी, दृढ़ भक्ति से रहित, स्नेहशून्य और अपने को बहुत समझनेवाले की सेवा कभी न करनी चाहिए । ये छ नराधम माने गये हैं ॥३५।३७॥

धन-प्राप्ति सहायक की अपेक्षा रखती है और सहायक भी धन-प्राप्ति की अपेक्षा रखते हैं । ये दोनों एक दूसरे के आश्रित हैं । दूसरे की सहायता के बिना एक की सिद्धि नहीं होती । गृहस्थ को चाहिए कि पुत्रों को उत्पन्न करके, उन्हें ऋण के बोझ से बचाकर, किसी जीविका में लगा दे, और इसी तरह कन्याओं का विवाह अच्छी जगह अच्छे

अर्थसिद्धिं परामिच्छन् धर्ममेवादितश्चरेत् ।
न हि धर्मादपैत्यर्थः स्वर्गलोकादिवामृतम् ॥ ४८ ॥
यस्यात्मा विरतः पापात् कल्याणे च निवेशितः ।
तेन सर्वमिदं बुद्धं प्रकृतिर्विकृतिश्च या ॥ ४९ ॥
यो धर्ममर्थं कामं च यथाकाल निषेवते ।
धर्मार्थकामसंयोगं सोऽमुत्रेह च विंदति ॥ ५० ॥
संनियच्छन्ति यो वेगमुत्थितं क्रोधहर्षयोः ।
स श्रियो भाजनं राजन् यश्चापत्सु न मुह्यति ॥ ५१ ॥
बलं पंचविधं नित्यं पुरुषाणां निबोध मे ।
यत्तु बाहुबलं नाम कनिष्ठं बलमुच्यते ॥ ५२ ॥
अमात्यलाभो भद्रं ते द्वितीयं बलमुच्यते ।
तृतीयं धनलाभं तु बलमाहुर्मनीषिणः ॥ ५३ ॥
यत्त्वस्य सहजं राजन् पितृपैतामहं बलम् ।
अभिजातबलं नाम तच्चतुर्थं बलं स्मृतम् ॥ ५४ ॥
येन त्वेतानि सर्वाणि संगृहीतानि भारत ।
यद्बलानां बलं श्रेष्ठं तत्प्रज्ञाबलमुच्यते ॥ ५५ ॥
महते योऽपकाराय नरस्य प्रभवेन्नरः ।
तेन वैरं समासज्य दूरस्थोऽस्मीति नाश्वसेत् ॥ ५६ ॥

रहते हैं। जो ऐश्वर्य या धन प्राप्त करना चाहता है उसे पहले धर्म का ही आचरण करना चाहिए। जैसे स्वर्गलोक से ही अमृत मिलता है वैसे धर्म से ही अर्थ की प्राप्ति होती है ॥४७।४८॥

जिसका मन पाप से हटकर कल्याण की राह में—शुभ कार्यों में—लग गया है वह संसार की प्रकृति और विकृति को अच्छी तरह जान गया है। जो यथासमय धर्म, अर्थ और काम, तीनों का सेवन करता है वह इस लोक और परलोक में धर्म, अर्थ और काम तीनों को पाता है ॥४९।५०॥

जो मनुष्य क्रोध और हर्ष के वेग को सँभाल लेता है और आपत्ति के समय मोह को नहीं प्राप्त होता, वही राजलक्ष्मी का अधिकारी होता है। मनुष्यों का बल पाच तरह का है। एक बाहुबल, दूसरा अच्छे मन्त्री का बल, तीसरा धन का बल, चौथा बाप दादे से चला आया हुआ सहज स्वाभाविक कुल का बल और पांचवा बुद्धि का बल है। ये चारों बल बुद्धि-बल से ही प्राप्त होते हैं, इसलिए बुद्धि का बल ही प्रधान बल है ॥५१।५५॥

जो मनुष्य अपना भारी अपकार कर सकता

महावृक्ष का आश्रय पाये बिना लता बढ़ नहीं सकती। मैं कह चुका हूँ कि आपके पुत्र वन हैं और पाण्डव सिंह। सिंहों के बिना वन का नाश हो जाता है और वन के बिना सिंह भी नहीं रह सकते ॥६१।६४॥

उद्योगपर्व का सैंतीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ३७ ॥

अथ अष्टत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३८ ॥

विदुर उवाच—ऊर्ध्वं प्राणा ह्युत्क्रामंति यूनः स्थविर आयति ।
प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यां पुनस्तान्प्रतिपद्यते ॥ १ ॥
पीठं दत्त्वा साधवेऽभ्यागताय आनीयापः परिनिर्णिज्य पादौ ।
सुखं पृष्ट्वा प्रतिवेद्यात्मसंस्थां ततो दद्यादन्नमवेक्ष्य धीरः ॥ २ ॥
यस्योदकं मधुपर्कं च गां च न मंत्रवित्प्रतिगृह्णाति गेहे ।
लोभाद्भयादथ कार्पण्यतो वा तस्यानर्थं जीवितमाहुरार्याः ॥ ३ ॥
चिकित्सकः शल्यकर्ताऽवकीर्णी स्तेनः क्रूरो मद्यपो भ्रूणहा च ।
सेनाजीवी श्रुतिविक्रायकश्च भृशं प्रियोऽप्यतिथिर्नोदकार्हः ॥ ४ ॥
अविक्रेयं लवणं पक्वमन्नं दधि क्षीरं मधु तैलं घृतं च ।
तिला मांसं फलमूलानि शाकं रक्तं वासः सर्वगंधा गुडाश्च ॥ ५ ॥
अरोषणो यः समलोष्टाश्मकांचनः प्रहीणशोको गतसंधिविग्रहः ।
निंदाप्रशंसोपरतः प्रियाप्रिये त्यजन्नुदासीनवदेष भिक्षुकः ॥ ६ ॥

अड़तीसवां अध्याय ॥ ३८ ॥

विदुरजी कहते हैं—हे महाराज ! जब कोई वृद्ध किसी युवा के पास आता है तब युवा के प्राण ऊपर को निकल जाते हैं। वह युवा प्रत्युत्थान और अभिवादन करने से फिर उन प्राणों को पाता है। जो अभ्यागत सज्जन आवे उसे बैठने को आसन दे, जल लाकर उसके पांव धोवे, फिर उससे कुशल के बारे में पूछकर अपना हाल कहे। इसके पश्चात् भोजन देकर उसका सत्कार करे। वेदपाठी मन्त्रज्ञ ब्राह्मण अथवा अतिथि जिसके घर में लोभ, भय या कृपणता देखकर, जल, मिष्टान्न, गाय आदि नहीं ग्रहण करता, उसका जीवन आर्यपुरुषों की सम्मति में व्यर्थ ही है ॥१।३॥

किन्तु वैद्य, शस्त्र बनानेवाला, जिसका ब्रह्मचर्य भ्रष्ट हो गया हो, चोर, क्रूर, मदिरा पीनेवाला, गर्भ-हत्याकारी, शस्त्रविद्या से जीविका चलानेवाला, और वेद विक्रय करनेवाला, इतने ब्राह्मण जल देने के योग्य नहीं होते। तथापि अतिथि की हालत में इनका भी प्रेम के साथ सत्कार करना चाहिए ॥४॥

नमक, पका हुआ अन्न, दही, दूध, मदिरा, तेल, घी, तिल, मांस, फल मूल, साग, लाल वस्त्र सब प्रकार से गन्धद्रव्य और गुड़, इतनी वस्तुएँ बेचना ब्राह्मण के लिए निषिद्ध है ॥५॥

जो क्रोध से हीन, मिट्टी और सुवर्ण को समान समझनेवाला, शोकहीन, मेल और वैर से रहित,

क्षमावंतो निराकाराः काष्ठेऽग्निरिव शेरते ।
यस्य मंत्रं न जानंति बाह्याश्चाभ्यंतराश्च ये ॥ १५ ॥
स राजा सर्वतश्चक्षुश्चिरमैश्वर्यमश्नुते ।
करिष्यन्न प्रभाषेत कृतान्येव तु दर्शयेत् ॥ १६ ॥
धर्मकामार्थकार्याणि तथा मंत्रो न भिद्यते ।
गिरिपृष्ठमुपारुह्य प्रासादं वा रहोगतः ॥ १७ ॥
अरण्ये निःशलाके वा तत्र मंत्रोऽभिधीयते ।
नासुहृत्परमं मंत्रं भारतार्हति वेदितुम् ॥ १८ ॥
अपंडितो वाऽपि सुहृत् पंडितो वाऽप्यनात्मवान् ।
नापरीक्ष्य महीपालः कुर्यात्सचिवमात्मनः ॥ १९ ॥
अमात्ये ह्यर्थलिप्सा च मंत्ररक्षणमेव च ।
कृतानि सर्वकार्याणि यस्य पारिषदा विदुः ॥ २० ॥
धर्मे चार्थे च कामे च स राजा राजसत्तमः ।
गूढमंत्रस्य नृपतेस्तस्य सिद्धिरसंशयम् ॥ २१ ॥
अप्रशस्तानि कार्याणि यो मोहादनुतिष्ठति ।

सेवकों को वाणिज्य-व्यापार का काम दे और ब्राह्मणों की सेवा का काम पुत्रों से करावे। जल से अग्नि, ब्राह्मण से क्षत्रिय और पत्थर से लोहा उत्पन्न हुआ है। इनका तेज सर्वत्र काम करता है किन्तु अपने उत्पत्तिस्थान में शान्त हो जाता है। सत्कुल में उत्पन्न अग्नि के समान तेजस्वी, क्षमाशील और आकार से कोई भाव प्रकट न करनेवाले सज्जन लकड़ी के भीतर अग्नि की तरह छिपे और शान्त रहते हैं ॥१०।१४॥

जिस राजा के मन्त्र को भीतरी या बाहरी कोई मनुष्य नहीं जानता और जो जासूसों के द्वारा सब ओर की सूचना—शत्रु के मन्त्र—को देखता-सुनता रहता है वह बहुत दिन तक राज्य करता है। जो करना हो उसे पहले से न कहे, जो कर चुके उसी को प्रकट होने दे। इस प्रकार धर्म-अर्थ के काम करने से मन्त्र नहीं फूटता। पर्वत के ऊपर जाकर, महल में या गुप्त स्थान में बैठकर, वन में अथवा एकान्त में सम्मति करनी चाहिए। हे भारत-श्रेष्ठ! ऐसा उपाय करना चाहिए जिसमें शत्रु को किसी तरह सम्मति की सूचना न हो। मूर्ख या पण्डित होने पर अपने मन को वश में न रखनेवाले मित्र से भी सम्मति छिपानी चाहिए। राजा को चाहिए कि परीक्षा किये बिना किसी को अपना मन्त्री न बनावे। ऐश्वर्य की प्राप्ति और मन्त्र की रक्षा मन्त्री पर ही निर्भर है। श्रेष्ठ राजा वही है जिसके धर्म-अर्थ-काम सम्बन्धी कार्यों को, कर चुकने पर, सभासद लोग जान पाते हैं। जो राजा मन्त्र को गुप्त रखता है उसका कार्य अवश्य सिद्ध होता है ॥१५।२१॥

जो राजा मोहवश होकर निन्दित काम करता

दैवतेषु प्रयत्नेन राजसु ब्राह्मणेषु च ।
नियंतव्यः सदा क्रोधो वृद्धबालातुरेषु च ॥ ३० ॥
निरर्थं कलहं प्राज्ञो वर्जयेन्मूढसेवितम् ।
कीर्तिं च लभते लोके न चानर्थेन युज्यते ॥ ३१ ॥
प्रसादो निष्फलो यस्य क्रोधश्चापि निरर्थकः ।
न तं भर्तारमिच्छंति पंढं पतिमिव स्त्रियः ॥ ३२ ॥
न बुद्धिर्धनलाभाय न जाड्यमसमृद्धये ।
लोकपर्यायवृत्तांतं प्राज्ञो जानाति नेतरः ॥ ३३ ॥
विद्याशीलवयोवृद्धान् बुद्धिवृद्धांश्च भारत ।
धनाभिजातवृद्धांश्च नित्यं मूढोऽवमन्यते ॥ ३४ ॥
अनार्यवृत्तमप्राज्ञमसूयकमधार्मिकम् ।
अनर्थाः क्षिप्रमायांति वाग्दुष्टं क्रोधनं तथा ॥ ३५ ॥
अविसंवादनं दानं समयस्याव्यतिक्रमः ।
आवर्त्तयंति भूतानि सम्यक् प्रणिहिता च वाक् ॥ ३६ ॥
अविसंवादको दक्षः कृतज्ञो मतिमानृजुः ।
अपि संक्षीणकोशोऽपि लभते परिवारणम् ॥ ३७ ॥

शत्रु से दबता रहे, किन्तु प्रबल होने पर उसे अवश्य मार डाले; क्योंकि यदि उस समय वह मारा नहीं गया तो उससे शीघ्र कोई महाभय उपस्थित होने की आशङ्का रहती है। देवता, ब्राह्मण, राजा, वृद्ध, बालक और रोगी पर उत्पन्न क्रोध को सदा दबा देना चाहिए ॥२८।३०॥

निरर्थक कलह करना मूर्खों का काम है, इस लिए बुद्धिमान् मनुष्य को उससे सदा बचते रहना चाहिए। ऐसा करनेवाला इस लोक में कीर्ति का भागी होता है, उसे किसी अनर्थ का सामना भी नहीं करनापड़ता। जिसकी प्रसन्नता और क्रोध दोनों निष्फल हैं उसे प्रजा वैसे ही स्वामी नहीं बनाना चाहती, जैसे नपुंसक पुरुष को स्त्रियां अपना पति बनाना नहीं पसंद करतीं। बुद्धिमानी से धनलाभ या मूर्खता से निर्धनी होना अनिश्चित है लोक-परम्परा के वृत्तान्त को प्राज्ञ पुरुष के सिवा दूसरा नहीं जानता ॥३१।३३॥

जो मूढ़ है वह विद्या, शील, अवस्था, बुद्धि धन और कुल में बड़े बूढ़े लोगों का सदा अनादर करता है। जो पुरुष नीच चरित्रवाला, मूर्ख, ईर्ष्या करनेवाला, अधर्मी, क्रोधी और दुष्ट कठोर वचन बोलनेवाला है उसके ऊपर शीघ्र ही अनर्थों की भर-मार होती है। क्लेश न करना, दान, समय को न गँवाना और अच्छी मीठी बोली, ये गुण शत्रु को भी मित्र बना लेते हैं ॥३४।३६॥

हित्वा तान्परमेष्वासान् पांडवानमितौजसः ।
आहितं भारतैश्वर्यं त्वया दुर्योधने महत् ॥ ४६ ॥
तं द्रक्ष्यसि परिभ्रष्टं तस्मात्त्वमचिरादिव ।
ऐश्वर्यमदसंमूढं बलिं लोकत्रयादिव ॥ ४७ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि प्रजागरपर्वणि विदुरहितवाक्ये अष्टत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३८ ॥

हे राजेन्द्र ! आपने महातेजस्वी पाण्डवों को छोड़कर दुर्योधन को सब साम्राज्य दे रक्खा है। किन्तु आप शीघ्र ही ऐश्वर्य के मद में मूढ़ हो रहे दुर्योधन को, त्रिभुवन के राज्य से राजा बलिकी तरह, राजसिंहासन से भ्रष्ट होते देखियेगा ॥४६।४७॥

—०—

उद्योगपर्व का अड़तीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ३८ ॥

अथ एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ३९ ॥

धृतराष्ट्र उवाच—अनीश्वरोऽयं पुरुषो भवाभवे सूत्रप्रोता दारुमयीव योषा ।
धात्रा तु दिष्टस्य वशे कृतोऽयं तस्माद्वद त्वं श्रवणे धृतोऽहम् ॥ १ ॥

विदुर उवाच—अप्राप्तकालं वचनं बृहस्पतिरपि ब्रुवन् ।
लभते बुद्ध्यवज्ञानमवमानं च भारत ॥ २ ॥
प्रियो भवति दानेन प्रियवादेन चापरः ।
मंत्रमूलबलेनान्यो यः प्रियः प्रिय एव सः ॥ ३ ॥
द्वेष्यो न साधुर्भवति न मेधावी न पंडितः ।
प्रिये शुभानि कार्याणि द्वेष्ये पापानि चैव ह ॥ ४ ॥
उक्तं मया जातमात्रेऽपि राजन्दुर्योधनं त्यज पुत्रं त्वमेकम् ।

उनतालीसवां अध्याय ॥ ३९ ॥

धृतराष्ट्र ने कहा—हे विदुर ! ऐश्वर्य का होना या न होना, जय और पराजय प्राप्त करना मनुष्य के हाथ की बात नहीं है। विधाता ने उसे सूत में बँधी कठपुतली की तरह दैव के वश में डाल रक्खा है। तुम फिर इस विषय की बातें कहो, मैं सावधान होकर सुनने को तैयार हूँ ॥१॥

विदुर ने कहा—हे राजेन्द्र ! असमय में कोई बात कहने से साक्षात् बृहस्पति की भी बुद्धि का अनादर और उनका अपमान होता है। कोई सेवक दान से, कोई प्रिय वचन कहने से और कोई अच्छी सम्मति देने से स्वामी को प्रिय होता है। जो अच्छी सम्मति देने से प्रिय होता है वही वास्तव में प्रिय होने योग्य है। लोग जिससे द्वेष रखते हैं वह सज्जन, बुद्धिमान् या पण्डित कुछ नहीं होता। क्योंकि मनुष्यों का स्वभाव ही ऐसा है कि वे अपने प्रिय पुरुष में सब अच्छे काम और अप्रिय पुरुष में सब पापकार्य देखते हैं ॥२।४॥

दुर्योधन के जन्म के समय ही मैंने आपसे

ये पापा इति विख्याताः संवासे परिगर्हिताः ॥ १३ ॥
युक्ताश्चान्यैर्महादोषैर्ये नरास्तान् विवर्जयेत् ।
निवर्तमाने सौहार्दे प्रीतिर्नीचे प्रणश्यति ॥ १४ ॥
या चैव फलनिर्वृत्तिः सौहृदे चैव यत्सुखम् ।
यतते चापवादाय यत्नमारभते क्षये ॥ १५ ॥
अल्पेऽप्यपकृते मोहान्न शांतिमधिगच्छति ।
तादृशैः संगतं नीचैर्नृशंसैरकृतात्मभिः ॥ १६ ॥
निशम्य निपुणं बुद्धया विद्वान्दूराद्विवर्जयेत् ।
यो ज्ञातिमनुगृह्णाति दरिद्रं दीनमातुरम् ॥ १७ ॥
स पुत्रपशुभिर्वृद्धिं श्रेयश्चानंत्यमश्नुते ।
ज्ञातयो वर्द्धनीयास्तैर्य इच्छंत्यात्मनः शुभम् ॥ १८ ॥
कुलवृद्धिं च राजेन्द्र तस्मात्साधु समाचार ।
श्रेयसा योक्ष्यते राजन् कुर्वाणो ज्ञातिसत्क्रियाम् ॥ १९ ॥
विगुणा ह्यपि संरक्ष्या ज्ञातयो भरतर्षभ ।
किं पुनर्गुणवंतस्ते त्वत्प्रसादाभिकांक्षिणः ॥ २० ॥
प्रसादं कुरु वीराणां पांडवानां विशांपते ।

है। उनके पास रहने में बड़ा खटका रहता है। उन्हें धन देना महा भयङ्कर है और उनसे धन लेना अनर्थ की जड़ है। वे कामना-परवश, निर्लज्ज, धूर्त और भेदभाव बढ़ाने में तत्पर रहते हैं। अन्य महादोषों से परिपूर्ण पापियों का सङ्ग महा निन्दित है; इसलिए उनको साथ न रखना चाहिए। नीच पुरुष की प्रीति स्वार्थ-मूलक होती है। काम निकल जाने पर नीच पुरुष उस प्रीति को भुला देता है। साथ ही प्रीति का फल और सुख भी नष्ट हो जाता है। वह नीच फिर निन्दा और विनाश की चेष्टा करता है। भूल से उसका थोड़ा भी अपकार हो जाय तो वह शान्त नहीं होता, बल्कि मोहवश विरोध को ही बढ़ाता है। डाँवाँडोल चित्तवाले ऐसे नृशंस पुरुष के सङ्ग को विचारपूर्वक दूर से ही बचाना विद्वानों का कर्तव्य है ॥१०।१६॥

हे राजेन्द्र! जो कोई दरिद्र, दीन, रोगपीड़ित जातिवाले को आश्रय देता है, उस पर कृपा करता है, उस दयालु के पुत्रों और पशुओं की वृद्धि होती है और उसका सदा भला होता है। जो लोग अपना भला चाहते हों उन्हें अपनी जातिवालों की उन्नति और वृद्धि का यत्न करना चाहिए। इसलिए हे राजेन्द्र! आप अपने कुल की वृद्धि कीजिए। जाति का सत्कार करने से आपका कल्याण होगा। गुणहीन जातिवालों पर भी हाथ रखना चाहिए।

येन खट्वां समारूढः परितप्येत कर्मणा ।
आदावेव न तत्कुर्यादध्रुवे जीविते सति ॥ २९ ॥
न कश्चिन्नापनयते पुमानन्यत्र भार्गवात् ।
शेषसंप्रतिपत्तिस्तु बुद्धिमत्स्वेव तिष्ठति ॥ ३० ॥
दुर्योधनेन यद्येतत्पापं तेषु पुरा कृतम् ।
त्वया तत्कुलवृद्धेन प्रत्यानेयं नरेश्वर ॥ ३१ ॥
तांस्त्वं पदे प्रतिष्ठाप्य लोके विगतकल्मषः ।
भविष्यसि नरश्रेष्ठ पूजनीयो मनीषिणाम् ॥ ३२ ॥
सुव्याहृतानि धीराणां फलतः परिचिंत्य यः ।
अध्यवस्यति कार्येषु चिरं यशसि तिष्ठति ॥ ३३ ॥
असम्यगुपयुक्तं हि ज्ञानं सुकुशलैरपि ।
उपलभ्यं चाविदितं विदितं चाननुष्ठितम् ॥ ३४ ॥
पापोदयफलं विद्वान् यो नारभति वर्द्धते ॥ ३५ ॥
यस्तु पूर्वकृतं पापमविमृश्यानुवर्तते ॥ ३६ ॥
अगाधपंके दुर्मेधा विषमे विनिपात्यते ।
मंत्रभेदस्य षट् प्राज्ञो द्वाराणीमानि लक्षयेत् ॥ ३७ ॥

सुना या अपने पुत्रों का मरना सुना, तो दोनों तरह आपको पछताना पड़ेगा। यह जीवन क्षणभंगुर है, इसलिए मनुष्य को पहले वह काम न करना चाहिए जिससे मृत्यु की सेज में पड़े-पड़े पछताना पड़े। नीति-शास्त्र के प्रणेता भृगु के सिवा और कोई ऐसा नहीं जिसका पांव नीति की राह से कभी हटा न हो। जो हो गया सो हो गया, अब आगे जिसमें कल्याण हो वही विचारकर कीजिए ॥२९।३०॥

दुर्योधन पाण्डवों के साथ पहले जो अन्याय कर चुका है उसे इस समय आप अपने व्यवहार से मिटा दीजिए; क्योंकि आप इस कुल के मुखिया और वृद्ध हैं। संसार में आपकी वह निन्दा पाण्डवों को राज्य देने से मिट जायगी। हे नरश्रेष्ठ! तब बुद्धिमान् लोग आपकी प्रशंसा करेंगे ॥३१।३२॥

जो पुरुष लोगों के हितोपदेश को सुनकर और उसके फल पर विचारकर कर्तव्य का निश्चय करता है वह सदा यश का भागी होता है। जिसे उपदेश किया जाता है वह यदि उसे अच्छी तरह नहीं समझता या उसके अनुसार कार्य नहीं करता तो चतुर पुरुषों का उपदेश भी वृथा ही जाता है। जो पुरुष बुरे फलवाले पापकर्म का आरम्भ नहीं करता, उसकी बढ़ती होती है ॥३३।३५॥

जो मनुष्य पहले किये गये पाप पर विचार न करके फिर भी पाप में ही प्रवृत्त होता है वह घोर

मित्रवंतं सुवाक्यं च सुहृदं परिपालयेत् ।
दुष्कुलीनः कुलीनो वा मर्यादां यो न लंघयेत् ॥ ४७ ॥
धर्मापेक्षी मृदुर्ह्रीमान् स कुलीनशताद्वरः ।
ययोश्चित्तेन वा चित्तं निभृतं निभृतेन वा ॥ ४८ ॥
समेति प्रज्ञया प्रज्ञा तयोर्मैत्री न जीर्यति ।
दुर्बुद्धिमकृतप्रज्ञं छन्नं कूपं तृणैरिव ॥ ४९ ॥
विवर्जयीत मेधावी तस्मिन्मैत्री प्रणश्यति ।
अवलिप्तेषु मूर्खेषु रौद्रसाहसिकेषु च ॥ ५० ॥
तथैवापेतधर्मेषु न मैत्रीमाचरेद् बुधः ।
कृतज्ञं धार्मिकं सत्यमक्षुद्रं दृढभक्तिकम् ॥ ५१ ॥
जितेन्द्रियं स्थितं स्थित्यां मित्रमत्यागि चेष्यते ।
इंद्रियाणामनुत्सर्गो मृत्युनाऽपि विशिष्यते ॥ ५२ ॥
अत्यर्थं पुनरुत्सर्गः सादयेद्दैवतानपि ।
मार्दवं सर्वभूतानामनसूया क्षमा धृतिः ॥ ५३ ॥
आयुष्याणि बुधाः प्राहुर्मित्राणां चाविमानना ।
अपनीतं सुनीतेन योऽर्थं प्रत्यानिनीषते ॥ ५४ ॥

में असमर्थ होते हैं ॥४१।४५॥

प्राज्ञ पुरुष की सेवा करनेवाले, विद्वान्, धर्मात्मा, दर्शनीय, मित्रसम्पन्न, अच्छे हित के वचन कहनेवाले सुहृद का प्रतिपाल करना चाहिए। जो शास्त्र और लोक की मर्यादा को नहीं तोड़ता, धर्म का ख़याल रखता है, कोमलप्रकृति और लोकलज्जा से युक्त है वह, चाहे अच्छे कुल में उत्पन्न हो और चाहे नीच कुल में, सैकड़ों कुलीनों से श्रेष्ठ है। जिनका चित्त मिला हुआ है, जिनकी बुद्धि भी मेल खाती है, और गूढ़ बातें भी एक सी हैं, उनकी मित्रता सदा बनी रहती है। बुद्धिमान् पुरुष को दुर्मति, अकृतज्ञ, कच्ची समझवाले या नासमझ के साथ मित्रता न करनी चाहिए। ऐसा पुरुष घास से ढके हुए कुएँ के समान है। उससे की गई मित्रता बहुत शीघ्र मिट जाती है। घमण्डी, मूर्ख, क्रोधी, साहसी और धर्महीन पुरुष से कभी मित्रता न करनी चाहिए ॥४६।५०॥

कृतज्ञ, धर्मात्मा, सत्यपरायण, जितेन्द्रिय, दृढ़ भक्तिवाले, उदार और मर्यादापालक पुरुष से ही मित्रता करनी चाहिए। इन्द्रियों को वश में करना अर्थात् विषयों से रोकना मृत्यु से बढ़कर कष्ट सहने के बराबर है। किन्तु इन्द्रियों का विषयों में अत्यन्त प्रवृत्त होना देवताओं के भी विनाश का कारण होता है। सब प्राणियों से कोमलता का व्यवहार करना, किसी से डाह न करना, क्षमा,

दुःखार्तेषु प्रमत्तेषु नास्तिकेष्वलसेषु च ।
न श्रीर्वसत्यदांतेषु ये चोत्साहविवर्जिताः ॥ ६२ ॥
आर्जवेन नरं युक्तमार्जवात्सव्यपत्रपम् ।
अशक्तं मन्यमानास्तु धर्षयंति कुबुद्धयः ॥ ६३ ॥
अत्यार्यमतिदातारमतिशूरमतिव्रतम् ।
प्रज्ञाभिमानिनं चैव श्रीर्भयान्नोपसर्पति ॥ ६४ ॥
न चातिगुणवत्स्वेषा नात्यंतं निर्गुणेषु च ।
नैषा गुणान्कामयते नैर्गुण्यान्नानुरज्यते ॥ ६५ ॥
उन्मत्ता गौरिवांधा श्रीः क्वचिदेवावतिष्ठते ।
अग्निहोत्रफला वेदाः शीलवृत्तफलं श्रुतम् ॥ ६६ ॥
रतिपुत्रफला नारी दत्तभुक्तफलं धनम् ।
अधर्मोपार्जितैरर्थैर्यः करोत्यौर्ध्वदेहिकम् ॥ ६७ ॥
न स तस्य फलं प्रेत्य भुंक्तेऽर्थस्य दुरागमात् ।
कांतारे वनदुर्गेषु कृच्छ्रास्वापत्सु संभ्रमे ॥ ६८ ॥
उद्यतेषु च शस्त्रेषु नास्ति सत्ववतां भयम् ।
उत्थानं संयमो दाक्ष्यमप्रमादो धृतिः स्मृतिः ॥ ६९ ॥
समीक्ष्य च समारम्भो विद्धि मूलं भवस्य तु ।

हानि न पहुँचती हो उसे ही यथेष्ट रूप से भोगना चाहिए। मूढ़ों की तरह भोजनादि के सुख में अत्यन्त आसक्त होकर धर्म और अर्थ को हानि न पहुँचानी चाहिए। दुःखित, मतवाले, नास्तिक, आलसी, अजितेन्द्रिय और उत्साहहीन पुरुषों को जो ऐश्वर्य मिल भी जाता है तो ठहरता नहीं है। दुष्ट बुद्धिवाले लोग सरलहृदय और लोकलज्जायुक्त नम्र पुरुष को, अशक्त समझकर, दबाते हैं। अत्यन्त सरल, अत्यन्त दाता, अत्यन्त शूर, अत्यन्त व्रतधारी और अपनी बुद्धिमानी का अभिमान रखनेवाले पुरुषों को लक्ष्मी डरती है और उनके पास नहीं फटकती। अत्यन्त गुणी या अत्यन्त निर्गुण के पास लक्ष्मी नहीं ठहरती। लक्ष्मी न तो गुणों को चाहती है और न निर्गुण पर अनुराग रखती है।६१।६५।

उन्मत्त गाय की तरह अन्धी लक्ष्मी एक जगह देर तक नहीं ठहरती। हे महाराज! वेदपाठ का फल अग्निहोत्र है, शास्त्रज्ञान का फल अच्छा स्वभाव और अच्छा चरित्र है, स्त्री का फल रति और बालबच्चे उत्पन्न करना है, धन का फल देना और भोग करना है। हे राजेन्द्र! अधर्म से सञ्चित किये गये धन के द्वारा जो कोई यज्ञ-दान आदि परलोक बनानेवाले कर्म करता है उसे परलोक में

अध्वा जरा देहवतां पर्वतानां जलं जरा ।
असंभोगो जरा स्त्रीणां वाक्शल्यं मनसो जरा॥ ७८ ॥
अनाम्नायमला वेदा ब्राह्मणस्याव्रतं मलम् ॥ ७९ ॥
मलं पृथिव्या बाह्लीकाः पुरुषस्यानृतं मलम् ।
कौतूहलमला साध्वीविप्रवासमलाः स्त्रियः ॥ ८० ॥
सुवर्णस्य मलं रूप्यं रूप्यस्यापि मलं त्रपु ।
ज्ञेयं त्रपुमलं सीसं सीसस्यापि मलं मलम् ॥ ८१ ॥
न स्वप्नेन जयेन्निद्रां न कामेन जयेत्स्त्रियः ।
नेन्धनेन जयेदग्निं न पानेन सुरां जयेत् ॥ ८२ ॥
यस्य दानजितं मित्रं शत्रवो युधि निर्जिताः ।
अन्नपानाजिता दाराः सफलं तस्य जीवितम् ॥ ८३ ॥
सहस्रिणोऽपि जीवंति जीवंति शतिनस्तथा ।
धृतराष्ट्र विमुंचेच्छां न कथंचिन्न जीव्यते ॥ ८४ ॥
यत्पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः ।
नालमेकस्य तत्सर्वमिति पश्यन्नमुह्यति ॥ ८५ ॥
राजन्भूयो ब्रवीमि त्वां पुत्रेषु सममाचर ।
समता यदि ते राजन् स्वेषु पांडुसुतेषु वा ॥ ८६ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि प्रजागरपर्वणि विदुरवाक्ये एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः ॥३९॥

आयु, यश और बल बढ़ता है । हे महाराज ! बड़े कष्ट से, धर्म का उल्लंघन करने से या शत्रु के आगे झुकने से जो सम्पत्ति प्राप्त हो उसके लिए कभी मन न चलाइगा । विद्याहीन पुरुष, पुत्रोत्पत्तिहीन मैथुन, आहारहीन प्रजा और राजा से हीन राज्य शोचनीय है । प्राणियों का बुढ़ापा राह चलना है, पर्वतों का बुढ़ापा जल है, स्त्रियों का बुढ़ापा भोग न करना है और मन का बुढ़ापा वचन-बाण हैं ॥७६।७९॥

वेदों का मैल अभ्यास न करना है, ब्राह्मण का मैल ब्रह्मचर्य आदि व्रत न रखना है, पृथ्वी का मैल बाह्लीक देश है, पुरुष का मैल असत्य बोलना है, पतिव्रता का मैल कौतूहल है, स्त्रियों का मैल पति का परदेश जाना है, सुवर्ण का मैल चांदी है, चांदी का मैल रांगा है, रांगे का मैल सीसा है और सीसे का मैल मैल ही है । सोने से नींद नहीं कम होती। लकड़ियों से अग्नि नहीं बुझती । पीने से मदिरा की प्यास नहीं बुझती । भोग से स्त्रियों का जी नहीं भरता । जो पुरुष दान से मित्र को, युद्ध से शत्रु को, और खाने-पीने-पहनने की वस्तुओं से स्त्री को छका देता है उसी का जन्म सफल है । हज़ारपती

सुखार्थी वा त्यजेद्विद्यां विद्यार्थी वा त्यजेत्सुखम् ।
नाग्निस्तृप्यति काष्ठानां नापगानां महोदधिः ।
नांतकः सर्वभूतानां न पुंसां वामलोचना ॥ ७ ॥
आशा धृतिं हंति समृद्धिमंतकः क्रोधः श्रियं हंति यशः कदर्यताम्।
अपालनं हंति पशूंश्च राजन्नेकः क्रुद्धो ब्राह्मणो हंति राष्ट्रम् ॥ ८ ॥
अजाश्च कांस्यं रजतं च नित्यं मध्वाकर्षः शकुनिः श्रोत्रियश्च।
वृद्धो ज्ञातिरवसन्नः कुलीन एतानि ते संतु गृहे सदैव ॥ ९ ॥
अजोक्षा चंदनं वीणा आदर्शो मधुसर्पिषी ।
विषमौदुंबरं शंखः स्वर्णनाभोऽथ रोचना ॥ १० ॥
गृहे स्थापयितव्यानि धन्यानि मनुरब्रवीत् ।
देवब्राह्मणपूजार्थमतिथीनां च भारत ॥ ११ ॥
इदं च त्वां सर्वपरं ब्रवीमि पुण्यं पदं तात महाविशिष्टम् ।
न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्धर्मं जह्याज्जीवितस्यापि हेतोः॥ १२ ॥
नित्यो धर्मः सुखदुःखे त्वनित्ये जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः।
त्यक्त्वा नित्यं प्रतितिष्ठस्व नित्ये संतुष्य त्वं तोषपरो हि लाभः ॥ १३ ॥

अभिमान और लोभ से बचना चाहिए। इनके लिए ये दोष बड़े अनिष्टकारक हैं। जो सुख चाहता है, उसे विद्या कहां आ सकती है ? विद्यार्थी को सुख कहां से प्राप्त हो सकता है ! जो सुख चाहता है वह विद्या का पढ़ना छोड़ दे या जो विद्या चाहता है वह आरामतलबी छोड़ दे। हे महाराज ! ईंधन से अग्नि, जल से समुद्र, सब प्राणियों से मृत्यु और पुरुषों से स्त्री तृप्त नहीं होतीं। आशा से धैर्य, मृत्यु से ऐश्वर्य, क्रोध से लक्ष्मी, कन्जूसी से यश और पालन न करने से पशु नष्ट होते हैं। किन्तु एक भी ब्राह्मण यदि क्रोध करे तो वह सम्पूर्ण राज्य का नाश कर सकता है ॥५।८॥

हे महाराज ! बकरी, कांसे का बर्तन, चांदी, मधु, सज्जन, वेदपाठी ब्राह्मण, पक्षी, वृद्ध जातिवाले और सङ्कटग्रस्त कुलीन, ये सदा आपके घर में रहें। हे महाराज ! मनुजी की आज्ञा है कि देवता, ब्राह्मण और अतिथि की पूजा और सत्कार के लिए बकरी, बैल, चन्दन, वीणा, दर्पण, मिठाई, घी, लोहा, तांबे के बर्तन, शालग्राम की शिला, दक्षिणावर्त शङ्ख और गोरोचन आदि मङ्गल-पदार्थों को गृहस्थ अपने घर में अवश्य रक्खे ॥९।११॥

हे राजेन्द्र ! मैं आपको यह सर्वोत्तम मङ्गलप्रद पवित्र धर्म बताता हूँ कि काम, भय, लोभ आदि के वश होकर धर्म का त्याग न करना चाहिए;

आत्मा नदी भारत पुण्यतीर्था सत्योदया धृतिकूला दयोर्मिः।
तस्यां स्नातः पूयते पुण्यकर्मा पुण्यो ह्यात्मा नित्यमलोभ एव ॥ २१ ॥
कामक्रोधग्राहवतीं पंचेंद्रियजलां नदीम् ।
नावं धृतिमयीं कृत्वा जन्मदुर्गाणि संतर ॥ २२ ॥
प्रज्ञावृद्धं धर्मवृद्धं स्वबंधुं विद्यावृद्धं वयसा चापि वृद्धम् ।
कार्याकार्ये पूजयित्वा प्रसाद्य यः संपृच्छेन्न स मुह्येत्कदाचित्॥ २३ ॥
धृत्या शिश्नोदरं रक्षेत्पाणिपादं च चक्षुषा ।
चक्षुः श्रोत्रे च मनसा मनो वाचं च कर्मणा ॥ २४ ॥
नित्योदकी नित्ययज्ञोपवीती नित्यस्वाध्यायी पतितान्नवर्जी ।
सत्यं ब्रुवन् गुरवे कर्म कुर्वन्न ब्राह्मणश्च्यवते ब्रह्मलोकात् ॥ २५ ॥
अधीत्य वेदान्परिसंस्तीर्य चाग्नीनिष्ट्वा यज्ञैः पालयित्वा प्रजाश्च ।
गोब्राह्मणार्थं शस्त्रपूतांतरात्मा हतः संग्रामे क्षत्रियः स्वर्गमेति ॥ २६ ॥
वैश्योऽधीत्य ब्राह्मणान् क्षत्रियांश्च धनैः काले संविभज्याश्रितांश्च।
त्रेतापूतं धूममाघ्राय पुण्यं प्रेत्य स्वर्गे दिव्यसुखानि भुंक्ते ॥ २७ ॥

काम करेंगे तो संसार में श्रेष्ठ यश आपको प्राप्त होगा और परलोक में निर्भय भाव से स्वर्गभोग कीजिएगा ॥१४।२०॥

हे महाराज ! यह आत्मा नदी है। इसमें पुण्य ही तीर्थ है। सत्य ही जल है। सन्तोष इसके तट हैं। दया को तरङ्ग कह सकते हैं। लोभशून्य पुण्यात्मा पुरुष इस नदी में स्नान करके परम पवित्र होते हैं। पाँच इन्द्रियों के जल से भरी, काम-क्रोध आदि ग्राहों से परिपूर्ण इस नदी को धैर्य की नाव पर बैठकर तर जाइए ॥२१।२२॥

जो मनुष्य बुद्धि, धर्म, विद्या या अवस्था में बड़े अपने हितचिन्तक मित्रों को प्रसन्न करके आदरसहित कर्तव्य-अकर्तव्य के बारे में उनसे पूछता है वह कभी मोह में नहीं फँसता। धैर्य से भोजन और इन्द्रियसुख की वासना को रोके, आँखों से हाथ-पाँव बचावे, मन से आँख कान की रक्षा करे और मन तथा वाणी को कर्म से पवित्र रक्खे। जो ब्राह्मण नित्य स्नान-सन्ध्या-तर्पण करता है, नित्य यज्ञोपवीत धारण किये रहता है, नित्य स्वाध्याय करता है, पतित का अन्न नहीं खाता, सत्य बोलता है, गुरु की सेवा करता है वह ब्रह्मतेज और ब्रह्मलोक से कभी नहीं भ्रष्ट होता ॥२३।२५॥

जो क्षत्रिय वेद पढ़ता है, यज्ञ अग्निहोत्र करता है, प्रजा-पालन करता है, गाय और ब्राह्मण के लिए प्राण तक दे देता है और युद्ध में मारा जाता है वह स्वर्गलोक को जाता है। जो वैश्य वेद-शास्त्र पढ़ता है, समय पर ब्राह्मण, क्षत्रिय और आश्रित लोगों की धन से सहायता करता है और यज्ञ करता है वह मरने पर स्वर्ग में जाकर सुख भोगता है। जो शूद्र ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्णों की सेवा

सनत्सुजातः प्रोवाच मृत्युर्नास्तीति भारत ॥ २ ॥
स ते गुह्यान्प्रकाशांश्च सर्वान् हृदयसंश्रयान् ।
प्रवक्ष्यति महाराज सर्वबुद्धिमतां वरः ॥ ३ ॥
धृतराष्ट्र उवाच—किं त्वं न वेद तद्भूयो यन्मे ब्रूयात्सनातनः ।
त्वमेव विदुर ब्रूहि प्रज्ञाशेषोऽस्ति चेत्तव ॥ ४ ॥
विदुर उवाच—शूद्रयोनावहं जातो नातोऽन्यद्वक्तुमुत्सहे ।
कुमारस्य तु या बुद्धिर्वेद तां शाश्वतीमहम् ॥ ५ ॥
ब्राह्मीं हि योनिमापन्नः सुगुह्यमपि यो वदेत् ।
न तेन गर्ह्यो देवानां तस्मादेतद्ब्रवीमि ते ॥ ६ ॥
धृतराष्ट्र उवाच—ब्रवीहि विदुर त्वं मे पुराणं तं सनातनम् ।
कथमेतेन देहेन स्यादिहैव समागमः ॥ ७ ॥
वैशम्पायन उवाच—चिंतयामास विदुरस्तमृषिं शंसितव्रतम् ।
स च तच्चिंतितं ज्ञात्वा दर्शयामास भारत ॥ ८ ॥
स चैनं प्रतिजग्राह विधिदृष्टेन कर्मणा ।
सुखोपविष्टं विश्रांतमथैनं विदुरोऽब्रवीत् ॥ ९ ॥
भगवन् संशयः कश्चिद्धृतराष्ट्रस्य मानसः ।
यो न शक्यो मया वक्तुं त्वमस्मै वक्तुमर्हसि॥ १० ॥

पुराण कुमार सनत्सुजात ऋषि का कहना है कि मृत्यु नाम की कोई वस्तु नहीं है। अब वही बुद्धिमानों में श्रेष्ठ महात्मा आपके हृदय के गुप्त और प्रकट सब सन्देहों को दूर करेंगे ॥२।३॥

धृतराष्ट्र ने कहा—हे विदुर ! क्या तुम वह नहीं जानते जो सनत्सुजात ऋषि कहेंगे ? यदि जानते हो तो तुम्हीं कहो ॥४॥

विदुर ने कहा—हे महाराज ! मेरा जन्म शूद्र जाति की माता से हुआ है, इसलिए मैं उस विषय को नहीं कह सकता। महर्षि सनत्सुजात के अनादि सिद्धान्त को मैं जानता तो हूँ, पर मुझे उसके कहने का अधिकार नहीं। ब्राह्मणयोनि में उत्पन्न पुरुष यदि उस गुह्य ज्ञान का वर्णन करता है तो देवगण उसकी निन्दा नहीं करते। इसी से मैं आपसे अनुरोध करता हूँ कि इस विषय को सनत्सुजात ऋषि के मुँह से ही सुनिए ॥५।६॥

धृतराष्ट्र ने कहा—तो फिर विदुर ! तुम्हीं वह उपाय बताओ जिससे इसी शरीर से, यहीं पर मैं सनत्सुजात ऋषि से मिल सकूँ ॥७॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! तब विदुर ने महात्मा सनत्सुजात का ध्यान किया। उसी समय वे महात्मा वहां आ गये। विदुर ने विधिपूर्वक मधुपर्क-आसन आदि देकर उनकी पूजा की। जब वे थकन दूर करके सुख-पूर्वक बैठे तब विदुर ने कहा—हे भगवन् !

प्रमादाद्वै असुराः पराभवन्नप्रमादाद्ब्रह्मभूता भवंति ।
नैव मृत्युर्व्याघ्र इवात्ति जंतून्न ह्यस्य रूपमुपलभ्यते हि ॥ ५ ॥
यमं त्वेके मृत्युमतोऽन्यमाहुरात्मा वसन्नममृतं ब्रह्मचर्यम् ।
पितृलोके राज्यमनुशास्ति देवः शिवः शिवानामशिवोऽशिवानाम्॥ ६ ॥
अस्यादेशान्निःसरते नराणां क्रोधः प्रमादो लोभरूपश्च मृत्युः ।
अहं गतेनैव चरन्विमार्गान्न चात्मनो योगमुपैति कश्चित् ॥ ७ ॥
ते मोहितास्तद्वशे वर्तमाना इतः प्रेतास्तत्र पुनः पतन्ति ।
ततस्तान्देवा अनुविप्लवन्ते अतो मृत्युर्मरणाख्यामुपैति ॥ ८ ॥
कर्मोदये कर्मफलानुरागास्तत्रानु ते यांति न तरन्ति मृत्युम् ।
सदर्थयोगानवगमात्समंतात्प्रवर्तते भोगयोगेन देही ॥ ९ ॥
तद्वै महामोहनमिंद्रियाणां मिथ्यार्थयोगस्य गतिर्हि नित्या ।
मिथ्यार्थयोगाभिहतांतरात्मा स्मरन्नुपास्ते विषयान्समन्तात् ॥ १० ॥
अभिध्या वै प्रथमं हंति लोकान् कामक्रोधावनुगृह्याशु पश्चात् ।
एते बालान्मृत्यवे प्रापयंति धीरास्तु धैर्येण तरन्तिमृत्युम् ॥ ११ ॥

और सावधानी को अ-मृत्यु मानता हूं। प्रमाद से असुर पराभूत और मृत्यु के वश हुए, और अप्रमाद से देवता अमर हैं। मृत्यु बाघ की तरह आकर मनुष्यों को नहीं खा जाती। मृत्यु का रूप आज तक किसी ने नहीं जाना। कुछ लोगों की सम्मति में यमराज मृत्यु हैं और आत्मनिष्ठ ब्रह्मज्ञान या ब्रह्मचर्य ही अ-मृत्यु है। यम देव पितृलोक में रहकर सबका शासन करते हैं। वे पुण्यात्माओं के लिए मङ्गलरूप और पापियों के लिए अमङ्गलरूप हैं। उन्हीं की आज्ञा से, मनुष्य क्रोध, प्रमाद (मोह) और लोभ नाम से प्रसिद्ध मृत्यु के वशीभूत होते हैं। अहङ्कार के वश होकर, कुमार्ग पर चलकर, मनुष्य आत्मरूप प्राप्त करने में असमर्थ होता है। इस प्रकार सब लोग मोहित, ज्ञान से भ्रष्ट, लोभ आदि मृत्यु के वशवर्ती होकर बारम्बार नरकयन्त्रणा में पीड़ित और इन्द्रियों के सम्पर्क से रहित होते हैं। इसी से मृत्यु का नाम मरण है। भोग के साधनरूप कर्म के परिणाम से कर्म में अनुरक्त जीव स्वर्ग को प्राप्त होते हैं। इस शरीर के छूटने पर भी मृत्यु उनका पीछा नहीं छोड़ती। जिससे ब्रह्म की प्राप्ति होती है उस योगमार्ग की अभिज्ञता न होने के कारण देहधारी की विषय-वासना प्रकट होती है, और स्वभाव से ही अनित्य विषयों के प्रति अनुराग का सञ्चार होता है। तब उसकी प्रवृत्ति इन्द्रियों को मोहजाल में जकड़कर जड़ सा बना देती है और असार विषयों की खोज में भ्रान्तिवश उसे विषयों का चिन्तन ही विषयसेवा प्रतीत होती है ॥३।१०॥

जो चित को वश में नहीं कर सका, अर्थात् अजितेन्द्रिय है, उसके लिए विषय-चिन्तन विषय-

सनत्सुजात उवाच—एवं ह्यविद्वानुपयाति तत्र तत्रार्थजातं च वदंति वेदाः ।
अनीह आयाति परं परात्मा प्रयाति मार्गेण निहत्य मार्गान् ॥ १८ ॥
धृतराष्ट्र उवाच—को सौ नियुंक्ते तमजं पुराणं स चेदिदं सर्वमनुक्रमेण ।
किंवाऽस्य कार्यमथवा सुखं च तन्मे विद्वन्ब्रूहि सर्वं यथावत् ॥ १९ ॥
सनत्सुजात उवाच—दोषो महानत्र विभेदयोगे ह्यनादियोगेन भवंति नित्याः।
तथाऽस्य नाधिक्यमपैति किंचिदनादियोगेन भवंति पुंसः ॥ २० ॥
य एतद्वा भगवान्स नित्यो विकारयोगेन करोति विश्वम् ।
तथा च तच्छक्तिरिति स्म मन्यते तथार्थयोगे च भवंति वेदाः ॥ २१ ॥
धृतराष्ट्र उवाच—येऽस्मिन्धर्मान्नाचरंतीह केचित्तथा धर्मान्केचिदिहाचरंति।
धर्मः पापेन प्रतिहन्यते स्विदुताहो धर्मः प्रतिहंति पापम् ॥ २२ ॥
सनत्सुजात उवाच—उभयमेव तत्रोपयुज्यते फलं धर्मस्यैवेतरस्य च ॥ २३ ॥
तस्मिन्स्थितौ वाऽप्युभयं हि नित्यज्ञानेन विद्वान् प्रतिहन्ति सिद्धम् ।
तथाऽन्यथा पुण्यमुपैति देही तथागतं पापमुपैति सिद्धम् ॥ २४ ॥

और पवित्र लोक मिलते हैं। वही मोक्ष का कारण है। फिर लोग कर्मों का अनुष्ठान क्यों न करें ॥१७॥

सनत्सुजात ने कहा—हे राजेन्द्र ! कामासक्त मूढ़ पुरुष ही इस प्रकार मोक्ष पाने की इच्छा रखते हैं। वेद में तो बहुत से फलों का वर्णन पाया जाता है। किन्तु निष्काम जीवात्मा को ही परमात्मा का साक्षात्कार होता है। वही यथार्थ निवृत्ति मार्ग पर चलकर मोक्ष पाता है ॥१८॥

धृतराष्ट्र ने पूछा—हे भगवन् ! जिसके प्रभाव से यह विश्व क्रमशः उत्पन्न होता है, जो जन्म और मृत्यु से रहित है, उस सनातन जीवात्मा को नियुक्त कौन करता है ? अर्थात् उसका प्रेरक कौन है ? उसके कर्मों का अनुष्ठान और सुखभोग का ढङ्ग क्या है ? ॥१९॥

सनत्सुजात ने कहा—हे महाराज ! जीवात्मा और परमात्मा परस्पर अनादि योग से अभिन्न हैं। किन्तु भेद उपस्थित होने पर एकता का सम्पादन अत्यन्त दुर्घट हो जाता है। परमात्मा ही मायामय अज्ञान के संयोग से सूक्ष्म और स्थूल शरीर धारण करके जीवात्मा कहलाता है। किन्तु इस प्रकार उपाधि के भेद से उसके महत्त्व में कुछ भी अन्तर नहीं पड़ता वेद में यह निर्णय हो चुका है कि उस विकार-रहित परमात्मा की माया से ही यह विश्व प्रकट हुआ है और उसी की शक्ति इस स्वप्नतुल्य मिथ्या जगत् को यथार्थ सा दिखा रही है ॥२०।२१॥

धृतराष्ट्र ने कहा—हे महर्षिश्रेष्ठ ! इस संसार में धर्मात्मा और अधर्मी, दोनों प्रकार के मनुष्य हैं। मैं आप से पूछता हूँ कि धर्म को पाप नष्ट कर देता है या पाप को धर्म नष्ट कर देता है ? ॥२२॥

सनत्सुजात ने कहा—हे महाराज ! पुण्य और पाप दोनों के जुदे-जुदे फल हैं। संन्यास (विषय-त्याग) और उपासना के साथ किये गये कर्मों द्वारा

योवा कथयमानस्य ह्यात्मानं नानुसंज्वरेत् ।
ब्रह्मस्वं नोपभुंजीत तदन्नं संमतं सताम् ॥ ३२ ॥
यथा स्वं वांतमश्नाति श्वा वै नित्यमभूतये ।
एवं ते वांतमश्नंति स्ववीर्यस्योपसेवनात् ॥ ३३ ॥
नित्यमज्ञातचर्या मे इति मन्येत ब्राह्मणः ।
ज्ञातीनां तु वसन्मध्ये तं विदुर्ब्राह्मणं बुधाः ॥ ३४ ॥
को ह्यनंतरमात्मानं ब्राह्मणो हंतुमर्हति ।
निर्लिङ्गमचलं शुद्धं सर्वद्वैतविवर्जितम् ॥ ३५ ॥
तस्माद्धि क्षत्रियस्यापि ब्रह्मा वसति पश्यति ॥ ३६ ॥
योऽन्यथा संतमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते ।
किं तेन न कृतं पापं चौरेणाऽऽत्मापहारिणा ॥ ३७ ॥
अश्रांतः स्यादनादाता संमतो निरुपद्रवः ।
शिष्टो न शिष्टवत्स स्याद्ब्राह्मणो ब्रह्मवित्कविः ॥ ३८ ॥
अनाढ्या मानुषे वित्ते आढ्या दैवे तथा क्रतौ ।
ते दुर्धर्षा दुष्प्रकंप्यास्तान्विद्याद्ब्रह्मणस्तनुम् ॥ ३९ ॥

की आशङ्का हो उस भयानक स्थान में रहकर भी जो महात्मा अपनी महिमा और गौरव प्रकट नहीं करता है वही सबमें श्रेष्ठ है। और के गौरव या उन्नति को देखकर जिसके मन में डाह नहीं उत्पन्न होती और जो संन्यासी या ब्रह्मचारी को खिलाये बिना आप भोजन नहीं करता, उसका अन्न ही खाने लायक है। कुत्ता जैसे अपने मुँह से उगले पदार्थ को खाकर अमङ्गल का भागी होता है वैसी ही अवस्था उन संन्यासियों की है जो पाण्डित्य या महिमा दिखाकर अपनी जीविका चलाते हैं ॥३१।३३॥

जाति-भाइयों के बीच में रहकर भी जो ब्रह्मज्ञानी यह चेष्टा किया करता है कि किसी को मेरे धर्मानुष्ठान की सूचना न हो, उसी को पण्डितों ने यथार्थ ब्रह्मज्ञानी कहा है। तात्पर्य यह है कि ऐसी अज्ञातचर्या से बिना वह उपाधिरहित, अद्वैत, अनुभव से परे, असङ्ग और सर्वव्यापक परमात्मा नहीं मिल सकता। इस प्रकार की अज्ञातचर्या के प्रभाव से क्षत्रिय भी ब्रह्मज्ञानी हो सकता है ॥३४।३५॥

जो पुरुष अपने को और का और दिखाता है, वह आत्मापहारी कहलाता है। वह चोर के तुल्य पुरुष सब पाप कर सकता है। ब्राह्मण को चाहिए कि कर्त्तव्यपालन में थके नहीं, किसी से कुछ दान न ले, सबके अनुकूल रहकर उपद्रवशून्य रहे, शिष्ट होकर भी उसके लिए घमण्ड न करे। वही ब्रह्मनिष्ठ ब्रह्मज्ञ ब्राह्मण आत्मज्ञान पाकर कवि कहलाता है। ब्राह्मण वही है जो लौकिक धन से हीन (सर्वसङ्गत्यागी) होकर भी पारलौकिक सम्पत्ति (धर्म आदि) से युक्त है और ईश्वर की

साधन अनेक प्रकार के हैं। उन सबकी रक्षा करना सहज नहीं है। उन में से सत्य, सरलता, लोक-लज्जा, इन्द्रियदमन, पवित्रता और शास्त्र का ज्ञान, ये छः साधन अभिमान और मोह के शत्रु हैं ॥४१।४६॥

उद्योगपर्व का बयालीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ४२ ॥

अथ त्रिचत्वारिंशोऽध्याय ॥ ४३ ॥

धृतराष्ट्र उवाच—कस्यैष मौनः कतरन्नु मौनं प्रब्रूहि विद्वन्निह मौनभावम्।
मौनेन विद्वानुत याति मौनं कथं मुने मौनमिहाऽऽचरन्ति ॥ १ ॥
सनत्सुजात उवाच—यतो न वेदा मनसा सहैनमनुप्रविशंति ततोऽथ मौनम्।
यत्रोत्थितो वेदशब्दस्तथाऽयं स तन्मयत्वेन विभाति राजन् ॥ २ ॥
धृतराष्ट्र उवाच—ऋचो यजूंषि यो वेद सामवेदं च वेद यः।
पापानि कुर्वन्पापेन लिप्यते किं न लिप्यते ॥ ३ ॥
सनत्सुजात उवाच—नैनं सामान्यृचो वाऽपि न यजूंष्यविचक्षणम्।
त्रायन्ते कर्मणः पापान्न ते मिथ्या ब्रवीम्यहम् ॥ ४ ॥
न च्छन्दांसि वृजिनात्तारयन्ति मायाविनं मायया वर्तमानम्।
नीडं शकुन्ता इव जातपक्षाश्छन्दांस्येनं प्रजहत्यन्तकाले ॥ ५ ॥

तेंतालीसवां अध्याय ॥ ४३ ॥

धृतराष्ट्र ने पूछा—हे पण्डितप्रवर! मौन* का प्रयोजन और लक्षण क्या है? लौकिक व्यवहार-सिद्ध मौन और इस वेदोक्त मौन में कौन प्रधान है? मौनव्रत को प्राज्ञ पुरुष किस प्रकार करते हैं? और वे मौनव्रत के द्वारा निर्विकल्प पद पा सकते हैं या नहीं? ॥१॥

सनत्सुजात ने कहा—हे राजेन्द्र! परमात्मा मन और वेद दोनों से परे है। इसी से उसका नाम मौन है। जो वाणी और मन की गति से बाहर है उसकी प्राप्ति ही मौन का प्रयोजन है। बाहरी और भीतरी इन्द्रियों का दमन ही मौन है। बाहरी और भीतरी विषयों का त्याग ही मौन का लक्षण है। इस प्रकार विषयों से बचे रहना ही वाणी और मन से परे उस परम पद के पाने का प्रधान साधन है। गुरु की बताई युक्ति के अनुसार ॐकार के रूप से परब्रह्म का चिन्तन करने से मौनव्रत का अनुष्ठान होता है ॥२॥

धृतराष्ट्र ने पूछा—हे भगवन्! ऋक्, यजु और साम नाम के वेदों को जाननेवाले लोग पाप करने पर उसमें लिप्त होते हैं या नहीं ॥३॥

सनत्सुजात ने कहा—हे महाराज! साम, यजु या ऋक्, कोई भी पापकर्म से अविवेकी पुरुष की रक्षा नहीं कर सकते। मेरा यह कहना असत्य नहीं है। जो कपटव्यवहार करता है उस मायावी पुरुष के पाप को वेद किसी तरह नहीं मिटा सकते। पक्षी जैसे पङ्ख निकलने पर अपने घोंसले को छोड़कर उड़ जाते हैं वैसे ही वद भी अन्त समय कपटी पुरुष का साथ छोड़ देते हैं ॥४।५॥

*मौन=ब्रह्म, मौन रहना, इत्यादि।

तपोमूलमिदं सर्वं यन्मां पृच्छसि क्षत्रिय ।
तपसा वेदविद्वांसः परं त्वमृतमाप्नुयुः ॥ १३ ॥

धृतराष्ट्र उवाच—कल्मषं तपसो ब्रूहि श्रुतं निष्कल्मषं तपः ।
सनत्सुजात येनेदं विद्यां गुह्यं सनातनम् ॥ १४ ॥

सनत्सुजात उवाच—क्रोधादयो द्वादश यस्य दोषास्तथा नृशंसानि दशत्रि राजन्।
धर्मादयो द्वादशैते पितॄणां शास्त्रे गुणा ये विदिता द्विजानाम् ॥ १५ ॥

क्रोधः कामो लोभमोहौ विधित्साऽकृपाऽसूये मानशोकौ स्पृहा च।
ईर्ष्या जुगुप्सा च मनुष्यदोषा वर्ज्याः सदा द्वादशैते नराणाम् ॥ १६ ॥

एकैकः पर्युपास्तेह मनुष्यान्मनुजर्षभ ।
लिप्समानोऽन्तरं तेषां मृगाणामिव लुब्धकः ॥ १७ ॥

विकत्थनः स्पृहयालुर्मनस्वी बिभ्रत्कोपं चपलोऽरक्षणश्च।
एतान्पापाः षण्नराः पापधर्मान्प्रकुर्वते नो त्रसंतः सुदुर्गे ॥ १८ ॥

कैवल्यसाधन होने से 'केवल' भी कहा जा सकता है। यदि वह श्रद्धादि से युक्त होकर सकाम हो तो 'समृद्ध' कहा जाता है और जो निरे दम्भ के लिए किया जाता है वह 'असमृद्ध' है। तुम्हारा यह प्रश्न तप से सम्बन्ध रखता है। वेद के ज्ञाता लोग तप के प्रभाव से ही अमृत नाम से प्रसिद्ध मुक्ति को प्राप्त होते हैं ॥१२।१३॥

धृतराष्ट्र ने कहा—हे भगवन्! आपसे निर्दोष तपस्या का उपदेश मैं सुन चुका। अब आप मुझसे तपस्या के दोषों का वर्णन कीजिए, जिसमें यह सनातन गुह्य विषय मैं जान लूँ ॥१४॥

सनत्सुजात ने कहा—हे महाराज! क्रोध आदि बारह, और आत्मश्लाघा मिलाकर तेरह, तपस्या के दोष कहे गये हैं। ब्राह्मणों के धर्म आदि बारह गुण प्रसिद्ध हैं। मन्वादि शास्त्रों में भी उनका वर्णन पाया जाता है ॥१५॥

क्रोध, काम, लोभ, मोह, विधित्सा, अकृपा, असूया, अभिमान, शोक, स्पृहा, ईर्ष्या और निन्दा*, इन बारह दोषों से सर्वथा बचना चाहिए। बहेलिया जैसे मृगों का शिकार करने के लिए अवसर देखा करता है वैसे ही इन दोषों में से हर एक दोष मनुष्य पर आक्रमण करने के लिए घात में रहता है ॥१६।१७॥

अहङ्कारी, स्पृहा-परवश (हज़ारों यत्न करके पर-स्त्री-भोग आदि की इच्छा), पण्डितमानी, क्रोधी,

---

*क्रोध=इच्छा के रुकने से उत्पन्न गाली गलौज और मार पीट का कारण मनस्ताप, काम=स्त्री की अभिलाषा, लोभ=व्यय करने से भयभीत होना, मोह=क्या करना चाहिए और क्या नहीं, इसका विवेक न होना, विधित्सा=उत्तरोत्तर लाभ होने पर भी सन्तुष्ट न रहना, अकृपा=निर्दयता, असूया=दूसरे के गुण में दोष देखना, मान=अपने को बड़ा समझना, शोक=प्रिय वस्तु के नाश से मन की विकलता, स्पृहा=भोग्य वस्तुओं में आदर, ईर्ष्या=दूसरे का उत्कर्ष देखकर कुढ़ना।

विपर्यया: स्मृता ये ते मददोषा उदाहृताः ॥ २६ ॥
श्रेयांस्तु षड्विधस्त्यागस्तृतीयो दुष्करो भवेत्।
तेन दुःखं तरत्येव भिन्नं तस्मिन् जितं कृते ॥ २७ ॥
श्रेयांस्तु षड्विधस्त्यागः श्रियं प्राप्य न हृष्यति।
इष्टापूर्ते द्वितीयं स्यान्नित्यवैराग्ययोगतः ॥ २८ ॥
कामत्यागश्च राजेन्द्र स तृतीय इति स्मृतः।
अप्यवाच्यं वदन्त्येतं स तृतीयो गुणः स्मृतः ॥ २९ ॥
त्यक्तैर्द्रव्यैर्यद्भवति नोपयुक्तैश्च कामतः।
न च द्रव्यैस्तद्भवति नोपयुक्तैश्च कामतः ॥ ३० ॥
न च कर्मस्वसिद्धेषु दुःखं तेन च नग्लपेत्।
सर्वैरेव गुणैर्युक्तो द्रव्यवानपि यो भवेत् ॥ ३१ ॥
अप्रिये च समुत्पन्ने व्यथां जातु न गच्छति।
इष्टान्पुत्रांश्च दारांश्च न याचेत कदाचन ॥ ३२ ॥
अर्हते याचमानाय प्रदेयं तच्छुभं भवेत्।
अप्रमादी भवेदेतैः स चाऽप्यष्टगुणो भवेत् ॥ ३३ ॥
सत्यं ध्यानं समाधानं चोद्यं वैराग्यमेव च।
अस्तेयं ब्रह्मचर्यं च तथाऽसंग्रहमेव च ॥ ३४ ॥

अठारह दोष रहते हैं। त्याग छ प्रकार का है। पहला, सम्पत्ति मिलने पर हर्ष का त्याग। दूसरा, यज्ञ आदि करना और तालाब खुदवाना आदि। तीसरा, कामना (फल-प्राप्ति की इच्छा) का त्याग। इसका अनुष्ठान अत्यन्त कठिन है, किन्तु केवल इस इच्छा के त्याग से ही सब दुःख दूर हो सकते हैं। वैराग्यवश स्त्री आदि भोग की सब वस्तुओं का त्याग यथार्थ कामत्याग है। नहीं तो कामवश होकर इच्छानुसार उपभोग करने के पश्चात् उनका त्याग करने से अथवा बहुत सा धन प्राप्त कर काम्यवस्तु के लिए वह सब व्यय करने से पश्चात् निर्धन होने पर भोग का त्याग यथार्थ कामत्याग नहीं कहा जा सकता ॥२६।३०॥

जिस सब गुणों से सम्पन्न और समृद्धिशाली मनुष्य से मन में कार्य यदि सिद्ध न हो तो उसके लिए दुःख और ग्लानि नहीं होती वही वास्तव में कामत्यागी है। चौथा, अप्रिय घटना होने पर भी व्यथा का त्याग। पाँचवाँ भाई-बन्धु या पुत्र-स्त्री आदि से भी याचना का त्याग। छठा, योग्य पात्र को धन देकर शुभलाभ करना। इस प्रकार त्यागचर्या में लगे रहकर प्रमाद से बचना चाहिए। अप्रमाद के भी आठ गुण हैं। सत्य, ध्यान, समाधान, तर्क, वैराग्य, किसी तरह की चोरी न करना, ब्रह्मचर्य और

सनत्सुजात उवाच–एकस्य वेदस्याऽज्ञानाद्वेदास्ते बहवः कृताः ।
सत्यस्यैकस्य राजेन्द्र सत्ये कश्चिदवस्थितः ॥ ४३ ॥
एवं वेदमविज्ञाय प्राज्ञोऽहमिति मन्यते ।
दानमध्ययनं यज्ञो लोभादेतत्प्रवर्तते ॥ ४४ ॥
सत्यात्प्रच्यवमानानां संकल्पश्च तथा भवेत् ।
ततो यज्ञः प्रतायेत सत्यस्यैवाऽवधारणात् ॥ ४५ ॥
मनसाऽन्यस्य भवति वाचाऽन्यस्याऽथ कर्मणा ।
संकल्पसिद्धः पुरुषः संकल्पानधितिष्ठति ॥ ४६ ॥
अनैभृत्येन चैतस्य दीक्षितव्रतमाचरेत् ।
नामैतद्धातुनिर्वृत्तं सत्यमेव सतां परम् ॥ ४७ ॥
ज्ञानं वै नाम प्रत्यक्षं परोक्षं जायते तपः ।
विद्याद्बहु पठन्तं तु द्विजं वै बहुपाठिनम् ॥ ४८ ॥
तस्मात् क्षत्रिय मा मंस्था जल्पितेनैव वै द्विजम् ।
य एव सत्यान्नाऽपैति स ज्ञेयो ब्राह्मणस्त्वया ॥ ४९ ॥
छंदांसि नाम क्षत्रिय तान्यथर्वा पुरा जगौ महर्षिसंघ एषः ।

मत के अनुयायी हैं। इनमें से किसको ब्रह्मज्ञानी माना जाय? ॥४१।४२॥

सनत्सुजात ने कहा—हे महाराज ! एकमात्र ब्रह्म ही जानने योग्य और सत्यस्वरूप है। उस सत्य का यथार्थ ज्ञान न होने के कारण ही लोगों ने उपासना के अनेक मार्गों की कल्पना की है। ब्रह्म की प्राप्ति सहज में नहीं होती। सत्यस्वरूप परब्रह्म का उपासक पुरुष अत्यन्त दुर्लभ है। लोग उस नित्यानन्दरूप परमपुरुष का ज्ञान न होने के कारण ही अपने को ज्ञाता समझते हैं और बाहरी सुख की इच्छा से दान, अध्ययन, यज्ञ आदि करने में लग जाते हैं। सत्य से भ्रष्ट लोगों का सङ्कल्प भी ऐसा ही होता है ॥४३।४५॥

कोई मानस यज्ञ, कोई वाक्ययज्ञ और कोई कर्मयज्ञ करता है। सत्यसङ्कल्प ब्रह्मज्ञानी पुरुष ब्रह्मलोक आदि श्रेष्ठ लोकों में जाता है। आत्मज्ञान न होने के कारण सङ्कल्प सिद्धि न होने से लोग मस्तकमुण्डन, वाक्यसंयम आदि दीक्षाओं के नियम लेते हैं। किन्तु कर्मजनित संस्कार काल पाकर लुप्त हो जाते हैं, इसलिए श्रेष्ठ साधु पुरुष ब्रह्म को ही श्रेष्ठ पदार्थ समझते हैं; क्योंकि ब्रह्मानन्द अकृत्रिम और अविनाशी है। शोक, मोह आदि से छुटकारा मिल जाना ज्ञान का प्रत्यक्ष फल है, तप का फल परलोक में मिलता है। इसलिए केवल बहुत पढ़नेवाला बहुपाठी ब्राह्मण होने के सिवा और कुछ महत्त्व नहीं रखता। केवल पढ़ना ही ब्राह्मणत्व का कारण नहीं है। जो सत्य से

तस्य पर्येषणं गच्छेत्प्रत्यर्थिषु कथंचन ।
अविचिन्वन्निमं वेदे तपः पश्यति तं प्रभुम् ॥ ५८ ॥
तूष्णींभूत उपासीत न चेष्टेन्मनसाऽपि च ।
उपावर्तस्व तद्ब्रह्म अंतरात्मनि विश्रुतम् ॥ ५९ ॥
मौनान्न स मुनिर्भवति नाऽरण्यवसनान्मुनिः ।
स्वलक्षणं तु यो वेद स मुनिः श्रेष्ठ उच्यते ॥ ६० ॥
सर्वार्थानां व्याकरणाद्वैयाकरण उच्यते ।
तन्मूलतो व्याकरणं व्याकरोतीति तत्तथा ॥ ६१ ॥
प्रत्यक्षदर्शी लोकानां सर्वदर्शी भवेन्नरः ।
सत्ये वै ब्राह्मणस्तिष्ठंस्तद्विद्वान्सर्वविद्भवेत् ॥ ६२ ॥
धर्मादिषु स्थितोऽप्येवं क्षत्रिय ब्रह्म पश्यति ।
वेदानां चाऽनुपूर्व्येण एतद् बुद्ध्या ब्रवीमि ते ॥ ६३ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि सनत्सुजातपर्वणि सनत्सुजातवाक्ये त्रिचत्वारिंशोऽध्याय ॥४३॥

के द्वारा प्रतिपदा की चन्द्रकला का ज्ञान होता है, वैसे ही वेद की सहायता से परमात्मा के परम-पुरुषार्थ रूप यथार्थ तत्व की उपलब्धि, किसी-किसी को, हो जाती है। जो वेद-वाक्य का भावार्थ बताने में अत्यन्त निपुण है, युक्ति के साथ श्रुतिसङ्गत अर्थ की आलोचना करने में समर्थ है, स्वयं सन्देह-हीन होकर दूसरे के संशय को दूर कर सकता है वही ब्राह्मण है। पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर, ऊपर, नीचे, आस-पास, कहीं परमात्मा का पता नहीं लगता। ध्यान मग्न तपस्वी लोग ध्यानयोग के मार्ग से उसका साक्षात्कार पाते हैं ॥५३।५८॥

हे महाराज! तुम शारीरिक और मानसिक चेष्टाओं को छोड़कर, शुद्ध मन से, परब्रह्म का ध्यान करो। मौन होने से या वन में रहने से कोई मुनि नहीं होता। जो ब्रह्म को ही संसार की उत्पत्ति, स्थिति और लय का कारण जानता है तथा ब्रह्मको सच्चिदानन्द स्वरूप समझता है वही श्रेष्ठ मुनि है। जो सब विषयों का अर्थ कर सकता है—सब विषयों को प्रत्यक्ष सा देखता है—वह सर्वज्ञ वैयाकरण है। हे राजेन्द्र! जैसे सीढ़ियों पर चढ़ा जाता है वैसे ही साधक पुरुष धीरे-धीरे धर्म और वेद आदि का ज्ञान प्राप्त करता हुआ अन्त को परब्रह्म का साक्षात्कार पाता है ॥५९।६३॥

—०—

उद्योगपर्व का तेंतालीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ४३ ॥

अथ चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४४ ॥

धृतराष्ट्र उवाच—सनत्सुजात यामिमां परां त्वं ब्राह्मीं वाचं वदसे विश्वरूपाम् ।
परां हि कामेन सुदुर्लभां कथां प्रब्रूहि मे वाक्यमिदं कुमार ॥ १ ॥

शरीरमेतौ कुरुतः पिता माता च भारत ।
आचार्यशास्ता या जातिः सा पुण्या साऽजराऽमरा ॥ ८ ॥
यः प्रावृणोत्यवितथेन वर्णानृतं कुर्वन्नमृतं संप्रयच्छन् ।
तं मन्येत पितरं मातरं च तस्मै न द्रुह्येत्कृतमस्य जानन् ॥ ९ ॥
गुरुं शिष्यो नित्यमभिवादयीत स्वाध्यायमिच्छेच्छुचिरप्रमत्तः ।
मानं न कुर्यान्नादधीत रोषमेष प्रथमो ब्रह्मचर्यस्य पादः ॥ १० ॥
शिष्यवृत्तिक्रमेणैव विद्यामाप्नोति यः शुचिः ।
ब्रह्मचर्यव्रतस्याऽस्य प्रथमः पाद उच्यते ॥ ११ ॥
आचार्यस्य प्रियं कुर्यात्प्राणैरपि धनैरपि ।
कर्मणा मनसा वाचा द्वितीयः पाद उच्यते ॥ १२ ॥
समा गुरौ यथा वृत्तिर्गुरुपत्न्यां तथाऽऽचरेत् ।
तत्पुत्रे च तथा कुर्वन् द्वितीयः पाद उच्यते ॥ १३ ॥
आचार्येणाऽऽत्मकृतं विजानञ्ज्ञात्वा चाऽर्थं भावितोऽस्मीत्यनेन ।
यन्मन्यते तं प्रतिहृष्टबुद्धिः स वै तृतीयो ब्रह्मचर्यस्य पादः ॥ १४ ॥
नाऽचार्यस्याऽनपाकृत्य प्रवासं प्राज्ञः कुर्वीत नैतदहं करोमि ।

में लीन होते हैं । जो लोग सत्वगुण ग्रहण करके ब्रह्मपद पाने की प्रत्याशा से जाड़ा-गर्मी आदि द्वन्द्वों को सहते और विषय-वासना को छोड़ते हैं उनका आत्मा, मूज से सिंकों की तरह, शरीर से पृथक् हो जाता है । पिता और माता पहले शरीर को उत्पन्न करते हैं । उसके पश्चात् आचार्य के उपदेश के प्रभाव से ब्रह्म-प्राप्तिरूप दूसरा जन्म होता है । वह जन्म अजर, अमर और पवित्र है । जो अनुशासन के द्वारा ब्रह्म का प्रतिपादन करते हैं और उसका फल मोक्ष देकर सबका द्वैतमय मिटाते और सबकी रक्षा करते हैं, वे गुरुदेव ही सच्चे माता-पिता हैं, शिष्य को उनका कृतज्ञ रहकर कभी उन से विद्रोह या विरोध नहीं करना चाहिए । तात्पर्य यह है कि अभिमान और क्रोध छोड़कर, पवित्र और सावधान होकर, स्वाध्यायपाठ और नित्य गुरु की वन्दना करना शिष्य का सबसे बड़ा और पहला कर्तव्य है । यही ब्रह्मचर्य की पहली सीढ़ी है । जो मनुष्य जीविका के लिए गुरु के भरोसे न रहकर, स्वयं पवित्र होकर, प्रातः और सायं भिक्षा के द्वारा अपनी जीविका चलाते हुए विद्यालाभ करते हैं, उनका वह अनुष्ठान भी ब्रह्मचर्य की पहली सीढ़ी कहा जाता है ॥६।११॥

मन-वाणी काया से, मन और धन समर्पण करके भी, आचार्य का प्रिय करना ब्रह्मचर्य की दूसरी सीढ़ी है । गुरु की तरह गुरु की पत्नी और गुरुपुत्र से भी व्यवहार करना चाहिए । यह भी ब्रह्मचर्य की दूसरी सीढ़ी है ॥१२।१३॥

आचार्य विद्यादान आदि के द्वारा जो उपकार

आकांक्ष्याऽर्थस्य संयोगादसभेदार्थिनामिव ।
एवं ह्येते समाज्ञाय तादृग्भावं गता इमे ॥ २२ ॥
य आश्रयेत्पावयेच्चापि राजन्सर्वं शरीरं तपसा तप्यमानः ।
एतेन वै बाल्यमभ्येति विद्वान्मृत्युं तथा स जयत्यंतकाले ॥ २३ ॥
अन्तवतः क्षत्रिय ते जयंति लोकाञ्जनाः कर्मणा निर्मलेन ।
ब्रह्मैव विद्वांस्तेन चाऽभ्येति सर्वं नाऽन्यः पन्था अयनाय विद्यते ॥ २४ ॥
धृतराष्ट्र उवाच–आभाति शुक्लमिव लोहितमिवाऽथो कृष्णमथांजनं काद्रवं वा।
सद्ब्रह्मणः पश्यति योऽत्र विद्वान्कथंरूपं तदमृतमक्षरं पदम् ॥ २५ ॥
सनत्सुजात उवाच–आभाति शुक्लमिव लोहितमिवाऽथो कृष्णमायसमर्कवर्णम्।
न पृथिव्यां तिष्ठति नाऽन्तरिक्षे नैतत्समुद्रे सलिलं बिभर्ति ॥ २६ ॥
न तारकासु न च विद्युदाश्रितं न चाऽभ्रेषु दृश्यते रूपमस्य ।
न चापि वायौ न च देवतासु नैतच्चंद्रे दृश्यते नोत सूर्ये ॥ २७ ॥
नैवर्क्षु तन्न यजुष्षु नाऽप्यथर्वसु न दृश्यते वै विमलेषु सामसु ।
रथंतरे बार्हद्रथे वाऽपि राजन्महाव्रते नैव दृश्येद् ध्रुवं तत् ॥ २८ ॥

इस ब्रह्मचर्य से ही गन्धर्वों और अप्सराओं को रूप मिला है। इसी ब्रह्मचर्य के बल से सूर्यदेव ऐसे तेजस्वी होकर उदय की समृद्धि दिखाते हैं। अभीष्ट फल देनेवाले चिन्तामणि के समान इस ब्रह्मचर्य को जिन्होंने प्राप्त कर लिया है वे देवताओं से वाञ्छित पदार्थ प्राप्त करते हैं ॥२१।२२॥

जो तपस्या के साथ चार चरणों से युक्त ब्रह्मचर्य को धारण करते हैं वे राग-द्वेष आदि से शून्य और तत्त्वज्ञान के लाभ में समर्थ होकर अन्त को मृत्यु को जीत सकते हैं। हे राजेन्द्र! ब्रह्मविद्या से शून्य पुरुष भी विशुद्ध कर्मों के अनुष्ठान के बल से अनित्य लोकों को जीत लेते हैं; किन्तु विद्वान् व्यक्ति विज्ञान के प्रभाव से विश्वात्मा ब्रह्म को ही प्राप्त करता है। तात्पर्य यह है कि ज्ञान ही मुक्तिलाभ का अद्वितीय उपाय है ॥२३।२४॥

धृतराष्ट्र ने कहा—हे भगवन्! मैंने सुना है कि ब्रह्मदर्शी पुरुष के हृदय में ब्रह्म का रूप श्वेत, लाल, श्याम, कज्जल, धूम्र या पिङ्गल रङ्ग का सा भासित होता है। कृपा कर बताइए कि उस सर्वमय नित्य परमात्मा का रूप किस प्रकार का है ॥२५॥

सनत्सुजात ने कहा—हे धृतराष्ट्र! ब्रह्म का रूप श्वेत, लाल, श्याम, धूम्र या पिङ्गल रङ्ग का सा अवश्य भासित होता है; किन्तु वह पृथ्वी, अन्तरिक्ष, सागरजल, तारागण, बिजली, मेघमाला, वायुचक्र, देवलोक आदि किसी स्थान में विद्यमान नहीं है। वह सूर्यमण्डल में, चन्द्रमण्डल में, ऋक्, यजुः, साम, अथर्व आदि वेदों में या रथन्तर, बार्हद्रथ या महाव्रत यज्ञों में, कहीं नहीं देख पड़ता। क्योंकि वह ब्रह्म नित्य है, नाम और रूप से रहित है, अनतिक्रमणीय है और अज्ञानरूप उपाधि से अतीत है।

नृशंसधर्माः षडिमे जना वै प्राप्याऽप्यर्थं नोत सभाजयंते ॥ ३ ॥
संभोगसंविद्विषमोऽतिमानी दत्त्वा विकत्थी कृपणो दुर्बलश्च ।
बहुप्रशंसी वनिताद्विट् सदैव सप्तैवोक्ताः पापशीला नृशंसाः ॥ ४ ॥
धर्मश्च सत्यं च तपो दमश्च अमात्सर्यं ह्रीस्तितिक्षाऽनसूया ।
दानं श्रुतं चैव धृतिः क्षमा च महाव्रता द्वादश ब्राह्मणस्य ॥ ५ ॥
यो नैतेभ्यः प्रच्यवेद् द्वादशभ्यः सर्वामपीमां पृथिवीं स शिष्यात् ।
त्रिभिर्द्वाभ्यामेकतो वाऽर्थितो यो नाऽस्य स्वमस्तीति च वेदितव्यम् ॥ ६ ॥
दमस्त्यागोऽथाऽप्रमाद इत्येतेष्वमृतं स्थितम् ।
एतानि ब्रह्ममुख्यानां ब्राह्मणानां मनीषिणाम् ॥ ७ ॥
सद्वाऽसद्वा परीवादो ब्राह्मणस्य न शस्यते ।
नरकप्रतिष्ठास्ते स्युर्य एवं कुर्वते जनाः ॥ ८ ॥
मदोऽष्टादशदोषः स स्यात्पुरा योऽप्रकीर्तितः ।
लोकद्वेष्यं प्रातिकूल्यमभ्यसूया मृषा वचः ॥ ९ ॥
कामक्रोधौ पारतंत्र्यं परिवादोऽथ पैशुनम् ।
अर्थहानिर्विवादश्च मात्सर्यं प्राणपीडनम् ॥ १० ॥

में कोप को छिपाये रखनेवाला और अहङ्कारी, ये छः मनुष्य प्राप्त अर्थ का समुचित व्यवहार नहीं करते; बल्कि ये लोग सज्जनों का अपमान किया करते हैं ॥१।३॥

जो मनुष्य स्त्रीसङ्ग को ही परम पुरुषार्थ समझकर दुर्व्यवस्थित होता है, जो अत्यन्त अहङ्कारी है, जो मनुष्य दान करके अपनी प्रशंसा आप करता है, जो कञ्जूस है, जो बलपूर्वक दूसरे का अनिष्ट करता है, जो अपनी अधिक प्रशंसा करता है और जो स्त्री से द्वेष रखता है, ये सात मनुष्य भी निन्दनीय हैं । धर्म, सत्य, तप, इन्द्रियदमन, मत्सरहीनता, लोकलज्जा, क्षमा, असूया का त्याग, दान, शास्त्रज्ञान, धैर्य और सहनशीलता, ये बारह—ब्रह्मज्ञानी के महाव्रत हैं ॥४।५॥

जो इन बारह गुणों को नहीं छोड़ता वह सारी पृथ्वी का अधीश्वर हो सकता है । इनमें से तीन, दो या एक भी गुण जिसमें होता है, उस व्यक्ति की दृष्टि में संसार की कोई भी वस्तु उक्त गुण की समता नहीं कर सकती । दम, त्याग और अप्रमाद, ये तीन मोक्ष की सीढ़ियाँ हैं । विवेकी ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मण ही इनके अधिकारी हो सकते हैं ॥६।७॥

सत्य हो या मिथ्या, किसी के दोष को कहना ब्रह्मज्ञानी का कर्तव्य नहीं है । किसी का दोष कहने से अवश्य नरक की गति प्राप्त होती है । पहले इतना कहा जा चुका है कि मद के अठारह दोष हैं । अब उन दोषों का स्पष्ट वर्णन तुमको सुनाता हूँ । पराई स्त्री आदि को हर लेना, धर्म आदि में विघ्न डालना, गुणी पुरुषों पर दोषारोपण

अस्मिन्योगे सर्वमिदं प्रतिष्ठितं ये तद्विदुरमृतास्ते भवंति ॥ १८ ॥
न कर्मणा सुकृतेनैव राजन्सत्यं जयेज्जुहुयाद्वा यजेद्वा ।
नैतेन बालोऽमृत्युमभ्येति राजन् रतिं चाऽसौ न लभत्यंतकाले ॥ १९ ॥
तूष्णीमेक उपासीत चेष्टेत मनसाऽपि न ।
तथा संस्तुतिनिंदाभ्यां प्रीतिरोषौ विवर्जयेत् ॥ २० ॥
अत्रैव तिष्ठन् क्षत्रिय ब्रह्माऽऽविशति पश्यति ।
वेदेषु चाऽनुपूर्व्येण एतद्विद्वन्ब्रवीमि ते ॥ २१ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि सनत्सुजातपर्वणि सनत्सुजातवाक्ये पंचचत्वारिंशोऽध्यायः॥ ४५ ॥

कोई कर्म का यज्ञ करता है ? सत्यसङ्कल्पवाला पुरुष ही ब्रह्म को पाता है ॥१२।१७॥

हे राजेन्द्र ! यह मेरा कहा हुआ योगशास्त्र का सारांश ब्रह्म की प्राप्ति का कारण है । यह यश को बढ़ानेवाला प्रसन्न शिष्यों को पढ़ाना चाहिए। पण्डितों का कहना है कि इस शास्त्र के सिवा और सब शास्त्र वाक्य-विकार मात्र हैं । सभी विषय योग के अधीन हैं । योगशास्त्र में अभिज्ञ पुरुष ही मुक्ति प्राप्त करता है । कर्म के अच्छी तरह अनुष्ठान से भी ब्रह्म की प्राप्ति नहीं होती । अविद्वान् पुरुष के किये हुए यज्ञ या हवन से मोक्ष या परलोक का आनन्द नहीं मिल सकता । इस प्रकार चुपचाप अकेले ब्रह्म की उपासना करनी चाहिए । मन की चेष्टाओं को भी छोड़ देना चाहिए। स्तुति से प्रसन्न और निन्दा से क्रोधित न हो । ब्राह्मण का यही धर्म है । साङ्गोपाङ्ग वेद का अनुशीलन करने से क्रमशः इसी लोक में ब्रह्म का साक्षात्कार पाकर साधक तन्मय हो सकता है ॥१८।२१॥

उद्योगपर्व का पैंतालीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ४५ ॥

अथ षट्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४६ ॥

सनत्सुजात उवाच—यत्तच्छुक्रं महज्ज्योतिर्दीप्यमानं महद्यशः ।
तद्वै देवा उपासते तस्मात्सूर्यो विराजते ।
योगिनस्तं प्रपश्यंति भगवंतं सनातनम् ॥ १ ॥
शुक्राद्ब्रह्म प्रभवति ब्रह्म शुक्रेण वर्द्धते ।

छियालीसवा अध्याय ॥ ४६ ॥

सनत्सुजात ने कहा—हे राजेन्द्र ! महाज्योति और महाशय के नाम से प्रसिद्ध और प्रकाशमान "शुक्र" की उपासना सब देवता करते है । उसी से सूर्य भी इतने तेजस्वी और प्रकाशशलि हैं । योगी लोग ही उन सनातन भगवान् शुक्र के दर्शन पाते हैं । शुक्र से ब्रह्म की उत्पत्ति और वृद्धि होती है । वह शुक्र सूर्य आदि ज्योतिर्मय पदार्थों को ताप पहुँचाता है । वह किसी के द्वारा प्रकाश नहीं पाता, बल्कि वही सबको प्रकाश पहुँचाता है । योगी लोग ही उन सनातन भगवान् शुक्र को देख

ईशानः सर्वभूतेषु हविर्भूतमकल्पयत् ।
योगिनस्तं प्रपश्यंति भगवंतं सनातनम् ॥ ८ ॥
हिरण्यपर्णमश्वत्थमभिपद्य ह्यपक्षकाः ।
ते तत्र पक्षिणो भूत्वा प्रपतंति यथादिशम् ।
योगिनस्तं प्रपश्यंति भगवंतं सनातनम् ॥ ९ ॥
पूर्णात्पूर्णान्युद्धरंति पूर्णात्पूर्णानि चक्रिरे ।
हरंति पूर्णात्पूर्णानि पूर्णमेवाऽवशिष्यते ।
योगिनस्तं प्रपश्यंति भगवंतं सनातनम् ॥ १० ॥
तस्माद्वै वायुरायातस्तस्मिंश्च प्रयतः सदा ।
तस्मादग्निश्च सोमश्च तस्मिंश्च प्राण आततः ॥ ११ ॥
सर्वमेव ततो विद्यात्तत्वक्तुं न शक्नुमः ।
योगिनस्तं प्रपश्यंति भगवंतं सनातनम् ॥ १२ ॥
अपानं गिरति प्राणः प्राणं गिरति चंद्रमाः ।
आदित्यो गिरते चंद्रमादित्यं गिरते परः ।
योगिनस्तं प्रपश्यंति भगवंतं सनातनम् ॥ १३ ॥
एकं पादं नोत्क्षिपति सलिलाद्धंस उच्चरन् ।
योगिनस्तं प्रपश्यंति भगवंतं सनातनम् ॥ १४ ॥

उसी शुक्र नाम के अधिष्ठान में विचरते हैं । योगी लोग ही उस सनातन भगवान् को देख पाते हैं । जो जीव परलोक में कर्म का आधा फल भोगकर आधा फल भोगने के लिए इस लोक में जन्म लेता है और सभी प्राणियों में अन्तर्यामी के रूप से स्थित है, वही यज्ञ आदि का प्रवर्तक है । योगीजन ही उस सनातन पुरुष को देखते हैं । अविद्या एक वृक्ष है, स्त्री-पुत्र आदि उसके पत्ते हैं और चिदात्मारूप पक्ष-हीन पक्षी उस पर बैठा हुआ है । पङ्ख निकलने पर वह इच्छा के अनुसार अनेक स्थानों में विचरता है । योगीजन ही उस सनातन भगवान् को देख पाते है । पूर्णस्वरूप पूर्ण स्वरूप का क्रमश: उद्धार, निर्माण और संहार करता है । अन्त को एकमात्र पूर्ण ही बच रहता है । योगी लोग उस सनातन पुरुष का साक्षात्कार प्राप्त करते हैं ॥६।१०॥

वायु उसी से उत्पन्न होकर उसी में लीन होता है । अग्नि, सोम और प्राण की भी उत्पत्ति उसी से हुई है । तात्पर्य यह है कि वह पूर्णस्वरूप सभी वस्तुओं की उत्पत्ति का स्थान और वाणी से परे है । योगीजन ही उस सनातन पुरुष के दर्शन पाते हैं । अपानवायु प्राणवायु में, प्राण मन में, मन बुद्धि में और बुद्धि परमात्मा में लीन होती है । योगीजन

न दर्शने तिष्ठति रूपमस्य पश्यंति चैनं सुविशुद्धसत्वाः ।
हितो मनीषी मनसा न तप्यते ये प्रव्रजेयुरमृतास्ते भवंति ।
योगिनस्तं प्रपश्यंति भगवंतं सनातनम् ॥ २० ॥
गूहंति सर्पा इव गह्वराणि स्वशिक्षया स्वेन वृत्तेन मर्त्याः ।
तेषु प्रमुह्यंति जना विमूढा यथाऽध्वानं मोहयंते भयाय ।
योगिनस्तं प्रपश्यंति भगवंतं सनातनम् ॥ २१ ॥
नाऽहं सदाऽसत्कृतः स्यां न मृत्युर्नचाऽमृत्युरमृतं मे कुतः स्यात् ।
सत्यानृते सत्यसमानबंधे सतश्च योनिरसतश्चैक एव ।
योगिनस्तं प्रपश्यंति भगवन्तं सनातनम् ॥ २२ ॥
न साधुना नोत असाधुना वाऽसमानमेतद् दृश्यते मानुषेषु ।
समानमेतदमृतस्य विद्यादेवं युक्तो मधु तद्वै परीप्सेत् ।
योगिनस्तं प्रपश्यंति भगवन्तं सनातनम् ॥ २३ ॥
नाऽस्याऽतिवादा हृदयं तापयंति नाऽनधीतं नाऽऽहुतमग्निहोत्रम् ।
मनो ब्राह्मी लघुतामादधीत प्रज्ञां चाऽस्मै नाम धीरा लभंते ।
योगिनस्तं प्रपश्यंति भगवन्तं सनातनम् ॥ २४ ॥

अनन्तपक्षयुक्त है और मन की तरह वेग से गमन करता है वही अन्त स्थित अन्तरात्मा को प्राप्त होता है । योगीजन ही उस सनातन पुरुष को देख पाते हैं । परमात्मा का रूप अदृश्य है किन्तु विशुद्ध सत्व-सम्पन्न होने से उसका दर्शन होता है । जो पुरुष सबका सुहृद् और इन्द्रियदमन में तत्पर होकर, पुत्र-स्त्री आदि के वियोग म भी व्याकुल न होकर, सन्यास धारण करता है वह मुक्ति को पाता है । योगीजन ही उस मुक्तिदाता भगवान् को दखते हैं ॥१९।२०॥

शिक्षा और स्वभाव के कौशल से मनुष्य अपने पाप कर्मों को छिपाते हैं और मूढ जन बाहर से अच्छे देख पड़नेवाले विषयों में आप आसक्त होकर औरों को भी उनकी ओर लगाते हैं । किन्तु योगीजन साधुसङ्ग-प्राप्ति की प्रत्याशा से उस सनातन भगवान् के दर्शन करते हैं । मैं सुख दु ख, जरा मरण आदि के हाथ से छुटकारा पा चुका हूँ । इस कारण जन्म मरण से भी अतीत हूँ । इसलिए मुझे मोक्ष प्राप्ति की भी इच्छा नहीं है, क्योंकि ईश्वर में ही सत्य मिथ्या और सत्-असत् सबका अन्त है । योगी जन ही उस सनातन पुरुष के दर्शन पाते हैं । कार्यवश मनुष्य में ही उत्कर्ष और अपकर्ष देखा जाता है, चैतन्यरूपी परब्रह्म में यह कुछ नहीं है । तात्पर्य यह है कि परब्रह्म उत्कृष्ट या अपकृष्ट नहीं है । वह स्वय अमृतस्वरूप और सर्वदा समदर्शी है । पाप या पुण्य उसे छू नहीं सकता । हे राजेन्द्र ! तुम उसी ब्रह्म को पाने का प्रयत्न करो । योगीजन ही उस

अथ यानसंधिपर्व ॥

अथ सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४७ ॥

वैशम्पायन उवाच—एवं सनत्सुजातेन विदुरेण च धीमता ।
सार्धं कथयतो राज्ञः सा व्यतीयाय शर्वरी ॥ १ ॥
तस्यां रजन्यां व्युष्टायां राजानः सर्व एव ते ।
सभामाविविशुर्हृष्टाः सूतस्योपादिदृक्षया ॥ २ ॥
शुश्रूषमाणाः पार्थानां वाचो धर्मार्थसंहिताः ।
धृतराष्ट्रमुखाः सर्वे ययू राजसभां शुभाम् ॥ ३ ॥
सुधावदातां विस्तीर्णां कनकाजिरभूषिताम् ।
चंद्रप्रभां सुरुचिरां सिक्तां चंदनवारिणा ॥ ४ ॥
रुचिरैरासनैः स्तीर्णां कांचनैर्दारवैरपि ।
अश्मसारमयैर्दान्तैः स्वास्तीर्णैः सोत्तरच्छदैः ॥ ५ ॥
भीष्मो द्रोणः कृपः शल्यः कृतवर्मा जयद्रथः ।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सोमदत्तश्च बाह्लिकः ॥ ६ ॥
विदुरश्च महाप्राज्ञो युयुत्सुश्च महारथः ।
सर्वे च सहिताः शूराः पार्थिवा भरतर्षभ ॥ ७ ॥
धृतराष्ट्रं पुरस्कृत्य विविशुस्तां सभां शुभाम् ।
दुःशासनश्चित्रसेनः शकुनिश्चापि सौबलः ॥ ८ ॥
दुर्मुखो दुःसहः कर्ण उलूकोऽथ विविंशतिः ।
कुरुराजं पुरस्कृत्य दुर्योधनममर्षणम् ॥ ९ ॥

सैंतालीसवां अध्याय ॥ ४७ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! इस प्रकार विदुर और सनत्सुजात से बातचीत करने में ही धृतराष्ट्रने वह रात्रि व्यतीत कर दी । प्रातःकाल होने पर सब प्रसन्नचित्त राजा लोग सञ्जय की बातें सुनने के लिए कौरवों की सभा में आये । वह सभाभवन उज्वल, लम्बा चौड़ा, अनेक वस्त्र मालाओं से शोभित, सुवर्ण के चबूतरों से अलंकृत और सुगन्धित जल के छिड़काव से शीतल था । उसमें सुवर्ण, लकड़ी, पत्थर और हाथीदांत के आसन चारों ओर पड़े हुए थे । वहाँ धृतराष्ट्र के साथ भीष्म, द्रोण, कृप, शल्य, कृतवर्मा, जयद्रथ, अश्वत्थामा, विकर्ण, सोमदत्त, बाह्लीक, महात्मा विदुर, महारथी युयुत्सु और अन्य शूर वीर राजाओं ने प्रवेश किया। उसके पश्चात् दुर्योधन के साथ दुःशासन, चित्रसेन,

अथ अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४८ ॥

धृतराष्ट्र उवाच—पृच्छामि त्वां संजय राजमध्ये किमब्रवीद्वाक्यमदीनसत्त्वः।
धनंजयस्तात युधां प्रणेता दुरात्मनां जीवितच्छिन्महात्मा ॥ १ ॥

संजय उवाच—दुर्योधनो वाचमिमां शृणोतु यदब्रवीदर्जुनो योत्स्यमानः।
युधिष्ठिरस्याऽनुमते महात्मा धनंजयः शृण्वतः केशवस्य ॥ २ ॥
अन्वत्रस्तो बाहुवीर्यं विदान उपह्वरे वासुदेवस्य धीरः ।
अवोचन्मां योत्स्यमानः किरीटी मध्ये ब्रूया धार्तराष्ट्रं कुरूणाम् ॥ ३ ॥
संशृण्वतस्तस्य दुर्भाषिणो वै दुरात्मनः सूतपुत्रस्य सूत ।
यो योद्धुमाशंसति मां सदैव मंदप्रज्ञः कालपक्वोऽतिमूढः ॥ ४ ॥
ये वै राजानः पांडवा योधनाय समानीताः शृण्वतां चापि तेषाम्।
यथा समग्रं वचनं मयोक्तं सहामात्यं श्रावयेथा नृपं तत् ॥ ५ ॥
यथा नूनं देवराजस्य देवाः शुश्रूषंते वज्रहस्तस्य सर्वे ।
तथाऽशृण्वन्पांडवाः सृंजयाश्च किरीटिना वाचमुक्तां समर्थाम्॥ ६ ॥
इत्यब्रवीदर्जुनो योत्स्यमानो गांडीवधन्वा लोहितपद्मनेत्रः ।
न चेद्राज्यं मुंचति धार्तराष्ट्रो युधिष्ठिरस्याऽऽजमीढस्य राज्ञः ॥ ७ ॥
अस्ति नूनं कर्म कृतं पुरस्तादनिर्विष्टं पापकं धार्तराष्ट्रैः ।
येषां युद्धं भीमसेनार्जुनाभ्यां तथाऽश्विभ्यां वासुदेवेन चैव ॥ ८ ॥

अड़तालीसवां अध्याय ॥ ४८ ॥

धृतराष्ट्र ने कहा—हे सञ्जय ! सब राजाओं के सामने मैं तुमसे पूछता हूँ कि उन योद्धा पुरुषों के नेता, दुरात्मा पुरुषों का जीवन हरनेवाले, उत्साही अर्जुन ने क्या कहा है ? ॥१॥

सञ्जय ने कहा—युद्ध की इच्छा रखनेवाले वीर अर्जुन ने युधिष्ठिर की आज्ञा से श्रीकृष्ण के सामने मुझसे जो कहा है वह मैं राजा दुर्योधन को सुनाता हूँ । निर्भय अर्जुन ने मुझसे कहा है—हे सञ्जय ! जिन दुर्वचन बोलनेवाले, दुरात्मा, मूढ़ सूत-पुत्र कर्ण ने मृत्यु निकट आने के कारण मुझसे युद्ध की इच्छा प्रकट की है और जो राजा लोग पाण्डवों से युद्ध करने आये हैं, उनके आगे दुर्योधन और उनके मन्त्रियों से कहना कि क्रोध से लाल नेत्र करके गाण्डीव धनुष धारण करनेवाले अर्जुन ने, देवमण्डली में स्थित वज्रपाणि इन्द्र की तरह, पाण्डवों और सृञ्जयों के सामने कहा है—यदि दुर्योधन अजमीढ़ वंश में उत्पन्न महाराज युधिष्ठिर को उनका राज्य नहीं देंगे तो मैं समझूँगा कि धृतराष्ट्र के पुत्रों के भोगने के लिए उनका पूर्व जन्म का पाप अभी शेष है । उसी का फल भोगने के लिए भीमसेन, अर्जुन, नकुल, सहदेव, श्रीकृष्ण,

सेनाग्रगं दंशितं भीमसेनं स्वालक्षणं वीरहणं परेषाम् ।
घ्नंतं चमूमंतकसन्निकाशं तदा स्मर्ता वचनस्याऽतिमानी ॥ १७ ॥
यदा द्रष्टा भीमसेनेन नागान् निपातितान् गिरिकूटप्रकाशान् ।
कुंभैरिवाऽसृग्वमतो भिन्नकुंभांस्तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ॥ १८ ॥
महासिंहो गाव इव प्रविश्य गदापाणिर्धार्तराष्ट्रानुपेत्य ।
यदा भीमो भीमरूपो निहंता तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ॥ १९ ॥
महाभये वीतभयः कृतास्त्रः समागमे शत्रुबलावमर्दी ।
सकृद्रथेनाऽप्रतिमान् रथौघान् पदातिसंघान् गदयाऽभिनिघ्नन् ॥ २० ॥
शैक्येन नागांस्तरसा निगृह्णन् यदा छेत्ता धार्तराष्ट्रस्य सैन्यम् ।
छिंदन्वनं परशुनेव शूरस्तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ॥ २१ ॥
तृणप्रायं ज्वलनेनेव दग्धं ग्रामं यथा धार्तराष्ट्रान् समीक्ष्य ।
पक्वं सस्यं वैद्युतेनेव दग्धं परासिक्तं विपुलं स्वं बलौघम् ॥ २२ ॥
हतप्रवीरं विमुखं भयार्तं पराङ्मुखं प्रायशोऽधृष्टयोधम् ।
शस्त्रार्चिषा भीमसेनेन दग्धं तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ॥ २३ ॥
उपासंगानाचरेद्दक्षिणेन वरांगानां नकुलश्चित्रयोधी ।

संहार करेंगे तब दुर्योधन को पछताना पड़ेगा॥१४।१५।

जब दुर्योधन देखेंगे कि साक्षात् काल के समान महाबली, पराक्रमी, गदा-पाणि, शत्रु-सेना का नाश करनेवाले भीमसेन कवच पहनकर भीमवेश से रथ पर सवार हैं और शत्रु-सेना के सामने पहुंचकर क्रोध का दारुण विष उगल रहे हैं, तब उनको पछताकर मेरा कहा स्मरण करना पड़ेगा ॥१६।१७॥

जब दुर्योधन देखेंगे कि भीमसेन पर्वत-शिखर ऐसे हाथियों को गिरा रहे हैं, उन हाथियों के फटे हुए मस्तकों से रक्त बह रहा है, तब उन्हें अवश्य पछताना पड़ेगा ॥१८॥

जब महाबली भयंकर स्वभाववाले भीमसेन, गायों के झुण्ड में घुसे हुए सिंह की तरह, सेना में घुसकर धृतराष्ट्र के पुत्रों का संहार करेंगे, तब दुर्योधन को पछताना पड़ेगा ॥१९॥

जब अस्त्र-विद्या में सुशिक्षित वीर भीमसेन अकेले रथ पर बैठकर रथों और पैदलों का विध्वंस करेंगे, सांड़े से वेग के साथ हाथियों को काटेंगे और कुल्हाड़ी से कटे हुए वन की तरह दुर्योधन की सेना को छिन्न-भिन्न करेंगे, तब दुर्योधन को इस युद्ध के लिए पछताना पड़ेगा ॥२०।२१॥

जब दुर्योधन देखेंगे कि भीमसेन शस्त्र की अग्नि से, फूस के बने झोपड़ोंवाले गांव की तरह, उनकी सेना को भस्म कर रहे हैं और महाबली पराक्रमी योद्धा लोग भय के मारे रणभूमि छोड़-छोड़कर भागे चले जा रहे हैं, तब युद्ध के लिए उनको पछताना

यदाऽभिमन्युः परवीरघाती शरैः परान्मेघ इवाऽभिवर्षन् ।
विगाहिता कृष्णसमः कृतास्त्रस्तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ॥ ३२ ॥
यदा द्रष्टा बालमबालवीर्यं द्विषच्चमूं मृत्युमिवोत्पतंतम् ।
सौभद्रमिंद्रप्रतिमं कृतास्त्रं तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ॥ ३३ ॥
प्रभद्रकाः शीघ्रतरा युवानो विशारदाः सिंहसमानवीर्याः ।
यदा क्षेप्तारो धार्तराष्ट्रान्ससैन्यांस्तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ॥ ३४ ॥
वृद्धौ विराटद्रुपदौ महारथौ पृथक्चमूभ्यामभिवर्तमानौ ।
यदा द्रष्टारौ धार्तराष्ट्रान्ससैन्यांस्तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ॥ ३५ ॥
यदा कृतास्त्रो द्रुपदः प्रचिन्वन् शिरांसि यूनां समरे रथस्थः ।
क्रुद्धः शरैश्छेत्स्यति चापमुक्तैस्तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ॥ ३६ ॥
यदा विराटः परवीरघाती ममत्तरे शत्रुचमूं प्रवेष्टा ।
मत्स्यैः सार्धमनृशंसरूपैस्तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ॥ ३७ ॥
ज्येष्ठं मात्स्यमनृशंसार्यरूपं विराटपुत्रं रथिनं पुरस्तात् ।
यदा द्रष्टा दंशितं पांडवार्थे तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ॥ ३८ ॥

शकुनि पर जब आक्रमण करेंगे और उनके प्रहार से कौरवों की सेना इधर-उधर भाग खड़ी होगी, तब दुर्योधन को युद्ध के लिए पछताना पड़ेगा ॥३०॥

जब महाधनुर्द्धर, कृतास्त्र, युद्धविशारद द्रौपदी के पुत्र तीक्ष्ण विषवाले काले नागों की तरह समरभूमि में उतरेंगे, तब दुर्योधन को युद्ध के लिए पछताना पड़ेगा ॥३१॥

जब श्रीकृष्ण के तुल्य अस्त्र निपुण और शत्रुनाशन अभिमन्यु वर्षा की तरह बाण-वर्षा करके शत्रुसेना का संहार करेंगे, तब दुर्योधन को युद्ध के लिए पछताना पड़ेगा ॥३२॥

बालक होकर भी युवा की भांति जिस समय सुभद्रा अभिमन्यु को कालरूप पुत्र के समान शत्रु सेना के ऊपर गिरता हुआ दुर्योधन देखेगा तब दुर्योधन को युद्ध के लिए पछताना पड़ेगा ॥३३॥

सिंह-सदृश वीर्यशाली, फुरतीले, युद्धविशारद प्रभद्रक नाम के युवक योद्धा जब सेना-सहित धृतराष्ट्र के पुत्रों को मार भगायेंगे, तब दुर्योधन को युद्ध के लिए पछताना पड़ेगा ॥३४॥

जब सेना-सहित कौरवगण महारथी राजा विराट और राजा द्रुपद को अलग-अलग अपनी सेना लेकर युद्धभूमि में आते देखेंगे तब दुर्योधन को युद्ध के लिए पछताना पड़ेगा ॥३५॥

अस्त्रविद्या में निपुण राजा द्रुपद जब रथ पर चढ़कर, क्रोध से विह्वल होकर, अनायास बाणों से नौजवानों के सिर काटेंगे तब दुर्योधन को युद्ध के लिए पछताना पड़ेगा ॥३६॥

जब शत्रुदमन राजा विराट अपने पुत्र उत्तर और मत्स्यदेश के सजीले सैनिकों के साथ शत्रुसेना में प्रवेश करेंगे, तब दुर्योधन को युद्ध के लिए

प्रच्छादयिष्यत्यरिहा योधमुख्यांस्तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत्॥ ४६ ॥
यदा धृतिं कुरुते योत्स्यमानः स दीर्घबाहुर्दृढधन्वा महात्मा ।
सिंहस्येव गंधमाघ्राय गावः संवेष्टंते शत्रवोऽस्माद्रणाग्रे ॥ ४७ ॥
स दीर्घबाहुर्दृढधन्वा महात्मा भिंद्याद्गिरीन्संहरेत्सर्वलोकान् ।
अस्त्रे कृती निपुणः क्षिप्रहस्तो दिवि स्थितः सूर्य इवाऽभिभाति ॥ ४८ ॥
चित्रः सूक्ष्मः सुकृतो यादवस्य अस्त्रे योगो वृष्णिसिंहस्य भूयान् ।
यथाविधं योगमाहुः प्रशस्तं सर्वैर्गुणैः सात्यकिस्तैरुपेतः ॥ ४९ ॥
हिरण्मयं श्वेतहयैश्चतुर्भिर्यदा युक्तं स्यन्दनं माधवस्य ।
द्रष्टा युद्धे सात्यकेर्धार्तराष्ट्रस्तदा तप्स्यत्यकृतात्मा स मंदः ॥ ५० ॥
यदा रथं हेममणिप्रकाशं श्वेताश्वयुक्तं वानरकेतुमुग्रम् ।
द्दष्ट्वा ममाऽप्यास्थितं केशवेन तदा तप्स्यत्यकृतात्मा स मंदः ॥ ५१ ॥
यदा मौर्व्यास्तलनिष्पेषमुग्रं महाशब्दं वज्रनिष्पेषतुल्यम् ।
विधूयमानस्य महारणे मया स गांडिवस्य श्रोष्यति मंदबुद्धिः ॥ ५२ ॥
तदा मूढो धृतराष्ट्रस्य पुत्रस्तता युद्धे दुर्मतिर्दुःसहायः ।
दृष्ट्वा सैन्यं बाणवर्षांधकारे प्रभज्यंतं गोकुलवद्रणाग्रे ॥ ५३ ॥

है। वे दिव्य अस्त्रों के ज्ञाता, शत्रुदल-दलन, महारथी, निर्भय और अद्वितीय योद्धा हैं। सात्यकि जब मेरी आज्ञा से जलधारा की तरह बाणवर्षा से शत्रु-सेना को छा देंगे, तब दुर्योधन को युद्ध के लिए पछताना पड़ेगा ॥४५।४६॥

सिंह की गन्ध पाकर जैसे गायें इधर-उधर भाग खड़ी होती हैं वैसे ही उस समय कौरवों की सेना इधर-उधर भागने लगेगी जिस समय दृढ़ धनुष धारण करनेवाले महाभुज सात्यकि युद्ध के लिए दृढ़ प्रतिज्ञा करके युद्धभूमि में उपस्थित होंगे, और तब दुर्योधन को युद्ध के लिए पछताना पड़ेगा ॥४७।४८॥

सूर्यतुल्य तेजस्वी सात्यकि अस्त्रविद्या में अद्भुत योग्यता रखनेवाले और फुर्तीले हैं। वे अनायास सब लोकों का संहार कर सकते हैं। बुद्धिमानों ने जिन अस्त्रों को उत्तम और दिव्य बताया है उन अस्त्रों को सात्यकि अच्छी तरह जानते हैं। युद्ध के समय जब मूढ़ दुर्योधन वृष्णिवंशश्रेष्ठ सात्यकि के श्वेत चार घोड़ों से युक्त रथ को देखेंगे तब उन्हें युद्ध के लिए पछताना पड़ेगा ॥४९।५०॥

जब दुर्योधन देखेंगे कि सर्वशक्तिमान् श्रीकृष्ण सुवर्ण और मणियों की प्रभा से प्रकाशित, श्वेत घोड़ों से शोभित, वानर की ध्वजा से अलंकृत मेरे श्रेष्ठ रथ पर बैठे हैं तब उन्हें पछताना पड़ेगा ॥५१॥

महायुद्ध में गाण्डीव धनुष की दृढ़ डोरी से जब वज्रपात की सी कठोर ध्वनि निकलकर दुर्योधन के कानों को वहन करेगी तब उन्हें पछताना पड़ेगा ॥५२॥

जब बाणवर्षा से विह्वल होकर दुर्योधन के सैनिक इधर-उधर भागेंगे—मेघमाला से निकली हुई

कांदिग्भूतं छिन्नगात्रं विसंज्ञं दुर्योधनो द्रक्ष्यति सर्वसैन्यम् ।
हताश्ववीराग्र्यनरेंद्रनागं पिपासितं श्रांतपत्रं भयार्तम् ॥ ६२ ॥
आर्तस्वरं हन्यमानं हतं च विकीर्णकेशास्थिकपालसंघम् ।
प्रजापतेः कर्म यथार्थनिष्ठितं तदा दृष्ट्वा तप्स्यति मंदबुद्धिः ॥ ६३ ॥
यदा रथे गांडिवं वासुदेवं दिव्यं शंखं पांचजन्यं हयांश्च ।
तूणावक्षय्यौ देवदत्तं च मां च दृष्ट्वा युद्धे धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत्॥ ६४ ॥
उद्वर्तयन्दस्युसंघान्समेतान्प्रवर्तयन्युगमन्यद्युगांते ।
यदा धक्ष्याम्यग्निवत्कौरवेयांस्तदा तप्ता धृतराष्ट्रः सपुत्रः ॥ ६५ ॥
सभ्राता वै सहसैन्यः सभृत्यो भ्रष्टैश्वर्यः क्रोधवशोऽल्पचेताः ।
दर्पस्यांऽते निहतो वेपमानः पश्चान्मंदस्तप्स्यति धार्तराष्ट्रः ॥ ६६ ॥
पूर्वाह्णे मां कृतजप्यं कदाचिद्विप्रः प्रोवाचोदकांते मनोज्ञम् ।
कर्तव्यं ते दुष्करं कर्म पार्थ योद्धव्यं ते शत्रुभिः सव्यसाचिन् ॥ ६७ ॥
इंद्रो वा ते हरिवान्वज्रहस्तः पुरस्ताद्यातु समरेऽरीन्विनिघ्नन्।
सुग्रीवयुक्तेन रथेन वा ते पश्चात्कृष्णो रक्षतु वासुदेवः ॥ ६८ ॥

तक छा गई है और गाण्डीव धनुष के द्वारा उनकी सेना छिन्न भिन्न हो गई है, तब उनको पछताना पड़ेगा ॥६१॥

जब दुर्योधन देखेंगे कि उनकी सेना में कोई भागा जा रहा है, कोई घायल हो गया है, कोई बेहोश पड़ा है—घोड़े, हाथी, श्रेष्ठ वीर राजा लोग जगह-जगह धरती पर मरे पड़े हैं—किसी के वाहन थक गये हैं, कोई भय या प्यास से व्याकुल हो रहा है, कोई करुण स्वर से चिल्लाकर मर रहा है, कोई युद्धभूमि में मरा पड़ा है और उसके केश, हड्डियां और मस्तक अस्त व्यस्त हो गया है—रण-भूमि वाजपेय यज्ञ की भूमि के समान दिखाई पड़ रही है, तब उन्हें युद्ध के लिए पछताना पड़ेगा ॥६२।६३॥

जब दुर्योधन देखेंगे कि दिव्य पाञ्चजन्य शङ्ख लिये श्रीकृष्ण और अक्षय तरकस, गाण्डीव धनुष, देवदत्त शङ्ख लेकर मैं दोनों मित्र दिव्य घोड़ोंवाले श्रेष्ठ रथ पर सवार हुए हैं, तब उन्हें अवश्य उस के लिए पछताना पड़ेगा ॥६४॥

अग्नि जैसे प्रलय के समय दस्युओं का विनाश करके अन्य युग की स्थापना करती है वैसे ही जब मैं कौरवों को भस्म करता हुआ युगान्तर उपस्थित करूँगा, तब धृतराष्ट्र और दुर्योधन, दोनों को पछताना पड़ेगा ॥६५॥

क्रोधी, क्षुद्रप्रकृति दुर्योधन जब ऐश्वर्य और दर्प से हीन होकर, सेना और भाइयों सहित घायल होकर, धरती पर गिरेंगे, तब उन्हें युद्ध के लिए पछताना पड़ेगा ॥६६॥

मैं एक दिन प्रातःकाल सन्ध्या-तर्पण और गायत्री-जप करके बैठा था, इतने में एक ब्राह्मण ने

अयं कपाटेन जघान पांड्यं तथा कलिंगान्दंतकूरे ममर्द ।
अनेन जग्धा वर्षपूगान्विनाथा वाराणसी नगरी संबभूव ॥ ७६ ॥
अयं स्म युद्धे मन्यतेऽन्यैरजेयं तमेकलव्यं नाम निषादराजम् ।
वेगेनैव शैलमभिहत्य जंभः शेते कृष्णेन हतः परासुः ॥ ७७ ॥
तथोग्रसेनस्य सुतं सुदुष्टं वृष्ण्यंधकानां मध्यगतं सभास्थम् ।
अपातयद्बलदेवद्वितीयो हत्वा ददौ चोग्रसेनाय राज्यम् ॥ ७८ ॥
अयं सौभं योधयामास खस्थं विभीषणं मायया शाल्वराजम् ।
सौभद्वारि प्रत्यगृह्णाच्छतघ्नीं दोर्भ्यां क एनं विषहेत मर्त्यः ॥ ७९ ॥
प्राग्ज्योतिषं नाम बभूव दुर्गं पुरं घोरमसुराणामसह्यम् ।
महाबलो नरकस्तत्र भौमो जहाराऽदित्या मणिकुंडले शुभे ॥ ८० ॥
न त देवाः सह शक्रेण शेकुः समागता युधि मृत्योरभीताः ।
दृष्ट्वा च तं विक्रमं केशवस्य बलं तथैवाऽस्त्रमवारणीयम् ॥ ८१ ॥
जानंतोऽस्य प्रकृतिं केशवस्य न्ययोजयन्दस्युवधाय कृष्णम् ।
स तत्कर्म प्रतिशुश्राव दुष्करमैश्वर्यवान्सिद्धिषु वासुदेवः ॥ ८२ ॥

जीतकर, नग्नजित् राजा के पुत्रों को परास्त करके देवताओं के प्रिय राजा सुदर्शन को बन्धन से छुड़ाया है ॥७५॥

श्रीकृष्ण ने कपाट नगर में पाण्ड्य राजा को, कलिङ्गदेशवासियों की सेना को और दन्तवक्र को मारा है। इन्होंने कुपित होकर काशीपुरी को जलाया है। इसके पश्चात् बहुत दिन तक काशीपुरी बिना राजा के ही रह चुकी है ॥७६॥

श्रीकृष्ण ने अपने को अजेय समझनेवाले निषादराज एकलव्य को मार डाला है। पर्वत पर इन्द्र के पटके हुए जम्भासुर के समान श्रीकृष्ण के हाथ से मरा हुआ एकलव्य मृत्युशय्या पर सोया है ॥७७॥

श्रीकृष्ण ने बलदेव के साथ जाकर वृष्णि और अन्धक वंश के यादवों की सभा में प्रचण्ड उग्रसेन के पुत्र कंस को मारा और उग्रसेन को राजा बनाया है ॥७८॥

श्रीकृष्ण ने आकाश में सौभविमान पर स्थित शाल्व को माया के युद्ध में मारा है। सौभ के द्वार पर रक्खे हुए शतघ्नी नाम के भयानक अस्त्र को जब शाल्व ने कृष्ण पर चलाया तब इन्होंने उसे हाथों से तोड़ डाला है। भला इनके पराक्रम को कौन सह सकता है? कौन श्रीकृष्ण का सामना कर सकता है? ॥७९॥

असुरों की प्राग्ज्योतिष नाम की एक दुर्गम नगरी थी। अदिति के मणिमय दिव्य कुण्डल छीन लानेवाला महाबली भौमासुर उसमें रहता था ॥८०॥

मृत्यु से निडर इन्द्र सहित सब देवता भी युद्ध करने के लिए आकर उस दानवराज का सामना नहीं कर सके। देवताओं ने श्रीकृष्ण के

शारद्वतायाऽप्रतिद्वंद्विने च योत्स्याम्यहं राज्यमभीप्समानः ॥ ९० ॥
धर्मेणाऽऽसं निधनं तस्य मन्ये यो योत्स्यते पांडवैः पापबुद्धिः ।
मिथ्याग्लहे निर्जिता वै नृशंसैः संवत्सरान्वै द्वादश राजपुत्राः ॥ ९१ ॥
वासः कृच्छ्रो विहितश्चाऽप्यरण्ये दीर्घं कालं चैकमज्ञातवर्षम् ।
ते हि कस्माज्जीवतां पांडवानां नंदिष्यंते धार्तराष्ट्राः पदस्थाः ॥ ९२ ॥
ते चेदस्मान्युद्ध्यमानाञ्जयेयुर्देवैर्महेन्द्रप्रमुखैः सहायैः ।
धर्माद्धर्मश्चरितो गरीयांस्ततो ध्रुवं नास्ति कृतं च साधु ॥ ९३ ॥
न चेदिमं पुरुषं कर्मबद्धं न चेदस्मान्मन्यतेऽसौ विशिष्टान् ।
आशंसेऽहं वासुदेवद्वितीयो दुर्योधनं सानुबंधं निहंतुम् ॥ ९४ ॥
न चेदिदं कर्म नरेंद्र वंध्यं न चेद्भवेत्सुकृतं निष्फलं वा ।
इदं च तच्चाऽभिसमीक्ष्य नूनं पराजयो धार्तराष्ट्रस्य साधुः ॥ ९५ ॥
प्रत्यक्षं वः कुरवो यद्ब्रवीमि युध्यमाना धार्तराष्ट्रा न संति ।
अन्यत्र युद्धात्कुरवो यदि स्युर्न युद्धे वै शेष इहाऽस्ति कश्चित् ॥ ९६ ॥
हत्वा त्वहं धार्तराष्ट्रान्सकर्णान्राज्यं कुरूणामवजेता समग्रम् ।
यद्वः कार्यं तत्कुरुध्वं यथास्वमिष्टान्दारानात्मभोगान्भजध्वम् ॥ ९७ ॥

खयाल करके उन बातों को टाल जाते हैं। जो मूर्ख व्यक्ति श्रीकृष्ण में और मुझमें विरोध उत्पन्न करना और श्रीकृष्ण के हृदय से पाण्डवों का स्नेह हरना सहज समझता है वह युद्ध में आकर उसका हाल जानेगा। मैं राज्यप्राप्ति की इच्छा से पितामह भीष्म, द्रोणाचार्य, अश्वत्थामा, अद्वितीय वीर कृपाचार्य आदि को प्रणाम करके युद्ध का आरम्भ करूंगा ॥८६।९०॥

मैं दिव्य दृष्टि से देख रहा हूँ कि जो कोई धर्मात्मा पाण्डवों से युद्ध करने आवेगा वह धर्म के हाथ से मारा जायगा। नीच दुर्योधन आदि ने कपट के जुए में हराकर जिन पाण्डवों को बारह वर्ष वन में और एक वर्ष अज्ञातवास में रखकर अनेक कष्ट दिये हैं उनके जीते रहते दुरात्मा धृतराष्ट्रपुत्र कैसे राज्यासन पर बैठकर सुखपूर्वक ऐश्वर्य भोग सकते हैं? यदि दुरात्मा कौरव लोग इन्द्र आदि देवताओं की सहायता से हम लोगों को हरा देंगे तो इसमें भी सन्देह न रह जायगा कि धर्म से अधर्म श्रेष्ठ है—अच्छे काम करना निरी नादानी है। यदि सब पुरुष कर्म-पाश में बँधे हुए नहीं हैं और हम लोग सब बातों में कौरवों से श्रेष्ठ नहीं हैं, तो अवश्य इस युद्ध में दुर्योधन की जय प्राप्त होगी। यदि हम को अधर्म से राज्य से भ्रष्ट करने का और इस समय हमें राज्य न देने का फल कौरवों को अवश्य भोगना है तो हम श्रीकृष्ण की सहायता से दुर्योधन को समूल नष्ट कर सकेंगे। इन दोनों कार्यों के फल पर विचार करके मैंने निश्चय किया है कि दुर्योधन का हारना ही ठीक है ॥९१।९५॥

मैं सब कौरवों के सामने कहता हूँ, कि युद्ध में

अहं ह्येकः पार्थिवान्सर्वयोधाञ्शरान्वर्षन्मृत्युलोकं नयेयम् ॥ १०५ ॥
समाददानःपृथगस्त्रमार्गान्यथाऽग्निरिद्धो गहनं निदाघे ।
स्थूणाकर्णं पाशुपतं महास्त्रं ब्राह्मं चाऽस्त्रं यच्च शक्रोऽप्यदान्मे ॥ १०६ ॥
वधे धृतो वेगवतः प्रमुंचन्नाऽहं प्रजाः किंचिदिहाऽवशिष्ये ।
शांतिं लप्स्ये परमो ह्येष भावः स्थिरो मम ब्रूहि गावल्गणे तान् ॥ १०७ ॥
ये वै जय्याः समरे सूत लब्ध्वा देवानपींद्रप्रमुखान्समेतान् ।
तैर्मन्यते कलहं संप्रसह्य स धार्तराष्ट्रः पश्यत मोहमस्य ॥ १०८ ॥
वृद्धो भीष्मःशांतनवः कृपश्च द्रोणः सपुत्रो विदुरश्च धीमान् ।
एते सर्वे यद्वदंते तदस्तु आयुष्मंतः कुरवः संतु सर्वे ॥ १०९ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि अर्जुनवाक्यनिवेदने अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४८ ॥

वचन सुन पड़ते हैं कि "हे अर्जुन ! तुम्हारा रथ कब जोता जायगा ?" रात्रि को सियारनिया लगातार अशुभ शब्द करती हैं । आकाश से राक्षस पृथ्वी पर गिरते है । मृग, सियार, नीलकण्ठ, कौए, गिद्ध, बगले, तेंदुए और सुनहरे पंखवाले अन्य अनेक पक्षी श्वेत घोड़ों से जोते गये मेरे रथ को देखकर पीछे उड़ते हैं। मैं अकेला ही युद्ध-भूमि में बाणवर्षा करके सब शत्रुओं को यमलोक भेजूगा ॥१०१।१०५॥

जैसे गर्मियों में प्रज्वलित दावानल सब वन जलाकर अन्त को शान्त होता है, वैसे ही मैं भी कौरव-वध के लिए सुसज्जित होकर, अस्त्रप्रयोग के भिन्न-भिन्न कौशलों द्वारा—वेगशाली स्थूणाकर्ण, पाशुपत, ब्रह्मास्त्र और इंद्र के दिये अस्त्रों के द्वारा सर्वसंहार करके शान्ति प्राप्त करूँगा । हे सञ्जय ! कौरवों से यह मेरा दृढ सङ्कल्प कह देना । इन्द्र आदि देवताओं की सहायता पाकर भी जिन्हें हराना असाध्य है उनसे यों युद्ध करने के लिए तैयार होना दुर्योधन का भारी भ्रम है । चाहे जो हो, अब मेरी प्रार्थना ईश्वर से यही है कि पितामह भीष्म, कृपाचार्य, द्रोणाचार्य, अश्वत्थामा और बुद्धिमान् विदुर जिसके लिए कहते हैं वह सन्धि ही हो और कुरुवंश के सब लोग विनाश से बचकर चिरजीवी हों ॥१०६।१०९॥

उद्योगपर्व का अड़तालीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ४८ ॥

अथ ऊनपंचाशत्तमोऽध्यायः ॥ ४९ ॥

वैशम्पायन उवाच—समवेतेषु सर्वेषु तेषु राजसु भारत ।
दुर्योधनमिदं वाक्यं भीष्मः शांतनवोऽब्रवीत् ॥ १ ॥
बृहस्पतिश्चोशना च ब्रह्माणं पर्युपस्थितौ ।

उनचासवां अध्याय ॥ ४९ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! इसके पश्चात् भीष्म पितामह ने कहा—हे दुर्योधन ! एक समय बृहस्पति, शुक्राचार्य, इन्द्र, अग्नि, सप्तऋषि, वायु, वसु, आदित्य, साध्य, अप्सराएँ

अयाचत महात्मानौ नरनारायणौ वरम् ॥ ११ ॥
तावब्रूतां वृणीष्वेति तदा भरतसत्तम ।
अथैतावब्रवीच्छक्रः साह्यं नः क्रियतामिति ॥ १२ ॥
ततस्तौ शक्रमब्रूतां करिष्यावो यदिच्छसि ।
ताभ्यां च सहितः शक्रो विजिग्ये दैत्यदानवान् ॥ १३ ॥
नर इंद्रस्य संग्रामे हत्वा शत्रून्परंतपः ।
पौलोमान्कालखंजांश्च सहस्राणि शतानि च ॥ १४ ॥
एष भ्रांते रथे तिष्ठन् भल्लेनाऽपाहरच्छिरः ।
जंभस्य ग्रसमानस्य तदा ह्यर्जुन आहवे ॥ १५ ॥
एष पारे समुद्रस्य हिरण्यपुरमारुजत् ।
जित्वा षष्टिं सहस्राणि निवातकवचान्रणे ॥ १६ ॥
एष देवान्सहेंद्रेण जित्वा पुरपुरंजयः ।
अतर्पयन्महाबाहुरर्जुनोऽजातवेदसम् ॥ १७ ॥
नारायणस्तथैवाऽत्र भूयसोऽन्याञ्जघान ह ।
एवमेतौ महावीर्यौ तौ पश्यत समागतौ ॥ १८ ॥
वासुदेवार्जुनौ वीरौ समवेतौ महारथौ ।
नरनारायणौ देवौ पूर्वदेवाविति श्रुतिः ॥ १९ ॥

रहा था। देवगण भयभीत हुए-हुए थे। इन्द्र आदि देवगण वहां पर पहुँचे जहां नर-नारायण तप कर रहे थे। इन्द्र आदि देवताओं ने उनके पास पहुँचकर वर माँगा ॥१०।११॥

नर-नारायण ने कहा—हे देवगण ! तुम वर माँगो। इन्द्र ने कहा—हे नर-नारायण ! आप हमारी सहायता कीजिए। तब नर-नारायण ने कहा—हे इन्द्र ! तुम जो चाहते हो वही होगा। इन्द्र ने नर-नारायण की सहायता से दैत्यों और दानवों को हराया। शत्रुदमन नर ने इन्द्र के शत्रु सैकड़ों-हज़ारों पौलोम और कालखञ्ज असुरों को मारा। जम्भासुर उन्हें ग्रसने के लिए उद्यत हुआ, तब भ्रमण-शील रथ पर बैठकर उन्होंने भल्ल बाण से उसका सिर काट डाला ॥१२।१५॥

नर ने समुद्र पार आकर साठ हज़ार निवात-कवच असुरों को मारकर हिरण्यपुर नगर को उजाड़ा है। शत्रुदमन महाबाहु नर ने इन्द्रसहित देवताओं को परास्त करके अग्नि को तृप्त किया है। इसी तरह नारायण ने भी अन्य बहुत से बड़े-बड़े दानवों और दैत्यों को मारा है। वही नर अर्जुन और नारायण श्रीकृष्ण है। उन दोनों पराक्रमी पुरुषों को एक साथ देखो। मैं यह बात अपने मन से

तथा क्षुद्रस्य पापस्य भ्रातुर्दुःशासनस्य च ॥ २८ ॥
कर्ण उवाच—नैवमायुष्मता वाच्यं यन्मामात्थ पितामह ।
क्षत्रधर्मे स्थितो ह्यस्मि स्वधर्मादनपेयिवान् ॥ २९ ॥
किं चाऽन्यन्मयि दुर्वृत्तं येन मां परिगर्हसे ।
न हि मे वृजिनं किंचिद्धार्तराष्ट्रा विदुः क्वचित् ॥ ३० ॥
नाऽचरं वृजिनं किंचिद्धार्तराष्ट्रस्य नित्यशः ।
अहं हि पांडवान्सर्वान्हनिष्यामि रणे स्थितान् ॥ ३१ ॥
प्राग्विरुद्धैः शमं सद्भिः कथं वा क्रियते पुनः ।
राज्ञो हि धृतराष्ट्रस्य सर्वं कार्यं प्रियं मया ।
तथा दुर्योधनस्यापि स हि राज्ये समाहितः ॥ ३२ ॥
वैशम्पायन उवाच—कर्णस्य तु वचः श्रुत्वा भीष्मः शांतनवः पुनः ।
धृतराष्ट्रं महाराज संभाष्येदं वचाऽब्रवीत् ॥ ३३ ॥
यदयं कत्थते नित्यं हंताऽहं पांडवानिति ।
नाऽयं कलाऽपि संपूर्णा पांडवानां महात्मनाम् ॥ ३४ ॥
अनयो योऽयमागंता पुत्राणां ते दुरात्मनाम् ।
तदस्य कर्म जानीहि सूतपुत्रस्य दुर्मतेः ॥ ३५ ॥

कहे में हैं। किन्तु तुम परशुराम के शाप से कलङ्कित हीनजाति, सूतपुत्र कर्ण, शकुनि और पापबुद्धि दुःशासन को अपना मन्त्री बनाये हुए हो ॥२३।२८॥

कर्ण ने कहा—हे पितामह ! आप अब फिर ऐसी बात मुँह से न निकालिएगा। मैं अपने धर्म से भ्रष्ट न होकर, क्षात्रधर्म धारण किये हुए हूँ; दुर्योधन को क्षत्रिय का धर्म पालने की सम्मति दे रहा हूँ। विशेषकर मुझमें ऐसा कोई दोष या दुराचार नहीं है *जिसके कारण आप मेरी निन्दा* कर सकें। दुर्योधन आदि कौरवों ने कभी कुछ भी पाप मुझमें नहीं देखा ॥२९।३०॥

मैंने कभी दुर्योधन का कुछ अनिष्ट नहीं किया; बल्कि दुर्योधन आदि का यह प्रिय करूँगा कि रण में अर्जुन आदि पाण्डवों को मारूँगा। पहले जिनके साथ विरोध हो चुका है उनसे अब संधि कैसे हो सकती है ? महाराज धृतराष्ट्र का सब तरह हित करना ही मेरा कर्तव्य है। राजपद पर प्रतिष्ठित दुर्योधन का प्रिय करने के लिए मैं सब तरह तैयार हूँ ॥३१।३२॥

वैशम्पायन ने कहा—*हे राजा जनमेजय ! कर्ण के ये वाक्य सुनकर भीष्म ने राजा धृतराष्ट्र से कहा*—कर्ण यह कहकर नित्य अपनी प्रशंसा किया करता है कि मैं पाण्डवों को मारूँगा; किन्तु वह पाण्डवों के सोलहवें अंश के बराबर भी नहीं है। तुम निश्चय

यदाह भरतश्रेष्ठो भीष्मस्तत्क्रियतां नृप ।
न काममर्थलिप्सूनां वचनं कर्तुमर्हसि ॥ ४४ ॥
परा युद्धात्साधु मन्ये पांडवैः सह संगतम् ।
यद्वाक्यमर्जुनेनोक्तं संजयेन निवेदितम् ॥ ४५ ॥
सर्वं तदपि जानामि करिष्यति च पांडवः ।
न ह्यस्य त्रिषु लोकेषु सदृशोऽस्ति धनुर्धरः ॥ ४६ ॥
अनादृत्य तु तद्वाक्यमर्थवद्द्रोणभीष्मयोः ।
ततः स संजयं राजा पर्यपृच्छत पांडवान् ॥ ४७ ॥
तदैव कुरवः सर्वे निराशा जीवितेऽभवन् ।
भीष्मद्रोणौ यदा राजा न सम्यगनुभाषते ॥ ४८ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि भीष्मद्रोणवाक्ये ऊनपंचाशततमोऽध्यायः ॥ ४९ ॥

इच्छा के अनुसार कार्य करना आपको उचित नहीं। युद्ध छिड़ने से पहले ही पाण्डवों से सन्धि कर लेना मैं अच्छा समझता हूं। सञ्जय ने अर्जुन के जो वाक्य कहे हैं उनकी यथार्थता को मैं अच्छी तरह जानता हूं। अर्जुन अवश्य वैसे ही कार्य करेंगे; क्योंकि त्रिभुवन में अर्जुन के समान धनुर्विद्या में प्रवीण योद्धा दूसरा कोई नहीं है ॥४२।४६॥

महात्मा भीष्म और द्रोण की बातों पर ध्यान न देकर राजा धृतराष्ट्र सञ्जय से पाण्डवों की बातें पूछने लगे। धृतराष्ट्र ने जब भीष्म और द्रोणाचार्य के वचनों का अनुमोदन नहीं किया तभी सब कुरुवंशी अपने जीवन से निराश हो गये ॥४७।४८॥

उद्योगपर्व का उनचासवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ४९ ॥

अथ पंचाशततमोऽध्यायः ॥ ५० ॥

धृतराष्ट्र उवाच—किमसौ पांडवो राजा धर्मपुत्रोऽभ्यभाषत ।
श्रुत्वेह बहुलाः सेनाः प्रीत्यर्थं न समागताः ॥ १ ॥
किमसौ चेष्टते सूत योत्स्यमानो युधिष्ठिरः ।
के वाऽस्य भ्रातृपुत्राणां पश्यंत्याज्ञेप्सवो मुखम् ॥ २ ॥
कस्विदेनं वारयंति युद्धाच्छाम्येति वा पुनः ।

पचासवां अध्याय ॥ ५० ॥

धृतराष्ट्र ने कहा—हे सञ्जय! हमारी प्रसन्नता और सहायता के लिए यहां अनेक राजाओं की अपार सेना के आने का हाल सुनकर धर्मपुत्र युधिष्ठिर ने क्या कहा? युद्ध के लिए वे कैसा उद्योग कर रहे हैं? भाइयों और पुत्रों में से कौन-कौन उनकी आज्ञा का राह देख रहे हैं? मेरे मन्दबुद्धि पुत्रों ने छल करके पाण्डवों

संजयोऽयं महाराज मूर्च्छितः पतितो भुवि ।
वाचं न सृजते कांचिद्धीनप्रज्ञोऽल्पचेतनः ॥ १२ ॥

धृतराष्ट्र उवाच—अपश्यत्संजयो नूनं कुन्तीपुत्रान्महारथान् ।
तैरस्य पुरुषव्याघ्रैर्भृशमुद्वेजितं मनः ॥ १३ ॥

वैशम्पायन उवाच—संजयश्चेतनां लब्ध्वा प्रत्याश्वस्येदमब्रवीत् ।
धृतराष्ट्रं महाराज सभायां कुरुसंसदि ॥ १४ ॥

संजय उवाच—दृष्टवानस्मि राजेंद्र कुंतीपुत्रान्महारथान् ।
मत्स्यराजगृहावासनिरोधेनाऽवकर्शितान् ॥ १५ ॥
शृणु यैर्हि महाराज पांडवा अभ्ययुंजत ।
धृष्टद्युम्नेन वीरेण युद्धे वस्तेऽभ्ययुंजत ॥ १६ ॥
यो नैव रोषान्न भयान्न लोभान्नाऽर्थकारणात् ।
न हेतुवादाद्धर्मात्मा सत्यं जह्यात्कदाचन ॥ १७ ॥
यः प्रमाणं महाराज धर्मे धर्मभृतां वरः ।
अजातशत्रुणा तेन पांडवा अभ्ययुंजत ॥ १८ ॥
यस्य बाहुबले तुल्यः पृथिव्यां नास्ति कश्चन ।
यो वै सर्वान्महीपालान्वशे चक्रे धनुर्धरः ।
यः काशीनङ्गमगधान्कलिंगांश्च युधाऽजयत् ॥ १९ ॥
तेन वो भीमसेनेन पांडवा अभ्ययुंजत ।

गिर पड़े ॥१०।११॥

तब विदुर ने धृतराष्ट्र से कहा—हे महाराज ! सञ्जय बेहोश होकर गिर पड़े हैं। इसी से कुछ बोल नहीं सकते ॥१२॥

धृतराष्ट्र ने कहा—सञ्जय शायद महारथी पाण्डवों को देखकर व्याकुल से हो गये हैं, इसी से इस समय बेहोश हो गये हैं ॥१३॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजा जनमेजय ! इतने में सञ्जय को होश आ गया। उन्होंने उठकर कौरवों के सामने धृतराष्ट्र से कहा—हे राजेन्द्र ! मैंने जाकर देखा कि विराट के घर में एक वर्ष अज्ञातवास करने के कारण पाण्डव दुबले हो रहे हैं ॥१४।१५॥

हे राजेन्द्र ! उन पाण्डवों ने कौरवों से युद्ध कराने के लिए जिन राजाओं को एकत्र किया है उनका वर्णन सुनिए। उन्होंने धृष्टद्युम्न को अपना लिया है। जो महात्मा क्रोध, भय, लोभ और अर्थ या हेतुवाद आदि किसी कारण से सत्य को नहीं छोड़ते, जो श्रेष्ठ धार्मिक महात्मा धर्म के बारे में प्रमाण माने जाते हैं, वे अजातशत्रु युधिष्ठिर कौरवों से युद्ध करने को तैयार हैं ॥१६।१८॥

तेन वो दर्शनीयेन वीरेणाऽतिधनुर्भृता ।
माद्रीपुत्रेण कौरव्य पांडवा अभ्ययुंजत ॥ ३० ॥
यः काशीनङ्गमगधान्कलिंगांश्च युधाऽजयत् ।
तेन वः सहदेवेन पांडवा अभ्ययुंजत ॥ ३१ ॥
यस्य वीर्येण सदृशाश्चत्वारो भुवि मानवाः ।
अश्वत्थामा धृष्टकेतू रुक्मी प्रद्युम्न एव च ॥ ३२ ॥
तेन वः सहदेवेन युद्धं राजन्महात्ययम् ।
यवीयसा नृवीरेण माद्रीनंदिकरेण च ॥ ३३ ॥
तपश्चचार या घोरं काशिकन्या पुरा सती ।
भीष्मस्य वधमिच्छंती प्रेत्याऽपि भरतर्षभ ॥ ३४ ॥
पांचालस्य सुता जज्ञे दैवाच्च स पुनः पुमान् ।
स्त्रीपुंसोः पुरुषव्याघ्रः यः स वेद गुणागुणान् ॥ ३५ ॥
यः कलिंगान्समापेदे पांचाल्यो युद्धदुर्मदः ।
शिखंडिना वः कुरवः कृतास्त्रेणाऽभ्ययुंजत ॥ ३६ ॥
यं यक्षः पुरुषं चक्रे भीष्मस्य निधनेच्छया ।
महेष्वासेन रौद्रेण पांडवा अभ्ययुंजत ॥ ३७ ॥

के लिए उद्यत हैं ॥२५।२७॥

जो म्लेच्छों से पूर्ण पश्चिम दिशा को अपने बाहुबल से जीत चुके हैं वे विचित्र युद्ध करनेवाले परम सुन्दर नकुल कौरवों से युद्ध करने के लिए उद्यत हैं ॥२८।२९॥

जिसने काशी, अङ्ग, मगध व कलिङ्ग देश के निवासियों को समर में जीत लिया उन्हीं की सहायता से पाण्डव लोग तुमसे युद्ध करने को उद्यत हैं ॥३०॥

पृथ्वी पर अश्वत्थामा, धृष्टकेतु, रुक्मी और प्रद्युम्न, यही चार योद्धा जिनकी बराबरी कर सकते हैं वे सहदेव भी कौरवों से युद्ध करने के लिए उद्यत हैं ॥३१।३२॥

काशिराज की सती कन्या अम्बा पहले घोर तप करके भीष्म की मृत्यु के लिए प्राण दे चुकी है। वही फिर पाञ्चालराज द्रुपद के घर कन्या के रूप में उत्पन्न हुई। अन्त को वह दैव की कृपा से स्त्री से पुरुष हो गई। वही स्त्री और पुरुष के सब गुण-दोषों को जाननेवाले, कलिङ्ग निवासियों को हरानेवाले, भीष्म को मारने के लिए वन में यक्ष से पुरुष-भाव प्राप्त करनेवाले, महाधनुर्द्धर, उग्रमूर्ति शिखण्डी कौरवों से युद्ध करने के लिए उद्यत हैं।३३।३६।

जिसे भीष्म के वध की इच्छा से कुबेर ने पुरुष बनाया उसी बड़े धनुर्द्धर की सहायता से पाण्डव लोग तुम्हारे साथ युद्ध करने को उद्यत हुए हैं ॥३७॥

करकर्षेण सहितस्ताभ्यां वस्तेऽभ्ययुंजत ॥ ४७ ॥
जारासंधिः सहदेवो जयत्सेनश्च तावुभौ ।
युद्धे प्रतिरथे वीरौ पांडवार्थे व्यवस्थितौ ॥ ४८ ॥
द्रुपदश्च महातेजा बलेन महता वृतः ।
त्यक्तात्मा पांडवार्थाय योत्स्यमानो व्यवस्थितः ॥ ४९ ॥
एते चाऽन्ये च बहवः प्राच्योदीच्या महीक्षितः ।
शतशो यानुपाश्रित्य धर्मराजो व्यवस्थितः ॥ ५० ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि संजयवाक्ये पंचाशततमोऽध्यायः ॥ ५० ॥

से युद्ध करने के लिए तैयार हैं ॥४७॥

युद्ध में जिनका सामना करना अत्यंत दुष्कर है वे जरासन्ध के पुत्र सहदेव और राजा जयत्सेन पाण्डवों की सहायता करने को तैयार हैं ॥४८॥

बहुत सी सेना साथ में लिए महाबली और तेजस्वी राजा द्रुपद भी अपना सर्वस्व पाण्डवों को देकर कौरवों से युद्ध करने को तैयार हैं ॥४९॥

इनके सिवा पूर्व और उत्तर दिशा के रहनेवाले असंख्य राजा पाण्डवों की ओर होकर कौरवों से युद्ध करने को तैयार हैं ॥५०॥

उद्योगपर्व का पचासवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ५० ॥

अथ एकपंचाशततमोऽध्यायः ॥ ५१ ॥

धृतराष्ट्र उवाच—सर्वं एते महोत्साहा ये त्वया परिकीर्तिताः ।
एकतस्त्वेव ते सर्वे समेता भीम एकतः ॥ १ ॥
भीमसेनाद्धि मे भूयो भयं संजायते महत् ।
क्रुद्धादमर्षणात्तात व्याघ्रादिव महारुरोः ॥ २ ॥
जागर्मि रात्रयः सर्वा दीर्घमुष्णं च निःश्वसन् ।
भीतो वृकोदरात्तात सिंहात्पशुरिवाऽपरः ॥ ३ ॥
न हि तस्य महाबाहोः शक्रप्रतिमतेजसः ।
सैन्येऽस्मिन्प्रतिपश्यामि य एनं विषहेद्युधि ॥ ४ ॥

इक्यावनवां अध्याय ॥ ५१ ॥

धृतराष्ट्र ने कहा—हे सञ्जय ! तुमने जिनके नाम लिये वे सब बड़े वीर हैं; किन्तु अकेले भीमसेन उन सबके बराबर हैं । जैसे बाघ से मृग और सिंह से अन्य पशु डरते हैं वैसे भीमसेन से मैं भयभीत होता हूँ। भय के मारे रात्रि को मुझे निद्रा नहीं आती ॥१।३॥

इन्द्र के तुल्य तेजस्वी, महाबाहु भीमसेन का सामना कर सकने वाला एक मनुष्य भी मुझे अपनी ओर नहीं देख पड़ता । वे महाउत्साही, बली,

अस्त्रे द्रोणार्जुनसमं वायुवेगसमं जवे ।
महेश्वरसमं क्रोधे को हन्याद्भीममाहवे ॥ १४ ॥
संजयाऽऽचक्ष्व मे शूरं भीमसेनममर्षणम् ।
अतिलाभं तु मन्येऽहं यत्तेन रिपुघातिना ॥ १५ ॥
तदैव न हताः सर्वे पुत्रा मम मनस्विना ।
येन भीमबला यक्षा राक्षसाश्च पुरा हताः ॥ १६ ॥
कथं तस्य रणे वेगं मानुषः प्रसहिष्यति ।
न स जातु वशे तस्थौ मम बाल्येऽपि संजय ॥ १७ ॥
किं पुनर्मम दुष्पुत्रैः क्लिष्टः संप्रति पांडवः ।
निष्ठुरो रोषणोऽत्यर्थं भज्येताऽपि न संनमेत् ।
तिर्यक्प्रेक्षी संहतभ्रूः कथं शाम्येद्वृकोदरः ॥ १८ ॥
शूरस्तथाऽप्रतिबलो गौरस्ताल इवोन्नतः ।
प्रमाणतो भीमसेनः प्रादेशेनाऽधिकोऽर्जुनात् ॥ १९ ॥
जवेन वाजिनोऽत्येति बलेनाऽत्येति कुंजरान् ।
अव्यक्तजल्पी मध्वक्षो मध्यमः पांडवो बली ॥ २० ॥
इति बाल्ये श्रुतः पूर्वं मया व्यासमुखात्पुरा ।
रूपतो वीर्यतश्चैव याथातथ्येन पांडवः ॥ २१ ॥

मैं मानों देख रहा हूँ कि क्रोधित भीमसेन युद्ध में असंख्य मनुष्यों, हाथियों और घोड़ों का नाश कर रहे हैं । अस्त्रशिक्षा में द्रोणाचार्य के समान, वेग में वायु के तुल्य और क्रोध में साक्षात् रुद्र के सदृश वीर भीमसेन को युद्ध में कौन मार सकेगा ?॥१३।१४॥

मैं इसी को बड़ा भारी लाभ समझता हूँ जो महाबली भीमसेन ने उसी क्लेश के समय मेरे पुत्रों को नहीं मार डाला । महाबली यक्षों और राक्षसों को मारनेवाले भीमसेन के वेग को साधारण मनुष्य कैसे सह सकेंगे भीमसेन बाल्यावस्था में भी कभी मेरे वश में नहीं रहे । इस समय तो मेरे पुत्रों ने उन्हें इतने क्लेश दिये हैं; अब वे कैसे मेरा कहा मान सकते है । वे अत्यन्त निष्ठुर और क्रोधी हैं। वे जीते जी झुक नहीं सकते । क्रोध के मारे सदा टेढ़ी दृष्टि से देखनेवाले और सटी हुई भौंहोंवाले भीमसेन भला कैसे शान्त हो सकते हैं ?॥१५।१८॥

व्यास के मुहँ से सुनकर बाल्यावस्था से ही भीमसेन का रूप, बल और पराक्रम मैं जानता हूँ व्यास ने कहा है कि मँझले पाण्डव वृकोदर अद्वितीय शूर और बली हैं, उनका रङ्ग गोरा है और वे ताड़ के पेड़ ऐसे ऊँचे हैं । भीमसेन अर्जुन से मुट्ठी

सृक्किणी लेलिहानस्य वाष्पमुत्सृजतो मुहुः ॥ २९ ॥
उद्दिश्य नागान्पततः कुर्वतो भैरवान्रवान् ।
प्रतीपं पततो मत्तान्कुंजरान्प्रतिगर्जतः ॥ ३० ॥
विगाह्य रथमार्गेषु वरानुद्दिश्य निघ्नतः ।
अग्नेः प्रज्वलितस्येव अपि मुच्येत मे प्रजा ॥ ३१ ॥
वीथीं कुर्वन्महाबाहुर्द्रावयन्मम वाहिनीम् ।
नृत्यन्निव गदापाणिर्युगांतं दर्शयिष्यति ॥ ३२ ॥
प्रभिन्न इव मातंगः प्रभंजन्पुष्पितान्द्रुमान् ।
प्रवेक्ष्यति रणे सेनां पुत्राणां मे वृकोदरः ॥ ३३ ॥
कुर्वन्रथान्विपुरुषान्विसारथिहयध्वजान् ।
आरुजन्पुरुषव्याघ्रो रथिनः सादिनस्तथा ॥ ३४ ॥
गंगावेग इवाऽनूपांस्तीरजान्विविधान्द्रुमान् ।
प्रभंक्ष्यति रणे सेनां पुत्राणां मम संजय ॥ ३५ ॥
दिशो नूनं गमिष्यन्ति भीमसेनभयार्दिताः ।
मम पुत्राश्च भृत्याश्च राजानश्चैव संजय ॥ ३६ ॥
येन राजा महावीर्यः प्रविश्याऽन्तःपुरं पुरा ।
वासुदेवसहायेन जरासंधो निपातितः ॥ ३७ ॥
कृत्स्नेयं पृथिवी देवी जरासंधेन धीमता ।

चाटते और नाक से जोर-जोर से सांस छोड़ते हुए वे भयङ्कर शब्द करनेवाले हाथियों के झुण्ड की ओर झपटेंगे तब उनका सामना करने के लिए जो मेरे पुत्र जायँगे वे अवश्य मारे जायँगे ॥२९।३०॥

महापराक्रमी, क्रोधी भीमसेन मेरी सेना को मारकर अपनी राह साफ करते और गदा हाथ में लिये नाचते हुए प्रलयकाल का सा घोर दृश्य उपस्थित कर देंगे। जैसे मस्त हाथी फूले हुए पेड़ों को कुचलता है वैसे ही पराक्रमी भीमसेन रणभूमि में घुसकर जब मेरे पुत्रों की सेना का संहार करेंगे—जब वे रथों को सारथी, घोड़े, ध्वजा और रथी से शून्य करेंगे तथा हाथियों पर बैठे हुए योद्धाओं को पीड़ित करेंगे—तब उनके सामने कौन ठहर सकेगा? जैसे गङ्गा का प्रवाह किनारे के पेड़ों को बहाता और उखाड़ता चलता है वैसे ही भीमसेन अपने आस-पास की कौरवसेना को नष्ट करते चलेंगे ॥३१।३५॥

मेरे पुत्र, सेवक और सहायक राजा लोग भीमसेन के भय से युद्ध छोड़कर इधर-उधर भाग खड़े होंगे।३६।

मगध-नरेश बुद्धिमान् प्रतापी जरासन्ध ने अपने बाहुबल और प्रभाव से सारे राजाओं को अपने अधीन

बलीयः सर्वतो दिष्टं पुरुषस्य विशेषतः ।
पश्यन्नपि जयं तेषां न नियच्छामि यत्सुतान् ॥ ४७ ॥
ते पुराणं महेष्वासा मार्गमैन्द्रं समास्थिताः ।
त्यक्ष्यंति तुमुले प्राणान्रक्षंतः पार्थिवं यशः ॥ ४८ ॥
यथैव मामकास्तात तथैषां पांडवा अपि ।
पौत्रा भीष्मस्य शिष्याश्च द्रोणस्य च कृपस्य च ॥ ४९ ॥
ये त्वस्मदाश्रयं किंचिद्दत्तमिष्टं च संजय ।
तस्याऽपचितिमार्यत्वात्कर्तारः स्थविरास्त्रयः ॥ ५० ॥
आददानस्य शस्त्रं हि क्षत्रधर्मं परीप्सतः ।
निधनं क्षत्रियस्याऽऽजौ वरमेवाऽऽहुरुत्तमम् ॥ ५१ ॥
स वै शोचामि सर्वान्वै ये युयुत्संति पांडवैः ।
विक्रुष्टं विदुरेणाऽऽदौ तदेतद्भयमागतम् ॥ ५२ ॥
न तु मन्ये विघाताय ज्ञानं दुःखस्य संजय ।
भवत्यति बलं ह्येतज्ज्ञानस्याऽप्युपघातकम् ॥ ५३ ॥
ऋषयो ह्यपि निर्मुक्ताः पश्यंतो लोकसंग्रहान् ।
सुखैर्भवंति सुखिनस्तथा दुःखेन दुःखिताः ॥ ५४ ॥

यद्यपि मेरी ही तरह भीष्म पितामह, द्रोणाचार्य और कृपाचार्य भी भीमसेन के बल-पराक्रम को जानते हैं तो भी वे आर्य लोगों के सदाचार के अनुसार मेरे पुत्रों की सेना में रहकर पाण्डवों से युद्ध करेंगे ॥४५।४६॥

पुरुष का भाग्य बड़ा ही प्रबल है। मैं पाण्डवों की जीत सरासर देखकर भी अपने पुत्रों को नहीं रोकता, यह भी होना ही है। भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य आदि योद्धा चिरप्रसिद्ध स्वर्गमार्ग में जाने के लिए क्षत्रिय-कीर्ति की रक्षा करते हुए संग्राम में प्राणत्याग करेंगे ॥४७।४८॥

इनके लिए जैसे मेरे पुत्र हैं वैसे ही पाण्डव हैं। कौरव-पाण्डव दोनों ही कृपाचार्य और द्रोणाचार्य के शिष्य हैं ॥४९॥

भीष्म, द्रोण और कृपाचार्य तीनों वृद्ध पुरुष हमारे आश्रय में रहते हैं। इनके साथ जो कुछ कौरवों ने किया है उसका बदला देना आर्यधर्म जानकर ये तीनों महापुरुष दुर्योधन का साथ देंगे ॥५०॥

पण्डितों का कहना है कि शस्त्र हाथ में लेकर युद्ध में प्राणत्याग करना क्षत्रियधर्म पर चलनेवाले का और क्षत्रिय का प्रधान धर्म है। पाण्डवों के साथ जिन्हें युद्ध करना पड़ेगा उन सबके लिए मैं शोकविह्वल हो रहा हूँ। विदुर ने पहले ही पुकारकर जिसकी सूचना दे दी थी वह विपत्ति सिर पर आ गई है ॥५१।५२॥

अथ द्विपंचाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५२ ॥

धृतराष्ट्र उवाच—यस्य वै नाऽनृता वाचः कदाचिदनुशुश्रुम ।
त्रैलोक्यमपि तस्य स्याद्योद्धा यस्य धनंजयः ॥ १ ॥
तस्यैव च न पश्यामि युधि गांडीवधन्वनः ।
अनिशं चिंतयानोऽपि यः प्रतीयाद्रथेन तम् ॥ २ ॥
अस्यतः कर्णिनालीकान्मार्गणान्हृदयच्छिदः ।
प्रत्येता न समः कश्चिद्युधि गांडीवधन्वनः ॥ ३ ॥
द्रोणकर्णौ प्रतीयातां यदि वीरौ नरर्षभौ ।
कृतास्त्रौ बलिनां श्रेष्ठौ समरेष्वपराजितौ ॥ ४ ॥
महान्स्यात्संशयो लोके न त्वस्ति विजयो मम ।
घृणी कर्णः प्रमादी च आचार्यः स्थविरो गुरुः ॥ ५ ॥
समर्थो बलवान्पार्थो दृढधन्वा जितक्लमः ।
भवेत्सुतुमुलं युद्धं सर्वशोऽप्यपराजयः ॥ ६ ॥
सर्वे ह्यस्त्रविदः शूराः सर्वे प्राप्ता महद्यशः ।
अपि सर्वामरैश्वर्यं त्यजेयुर्न पुनर्जयम् ॥ ७ ॥
वधे नूनं भवेच्छांतिस्तयोर्वा फाल्गुनस्य च ।

बावनवां अध्याय ॥ ५२ ॥

धृतराष्ट्र ने कहा—हे सञ्जय ! मैंने युधिष्ठिर के मुँह से कभी कोई असत्य बात नहीं सुनी। उनकी ओर युद्ध करनेवाले महावीर सव्यसाची अर्जुन हैं। राजा युधिष्ठिर अर्जुन की सहायता से त्रैलोक्य का राज्य प्राप्त कर सकते हैं। बारम्बार सोचने पर भी मुझे ऐसा कोई वीर नहीं देख पड़ता जो रथ पर चढ़कर अर्जुन से युद्ध कर सके। जब गाण्डीव धनुष धारण करनेवाले अर्जुन कर्णी, नालीक, शिलीमुख आदि बाण चलावेंगे और दिव्य अस्त्रों का कौशल दिखावेंगे तब कोई उनका सामना न कर सकेगा। अपराजित पुरुषश्रेष्ठ द्रोणाचार्य और कर्ण दोनों ही अर्जुन से युद्ध करने जायं तो अन्य लोगों को जय-पराजय के बारे में सन्देह हो सकता है किन्तु मुझे तो निश्चय है कि विजय अर्जुन की ही होगी। क्योंकि कर्ण दयालु और प्रमादी है और द्रोणाचार्य एक तो बूढ़े, दूसरे कौरव और पाण्डव दोनों के गुरु हैं। किन्तु अर्जुन समर्थ, बलवान् और परिश्रमी हैं। उनका धनुष भी श्रेष्ठ और दृढ़ है। तीनों वीर अपराजित, अस्त्रविद्या में निपुण, शूर, उत्साही और यशस्वी हैं। ये लोग देवताओं के राज्य को भले ही छोड़ दें, परन्तु जय की इच्छा को नहीं छोड़ सकते ॥१।७॥

द्रोण और कर्ण की मृत्यु हो जाय या अर्जुन की मृत्यु हो जाय, तभी यह समर बन्द हो सकता

अपि बाणमयं तेजः प्रदीप्तमिव सर्वतः ॥ १६ ॥
गांडीवोत्थं दहेताऽऽजौ पुत्राणां मम वाहिनीम् ।
अपि सा रथघोषेण भयार्ता सव्यसाचिनः ॥ १७ ॥
वित्रस्ता बहुधा सेना भारती प्रतिभाति मे ।
यथा कक्षं महानग्निः प्रदहेत्सर्वतश्चरन् ।
महार्चिरनिलोद्धूतस्तद्वद्धक्ष्यति मामकान् ॥ १८ ॥
यदोद्वमन्निशितान्बाणसंघांस्तानाततायी समरे किरीटी ।
सृष्टोऽन्तकः सर्वहरो विधात्रा यथा भवेत्तद्वदपारणीयः ॥ १९ ॥
यदा ह्यभीक्ष्णं सुबहून्प्रकाराञ्छ्रोताऽस्मि तानावसथे कुरूणाम् ।
तेषां समंताच्च तथा रणाग्रे क्षयः किलाऽयं भरतानुपैति ॥ २० ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि धृतराष्ट्रवाक्ये द्विपंचाशततमोऽध्यायः ॥ ५२ ॥

कर पृथ्वी पर गिर रहे हैं ॥१५॥

अर्जुन के गाण्डीव धनुष से छूटे हुए तेजोमय प्रज्वलित बाण मेरी सेना को भस्म कर रहे हैं और कौरवों की सेना, अर्जुन के रथ के शब्द को सुनकर व्याकुल हुई-हुई इधर-उधर भाग रही है ॥१६।१७॥

वायु से बढ़ी हुई अग्नि जैसे इधर-उधर घूमकर जङ्गल को जलाती है, वैसे ही पाण्डवों का तेज मेरे पुत्रों को भस्म कर डालेगा। जब फुर्तीले अर्जुन तीक्ष्ण बाण बरसावेंगे तब वे सबका संहार करनेवाले यमराज की तरह अत्यन्त असह्य हो उठेंगे। हे संजय! मैं घर में बैठे बैठे बारम्बार सुनूंगा कि कौरव-सेना छिन्न-भिन्न होकर इधर-उधर भाग रही है। निश्चय है कि यह कौरवों का नाश करनेवाला युद्ध होगा।१८।२०।

—०—

उद्योगपर्व का बावनवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ५२ ॥

अथ त्रिपंचाशततमोऽध्यायः ॥ ५३ ॥

धृतराष्ट्र उवाच—यथैव पांडवाः सर्वे पराक्रांता जिगीषवः ।
तथैवाऽभिसरास्तेषां त्यक्तात्मानो जये धृताः ॥ १ ॥
त्वमेव हि पराक्रांतानाचक्षीथाः परान्मम ।
पंचालान्केकयान्मत्स्यान्मागधान्वत्सभूमिपान् ॥ २ ॥
यश्च सेन्द्रानिमांल्लोकानिच्छन्कुर्याद्वशे बली ।

तिरपनवां अध्याय ॥ ५३ ॥

धृतराष्ट्र ने कहा—हे सञ्जय! जय की इच्छा रखनेवाले पाण्डव जैसे पराक्रमी हैं वैसे ही उनके आगे युद्ध-भूमि में चलनेवाले योद्धा भी उनके लिए प्राण देने का दृढ़ निश्चय किये हुए हैं। तुम्हींने कहा है कि बड़े बली और पराक्रमी पाञ्चाल, केकय, मत्स्य, मगध और वत्सदेश के राजा पाण्डवों की सहायता

तपंतमभि को मंदः पतिष्यति पतंगवत् ।
पांडवाग्निमनावार्यं मुमूर्षुर्नष्टचेतनः ॥ १२ ॥
तनुरुद्धः शिखी राजा मिथ्योपचरितो मया ।
मंदानां मम पुत्राणां युद्धेनांऽतं करिष्यति ॥ १३ ॥
तैरयुद्धं साधु मन्ये कुरवस्तन्निबोधत ।
युद्धे विनाशः कृत्स्नस्य कुलस्य भविता ध्रुवम् ॥ १४ ॥
एषा मे परमा बुद्धिर्यया शाम्यति मे मनः ।
यदि त्वयुद्धमिष्टं वो वयं शांत्यै यतामहे ॥ १५ ॥
न तु नः क्लिश्यमानानामुपेक्षेत युधिष्ठिरः ।
जुगुप्सति ह्यधर्मेण मामेवोद्दिश्य कारणम् ॥ १६ ॥

इति श्रीमन्महाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि धृतराष्ट्रवाक्ये त्रिपंचाशततमोऽध्यायः ॥ ५३ ॥

को अच्छी तरह जाननेवाले, जितेन्द्रिय, वृद्धों की सेवा में रहनेवाले और पुण्यात्मा हैं। इन सब गुणों से अलंकृत महात्मा युधिष्ठिर प्रज्वलित अग्नि के समान हैं। कौन मूढ़ पुरुष मरने की इच्छा से उस अनिवार्य अग्नि में पतङ्ग की तरह कूदना चाहेगा? मैंने अग्नि के समान तेजस्वी राजा युधिष्ठिर से अनुचित कपट का व्यवहार किया है। इस कारण मुझे निश्चय है कि वे युद्ध में मेरे अभागे पुत्रों का नाश कर डालेंगे ॥८।१३॥

हे कौरव लोगों! मेरी समझ में उन वीर पाण्डवों से युद्ध न करना ही श्रेष्ठ है। युद्ध करने से कौरव-कुल का संहार हो जायगा। यही मेरा निश्चय है। सन्धि कर लेने से ही मेरे मन को शान्ति मिलेगी। जो तुम प्रसन्न हो जाओ तो मैं सन्धि के लिए यत्न करूं; नहीं तो मेरे अत्यन्त क्लेश को देखकर भी युधिष्ठिर तरह नहीं देंगे। वे मुझे ही इस अधर्म का कारण मानकर मेरी निन्दा किया करते हैं ॥१४।१६॥

उद्योगपर्व का तिरपनवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ५३ ॥

अथ चतुःपंचाशततमोऽध्यायः ॥ ५४ ॥

संजय उवाच—एवमेतन्महाराज यथा वदसि भारत ।
युद्धे विनाशः क्षत्रस्य गांडीवेन प्रदृश्यते ॥ १ ॥
इदं तु नाऽभिजानामि तव धीरस्य नित्यशः ।
यत्पुत्रवशमागच्छेस्तत्त्वज्ञः सव्यसाचिनः ॥ २ ॥

चौवनवां अध्याय ॥ ५४ ॥

सञ्जय ने कहा—हे भरतश्रेष्ठ! आपका कहना सत्य है। युद्ध में गाण्डीव धनुष से सब क्षत्रियों का नाश होता देख पड़ता है। किन्तु नहीं मालूम, आप अर्जुन के बल-विक्रम को अच्छी तरह जानकर भी

प्रवर्षतः शरव्रातानर्जुनस्याऽशितान्बहून् ।
अप्यर्णवा विशुष्येयुः किं पुनर्मांसयोनयः ॥ ११ ॥
अस्यतां फाल्गुनः श्रेष्ठो गांडिवं धनुषां वरम् ।
केशवः सर्वभूतानामायुधानां सुदर्शनम् ॥ १२ ॥
वानरो रोचमानश्च केतुः केतुमतां वरः ।
एवमेतानि सरथो वहञ्श्वेतहयो रणे ॥ १३ ॥
क्षपयिष्यति नो राजन्कालचक्रमिवोद्यतम् ।
तस्याऽद्य वसुधा राजन्निखिला भरतर्षभ ॥ १४ ॥
यस्य भीमार्जुनौ योधौ स राजा राजसत्तम ।
तथा भीमहतप्रायां मज्जंतीं तव वाहिनीम् ॥ १५ ॥
दुर्योधनमुखा दृष्ट्वा क्षयं यास्यंति कौरवाः ।
न भीमार्जुनयोर्भीता लप्स्यंते विजयं विभो ॥ १६ ॥
तव पुत्रा महाराज राजानश्चाऽनुसारिणः ।
मत्स्यास्त्वामद्य नाऽर्चंति पंचालाश्च सकेकयाः ॥ १७ ॥
शाल्वेयाः शूरसेनाश्च सर्वे त्वामवजानते ।
पार्थं ह्येते गताः सर्वे वीर्यज्ञास्तस्य धीमतः ॥ १८ ॥

हे राजेन्द्र ! पाण्डव जब जुए में हारकर वन को चले जा रहे थे तब आप बालकों की तरह बारबार मुसकाकर प्रसन्नता प्रगट कर रहे थे ॥१०॥

हे महाराज ! अर्जुन के बाण बरसाने पर मनुष्यों की कौन कहे, समुद्र भी सूख जा सकते हैं। अर्जुन सब धनुष धारण करनेवाले वीरों में श्रेष्ठ हैं। गाण्डीव सब धनुषों में श्रेष्ठ है। वैसे ही श्रीकृष्ण सब प्राणियों में श्रेष्ठ हैं और उनका सुदर्शन चक्र सब शस्त्रों में अद्वितीय है ॥११।१२॥

अर्जुन का वानरयुक्त केतु (ध्वजा) भी अद्वितीय है। हे राजेन्द्र ! यह सब सामग्री जब श्वेत घोड़ों से शोभित अर्जुन के रथ पर एकत्र होगी तब प्रतापी अर्जुन कालदण्ड की तरह कौरवपक्ष के सब लोगों का विनाश कर डालेंगे। हे भरतश्रेष्ठ ! भीमसेन और अर्जुन जिनकी ओर युद्ध करनेवाले हैं वे युधिष्ठिर इसी समय सारी पृथ्वी को जीतकर अपने अधिकार में कर सकते हैं। दुर्योधन आदि कौरव भीमसेन के हाथ से अपनी सेना का संहार होते देखेंगे और आप भी विनाश को प्राप्त होंगे। हे स्वामी ! भीम और अर्जुन के पराक्रम से मन ही मन डरनेवाले आपके पुत्र और उनके अनुगामी लोग कभी विजय नहीं पा सकते ॥१३।१६॥

हे महाराज ! मत्स्य, पाञ्चाल, केकय, शाल्व, शूरसेन आदि देशों के राजा अर्जुन के पराक्रम को